ॐ

परमात्मने नमः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय-पुष्प नं. - 19

वृहद-द्रव्यसंग्रह प्रवचन

भाग-2

परमपूज्य आचार्य श्री नेमिचन्दसिद्धान्तिदेव विरचित वृहद-द्रव्यसंग्रह शास्त्र पर
आध्यात्मिकसत्पुरुष पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के
अध्यात्मरसपूरित गुजराती प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद
(गाथा 28 से 58 तक)

सम्पादन एवं पद्यानुवाद
डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल
शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., पीएच.डी.

सह सम्पादन :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला भीलवाड़ा (राज.)

प्रकाशक :
अन्तर्राष्ट्रीय दिगम्बर जैन मुमुक्षु महासंघ के अन्तर्गत
श्री शान्तिलाल रतिलाल शाह परिवार (मुम्बई)
श्री सूरजबेन अमुलखभाई सेठ स्मृति ट्रस्ट (मुम्बई)

प्रथमावृत्ति : **1000 प्रतियाँ**

*** वीर नि. सं. 2535 * वि. सं. 2064 * ई.स. 2009**

(श्री महावीरस्वामी दिगम्बर जिनबिम्ब पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, सोनागिर के अवसर पर)

न्यौछावर राशि : **20 रुपये**

प्राप्ति स्थान :

श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

30, कृष्णकुंज, प्लाट नं. 30,

वी.एल. मेहता मार्ग, विले पार्ले (प.), मुम्बई-400056

तीर्थधाम मङ्गलायतन

अलीगढ़-आगरा रोड, **सासनी,** जिला-हाथरस (उ.प्र.)

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-4, बापूनगर, जयपुर (राज.)-302015

टाइपसैटिंग एवं मुद्रण व्यवस्था :

देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर

प्रकाशकीय

श्री समयसार आदि परमागमों के गंभीर रहस्य को स्वानुभवगत करके श्री तीर्थंकर भगवान के शुद्धात्मानुभव प्रधान आध्यात्मिक शासन को जीवन्त रखने वाले आध्यात्मिक सन्त परम कृपालु पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी ने सरल तथा सुगम प्रवचनों द्वारा उनके अनमोल रहस्य मुमुक्षु समाज को समझाये हैं और इसप्रकार इस काल में अध्यात्म रुचि का नवयुग प्रवर्ता कर आपने असाधारण महान उपकार किया है। इस विषम भौतिक युग में सम्पूर्ण भारतवर्षे तथा विदेशों में भी ज्ञान, वैराग्य और भक्तिपूर्ण अध्यात्म विद्या के प्रचार का जो आन्दोलन प्रवर्तित है, वह पूज्य गुरुदेवश्री के चमत्कारी प्रभावना योग का अद्‌भुत फल है।

ऐसे परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री के अध्यात्मरस भरपूर प्रवचनों के प्रकाशन करने का अवसर प्राप्त होना भी अपना परम सौभाग्य है। तदनुसार परम पूज्य श्रीमद् नेमिचन्द सिद्धान्तिदेव विरचित 'वृहद्-द्रव्यसंग्रह' पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों का संकलन 'वृहद्-द्रव्यसंग्रह प्रवचन' भाग-2 के रूप में प्रकाशित करते हुए कल्याणी गुरुवाणी के प्रति अति भक्तिपूर्ण प्रसन्नता का अनुभव करते हैं।

इस 'वृहद्-द्रव्यसंग्रह' के प्रवचनकार परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी शुद्धात्म दृष्टिवंत, स्वरूपानुभवी, वीतरागी देव-गुरु धर्म के परम भक्त, कुमार ब्रह्मचारी, समयसार आदि अनेक गहन अध्यात्म शास्त्रों के पारगामी, स्वानुभवरचंदी भावश्रुतलब्धि के धनी, सततज्ञानोपयोगी, वैराग्यमूर्ति, नयाधिराज शुद्धनय की मुख्यतासहसम्यक् अनेकान्तरूप अध्यात्म तत्त्व के असाधारण उत्तम प्रवचनकार और आश्चर्यकारी प्रभावना उदय के धारक अध्यात्म युग सृष्टा महापुरुष थे। उनके इन प्रवचनों का अवगाहन करते ही अध्येता को उनके गाढ़ अध्यात्म प्रेम, शुद्धात्म अनुभव, स्वरूप सन्मुख ढल रही परिणति, वीतराग-भक्ति के रंग से रंगा हुआ चित्त, ज्ञायकदेव के तल को स्पर्शता अगाध श्रुतज्ञान और सातिशय परम कल्याणकारी अद्‌भुत वचनयोग का ख्याल आ जाता है।

पूज्य गुरुदेव ने अध्यात्म नवनीत पूर्ण इस 'वृहद्-द्रव्यसंग्रह' की प्रत्येक गाथा को सर्व ओर से छानकर, विराट अर्थों को इन प्रवचनों में खोला है। अतिशय सचोट, पर सुगम ऐसे अनेक न्यायों द्वारा और प्रकृत विषयसंगत अनेक यथोचित दृष्टान्तों द्वारा पूज्य गुरुदेव ने 'वृहद्-द्रव्यसंग्रह' के अर्थ गंभीर सूक्ष्म भावों को अतिशय स्पष्ट और सरल बनाये हैं। जीव को कैसे भाव सहज बनें तब जीव पुद्‌गल का स्वतंत्र परिणमन समझा कहा जाए, कैसे

भाव रहें तब आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझा गिना जाए, भूतार्थ ज्ञायक निज ध्रुव तत्त्व का (अनेकान्त सुसंगत) कैसा आश्रय हो तो द्रव्यदृष्टि यथार्थ परिणमी मानी जाए, कैसे-कैसे भाव रहें तब स्वावलम्बी पुरुषार्थ का आदर, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप-वीर्यादि की प्राप्ति हुई कहलाये - इत्यादि मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत विषयों को मनुष्य जीवन में बनते अनेक प्रसंगों के सचोट दृष्टान्तों से ऐसे स्पष्ट किये गये हैं कि आत्मार्थी को उस-उस विषय का स्पष्ट भाव भासन होकर अपूर्व गंभीर अर्थ दृष्टिगोचर होते हैं और वह शुभभावरूप बंधमार्ग में मोक्षमार्ग की मिथ्याकल्पना छोड़कर, शुद्धभावरूप यथार्थ मोक्षमार्ग को समझकर सम्यक् पुरुषार्थ में जुड़ता है। इसप्रकार 'वृहद्-द्रव्यसंग्रह' के स्वानुभूति दायक गंभीर भाव हृदय में सीधे उतर जायें - ऐसी असरकारक भाषा में अत्यन्त स्पष्टरूप से समझाकर गुरुदेव ने आत्मार्थी जगत पर अनहद उपकार किया है। 'वृहद्-द्रव्यसंग्रह' की गाथाओं में छिपे हुए अनमोल तत्त्वरत्नों का मूल्य स्वानुभव विभूषित कहान गुरुदेव ने जगत विदित किया है।

यह परम पुनीत प्रवचन स्वानुभूति के पंथ को अत्यन्त स्पष्टरूप से प्रकाशित करते हैं, इतना ही नहीं, परन्तु साथ-साथ मुमुक्षुजीवों के हृदय में स्वानुभव की रुचि और पुरुषार्थ जागृत करके कुछ अंशों में सत्पुरुष के प्रत्यक्ष उपदेश जैसा चमत्कारिक कार्य करते हैं - ऐसी अपूर्व चमत्कारिक शक्ति पुस्तकारूढ़ प्रवचन वाणी में कदाचित् ही दृष्टिगोचर होती है।

इसप्रकार 'वृहद्-द्रव्यसंग्रह' शास्त्र में निहित अध्यात्म तत्त्वविज्ञान के गहन रहस्य अमृत झरती वाणी में समझाकर, साथ ही शुद्धात्म रुचि जागृत करके पुरुषार्थ प्रेरक, प्रत्यक्ष सत्समागम की झांकी खड़ी करानेवाले ये प्रवचन जैन साहित्य में अजोड़ हैं। प्रत्यक्ष सत्समागम के वियोग में ये प्रवचन मुमुक्षुओं को अनन्य आधारभूत है। निरावलम्बन पुरुषार्थ समझाना और प्रेरित करना ही उद्देश्य होने के साथ 'वृहद्-द्रव्यसंग्रह' के सर्वांग स्पष्टीकरणरूप इन प्रवचनों में समस्त शास्त्रों के समस्त प्रयोजनभूत तत्त्वों का तलस्पर्शी दर्शन आ गया है। मानों श्रुतामृत का सुख सिंधु ही इन प्रवचनों में हिलोरे ले रहा है। यह प्रवचन ग्रन्थ शुद्धात्म तत्त्व की रुचि उत्पन्न करके पर के प्रति रुचि नष्ट करनेवाली परम औषधि है, स्वानुभूति का सुगम पथ है और भिन्न-भिन्न कोटि के सभी आत्मार्थियों का अत्यन्त उपकारक है। पूज्य गुरुदेव ने यह अमृतसागर प्रवचनों की भेंट देकर देश-विदेश में स्थित मुमुक्षुओं को निहाल कर दिया है।

स्वरूपसुधा प्राप्ति के अभिलाषी जीवों को इन परम पवित्र प्रवचनों का बारम्बार मनन करना योग्य है। यह संसाररूपी विषवृक्ष को छेदने के लिए अमोघ शस्त्र है, जो डाली और पत्रों को छुए बिना ही मूल पर ही सीधा प्रहार करता है। इस अल्पायु मनुष्यभव में जीव का प्रथम में प्रथम कर्तव्य एक निज शुद्धात्मा का बहुमान, प्रतीति और अनुभव है। उन बहुमानादि कराने में ये प्रवचन परम निमित्तभूत हैं।

इस प्रवचन ग्रन्थ में गाथा 28 से 58 तक के प्रवचन संकलित हैं।

इस प्रसंग पर मुमुक्षु समाज पर जिनका विशिष्ट उपकार है, उन धर्मरत्न प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन के चरण कमल में अत्यन्त भक्तिभाव से अभिवंदन करके भावना भाते हैं कि मुमुक्षु अतिशय उल्लासपूर्वक इन प्रवचनों का गहन अभ्यास करके, उग्र पुरुषार्थ से इनमें कथित भावों को सम्पूर्ण रीति से हृदय में उतारकर निज शुद्धात्मा की रुचि, प्रतीति तथा अनुभव करके शाश्वत परमानन्द को पायें।

इस प्रवचन ग्रंथ के प्रकाशन प्रसंग पर इनके गुजराती संकलनकार श्री अमृतभाई एन. सेठ तथा श्री खीमचंद जे. सेठ का हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं। जिन्होंने करुणासागर गुरुदेवश्री के प्रवचनों को लिपिबद्ध कर 'सद्गुरु प्रवचन प्रसाद' के रूप में संकलित कर जीवंत रखा। सद्गुरु प्रवचन प्रसाद से इन प्रवचनों का सम्पादन कार्य डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल जयपुर ने एवं सह-सम्पादन कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमारजी बिजौलियाँ ने, तथा सुन्दर टाइपसैटिंग का कार्य श्री दिनेश शास्त्री (देशना कम्प्यूटर्स) जयपुर ने किया है। अतः उक्त सभी के आभारी हैं।

इस ग्रन्थ के स्वाध्याय द्वारा मुमुक्षु निज कल्याण साधें - ऐसी भावना भाते हैं।

- प्रस्तुतकर्त्ता

संपादकीय

यह लघुकाय मात्र ५८ गाथाओं में सीमित **वृहद्द्रव्यसंग्रह** नामक ग्रन्थ समाज में **द्रव्यसंग्रह** के नाम से ही प्रसिद्ध है, सभी लोग इसे **द्रव्यसंग्रह** ही कहते हैं। लगता है लघुकाय होने से समाज का मानस इसे वृहद् (बड़ा) ग्रन्थ मानने के लिए तैयार नहीं है।

वस्तुत: बात यह है कि आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने इसे लिखने के पूर्व एक २६ गाथाओं का छोटा-सा ग्रन्थ लिखा था। उसका नाम भी उन्होंने **द्रव्यसंग्रह** ही दिया था। दो **द्रव्यसंग्रह** हो जाने से उसे **लघुद्रव्यसंग्रह** और इसे **वृहद्द्रव्यसंग्रह** कहना आवश्यक हो गया।

वृहद्द्रव्यसंग्रह के संस्कृत टीकाकार ब्रह्मदेव टीका के आरंभ में ही इस बात का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि मालवदेश की धारानगरी के अधिपति राजा भोज के संबंधी महामण्डलेश्वर श्रीपाल के आश्रम नामक नगर में मुनिसुव्रतनाथ के चैत्यालय में राजकोष के कोषाध्यक्ष सोम नामक राजसेठ के निमित्त से श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव ने प्रथम २६ गाथाओं में **लघुद्रव्यसंग्रह** लिखकर, तदुपरान्त विशेष तत्त्व के परिज्ञान के लिए इस **वृहद्द्रव्यसंग्रह** ग्रंथ की रचना की।

इसप्रकार यह आकार में बड़ा होने के कारण वृहद्द्रव्यसंग्रह नहीं है, अपितु लघुद्रव्यसंग्रह से बड़ा होने के कारण वृहद्द्रव्यसंग्रह है।

उक्त स्थिति में यह जिज्ञासा सहज ही उत्पन्न होती है कि उक्त कारण से जब यह **वृहद्-द्रव्यसंग्रह** ही है तो फिर इसे **द्रव्यसंग्रह** क्यों कहा जाता है ?

इसे **द्रव्यसंग्रह** कहने का कारण यह प्रतीत होता है कि अध्ययन-अध्यापन में इसकी प्रमुखता हो जाने के कारण वह लघुद्रव्यसंग्रह ग्रन्थ लोगों की दृष्टि से ओझल हो गया, एकप्रकार से गायब ही हो गया। इसकारण इसके साथ वृहद् शब्द का प्रयोग लोगों को अनावश्यक लगने लगा, भारभूत लगने लगा और आकार-प्रकार में बड़ा न होने से अटपटा भी लगने लगा; इसप्रकार संक्षिप्तप्रिय समाज इसे **द्रव्यसंग्रह** नाम से जानने और कहने लगा है।

जो भी हो, यह **वृहद्द्रव्यसंग्रह**, वही **द्रव्यसंग्रह** है, जो समाज की प्रत्येक पाठशाला में पढ़ाया जाता है और अपनी विषयवस्तु और प्रतिपादन शैली के कारण अत्यन्त लोकप्रिय है।

इसमें मूलत: वही विषयवस्तु है, जो कि आचार्य कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय में पाई जाती है। यह इतना प्रभावशाली सिद्ध हुआ कि इसके आ जाने के कारण पंचास्तिकाय का पठन-पाठन सीमित हो गया है।

लघुद्रव्यसंग्रह में मात्र छह द्रव्यों का ही वर्णन है; जबकि इस वृहद्द्रव्यसंग्रह में तीन अधिकार हैं और उनमें से प्रथम अधिकार में छह द्रव्यों, दूसरे अधिकार में सात तत्त्वों और नव-पदार्थों तथा तीसरे अधिकार में रत्नत्रय अर्थात् मोक्षमार्ग का वर्णन है। इसप्रकार विषयवस्तु की दृष्टि से हम कह सकते हैं कि लघुद्रव्यसंग्रह वृहद्द्रव्यसंग्रह का प्रथम अधिकार है।

सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव द्वारा रचित वृहद्द्रव्यसंग्रह पर न्याय और व्याकरण के विशेषज्ञ ब्रह्मदेव द्वारा लिखी गई संस्कृत टीका खण्डान्वयी टीका है और इसमें नयप्रयोगों द्वारा समस्त विषयवस्तु को विस्तार से स्पष्ट किया गया है; जो अपने आप में अद्वितीय है और समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय पर तात्पर्यवृत्ति नामक टीकायें लिखनेवाले आचार्य जयसेन का स्मरण करा देती है।

उक्त टीका सहित वृहद्द्रव्यसंग्रह पर आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी ने गुजराती भाषा में सन् १९५२ में प्रवचन किए थे, जो सोनगढ़ से प्रकाशित होनेवाले **गुरुप्रवचन प्रसाद** में प्रकाशित हुए थे। उनका हिन्दी अनुवाद आत्मधर्म में १९७६-७७ से आरंभ हुआ था। चूँकि उक्त आध्यात्मिक पत्र आत्मधर्म का संपादक होने के नाते मैंने उस समय इन प्रवचनों को संपादित किया था। यह प्रकाशन उन्हीं प्रवचनों का संकलन है। इसीकारण इस प्रकाशन में मेरा नाम संपादक के रूप में दिया गया है।

यह संकलन देवेन्द्रकुमार जैन ने किया है, उन्होंने ही इसे व्यवस्थितरूप प्रदान किया है, प्रूफसंशोधन भी उन्होंने ही किया है। मैं तो इसे इस रूप में एक बार भी पढ़ नहीं पाया। मैं चाहता था कि छपने के पहले इसे मैं एकबार अवश्य देखूँ। इसकारण यह मेरे पास महीनों रखा रहा; पर और अनेक व्यस्तताओं के साथ-साथ मेरा गिरता हुआ स्वास्थ्य, हृदय की शल्य -चिकित्सा आदि ऐसी स्थितियाँ बनीं कि मैं यह कार्य न कर सका और इसे मेरे देखे बिना ही छापना पड़ रहा है। फिर भी मुझे भरोसा है कि यह कार्य देवेन्द्रकुमार जैन ने पूरी सावधानी से किया है; अतः यह पूर्ण निर्दोष ही होगा।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी ने जिस ग्रन्थ का भी स्पर्श किया, जिस ग्रंथ पर प्रवचन किए; वह मुमुक्षु समाज में जन-जन की वस्तु बन गया है। द्रव्यसंग्रह पर किये गये उनके ये प्रवचन भी मुमुक्षु समाज में गहरी पैठ बनायेंगे, प्रत्येक अध्यात्मप्रेमी द्वारा पढ़े जायेंगे - मुझे ऐसा पूर्ण विश्वास है।

सभी आत्मार्थी बन्धु इसका भरपूर लाभ उठायें - इस मंगल भावना के साथ विराम लेता हूँ।

दि. २६.०१.२००९ **- डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल**

दो शब्द

आचार्य नेमीचन्द सिद्धान्तिदेव विरचित 'वृहद्-द्रव्यसंग्रह' अत्यन्त संक्षिप्त, किन्तु सारभूत ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में जिनेश्वरदेव द्वारा प्रतिपादित वस्तुव्यवस्था एवं आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान का भाववाही रोचक शैली में प्रतिपादन किया गया है। ग्रन्थ के टीकाकार श्रीमद् ब्रह्मदेवसूरि ने प्रत्येक गाथा में निश्चय-व्यवहार एवं आगम-अध्यात्म की संधिपूर्वक जो विवेचना प्रस्तुत की है, वह सचमुच आश्चर्यकारक है।

ग्रन्थ की इन्हीं विशेषताओं से प्रभावित होकर इस युग के आध्यात्मिक संत परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी ने सन् १९५२ में इस ग्रन्थ पर भावपूर्ण प्रवचन प्रदान कर मुमुक्षु जगत को धन्य कर दिया है।

पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रदत्त ये प्रवचन तत्कालीन समय में निकलनेवाले सद्गुरु प्रवचन प्रसाद (दैनिक-गुजराती) में प्रकाशित हुए हैं, जिनका सम्पादन श्री अमृतभाई नरशी लाल सेठ एवं श्री खीमचंद जे. सेठ द्वारा किया गया है। उक्त दोनों महानुभावों के भगीरथ प्रयास से पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रदत्त यह निधि सुरक्षित रह गई है, इसके लिए उक्त महानुभावों का मुमुक्षु समाज चिर ऋणी है।

तत्पश्चात् वे ही प्रवचन डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल द्वारा सम्पादित आत्मधर्म मासिक में प्रकाशित होते रहे हैं। उन्हीं के आधार पर प्रस्तुत संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है।

प्रस्तुत संस्करण के प्रकाशन से पूर्व आदरणीय डॉक्टर साहब की सहमतिपूर्वक इन प्रवचनों का मूल गुजराती मेटर से मिलान कर आवश्यक संशोधन कर लिया गया है।

ये प्रवचन छह द्रव्य, सात तत्त्व के परिज्ञानपूर्वक मोक्षमार्ग का उद्घाटन करने के लिए परम निमित्तभूत हैं। पूज्य तारणहार गुरुदेवश्री ने अपनी अनुभवरस झरती वाणी में ग्रन्थ का हार्द स्पष्ट करके हम सभी पामर प्राणियों पर अनंत-अनंत उपकार किया है, तदर्थ पूज्य गुरुदेवश्री के चरणों में सादर अभिवंदन समर्पित करते हुए परम प्रसन्नता की अनुभूति हो रही है।

इन प्रवचनों के प्रकाशन का सुअवसर प्रदान करने के लिए प्रकाशक परिवार के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रूफ संशोधन में सहयोग हेतु आदरणीय भाई साहब पवन जैन, अलीगढ़ के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

सभी साधर्मीजन इन प्रवचनों में अवगाहन करके मुक्तिमार्ग में अग्रसर हों - इसी पवित्र भावना के साथ -

देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ
जि. भीलवाड़ा (राज.)

अनुक्रमणिका

गाथा २८.....०४
गाथा २८ पर प्रवचन.....०५
गाथा २९.....२६
गाथा २९ पर प्रवचन.....२७
गाथा ३०.....३०
गाथा ३० पर प्रवचन.....३१
गाथा ३१.....४१
गाथा ३१ पर प्रवचन.....४२
गाथा ३२.....४४
गाथा ३२ पर प्रवचन.....४४
गाथा ३३.....५१
गाथा ३३ पर प्रवचन.....५३
गाथा ३४.....६३
गाथा ३४ पर प्रवचन.....६६
गाथा ३५.....८३
गाथा ३५ पर प्रवचन.....९८
गाथा ३६.....१७३
गाथा ३६ पर प्रवचन.....१७५
गाथा ३७.....१८४
गाथा ३७ पर प्रवचन.....१८६
गाथा ३८.....१९५
गाथा ३८ पर प्रवचन.....१९७
गाथा ३९.....२०३
गाथा ३९ पर प्रवचन.....२०४
गाथा ४०.....२१५
गाथा ४० पर प्रवचन.....२१६
गाथा ४१.....२२६
गाथा ४१ पर प्रवचन.....२३५
गाथा ४२.....२६२
गाथा ४२ पर प्रवचन.....२६५

गाथा ४३.....२८०
गाथा ४३ पर प्रवचन.....२८०
गाथा ४४.....२८५
गाथा ४४ पर प्रवचन.....२८९
गाथा ४५.....३०७
गाथा ४५ पर प्रवचन.....३०९
गाथा ४६.....३१५
गाथा ४६ पर प्रवचन.....३१६
गाथा ४७.....३२४
गाथा ४७ पर प्रवचन.....३२४
गाथा ४८.....३२९
गाथा ४८ पर प्रवचन.....३३३
गाथा ४९.....३४८
गाथा ४९ पर प्रवचन.....३४९
गाथा ५०.....३५३
गाथा ५० पर प्रवचन.....३५७
गाथा ५१.....३७४
गाथा ५१ पर प्रवचन.....३७५
गाथा ५२.....३८०
गाथा ५२ पर प्रवचन.....३८१
गाथा ५३.....३८६
गाथा ५३ पर प्रवचन.....३८७
गाथा ५४.....३८९
गाथा ५४ पर प्रवचन.....३९०
गाथा ५५.....३९३
गाथा ५५ पर प्रवचन.....३९४
गाथा ५६.....३९९
गाथा ५६ पर प्रवचन.....४०१
गाथा ५७.....४४०
गाथा ५७ पर प्रवचन.....४४६
गाथा ५८.....४७५
गाथा ५८ पर प्रवचन.....४७६



वृहद्-द्रव्यसंग्रह प्रवचन

भाग-२

(२)

सप्त तत्त्व-नव पदार्थ अधिकार

अब, द्वितीय अधिकार कहा जाता है —

इसके पश्चात् जीव और पुद्गलद्रव्य के पर्यायरूप आस्रव आदि सात पदार्थों का ग्यारह गाथाओं में व्याख्यान करते हैं। उनमें प्रथम '**आसवबन्धण**' इत्यादि अधिकार की सूचनारूप एक गाथा है, तत्पश्चात् आस्रव पदार्थ के व्याख्यानरूप से '**आसवादि जेण**' इत्यादि तीन गाथाएँ हैं। तत्पश्चात् बन्ध का व्याख्यान करने के लिये '**बज्झदि कम्मं**' आदि दो गाथाएँ हैं। तत्पश्चात् संवर का कथन करने के लिए '**चेदणपरिणामो**' इत्यादि दो गाथाएँ, तत्पश्चात् निर्जरा के प्रतिपादनरूप '**जहकालेण तवेण य**' आदि एक गाथा, तत्पश्चात् मोक्षस्वरूप के कथन के लिए '**सव्वस्स कम्मणो**' आदि एक गाथा और इसके बाद पुण्य और पाप — इन दोनों के कथन के लिए '**सुहअसुह**' इत्यादि एक गाथा है। इस प्रकार ग्यारह गाथाओं में सात स्थलों के द्वारा द्वितीय अधिकार में समुदायपातनिका (समुदायभूमिका) कही गई।

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है — यदि एकान्त से जीव और अजीव ये दो द्रव्य परिणामी हों तो संयोगपर्यायरूप एक ही पदार्थ सिद्ध हो और यदि एकान्त से अपरिणामी हों तो जीव और अजीव द्रव्यरूप दो ही पदार्थ सिद्ध हों; अतः आस्रव आदि सात पदार्थ किस प्रकार सिद्ध होते हैं ? उसका उत्तर — कथञ्चित् परिणामीपने के कारण सात पदार्थ सिद्ध होते हैं। 'कथञ्चित् परिणामीपने' का क्या अर्थ है ? जिस प्रकार स्फटिकमणि स्वभाव

से निर्मल है तो भी जवापुष्पादि उपाधिजनित पर्यायान्तररूप परिणति को ग्रहण करता है, यद्यपि (स्फटिकमणि) उपाधि ग्रहण करता है तो भी निश्चय से शुद्धस्वभाव को नहीं छोड़ता है; उसी प्रकार जीव भी यद्यपि शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से सहज शुद्ध चिदानन्द एक स्वभावी है तो भी अनादि-कर्मबन्धपर्याय के वश रागादि परद्रव्य-उपाधिपर्याय को ग्रहण करता है, यद्यपि (जीव) पर पर्यायरूप से परिणमित होता है तो भी निश्चय से शुद्धस्वरूप को नहीं छोड़ता है। पुद्गल भी इसी प्रकार है। ऐसा परस्पर सापेक्षपना 'कथञ्चित् परिणामीपना' शब्द का अर्थ है। इस प्रकार कथञ्चित् परिणामीपना होने से जीव और पुद्गल के संयोगरूप परिणति से रचित होने के कारण आस्रवादि सात पदार्थ सिद्ध होते हैं और वे सात पदार्थ पूर्वोक्त जीव और अजीवद्रव्य के साथ मिलकर नौ होते हैं; अतः नौ पदार्थ कहने में आते हैं। अभेदनय से पुण्य और पाप — इन दो पदार्थों का आस्रव पदार्थ में अथवा बन्ध पदार्थ में समावेश करने की अपेक्षा से सात तत्त्व कहे जाते हैं।

प्रश्न — हे भगवान! यद्यपि कथञ्चित् परिणामीपने के बल से, भेदप्रधान पर्यायार्थिकनय से नौ पदार्थ और सात तत्त्व सिद्ध हुए तो भी उनसे क्या प्रयोजन है? जिस प्रकार अभेदनय से पुण्य और पाप पदार्थ का अन्तर्भाव सात तत्त्वों में हो गया, उसी प्रकार विशेष अभेदनय की विवक्षा में आस्रवादि पदार्थों का भी जीव और अजीव, इन दो द्रव्यों में अन्तर्भाव करने पर जीव और अजीव, ये दो पदार्थ ही सिद्ध होते हैं। इस शङ्का का परिहार करते हैं — हेय और उपादेय तत्त्व का परिज्ञान करानेरूप प्रयोजन के लिए आस्रवादि पदार्थों का व्याख्यान करना योग्य है। वही कहते हैं — अक्षय-अनन्त सुख, वह उपादेय तत्त्व है, उसका कारण मोक्ष है, मोक्ष का कारण संवर और निर्जरा — ये दो हैं, उसका कारण विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभावी निजात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-अनुचरणरूप लक्षणयुक्त निश्चयरत्नत्रयस्वरूप और उसका साधक व्यवहाररत्नत्रयरूप है।

अब, हेयतत्त्व कहा जाता है — आकुलता उत्पन्न करने वाला नरकगति आदि का दुःख और निश्चय से इन्द्रियजनित सुख हेयतत्त्व है। उसका कारण संसार है, संसार का कारण आस्रव और बन्ध — दो पदार्थ हैं, उनका कारण पूर्वोक्त व्यवहार और निश्चयरत्नत्रय से विलक्षण मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र, ये तीन हैं। इस प्रकार हेय और उपादेयतत्त्व का व्याख्यान करने पर सात तत्त्व और नौ पदार्थ स्वयमेव सिद्ध हुए।

अब, किस पदार्थ का कर्ता कौन है, उसका कथन किया जाता है — निज निरन्जन शुद्धात्मभावना से उत्पन्न परम आनन्द जिसका एक लक्षण है, वैसे सुखामृत के रसास्वाद से पराङ्मुख जीव बहिरात्मा कहलाता है; वह बहिरात्मा आस्रव, बन्ध और पाप — इन तीन पदार्थों का कर्ता होता है और किसी समय मिथ्यात्व और कषाय का मंद उदय होने पर भोगों की आकाँक्षा आदि निदान बन्ध से भविष्यकाल में पापानुबन्धी पुण्य पदार्थ का भी कर्ता होता है। जो पूर्वोक्त बहिरात्मा से विपरीत लक्षणवाला सम्यग्दृष्टि है, वह संवर, निर्जरा और मोक्ष — इन तीन पदार्थों का कर्ता होता है; जब वह रागादि विभावरहित परम सामायिक में स्थिर होने में समर्थ नहीं होता है, तब विषय-कषायों से उत्पन्न दुर्ध्यान से बचने के लिए संसार की स्थिति का छेद करता हुआ पुण्यानुबन्धी तीर्थङ्कर नामकर्म की प्रकृति आदि विशिष्ट पुण्यपदार्थ का भी कर्ता होता है।

अब, कर्तृत्व के विषय में नयविभाग का कथन करते हैं — मिथ्यादृष्टि जीव को पुद्गलद्रव्य के पर्यायरूप आस्रव, बन्ध, पुण्य और पाप पदार्थों का कर्तृत्व अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से है और जीवभाव पर्यायरूप आस्रव-बन्ध-पुण्य-पाप पदार्थों का कर्तृत्व अशुद्धनिश्चयनय से है। सम्यग्दृष्टि जीव को जो द्रव्यरूप, संवर, निर्जरा और मोक्षपदार्थ का कर्तृत्व है, वह भी अनुपचरित असद्भूत व्यवहार से है और जीवभाव पर्यायरूप संवर, निर्जरा, मोक्ष पदार्थों का कर्तृत्व विवक्षित एकदेश शुद्धनिश्चयनय से है। परमशुद्धनिश्चयनय से तो 'हे योगी, परमार्थ से यह जीव उत्पन्न नहीं होता है, मरता नहीं है, बन्ध और मोक्ष करता नहीं है — इस प्रकार जिनेन्द्र कहते हैं।' इस वचन से जीव को बन्ध-मोक्ष नहीं है।

पूर्वोक्त विवक्षित एकदेश शुद्धनिश्चयनय को आगमभाषा में क्या कहते हैं ? —जो स्व-शुद्धात्मा के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान, आचरणरूप होगा, वह 'भव्य', इस प्रकार के 'भव्यत्व' नामक पारिणामिकभाव के साथ सम्बन्धित 'व्यक्ति' कही जाती है (अर्थात् भव्यत्व पारिणामिकभाव की व्यक्तता अर्थात् प्रगटता कही जाती है) और अध्यात्मभाषा में उसे ही द्रव्यशक्तिरूप शुद्धपारिणामिकभाव की भावना कहते हैं; अन्य नाम से उसे 'निर्विकल्प समाधि' अथवा 'शुद्धोपयोग' आदि कहते हैं।

क्योंकि भावना मुक्ति का कारण है, अतः शुद्धपारिणामिकभाव ध्येयरूप है; ध्यान अथवा भावनारूप नहीं है। ऐसा किसलिये ?

समाधान — ध्यान अथवा भावनारूप पर्याय विनाशीक है और वह (शुद्धपारिणामिक-भाव) तो द्रव्यरूप होने से अविनाशी है। यहाँ तात्पर्य यह है — मिथ्यात्वरागादि विकल्पजालरहित निजशुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न सहजानन्द जिसका एक लक्षण है — ऐसे सुख के संवेदनरूप जो भावना है, वह मुक्ति का कारण है। उस भावना को कोई पुरुष किसी अन्य नाम से कहते हैं।

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-२८

इस प्रकार पूर्वोक्त प्रकार से अनेकान्त के व्याख्यान से सिद्ध हुआ कि - आस्रव, बन्ध, पुण्य और पाप — ये चार पदार्थ जीव और पुद्गल के संयोग परिणामरूप जो विभावपर्याय है, उससे उत्पन्न होते हैं और संवर, निर्जरा तथा मोक्ष — ये तीन पदार्थ जीव और पुद्गल के संयोगरूप परिणाम के विनाश से उत्पन्न, विवक्षित स्वभावपर्याय द्वारा उत्पन्न होते हैं।

वही अब कहा जाता है —

आसव बंधण संवर णिज्जर मोक्खो सपुण्णपावा जे।
जीवाजीवविसेसा तेवि समासेण पभणामो॥२८॥

आस्रवबंधनसंवरनिर्जरमोक्षाः सपुण्यपापाः ये।
जीवाजीवविशेषाः तान् अपि समासेन प्रभणामः॥२८॥

बंध आस्रव पुण्य-पापरु मोक्ष संवर निर्जरा।
विशेष जीव अजीव के संक्षेप में उनको कहें॥२८॥

गाथार्थ — आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पापरूप जो पदार्थ जीव और अजीवद्रव्य के विशेष हैं, उन्हें भी हम संक्षेप में कहते हैं।

टीका — '**आसव**' निरास्रव स्वसंवेदन से विलक्षण शुभाशुभपरिणाम द्वारा शुभ और अशुभकर्मों का आना, वह 'आस्रव' है। '**बंधण**' बन्धरहित शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धिरूप भावना से भ्रष्ट हुए जीव को कर्म के प्रदेशों के साथ संश्लेष (सम्बन्ध) होता है, वह बन्ध है। '**संवर**' कर्म के आगमन को रोकने में समर्थ स्वानुभवरूप से परिणमित जीव को शुभाशुभकर्मों के आगमन का निरोध, वह 'संवर' है। '**णिज्जर**' शुद्धोपयोग की

भावना के सामर्थ्य से नीरस हुए कर्म पुद्गलों का एकदेश खिर जाना, वह 'निर्जरा' है। '**मोक्खो**' जीव और पुद्गल के संश्लेषरूप बन्ध का नाश करने में समर्थ निज शुद्धात्मा की उपलब्धिरूप परिणाम, वह 'मोक्ष' है। '**सपुण्णपावा जे**' जो (उपरोक्त आस्रवादि पदार्थ) पुण्य-पापसहित हैं। '**ते वि समासेण पभणामो**' जिस प्रकार पहले जीव और अजीव पदार्थों का व्याख्यान किया है, उसी प्रकार उन आस्रवादि पदार्थों को भी संक्षेप में कहते हैं। वे कैसे हैं ? '**जीवाजीवविसेसा**' जीव और अजीव के विशेष हैं- चैतन्यभावरूप हैं, वे जीव के विशेष हैं और चैतन्य के अभावरूप हैं, वे अजीव के विशेष हैं। 'विशेष' का क्या अर्थ है ? विशेष का अर्थ पर्याय है। चैतन्यरूप अशुद्ध परिणाम, जीव की (पर्यायें) हैं; अचेतनरूप कर्मपुद्गल की पर्यायें हैं, वे अजीव की (पर्यायें) हैं। इस प्रकार अधिकार सूत्ररूप गाथा पूर्ण हुई।।२८॥

गाथा २८ पर प्रवचन

अब, शिष्य प्रश्न पूछता है कि जीव और अजीव दोनों ही प्रकार के द्रव्य यदि सर्वथा परिणामी ही हों तो संयोग पर्यायरूप एक ही पदार्थ सिद्ध होता है; क्योंकि दोनों ही प्रकार के पदार्थ सर्वथा परिणमन करते हों, उनमें ध्रुवता न रहती हो तो जीव बदलकर (परिणमित होकर) परमाणु हो जायेगा तथा परमाणु पलटकर जीव हो जायेगा। धर्म, अधर्म, आकाश, काल आदि द्रव्य भी पलटकर कभी जीव, कभी पुद्गल, कभी कुछ और कभी कुछ रूप परिणमित हो जायेंगे; अतः छह द्रव्यों की सिद्धि नहीं होगी।

तथा पदार्थ यदि सर्वथा अपरिणामी हों तो जीव और अजीव दो प्रकार के पदार्थ सिद्ध हो जायेंगे, पर पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष आदि पर्यायें सिद्ध नहीं होंगी।

आचार्य समाधान करते हैं — पदार्थों के कथञ्चित् परिणामीपना है; अतः आस्रव आदि पदार्थों का कथन सङ्गत है।

'कथञ्चित् परिणामित्व' इसका क्या अर्थ है ? यदि ऐसा पूछते हो तो सुनो —

वस्तु स्वयं ही पलटती (परिणमती) है; किसी अन्य के कारण नहीं। प्रत्येक वस्तु ध्रुवरूप से कायम रहकर अवस्थाओं में परिणमित होती रहती है। यद्यपि मणियों में स्फटिकमणि का स्वभाव निर्मल है तथापि जवापुष्प के निमित्त से वही स्फटिकमणि

लाल हो जाती है। यहाँ लाल फूल के कारण स्फटिकमणि लाल हुई है, ऐसा नहीं है; क्योंकि लकड़ी के समीप लाल पुष्प रखने से लकड़ी लाल नहीं होती। यदि पुष्प के कारण लालिमा होती हो तो लकड़ी भी लाल हो जानी चाहिए; परन्तु ऐसा नहीं होता। विभिन्न पुष्पों के रखने से वही स्फटिकमणि अनेक रंगोंरूप परिणमित होती है; फिर भी अपने निर्मलस्वभाव को नहीं छोड़ती। ठीक उसी प्रकार द्रव्यार्थिकनय से जीव शुद्धज्ञान और आनन्दस्वभाव का धारक है तथापि अनादि कर्म के वशीभूत होकर, परद्रव्यों के अधीन होकर रागादिरूप होता है। यहाँ 'परद्रव्यजनित' शब्द का अर्थ यह है कि कर्म विकार नहीं कराता, विकार स्वयं के कारण होता है, स्वभाव की भूल से ही विकार होता है, स्वभाव के आश्रय से विकार नहीं होता।

अज्ञानी जीव कहता है कि कर्मोदय के कारण विकार करना पड़ता है, हम क्या करें ? परन्तु उसका यह मानना सही नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा माना जायेगा तो संसार का कभी अन्त ही नहीं हो सकेगा। जो जीव परपदार्थों के कारण अपनी पर्याय होना मानते हैं, उन्हें स्वाश्रय की श्रद्धा कदापि नहीं होती। दोष पर से होते हैं, यह माना जाय तो दोष कभी टल ही नहीं सकते। पर के आश्रय से जीव स्वयं ही दोष करता है और स्व के आश्रय से स्वयं ही उन्हें टालता है।

आत्मा, शुद्ध चैतन्यरूप होकर भी संसार में विकाररूप स्वयमेव परिणमन करता है और परिणमन करते हुए स्वरूप से एकरूप ध्रुव भी रहता है। तत्त्वार्थसूत्र में पाँच भावों का वर्णन है। वहाँ दया, दान आदि औदयिकभावों को जीव का स्वतत्त्व कहा है। वहाँ यह समझना कि उसरूप परिणमन जीव का स्वयं है, जड़तत्त्व का नहीं; अतः स्वतत्त्व है।

अनादिकाल से जीव परद्रव्यों का लक्ष्य करके रागादिरूप परिणमित हो रहा है। पहले कभी जीव शुद्ध था, बाद में किसी शापवश अशुद्ध हो गया है — ऐसा नहीं है। अपितु अनादि से ही प्रतिसमय अपने स्वभाव को भूलकर विकाररूप परिणमित हो रहा है — इस अपेक्षा अशुद्ध है।

स्वभाव की अपेक्षा वस्तु शुद्ध और विकार की अपेक्षा पर्याय अशुद्ध है — ऐसा अनादि से है। निमित्त कर्म दूसरे पदार्थ हैं, उनके कारण आत्मा में विकार नहीं होता

तथा आत्मा स्वयं के कारण विकाररूप परिणमित होता हुआ भी अपने शुद्धस्वभाव को नहीं छोड़ता।

अब, द्वितीय अधिकार में आचार्यदेव सप्त तत्त्व-नव पदार्थ को समझाते हैं।

यहाँ शिष्य अपनी शङ्का व्यक्त करता है कि क्या सभी द्रव्य सर्वथा परिणामी हैं अथवा अपरिणामी हैं ? यदि सर्वथा परिणामी ही हों तो संयोगरूप एक ही पदार्थ सिद्ध हो तथा यदि एकान्त से अपरिणामी हों तो जीव और अजीव द्रव्यरूप दो ही पदार्थ सिद्ध हों, आस्रवादि नहीं; फिर आस्रवादिक सात पदार्थ कैसे सिद्ध होते हैं ?

इसका समाधान यह है कि जीव-अजीव पदार्थ कथञ्चित् परिणामी होने के कारण सात पदार्थ सिद्ध होते हैं। कथञ्चित् परिणामीपने का क्या अर्थ है — ऐसा पूछने पर समझाते हैं — जिस प्रकार स्फटिकमणि स्वभाव से निर्मल है तो भी जवापुष्पादि उपाधि से उत्पन्न पर्यायान्तर लाल, पीली आदि परिणति को ग्रहण करता है। यद्यपि स्फटिकमणि उपाधि को ग्रहण करता है, फिर भी निश्चयनय की दृष्टि से देखा जाये तो वह अपने शुद्धस्वभाव को नहीं छोड़ता; उसी प्रकार जीव भी द्रव्यार्थिकनय से सहज-शुद्ध चिदानन्द एकस्वभावी है, ज्ञान और आनन्द का अखण्ड पिण्ड है, तो भी अनादि कर्मबन्ध पर्याय के वश रागादिरूप परद्रव्य के लक्ष्य से उत्पन्न उपाधिपर्याय को ग्रहण करता है। यद्यपि जीव परपर्यायरूप से परिणमित होता है तो भी निश्चय से अपने शुद्धस्वरूप को नहीं छोड़ता है। स्वयं ध्रुव रहकर बन्धादि पर्यायरूप परिणमित होता है तथा इसी प्रकार पुद्गल भी स्वयं ध्रुव रहकर अन्य के निमित्त से स्वयं पर्यायरूप परिणमित होता है — इस प्रकार परस्पर सापेक्षपना 'कथञ्चित् परिणामी' शब्द का अर्थ है।

इस रीति से द्रव्य के कथञ्चित् परिणामीपना सिद्ध हो जाने से जीव और पुद्गल संयोगरूप परिणति से रचित होने के कारण अर्थात् जीव और पुद्गल के संयोगी परिणामों से बने हुए आस्रवादि सात पदार्थ सिद्ध होते हैं और वे ही सातों पदार्थ पूर्व कहे हुए जीव और अजीवद्रव्य के साथ मिलकर नव पदार्थ होते हैं। अतः नौ पदार्थ कहने में आते हैं।

देखो! यहाँ संवर, निर्जरा और मोक्षतत्त्व को भी जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न कहा है। इसका अर्थ यह समझना कि उनमें कर्म के अभाव की अपेक्षा लागू पड़ती है, इसलिए जीव और पुद्गल का संयोग कहा है; अन्य कोई अपेक्षा नहीं है।

अब, अभेदनय से पुण्य-पाप — इन दो पदार्थों का सात तत्त्वों में ही अन्तर्भाव हो जाता है — यह बताते हैं। पुण्य-पाप दोनों ही पदार्थों का आस्रवपदार्थ में अथवा बन्धपदार्थ में समावेश करने की अपेक्षा से सात तत्त्व कहे जाते हैं। इसमें कोई विरोध नहीं है; क्योंकि पुण्य-पाप आस्रव-बंध के ही अवान्तर भेद हैं।

अब, पुनः शिष्य प्रश्न करता है कि हे भगवन्! आपने जीव और अजीवपदार्थ को कथञ्चित् परिणामी कहकर भेदप्रधान पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से नौ पदार्थ तथा सात तत्त्व सिद्ध किये सो ठीक है, परन्तु इससे कौनसा प्रयोजन सिद्ध होता है ? तथा जिस प्रकार अभेदनय से पुण्य-पाप का अन्तर्भाव सात तत्त्वों में किया, उसी प्रकार विशेष अभेदनय की अपेक्षा से आस्रवादिक पदार्थों का भी जीव और अजीव इन दो ही पदार्थों में अन्तर्भाव करने पर जीव और अजीव — ये दो पदार्थ ही सिद्ध होते हैं। प्रश्न का निष्कर्ष (भावार्थ) यह है कि जैसे नौ पदार्थों का अन्तर्भाव सात तत्त्वों में किया, वैसे ही सात तत्त्वों का अन्तर्भाव दो तत्त्वों में करने पर क्या बाधा है ?

आचार्य उक्त प्रश्न का परिहार करते हैं अर्थात् समाधान प्रस्तुत करते हैं कि हे शिष्य! कौन तत्त्व हेय है और कौन उपादेय है, यह ज्ञान कराने के प्रयोजन से आस्रवादिक का अन्तर्भाव जीव-अजीव दो ही तत्त्वों में नहीं किया है। अतः आश्रय किसका करना, कौन उपादेय है, कौन हेय है तथा किसका आश्रय नहीं करना ? इत्यादि समझाने की अपेक्षा को मुख्य करके आस्रवादि का पृथक् व्याख्यान करना योग्य ही है।

इसी बात को आगे और समझाते हैं —

अविनाशी, अक्षय, अनन्तसुख का कारण मोक्ष है, सुख स्वयं ही मोक्ष है तथा मोक्ष का कारण संवर-निर्जरा दो तत्त्व हैं। विकार का निरोध संवर और शुद्धि की वृद्धि निर्जरा कहलाती है। इस संवर-निर्जरा का कारण विशुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वभाव का धारक निज शुद्ध आत्मा है। देखो, संवर-निर्जरा का कारण तो अपना आत्मा है और आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन आदि होते हैं अर्थात् निश्चित हुआ कि अपने आत्मा के सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान और आचरणरूप परिणति को निश्चयरत्नत्रय कहते हैं और उसका (निश्चयरत्नत्रय का) साधक व्यवहाररत्नत्रय है।

सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, पञ्चपरमेष्ठी, नव तत्त्व आदि का यथार्थ ज्ञान तथा

अणुव्रत-महाव्रतादि को पालने के शुभभावों को व्यवहाररत्नत्रय कहा जाता है; क्योंकि वे निज आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले निश्चयरत्नत्रय के निमित्त कारण हैं। अत: इस विवक्षा से ही व्यवहाररत्नत्रय को साधक कहा गया है।

कुदेवादि की श्रद्धा निमित्त पड़ती हो, यह बात कदापि नहीं है। भाई! जिन्हें देवादि के यथार्थ स्वरूप का भी ज्ञान नहीं अर्थात् जिनके व्यवहार का भी ठिकाना नहीं, उनको निश्चयरत्नत्रय नहीं हो सकता है।

निश्चयरत्नत्रय ही संवर-निर्जरा का यथार्थ कारण है; व्यवहाररत्नत्रय नहीं। व्यवहार-रत्नत्रयपूर्वक यदि निश्चयरत्नत्रय हो जाये तो उपचार से व्यवहाररत्नत्रय को भी कारण कहा जा सकता है, पर अविनाभावी कारण तो निश्चयरत्नत्रय ही है; व्यवहाररत्नत्रय नहीं।

इस रीति से मोक्षतत्त्व के उपादेयपना स्वीकार करने पर संवर-निर्जरा भी उपादेय हैं — यह सिद्ध हो गया। जिनवाणी के प्रत्येक कथन की अपेक्षा सही समझना चाहिए। यही अनेकान्त और स्याद्वाद का लाभ है।

अब, आचार्य हेयतत्त्व को समझाते हैं —

आकुलता उत्पन्न करनेवाला नरकगति का दु:ख और निश्चय से इन्द्रियजनित सुख हेयतत्त्व है। उसका कारण संसार है और संसार का कारण आस्रव और बन्ध — ये दो पदार्थ हैं तथा आस्रव और बन्ध का कारण पूर्व कहे हुए निश्चय-व्यवहाररूप रत्नत्रय से विपरीत लक्षणवाले मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र आदि हैं।

नरकगति में जो आकुलतामय परिणाम है, वह ही दु:ख है, नरकगति आदि नहीं और जो इन्द्रियों के विषय में सुख भासित होता है, वह भी दुख ही है, इसमें शङ्का नहीं करना। अनादि संस्कार के वश से ही पञ्चेन्द्रिय के विषयों में सुख-सा भासित होता है, पर वह यथार्थ सुख नहीं है, इसलिए हेय है, संसार है। देखो! यहाँ संसार को छोड़ने योग्य कहा है; अत: संसार के कारण आस्रव और बन्ध भी छोड़ने योग्य हैं। आस्रव-बन्ध के कारण कुदेवादि की श्रद्धा, ज्ञान और आचरण भी छोड़ने योग्य हैं।

इस प्रकार हेय-उपादेयतत्त्व का व्याख्यान करने पर सात तत्त्व और नौ पदार्थ स्वयमेव सिद्ध हुए।

अब, नव पदार्थों में कौन जीव किन पदार्थों का कर्ता है, इस बात को स्पष्ट करते हैं। निज निरञ्जन शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न परम आनन्द जिसका एक लक्षण है — ऐसे सुखामृत के आस्वादन से पराङ्मुख जो बहिरात्मा जीव हैं, वे आस्रव, बन्ध और पाप — इन तीन पदार्थों के कर्ता हैं।

आत्मा शुद्ध चिदानन्दस्वरूप है। उसके आनन्द से रहित बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि है। वह मिथ्यात्वभाव द्वारा आस्रव, बन्ध और पापभाव का कर्ता होता है, परन्तु वही बहिरात्मा किसी समय मिथ्यात्व और कषाय की मन्दता होने पर भोगों की आकाँक्षा आदि निदान बन्ध से भविष्यकाल में पापानुबन्धी पुण्य का भी कर्ता होता है।

देखो! यहाँ मिथ्यादृष्टि को कदाचित् मन्दकषाय होती है — यह कहा है। अभव्य मिथ्यादृष्टि को भी मिथ्यात्व का उदय मन्द होता है, क्योंकि उसको भी देव-शास्त्र-गुरु की यथार्थ मान्यता होती है। अतः उसे भी पुण्य का बन्ध होता है, परन्तु उस मिथ्यात्व की मन्दता से भव का अभाव नहीं होता। भव का अभाव तो मिथ्यात्व के अभाव होने से ही होता है। मन्द और तीव्र दोनों ही कषायों से पुण्य और पाप सम्बन्धी बन्ध होता है, परन्तु कषाय का अभाव नहीं होता। बहिरात्मा की दृष्टि स्वभाव पर नहीं रहती, अपितु बदलाव अर्थात् पर्याय पर रहती है।

जिसे ऐसी भावना नहीं है कि मुझे आत्मा के आश्रय से आनन्द की प्राप्ति हो, ऐसा जीव अधिक से अधिक त्रसकाय में दो हजार सागरकाल तक ही रह सकता है। त्रसपर्याय पूरी करने के बाद वह निगोद में जाता है और अनन्तकाल वहीं रहता है। फिर कभी अनन्तकाल बाद पुण्य के उदय से त्रसपर्याय प्राप्त करता है। इससे सिद्ध होता है कि बहिरात्मा भी किसी काल में पुण्यबन्ध का कर्ता होता है। हाँ, इतना अवश्य है कि वह अधिक समय तक त्रसपर्याय में नहीं रहता अथवा त्रसपर्याय का काल भी अनन्त संसार की अपेक्षा बहुत कम ही है, इसलिए ज्ञात होता है कि पुण्यबन्ध कभी-कभी ही होता है।

वस्त्रादि उपकरण धारण करके कोई मुनिपना मानता अथवा मनवाता हो तो वह निगोद का पात्र है, यह कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने अष्टपाहुड़ शास्त्र में लिखा है। भाई! वीतरागी सन्तों की वाणी अपूर्व है। न्याय से जो बात जैसी है अर्थात् वस्तुस्थिति जैसी

है, वैसी ही कहने की सामर्थ्य उसमें हैं। मिथ्यादृष्टि कई बार पुण्यबन्ध करता है अर्थात् पुण्यभाव का कर्ता है — यह बात सुनकर फूलना नहीं, क्योंकि अधिक काल तो वह निगोद में ही रहता है।

लौकिक व्यवहार से कहा जाता है कि जो दूसरे के किये हुए उपकार को भूल जाता है, वह कृतघ्नी है। श्रीमद्जी ने भी अपने नीतिवाक्यों में कहा है — 'किसी का उपकार भूलना नहीं। जो जीव धर्म के उपकार को भूलता है, वह कृतघ्नी है।'

जिसकी लौकिक नीति का ठिकाना नहीं, उसे लोकोत्तर आत्मस्वभाव समझ में आ जाये — ऐसा कभी भी नहीं होता। सत्य का एक अंश भी खण्डित कर दिया जाये तो वह सत्य नहीं रह सकता। सच्चे देवादि का उपकार, वीतरागी सन्तों का उपकार और जिनवाणी माता का उपकार कभी नहीं भूलना चाहिए।

देखो! कोई मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा के शरीर के खण्ड-खण्ड अर्थात् टुकड़े कर दे तो भी वह कषाय नहीं करता अर्थात् मन्दकषायी रहता है। इतना होने पर भी उसका लक्ष्य बाह्य की ओर ही रहता है, आत्मस्वभाव की प्राप्ति में नहीं। अत: वह पापानुबन्धी पुण्य का कर्ता होता है।

प्रतिकूलता कितनी भी हो पर व्यवहारधर्म को छोड़े नहीं, धर्म के लिए मस्तक भी कटाये अर्थात् सर्वस्व समर्पण कर दे। एक जैनमार्ग के सिवाय अन्यमार्ग को स्वीकारे भी नहीं फिर भी (इतनी बाह्य दृढ़ता होने पर भी) यदि निजस्वभाव के आनन्द की रुचि नहीं है तो सिद्ध होता है कि उसे भोगों की रुचि है; जो यथार्थत: बिल्कुल भी नहीं छूटी है। भले ही वह स्वयं ऐसा माने कि मुझे भोगों की रुचि नहीं, मेरा जीवन तो वैराग्यमय है; परन्तु उसके मानने से क्या होता है ? जिसे पुण्यरूप राग की रुचि है, उसे उसके फल की रुचि भी है, वह नहीं छूट सकती। उसे तो पर की भावना होती है — इसलिए उसे पापानुबन्धी पुण्य अर्थात् पाप से सम्बन्ध रखनेवाला पुण्यबन्ध है, जिसका कर्ता मिथ्यादृष्टि होता है।

जिसे कषाय की मन्दता रुचती है, उसे आत्मा की रञ्चमात्र भी रुचि नहीं है। कदाचित् अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्व की मन्दता हो और मात्र सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा करे तो उसके मिथ्यात्व की मंदता तो हुई है; परन्तु मिथ्यात्व का अभाव

नहीं हुआ तथा जिसके सच्चे देवादि की श्रद्धा न होकर कुदेवादि की श्रद्धा हो तो उसके मिथ्यात्व का अभाव तीन काल में भी नहीं होता।

कोई ऐसा कहे कि कुदेवादि की श्रद्धा होने पर भी हमें आत्मा की रुचि है तो उसकी यह बात सर्व प्रकार से खोटी है, क्योंकि ऐसा कभी सम्भव ही नहीं है। मिथ्यात्व की मन्दता भी जिसे नहीं हुई, उसे मिथ्यात्व के अभाव से होनेवाली आत्मा की रुचि कैसे हो सकती है ? अर्थात् कभी नहीं हो सकती है। मिथ्यात्व की मन्दता से पुण्यबन्ध होता है।

व्यवहार में अर्हन्त, सिद्ध आदि पाँचों परमेष्ठियों के स्वरूप को और तीनलोक के स्वरूप को राग और विकल्प से जाने, पर आत्मा की श्रद्धा नहीं करता तो कोई लाभ नहीं है, क्योंकि मिथ्यात्व का अभाव तो आत्मा की श्रद्धा से ही होता है। गृहीत मिथ्यात्व टल जाने पर अगृहीत मिथ्यात्व भी टल गया होगा — ऐसा नहीं है। गृहीत टल जाने पर अगृहीत मिथ्यात्व बना भी रह सकता है और टल भी सकता है, किन्तु गृहीत मिथ्यात्व के बने रहने पर अगृहीत मिथ्यात्व तो टल ही नहीं सकता तथा जिसका अगृहीत मिथ्यात्व टल गया है, उसके गृहीत मिथ्यात्व होता ही नहीं है। मिथ्यादृष्टि जीव पुण्यबन्ध का कर्ता होता है — इस प्रकार बहिरात्मा की बात हुई।

आत्मा का स्वरूप शुद्ध ज्ञायक है, जिसकी भावना से उत्पन्न हुए आनन्द के स्वाद को जो भोगता है, वह सम्यग्दृष्टि है। वह जानता है कि शुद्ध चिदानन्द ज्ञायकघन निज आत्मा की भावना ही भानी चाहिए; पुण्य-पाप की भावना भाना योग्य नहीं है। ऐसी श्रद्धा करने के कारण वह आत्मा का आस्वादी होकर आनन्द का वेदन करता है, इसलिए वह जीव संवर, निर्जरा और मोक्ष का कर्ता होता है।

जिसे पर की भावना है, उसे निज आत्मा की भावना नहीं होती है। आत्मा में पाप-पुण्य के परिणाम करूँ तो ठीक है — ऐसी जिसकी बुद्धि है, वह मिथ्यादृष्टि है।

पाप में सुखबुद्धि कैसे हो सकती है ? ऐसा पूछने पर कहते हैं कि इन्द्रियों में सुख है; पैसा-धन-दौलत, इज्जत-आबरू में सुख है; स्त्री-पुत्र आदि में सुख है — ऐसी जिसकी बुद्धि है, उसकी पाप-परिणाम में सुखबुद्धि है, क्योंकि वह उपर्युक्त पाप-परिणामों को ही तो अच्छा मानता है। वह मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है।

आत्मा का अन्तरस्वरूप चिदानन्द प्रभु है। उसकी जिसे रुचि है, उसे पर की रुचि नहीं है। 'आत्मा अनाकुल शान्त आनन्दस्वरूप, शान्तिस्वरूप है और वह मैं ही हूँ' — ऐसा जिसका विश्वास है, वह सुख के लिए आत्मा में डुबकी लगाये बिना नहीं रहता।

आत्मा ध्रुव है, उसकी पर्याय में पुण्य-पापभाव होता है। सम्यग्दृष्टि जीव क्या करता है और किसरूप होता है ? ऐसा पूछने पर कहते हैं सम्यग्दृष्टि जीव संवर, निर्जरा और मोक्ष का कर्ता है। आत्मा में होनेवाली जो आंशिक शुद्धिरूप संवर, शुद्धि की वृद्धिरूप निर्जरा, पूर्णशुद्धपरिणति अर्थात् मोक्ष — ये तीनों पर्यायें सम्यग्दृष्टि के होती हैं। मिथ्यादृष्टि के ये तीनों ही अवस्थाएँ नहीं होती हैं।

शास्त्रों में वीतरागभावों की ही मुख्यता है। जिसके पूर्ण वीतरागदशा प्रगट हुई है, वही सच्चा देव है। जिसके आंशिक वीतरागदशा पाई जाती है, वही सच्चा गुरु है और जिसमें वीतरागता का वर्णन हो, वे ही सच्चे शास्त्र हैं।

सम्यग्दृष्टि को सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा तो होती है, पर व्यवहार का आग्रह नहीं होता। मिथ्यादृष्टि को इसकी भावना होती है। मिथ्यादृष्टि को आस्रव, बन्ध और पाप की ही मुख्यता होती है, पुण्य तो उसे कदाचित् कभी-कभी होता है तथा सम्यग्दृष्टि को संवर, निर्जरा और मोक्ष की मुख्यता होती है।

सम्यग्दृष्टि जीव पुण्यप्रकृतिरूप तीर्थङ्कर नामकर्म आदि विशिष्ट पुण्यपदार्थ का कर्ता होता है, परन्तु यहाँ उसका अभिप्राय कषायों से उत्पन्न दुर्ध्यान-अशुभभावों से बचने का होता है। रागादि विकारीभावों से रहित परम सामायिक की दशा न होने पर ही ऐसा होता है। जब वह आत्मा में लीन नहीं रह सकता, तब ही पुण्यभाव में प्रवृत्त होता है। तात्पर्य यह है कि जब वह निर्विकल्प शान्ति, अतीन्द्रिय आनन्द में स्थिर नहीं रह सकता अर्थात् जब उसके पुरुषार्थ की कमजोरी का समय होता है, उस समय अशुभ-भावों से बचने के लिए शुभभाव में रहता है, शुभप्रकृतियों का बन्ध भी उसे होता है। अतः वह व्यवहार से उसका कर्ता होता है।

जिस समय शुभभाव होता है, उस समय अशुभभाव नहीं होते। अशुभभाव टलने से संसार की स्थिति कम होती जाती है; अतः वह अशुभ का नाश करता हुआ पुण्य-भाव का कर्ता होता है।

साधकदशा में संवर, निर्जरा और मोक्ष का कर्ता होता है अर्थात् संवर-निर्जरारूप परिणमित होता है। साधकदशा में संवर-निर्जरा तो होती है, किन्तु मोक्षपर्याय नहीं होती है; फिर भी मोक्ष के कारणभूत संवर-निर्जरा में आंशिक मोक्ष है; इसलिए मोक्ष का कर्ता कहा है।

साधकजीव जब निर्विकल्प आत्मा के ध्यान में नहीं रहता, तब उसे पुण्यभाव आये बिना रह ही नहीं सकता, पर पुण्य करने की भावना उसे बिल्कुल भी नहीं होती है। वह पुण्य और पाप से परे धर्मस्वरूप मोक्ष की भावना ही भाता है। शुभभाव के काल में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध भी हो जाता है; अतः उपचार से वह उसका कर्ता कहा जाता है, पर ज्ञानी को कर्तृत्व की भावना नहीं होती है।

अब, कर्तापने का विषय नयों द्वारा समझाते हैं।

पुद्गलद्रव्य अर्थात् जड़कर्म की पर्यायरूप आस्रव, बन्ध तथा पुण्य-पाप पदार्थों का कर्ता अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि जीव है।

आत्मा के आनन्द की भावना से रहित जो संसार की रुचिवाला है, वह कदाचित् साधु अथवा श्रावकनामधारी भी हो जाये, तब भी मिथ्यादृष्टि ही है।

नय सम्यक्श्रुतज्ञान का अंश है, इसलिए नय सम्यग्दृष्टि को ही होता है, मिथ्यादृष्टि को नहीं तथा जिसको द्रव्यश्रुत का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, उसको भावश्रुतज्ञान भी नहीं होता है और द्रव्यश्रुतज्ञान उसे ही होता है, जिसे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा हो; कुदेवादि की श्रद्धावाले के नहीं।

तीव्र (गृहीत) मिथ्यात्व छूटे बिना मिथ्यात्व मन्द नहीं होता और उसकी मन्दता के बिना मिथ्यात्व का अभाव भी नहीं होता अर्थात् सम्यग्दर्शन नहीं होता और सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यग्ज्ञान कैसे होगा ?

जिसे कुदेवादिक सम्बन्धी श्रद्धा है, उसे आत्मा की रुचि हो ही नहीं सकती। आजकल बहुत से लोग अध्यात्म की बातें करने लगे हैं। मोक्षमार्गप्रकाशक में पण्डित टोडरमलजी ने श्वेताम्बर स्थानकवासी को अन्यमती कहा है, क्योंकि वह कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र को माननेवाला है।

बहुत से अध्यात्म के बहाने आत्मा की बात करने लगे हैं, नकल करने लगे हैं। जैसे नकली बनावटी माल असली डिब्बे में भरकर बेचते हैं; वैसे ही जैन के नाम से कुदेवादि को माननेवाले आत्मा की बातें करने लगे हैं।

आत्मा की बात तो वही कर सकता है, जिसे सर्वज्ञ कौन है ? निर्ग्रन्थ गुरु कौन है ? वीतरागी शास्त्र कौन है ? उनका मर्म क्या है ? इत्यादि की पहिचान और श्रद्धा हो। इसके अतिरिक्त जो आत्मा की बात करे, वह स्वयं को धोखा देनेवाला है। बहुत वर्ष पहले की बात है कि सम्प्रदाय के साधु कहते थे कि जैनमत में निमित्त-उपादान और स्वभाव-विभाव नहीं हैं। देखो! इतनी भी जिसको खबर नहीं है, उसको आत्मा का भान कैसे होगा और आत्मा का भान हुए बिना आत्मा का कल्याण कैसे हो सकेगा ?

यहाँ नय की बात चलती है। अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि जीव आस्रवादिक का कर्ता है।

यहाँ आत्मा और कर्म का निकट का सम्बन्ध है; अतः अनुपचरित कहा है। आत्मा के परिणाम में कर्म का अभाव है; इसलिए असद्भूत कहा है तथा व्यवहार से कर्म का निमित्त है; अतः व्यवहार कहा है। यह सब सम्यग्दृष्टि जानता है; इसलिए उसे ही अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय कहा हुआ समझना।

'रागादि परिणामों के कारण कर्म नहीं आते अपितु वे तो आनेवाले थे, सो आये' — यदि कोई ऐसा माने तो आत्मा व्यवहारकर्ता नहीं रहता; किन्तु निश्चयकर्ता हो जाता है, लेकिन ऐसा नहीं है।

मिथ्यादृष्टि जीवभावरूप पर्याय का कर्ता अशुद्ध निश्चयनय से है। मिथ्यादृष्टि को पुण्य-पाप के परिणाम होते हैं, यह जीव की पर्याय है, मलिन होने के कारण अशुद्ध है और स्वयं की होने के कारण निश्चय है, इसलिए अशुद्ध निश्चयनय से जीव स्वयं के परिणाम का कर्ता है।

आत्मा का स्वभाव त्रिकालध्रुव है, सामान्य है। इसकी पर्याय में मिथ्यात्वादि होते हैं, जिनका कर्ता अशुद्ध निश्चयनय से आत्मा स्वयं है। देखो! यह बात सर्वज्ञ के शास्त्रों के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं है इसलिए जिसे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का निर्णय नहीं है और आत्मा की बात करता है तो वह नकलमात्र है।

सम्यग्दृष्टि जीव संवर, निर्जरा और मोक्ष पदार्थ का कर्ता अनुपचरित असद्भूतव्यवहार-नय से होता है।

आत्मा ज्ञायक है, ऐसे सामान्यस्वभाव को मुख्य करके विशेष ज्ञान अर्थात् पर्याय को गौण करके सम्यग्दृष्टि जीव में शुद्धता के कारण जो रजकण कर्मरूप होकर आनेवाले थे, वे नहीं आये, यह संवर हुआ। पुराने कर्म आंशिक झड़ते हैं — यह निर्जरा हुई और कर्म सर्वथा छूट जाते हैं — यह मोक्ष हुआ। इन तीनों पर्यायों का कर्ता सम्यग्दृष्टि जीव अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय से है।

धर्मात्मा जीव को शुद्धदृष्टि हुई। जब शुद्धि की प्रगटता, शुद्धि की वृद्धि और पूर्व शुद्धि होती है, तब जो जड़कर्म आनेवाले थे, वे नहीं आये; खिरनेवाले थे, वे खिरे और कर्मों का सर्वथा अभाव होना था, वह हुआ। इन सबका कर्ता जीव है — ऐसा अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय से कहा है।

आत्मा से कर्मों का निकट सम्बन्ध है; अतः अनुपचरित आत्मा में कर्मों का अभाव है, इसलिए असद्भूत तथा निमित्त होने से व्यवहार है — ऐसा समझना।

आत्मा में शुद्धि हुई, इसलिए जो कर्म आनेवाले थे, वे रुक गये — ऐसा माना जाये तो आत्मा व्यवहारनय से कर्ता नहीं ठहरता लेकिन निश्चयनय से कर्ता बन जाता है। परन्तु ऐसा है ही नहीं; आत्मा निश्चयनय से कर्ता नहीं होता। अतः सिद्ध होता है कि आत्मा के कारण कर्म रुके नहीं हैं। जब नवीन कर्मों का आना रुका, पुराने कर्म खिरे और उनका पूर्ण नाश हुआ, तब धर्मी जीव के शुद्ध परिणाम उसमें निमित्त हैं।

देखो! इस प्रकार कर्म तथा आत्मा के यथार्थ स्वरूप को समझे बिना धर्म नहीं होता — यह बात चतुर्थ काल के जीवों के लिए ही नहीं, किन्तु पाँचवें काल के अन्त तक रहने वाले जीवों के लिए है। चौथे काल में दूसरा धर्म हो और पाँचवें काल में दूसरा धर्म — ऐसा कभी नहीं होता। धर्म तो तीनों काल एक-सा ही होता है।

सम्यग्दृष्टि जीव, जीव की भावपर्यायरूप पदार्थ का कर्ता है, वह विवक्षित एकदेश शुद्धनिश्चयनय से है। आत्मा में संवर, निर्जरा और मोक्षरूप वीतरागी शुद्धपर्याय का परिणमन होता है, उसका एकदेश शुद्धनिश्चयनय से ज्ञानी कर्ता है — ऐसा कहा है।

ज्ञानी जीव मोक्षपर्याय का कर्ता भी एकदेश शुद्धनिश्चयनय से है, क्योंकि मोक्षपर्याय पर्याय है, पर्याय होने से अंश है, स्वयं की शुद्धपर्याय है; इसलिए वह एकदेश शुद्ध-निश्चय का विषय है। यहाँ सम्यग्दृष्टि जीव पुण्य-पाप का कर्ता है — ऐसा नहीं कहा, क्योंकि वह पुण्य-पाप, आस्रव-बन्ध का कर्ता नहीं है।

यह अधिकार सूक्ष्म है। यहाँ नयों की बात चलती है।

जिस जीव की ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि नहीं है; किन्तु पुण्य-पाप पर दृष्टि है, वह मिथ्यादृष्टि है। वह एक समय की क्षयोपशमपर्याय में सर्वस्व मानता है। ऐसा जीव आस्रव, बन्ध और पाप का कर्ता होता है। कभी-कभी पुण्य का कर्ता भी होता है।

सम्यग्दृष्टि जीव की दृष्टि स्वभाव पर होती है; राग और पुण्य आदि भावों की ओर उसका झुकाव नहीं रहता है, इसलिए एकदेश शुद्धनिश्चयनय से वह संवर, निर्जरा और मोक्ष का कर्ता है। यह जब कदाचित् स्वभाव में स्थिर न रह सके, तब पुण्य का कर्ता होता है, पाप का कर्ता नहीं, परन्तु यहाँ नयों के कथन में धर्मी जीव पुण्यभाव का कर्ता है, यह बात नहीं ली है। एकदेश शुद्धनिश्चयनय से संवर, निर्जरा और मोक्ष का कर्ता है — यही कहा है।

भाई! यहाँ तो धर्म की बात चलती है। धर्म किसे कहना ? वह कहाँ से आता है ? किसके आश्रय से होता है — यह कहते हैं।

वस्तु के स्वभाव को जिनेन्द्र भगवान ने धर्म कहा है। पर्याय में शुद्धता, निर्मलता पर्याय का धर्म है, जो नया-नया होता है। अनादिकाल से आज तक हमने एक समयमात्र धर्म नही किया। धर्म पर्याय में होता है, इसलिए नया होता है।

धर्म, धर्मीरूप द्रव्य में से आता है। प्रत्येक आत्मा में शक्तिपने त्रिकालधर्म है, जिसकी दृष्टि करने से पर्याय में धर्म की नयी पर्याय प्रकट होती है। धर्मी जीव ही संवर, निर्जरा व मोक्षरूप परिणमता है। वह एकदेश शुद्धनिश्चयनय का विषय है।

परमशुद्धनय की अपेक्षा अर्थात् परमार्थदृष्टि से देखा जाये तो यह आत्मा न तो जन्मता है और न ही मरता है। आत्मा न बँधता है, और न मुक्त होता है — ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते हैं।

ध्रुवस्वभाव में उत्पाद-व्यय का अभाव होने से ध्रुवस्वभावी आत्मा में बन्ध-मोक्ष, जन्म-मरण आदि नहीं हैं। यह कथन यथार्थदृष्टि से है।

त्रिकाल ज्ञायकस्वरूप आत्मा की पर्याय में बँधना, छूटना, उत्पाद एवं व्यय होता है; त्रिकालध्रुव में ये भेद नहीं होते हैं।

इस प्रकार एकदेश शुद्धनिश्चयनय का विषय और परमशुद्धनिश्चयनय का विषय समझना चाहिए।

अब, आगे मूल संस्कृत में कहते हैं —

'स च पूर्वोक्तविवक्षितैकशुद्धनिश्चय आगमभाषया किं भण्यते।'

पूर्वोक्त विवक्षित एकदेश शुद्धनिश्चयनय को आगमभाषा में क्या कहते हैं ?

निज शुद्ध आत्मा की सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान और आचरणरूप पर्याय होती है; अतः उसको भव्य कहते हैं। इस प्रकार भव्यत्वसंज्ञा के धारक व्यक्ति को पारिणामिकभाव से सम्बन्ध रखने वाला कहा है। तात्पर्य यह है कि भव्य को ही पारिणामिकभाव की प्रगटता है। यहाँ नय की चर्चा में भव्य-अभव्य की चर्चा नहीं की है; केवल सम्यग्दृष्टि, मिथ्या-दृष्टि की चर्चा है।

यहाँ आगमभाषा की अपेक्षा जिसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हुआ, उसे भव्य कहते हैं। उसे जो सम्यग्दर्शन की पर्याय प्रगट हुई, वही पारिणामिकभाव की प्रकट दशा है। पारिणामिकभाव नित्यध्रुवस्वभाववाला है। इसकी ही यह सम्यग्दर्शनरूप पारिणामिक-भाववाली पर्याय है। जो आत्मा के अन्तर (चैतन्य) स्वभाव के साथ सम्बन्ध रखने वाली होने से पारिणामिकभाव की अवस्था है। जो शक्तिरूप में थी, उसकी प्रगटदशा है; निमित्त अथवा व्यवहार के साथ सम्बन्ध रखनेवाली अवस्था नहीं, क्योंकि यहाँ एक-देशशुद्धनिश्चयनय की व्याख्या आगम अपेक्षा से की गई है।

अब, एकदेश शुद्धनिश्चयनय को अध्यात्म की अपेक्षा से कहते हैं —

अध्यात्मभाषा में द्रव्य शक्तिरूप शुद्ध है, उसकी भावना की जाती है — इसी भावना को दूसरे शब्दों में पारिणामिकभाव की भावना, निर्विकल्पध्यान, शुद्धोपयोग आदि कहते हैं तथा आगमभाषा की अपेक्षा एकदेश शुद्धनिश्चयनय को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि

तीन प्रकार से कहा है, लेकिन अध्यात्मभाषा की अपेक्षा उसी को पारिणामिकभाव की भावना कहते हैं।

आत्मा के साथ सम्बन्ध रखने वाली सम्यग्दर्शन-ज्ञानादिरूप पर्यायों को मोक्षमार्ग कहते हैं। जब आत्मतत्त्व, जो कि त्रिकालध्रुव है, उसका अवलम्बन लिया जाता है, तब मोक्षमार्ग प्रगट होता है। व्यवहार का अवलम्बन लेने से वह प्रगट होता हो — ऐसा नहीं है।

परमपारिणामिकभाव में जो एकाग्रता है, उसको निर्विकल्पध्यान अथवा शुद्धोपयोग कहते हैं। भगवान आत्मा अनन्त गुणों का भण्डार है, इसके साथ सम्बन्ध रखें, तब धर्म होता है; निमित्त अथवा पुण्य-पापादि विकारीभावों के साथ सम्बन्ध रखने पर नहीं।

भाई! अपने आत्मा में सब भरा पड़ा है, बाहर कहीं कुछ लेने जाना पड़े — ऐसा है ही नहीं। बाहर के संयोगों की क्या कीमत ? वे तो पानी की बाढ़ की तरह आते हैं और जाते हैं, किसी के भी रोके नहीं रुकते तथा किसी को बाधाकारक भी नहीं होते।

धर्म तो जब कभी भी होगा, निज स्वभाव के अवलम्बन से ही होगा, चाहे वह कोई-सा काल हो, कोई-सा क्षेत्र हो। देखो! आत्मा के अवलम्बन की प्रमुखता है; क्षेत्र, काल आदि की नहीं। नरक में रहो, चाहे भगवान के समवसरण में, महाविदेह-क्षेत्र में रहो, चाहे भरतक्षेत्र में, धर्म तो परमपारिणामिकभाव के अवलम्बन से ही होता है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने इसी **वृहद् द्रव्यसंग्रह** की ५८ गाथाएँ ईडर के पहाड़ पर श्री लल्लूभाई आदि (श्वेताम्बरमत के अनुयायियों) को सुनायी थीं और कहा था — 'भाई! पुराना सब बेकार है, छोड़ने में ही भला है, मार्ग कोई दूसरा है, क्योंकि जिसका निश्चय खोटा, व्यवहार खोटा, परमेष्ठी का स्वरूप खोटा, द्रव्यों का स्वरूप खोटा, तत्त्वों का स्वरूप खोटा, उसकी एक भी बात सत्य नहीं है, इसलिए उसका सब ही छोड़ देना चाहिए — इसी में भलाई है।'

शुद्धपारिणामिकभाव की भावना ही मुक्ति का कारण है, पारिणामिकभाव ही ध्येय अर्थात् ध्यान करनेयोग्य है, स्वयं ध्यानरूप नहीं। समयसार की टीका में जयसेनाचार्य लिखते हैं कि ध्यान करनेयोग्य अथवा ध्येय परमपारिणामिकभाव एक ही है, क्योंकि

जो ध्येय है, वह ध्यानरूप नहीं हो सकता है। संवर, निर्जरा और मोक्ष — ये ध्येय नहीं हैं, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी ध्येय नहीं हो सकते; ध्यान का ध्येय तो शुद्धपारिणामिकभाव ही है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि ध्येय, ध्यानरूप क्यों नहीं होता है ? तो उसका उत्तर यह है कि ध्यान पर्याय है और पर्याय होने से नाशवान है। नाशवान का ध्यान कैसे हो सकता है ? ध्येय तो सदा द्रव्यरूप अविनाशी होता है। ध्यान एक समय की पर्याय है, उसमें ध्येय त्रिकाली सम्पूर्ण वस्तु नहीं आती है, शक्ति तो सदा एकरूप है, उसकी व्यक्ति नहीं होती है। यदि शक्ति की व्यक्ति होवे तो वस्तु नहीं रहती, इसीलिए जो ध्येय है, वह ध्यान नहीं। त्रिकाली द्रव्य कभी भी पर्यायरूप परिणमता ही नहीं, वही ध्येय है और यदि ध्येय थोड़ा भी अर्थात् एक अंश भी ध्यानरूप परिणम जाये तो शक्ति का अभाव हो जायेगा, किन्तु ऐसा होता नहीं है; क्योंकि ध्येय तो सदैव ध्रुव-एकरूप ही रहता है। जब मतिज्ञान की हीन अवस्था होती है अथवा केवलज्ञान की पूर्ण अवस्था होती है, तब भी ध्येय एकरूप त्रिकाल जैसा का तैसा ही रहता है। पर्याय पलट जाती है, लेकिन द्रव्यस्वभाव तो ज्यों का त्यों रहता है, पलटता नहीं है। यदि पलट जाये तो द्रव्य का अभाव हो जाये। ध्येय, ध्यान का विषय होता है, पर ध्यान स्वयं ध्येयरूप या ध्यानरूप नहीं होता है।

देखो! यह द्रव्य और पर्याय की बात है, निमित्त और व्यवहार तो ध्येय है ही नहीं; किन्तु ध्यान की पर्याय का व्यय और केवलज्ञान का उत्पाद भी ध्यान का विषय अर्थात् ध्येय नहीं है। कारण, उत्पाद-व्यय ध्यान का विषय बनता ही नहीं है। ध्यान का ध्येय तो सदा एकरूप शुद्धपारिणामिकभाव है।

इस प्रकार आगमभाषा और अध्यात्मभाषा की अपेक्षा से बात कही। इसका तात्पर्य आगे कहेंगे।

एक देश शुद्धनिश्चयनय का विषय आगम और अध्यात्म की अपेक्षा क्या है ? इसकी यहाँ चर्चा चलती है।

देखो! यह बात सूक्ष्म है। आत्मा भी सूक्ष्म और अरूपी है, तब आत्मा की बात भी सूक्ष्म क्यों न हो ? लेकिन अनादिकाल से आज तक लोगों ने आत्मा की सूक्ष्म बात सुनी ही नहीं तथा ऐसी सूक्ष्म बात को बताने वाले सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को भी नहीं

जाना। फलितार्थ यह हुआ कि सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की व्यवहारशरण भी उसे नहीं मिली, इसलिए साबित हुआ कि पहले सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का व्यवहारज्ञान किये बिना आत्मा का सूक्ष्म ज्ञान हो जायेगा — ऐसा संभव ही नहीं है और आत्मा का ज्ञान किये बिना मुक्ति भी सम्भव नहीं हो सकती।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी कहा है कि जो जीव सदैव ज्ञान का अभिलाषी है, वह जिज्ञासु है। यथार्थतः सच्चा जिज्ञासु वही है, जिसे सूक्ष्म ज्ञान करने की भावना निरन्तर बनी रहे।

अब, यहाँ नय के सूक्ष्म अधिकार का तात्पर्य क्या है — यह स्पष्ट करते हैं।

मिथ्यात्व रागादि जो विकल्पों का समूह है, उनसे रहित जो निज शुद्ध आत्मा है, उसकी भावना से उत्पन्न सहज आनन्दरूप जो सुखमय ज्ञान है, उसको धारण करनेवाली भावना ही मुक्ति का कारण है। वही भावना निर्विकल्पध्यान शुद्धोपयोग आदि अन्य नामों से जानी जाती है। चिदानन्दस्वभावी अखण्ड आत्मा की अन्तरोन्मुखी पर्याय ध्यान कहलाती है। उपयोग का अन्तःस्वरूप में झुकना अन्तरोन्मुखी दशा है।

जो पर्याय उत्पन्न हो गयी है, उसे कैसे झुकावें और जो उत्पन्न ही नहीं हुयी, उसे कैसे झुकावें ? भाई! आत्मसन्मुख पर्याय का उत्पाद होना, यही पर्याय का अन्दर में झुकना कहलाता है।

इसके पहिले नव तत्त्व, छह पदार्थ, और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का यथार्थ ज्ञान होना चाहिए। जो सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप को भूलकर, सच्ची पात्रतापूर्वक सेवक होने लायक भी नहीं है और जो जगत का गुरु होना चाहता है, बड़प्पन लेना चाहता है, वह अनन्त संसारी है। आजकल बहुत से लोग विभिन्न अभिप्राय से सेवा करना आदि ही जैनधर्म है अर्थात् इन बाह्य क्रियाओं को जैनधर्म में समाविष्ट कर देते हैं; परन्तु उनकी यह धर्ममूढ़ता ही है। जैनधर्म को समझे बिना-आत्मस्वभाव को जाने बिना करेगा भी क्या ?

आत्मा के त्रिकाली ध्रुव शुद्धस्वभाव से उत्पन्न स्वाभाविक आनन्द और ज्ञान होना ही मुक्ति का करण है। पर्याय जब स्व-सन्मुख नहीं थी, पर-सन्मुख थी, तब तो मुक्ति का कारण नहीं थी, परन्तु जब स्व-सन्मुख हुई, तब मुक्ति का कारण बनी।

स्याद्वाद और अनेकान्त के आश्रय से वीतरागी संतों की वाणी का अभिप्राय समझना चाहिए।

जीव और पुद्गल के संयोग के परिणामस्वरूप जो विभाव होता है, उससे आस्रव, बन्ध, पुण्य और पाप — इन चार पदार्थों की उत्पत्ति होती है।

संसारी आत्मा के कर्मों का संयोग है। इसी संयोग का आश्रय लेने पर आत्मा में आस्रव, बन्ध, पुण्य, पाप भावोंरूप पर्याय होती है तथा संयोगरूप परिणाम के विनाश से संवर, निर्जरा और मोक्ष की पर्याय होती है। जिसे मोक्ष पाना हो उसे संयोग पर से दृष्टि हटा देनी चाहिए।

स्वभावसन्मुख होने पर विभावभाव का नाश होता है और कर्म के निमित्त का भी अभाव होता है — यही संवर, निर्जरा और मोक्ष है; लेकिन स्वभाव को चूककर संयोग का आश्रय लेने पर मात्र आस्रव, बन्ध आदि की दु:खरूप पर्यायें ही होती हैं।

इस प्रकार आत्मा के संयोगसहित और संयोगरहित कथञ्चित् परिणमन की विवक्षा से नव पदार्थों की सिद्धि होती है। यहाँ संवर, निर्जरा आदि पर्यायों को स्वभावपर्याय कहा है।

नियमसार में क्षायिकभाव को भी विभावभाव कहा है; परन्तु यहाँ क्षायोपशमिकभाव को भी स्वभावभाव कहा है। दोनों कथनों का मर्म समझने के लिए अपेक्षा समझनी चाहिए। यहाँ तो नवपदार्थों की सिद्धि करने के लिए संवर आदि पर्याय को भी स्वभाव भाव कहा है और नियमसार में ध्रुवदृष्टि कराने के लिए, पर्यायदृष्टि का निषेध करने के लिए इनको भी विभावभाव कहा है। पर्याय के लक्ष्य से राग होता है, इसलिए स्वभावदृष्टि कराने के लिए क्षायिकभाव को भी विभावभाव कहा गया है।

यहाँ तो संयोग के सद्भाव और संयोग के अभाव से होनेवाली आत्मा की पर्याय में सात पदार्थ होते हैं — यह सिद्ध किया गया है।

अब, उक्त नवपदार्थों का निरूपण करते हैं, जो इस प्रकार है —

आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पापरूप जो पदार्थ जीव और अजीवद्रव्य के विशेष हैं, उन्हें भी हम संक्षेप में कहते हैं।

आस्रव से रहित जो निजानन्दस्वरूपी आत्मा का ज्ञान है, उससे विलक्षण शुभाशुभ भावों के निमित्त से शुभ और अशुभकर्मों का आना, वह आस्रव है।

यहाँ तीन बातें कहीं। **एक** — आस्रव से रहित निज आत्मा का ज्ञान, **दूसरा** — आत्मज्ञान से रहित शुभाशुभ परिणाम और **तीसरा** — उन परिणामों के निमित्त से शुभा-शुभ जड़ कर्मों का आना। यहाँ शुभाशुभ परिणाम भावास्रव और जड़कर्मों का आना द्रव्यास्रव है।

बन्ध से रहित शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धिस्वरूप भावना से भ्रष्ट हुए जीव को कर्म प्रदेशों के साथ जो संश्लेष (सम्बन्ध) होता है, वह बन्ध है। चिदानन्द आत्मा तो तीनों काल बन्ध से रहित अर्थात् विकारीपरिणाम से रहित है — ऐसे आत्मा की भावना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से भ्रष्ट हुआ जीव ही बन्ध को प्राप्त होता है। किसी कर्म के कारण यह इनसे भ्रष्ट हुआ, यह बात नहीं है, क्योंकि स्वभाव से च्युत तो यह स्वयं हुआ है। स्वरूप को न जानने सम्बन्धी भूल करके जब यह राग-द्वेष विकारीभावों में भटकता है, तब उन राग-द्वेषभावों का निमित्त पाकर आत्मा के साथ एकक्षेत्र में कर्म आकर रहते हैं, वह द्रव्यबन्ध है।

कर्मों के आस्रव को रोकने में समर्थ जो निज आत्मा का ज्ञान है, उस ज्ञान से परिणत जीव को शुभाशुभ कर्म नहीं आते हैं, वह संवर है। आत्मा जब वीतरागी पर्याय को करने में समर्थ होता है अर्थात् आत्मा जब स्वभावरूप परिणमता है, तब जो कर्म आने-योग्य नहीं थे, उन कर्मों को रोका — ऐसा कहा जाता है। निष्कर्ष के रूप में शुभाशुभ कर्मों का निरोध करके उत्पन्न हुई आत्मा की स्व-सन्मुख अवस्था ही संवर है। यहाँ वीतरागीपरिणति की ही मुख्यता है; कर्मों के रुकने की नहीं। यह बात सबको समझने जैसी है, समझ में न आवे, इसका कोई प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि आजतक जितने भी केवली हो गये हैं, वे सब पहले हमारे जैसे ही थे, हमारी जैसी अवस्था में ही उन्होंने यह बात समझी थी।

भूतकाल में अनन्त भव बिताये हैं। उनमें जो भिखारी की तरह 'माई-बाप! रोटी', 'माई-बाप! रोटी' — इस प्रकार भीख माँगते थे, वे जीव भी भगवान बन गये हैं, परन्तु आत्मा में उतरे (लीन हुए), तभी भगवान बने — यह ध्यान रखना चाहिए। जो आत्मा विकाररूप परिणमित होता था, वही अब स्वभावसन्मुख हुआ-परिणति स्वाश्रित हुई तो

भगवान बना। आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का भोजन करने लगा, दीनता की वृत्ति समाप्त हो गई, हीनता निकल गई, पामरता रही ही नहीं। देखा! आत्म-सन्मुखता का कमाल! भिखारी भी भगवान बन गया।

कर्मों का न आना संवर है, परन्तु यहाँ यह भी समझना है कि कर्म आनेवाले थे ही नहीं, सो नहीं आये। यहाँ ऐसा नहीं समझना कि कर्म तो आनेवाले थे, परन्तु जीव ने स्व-परिणाम किया तो रुक गये।

शुद्ध उपयोग की भावना के बल से जली हुई रस्सी की तरह अर्थात् शक्तिहीन हुए कर्म-पुद्गलों का एकदेश नाश होता है, उसको निर्जरा कहते हैं। बाह्यपदार्थों के जानने में बरबाद होने वाला उपयोग जब अन्त:तत्त्व में-निजशुद्धात्मा में लग जाता है, तब उस दशा को शुद्धोपयोग कहते हैं।

जिस व्यक्ति को अपनी अन्तरङ्ग अनन्त शक्तियों पर भरोसा होता है और जब पूर्ण विश्वास जम जाता है, तब उसके बल से निर्जरा होती है — ऐसा कहा है। भोजन नहीं करने से, मासोपवास करने से निर्जरा होती है — ऐसा नहीं कहा।

कर्म की ओर का झुकाव छूट गया, उस समय कर्म के रजकणों में रस होने (फल देने की सामर्थ्य होने) पर भी आत्मा स्वयं के रस में लीन हुआ अर्थात् कर्म नीरस हो गये — ऐसा कहा जाता है। स्वभाव का आश्रय होने पर कर्म झड़ते हैं, इसे निर्जरा कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि जब आत्मा स्वरूपानन्द की भावना भूलकर पर की भावना वाला था, तब कर्म को फल देने की शक्ति वाला कहा जाता है तथा आत्मा जब स्वभाव-सन्मुख हुआ, तब इन्हीं कर्मों को शक्तिहीन (नीरस) कहा जाता है।

केवली भगवान के कर्मों का उदय होने पर भी उनके भाव को क्षायिकभाव कहा है, क्योंकि प्रत्येक समय उनके निर्जरा होती है, उसी प्रकार यहाँ पर भी कर्मों का रस होने पर भी जो आत्म-सन्मुख हुआ है, उसके लिए कर्म नीरस हैं।

दिगम्बर सन्तों की बात ही अनोखी है, जिसे रुच जाये, उसका भला हुए बिना नहीं रहता। शुद्धता वाला शुद्धता में ही मिला रहता है। आत्मा में शुद्धता की वृद्धि हुई और कर्म निर्बल हो गये — ऐसा कहा जाता है।

कर्म खिरे, वह द्रव्यनिर्जरा तथा आत्मा में शुद्धि की वृद्धि हुई, यह भावनिर्जरा है।

जीव और पुद्गल के परस्पर मिलनरूप बन्ध को नाश करने में समर्थ आत्मलीनतारूप परिणाम ही मोक्ष कहलाता है। निज आत्मतत्त्व की प्राप्ति भावमोक्ष और उसके निमित्त से कर्मों का नाश द्रव्यमोक्ष है।

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष — इन नव पदार्थों को सामान्यरूप से पहले जीव-अजीव कहा गया है। उन्हें संक्षेप में यहाँ भी कहते हैं। आस्रवादि पदार्थ कैसे अवस्थित हैं, तो कहते हैं कि ये जीव और अजीव के ही विशेष हैं अर्थात् जीव और अजीव की ही पर्यायें हैं।

तात्पर्य यह है कि आत्मा चैतन्यस्वभावी है, उसके आस्रवादिपरिणाम अशुद्धपरिणाम हैं और जो आस्रवादि की द्रव्यकर्मरूप पुद्गल की पर्यायें हैं, वे अजीव हैं।

इस प्रकार इस अधिकार की सूचक गाथा समाप्त हुई।

❖❖❖

बाघ-सिंह तो हमारे मित्र हैं

'जहाँ सिंह और बाघ गरजते हुए विचरण करते हों - ऐसे जङ्गल में मैं अकेले आत्मस्वरूप का ध्यान करूँगा... सिंह और बाघ शरीर को खा जाएँगे तो भी उसका विकल्प न हो और मैं निर्भय होकर अडोल आसन में बैठकर स्वरूप का ध्यान करूँगा। अरे! मैं तो चैतन्यगुफा में विश्रान्त अरूपी आनन्दकन्द भगवान आत्मा हूँ... मुझे कौन खाएगा? यदि बाघ आकर शरीर को खा जाएँ तो भी हमें शरीर से ममत्व नहीं है; हम तो उसे छोड़ना ही चाहते हैं और उसे वह ले जा रहा है... इस प्रकार वह तो हमारा मित्र ही है।'

— यह मुनियों की वीतरागता समझाने के लिए किया गया कथन है, लेकिन मुनियों को ध्यान में ऐसे विकल्प नहीं होते, उन्हें तो चैतन्य की लीनता में देह-सम्बन्धी विकल्प भी नहीं होते।

(- महामहोत्सव प्रवचन, पृष्ठ ३४)

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-२९

अब, तीन गाथाओं द्वारा आस्रव पदार्थ का व्याख्यान करते हैं। उसमें प्रथम भावास्रव और द्रव्यास्रव के स्वरूप की सूचना करते हैं —

आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ।
भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि॥२९॥

आस्रवति येन कर्म्म परिणामेन आत्मनः सः विज्ञेयः।
भावास्रवः जिनोक्तः कर्म्मास्रवणं परः भवति॥२९॥

कर्म आना द्रव्य आस्रव जीव के जिस भाव से।
हो कर्म आस्रव भाव वे ही भाव आस्रव जानिये॥२९॥

गाथार्थ :— आत्मा के जिस परिणाम से कर्म का आस्रव होता है, उसे जिनेन्द्रकथित भावास्रव जानना और जो (ज्ञानावरणादि) कर्मों का आस्रव है, वह द्रव्यास्रव है।

टीका :— **'आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ भावासवो'** आत्मा के जिस परिणाम से कर्म आता है, उसे भावास्रव जानना। कर्म के आस्रव का नाश करने में समर्थ ऐसी शुद्धात्मा की भावना से प्रतिपक्षभूत जिस परिणाम से कर्म आता है; किसके परिणाम से? आत्मा के-अपने उस परिणाम को भावास्रव जानना। वह भावास्रव कैसा है? **'जिणुत्तो'** जिनेन्द्र-वीतराग सर्वज्ञदेव द्वारा कथित है। **'कम्मासवणं परो होदि'** कर्मों का जो आगमन है, वह 'पर' है। (अर्थात् ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों का आस्रवण-आगमन वह पर अर्थात् अन्य है।) 'पर' शब्द का क्या अर्थ है? 'भावास्रव से अन्य, भिन्न।' भावास्रव के निमित्त से, तेल लगे हुए पदार्थों को धूल चिपकती है, उसी प्रकार, जीव को द्रव्यास्रव होता है।

शंका :- वास्तव में **'आस्रवति येन कर्म'** — 'जिससे कर्म का आस्रव होता है' इस पद से ही द्रव्यास्रव का कथन हो गया तो फिर **'कम्मासवणं परो होदि'** — कर्मास्रव अन्य होता है' इस पद से द्रव्यास्रव का व्याख्यान किसलिये किया ?

समाधान :— तुम्हारी शंका योग्य नहीं है, क्योंकि 'जिस परिणाम से; क्या होता

है ? कर्म का आस्रव होता है; ऐसा जो कथन है, उससे परिणाम का सामर्थ्य बतलाया है, द्रव्यास्रव का व्याख्यान नहीं किया है।' इस प्रकार तात्पर्य है॥२९॥

गाथा २९ पर प्रवचन

इस सप्त तत्त्व-नव पदार्थ अधिकार में सर्वप्रथम २८वीं गाथा में सामान्यरूप से नव पदार्थों का व्याख्यान किया गया है। इसके बाद आगे की गाथाओं में नव पदार्थों का विशेष व्याख्यान करते हैं।

आत्मा के जिस परिणाम से कर्म का आस्रव होता है, उसे जिनेन्द्रभगवान ने भावास्रव कहा है और जो कर्मों का आस्रव होता है, वह द्रव्यास्रव है।

यह आस्रव का अधिकार है। जीव और अजीवतत्त्व का अधिकार तो समाप्त हो गया। अब सर्वज्ञभगवान जिनेन्द्रदेव आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष का स्वरूप विस्तार से कहते हैं। यहाँ २९वीं गाथा में भावास्रव और द्रव्यास्रव का सामान्यस्वरूप बताते हैं।

सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्यदेव निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिवर थे, महासंत थे; परन्तु फिर भी वे सर्वज्ञभगवान वीतरागदेव के आधार पर यह कहते हैं कि आत्मा के जिस परिणाम से कर्म का आस्रव होता है, वह परिणाम भावास्रव कहलाता है। भावास्रव जीव की मिथ्यात्व-राग-द्वेषरूप विकारी अवस्था है। एक समय की विकारीपर्याय में उल्टी मान्यता, राग और द्वेष होता है, वही भावास्रव है और भावास्रव से भिन्न परभाव-रूप जो नवीन पुद्गलपरमाणुओं का, कर्मवर्गणाओं का आगमन होता है, वह द्रव्यास्रव है। भावास्रव तो जीव का विकार है और द्रव्यास्रव, जड़-पुद्गलद्रव्य की पर्याय है।

द्रव्यास्रव का कारण भावास्रव है। जिस प्रकार तालाब में नाली के द्वारा पानी आता है; यद्यपि नाली से पानी पृथक् है, तथापि नाली का द्वार बन्द कर दें तो पानी आना बंद हो जाता है। उसी प्रकार आत्मा में विकारीभाव होते हैं, वे भावास्रव हैं; उनके द्वारा जड़कर्मों का आगमन होता है, वे द्रव्यास्रव हैं। यद्यपि भावास्रव से द्रव्यास्रव भिन्न है, क्योंकि भिन्न-भिन्न पदार्थ के आश्रित परिणाम हैं, तथापि स्वभावसन्मुख होने पर भावास्रवरूपी द्वार बन्द हो जाता है, इसकारण द्रव्यास्रव भी रुक जाता है — ऐसा करणानुयोग का विधान है।

जिस परिणाम से कर्म आता है, उसे भावास्रव जानना। देखो! यहाँ भावास्रव को सिद्ध करते हैं। आत्मा है तो उसे वर्तमान में मलिनता है या नहीं। यदि मलिनता नहीं है तो प्रकट में आनन्द होना चाहिए और यदि प्रकट में आनन्द नहीं है तो इससे सिद्ध होता है कि मलिनता भी है। यहाँ यह भी समझना चाहिए कि मलिनता (राग-द्वेष-मोहादि) मात्र पर्याय में ही हैं, त्रिकाली स्वभाव में नहीं है। त्रिकाली स्वभाव मलिन नहीं है; क्योंकि त्रिकाली स्वभाव भी मलिन हो तो मलिनता का अभाव कभी हो ही नहीं सकता।

भावास्रव तो एक समय की अवस्था में है। भावास्रव में सम्पूर्ण अमर्यादित आत्मा नहीं आ जाता। अमर्यादित ध्रुवस्वभाव में भावास्रव नहीं है। चाहे जैसा अशुभभाव हो या शुभभाव, परन्तु है तो मर्यादित एकसमय की स्थिति वाला ही, दो समय का कभी मिश्रित होकर एकरूप नहीं होता, भावास्रव का स्वरूप ऐसा ही है, यह जानना चाहिए।

कर्म के आस्रव का नाश करने में समर्थ, ऐसी शुद्धात्मा की भावना से प्रतिपक्षभूत (जीव के) जिस परिणाम से कर्म आता है; उस परिणाम को भावास्रव जानना।

आत्मा ज्ञायकशुद्धस्वभावी है, उसकी भावना वीतरागभाव है। उससे भिन्न काम, क्रोध, दान, पूजा आदि परिणाम वीतरागभाव से विरुद्ध परिणाम हैं और इनसे भावास्रव होता है। भावास्रव स्वभाव के साधन से उल्टे साधन हैं, यथार्थ साधन नहीं हैं।

कहीं-कहीं शास्त्र में व्यवहाररत्नत्रय को साधन और निश्चयरत्नत्रय को साध्य कहा जाता है। वहाँ देव-शास्त्र-गुरु के निमित्त की अपेक्षा ऐसा कथन किया जाता है; परन्तु यहाँ वास्तविकता की अपेक्षा कथन किया जा रहा है।

कर्मों का जो आगमन है, वह 'पर' है। (अर्थात् ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों का आस्रवण आगमन, वह पर है-अन्य है।) 'पर' शब्द का क्या अर्थ है? 'भावास्रव से अन्य है, भिन्न है।' जिस प्रकार तेल लगे हुए पदार्थों को धूल चिपकती है, उसी प्रकार भावास्रव के निमित्त से जीव को द्रव्यास्रव होता है।

शंका :— जिसे कर्म का आस्रव होता है- इस पद के द्वारा ही वास्तव में द्रव्यास्रव का कथन हो गया तो फिर कर्मास्रव अन्य होता है- इस पद का व्याख्यान किसलिए किया ?

समाधान :— तुम्हारी शंका योग्य नहीं है, क्योंकि 'जिस परिणाम से कर्म का आस्रव होता है' — इस प्रकार जो कथन किया गया है, उससे परिणाम का सामर्थ्य बतलाया है, द्रव्यास्रव का व्याख्यान नहीं किया है — यह तात्पर्य है।

जिस परिणाम से कर्म का आस्रव होता है, यहाँ आत्मा के परिणाम का सामर्थ्य बतलाया है, लेकिन यह सामर्थ्य निमित्तरूप ही है। जीव में विकारीभाव होते हैं, तब उन विकारीभावों के निमित्त से कर्म का आस्रव होता है। इस प्रकार यह द्रव्यास्रव का व्याख्यान न होकर, भावास्रव के निमित्तरूप सामर्थ्य का ज्ञान कराया गया है।

आस्रवादि पर्यायों के विशेष व्याख्यान का तात्पर्य यह है कि कोई ऐसा मानते हैं कि वस्तु में परिणाम या परिणमन नहीं होता है, उन्हें आचार्यदेव समझाते हैं कि यदि वस्तु में अवस्था या परिणाम का बदलना न होता हो तो आत्मा की अवस्था से विकार का नाश करके मोक्ष प्रकट करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। इस प्रकार वस्तु में परिणमन होता ही है — यह सिद्ध हुआ। अतः आत्मा की अवस्था में आस्रव-बन्ध है और उन्हें समूल नष्ट करके संवर-निर्जरा-मोक्ष प्रगट करना योग्य है।

इस प्रकार भावास्रव व द्रव्यास्रव का सामान्यस्वरूप बतलाया गया।

❖❖❖

भगवान को भी मुनिदशा के बिना मुक्ति नहीं

देखो! इन्द्र भी जिनका जन्मोत्सव मनाते हैं, ऐसे भगवान को भी अन्तर में ऐसी चारित्रदशा प्रगट हुए बिना केवलज्ञान नहीं होता — ऐसा वस्तु का स्वभाव है। अन्तर में जैसा रागरहित स्वभाव है, वैसी रागरहित दशा आत्मा की हो तो बाहर में जैसा माता ने जन्म दिया है, वैसी शरीर की दशा स्वयं हो जाती है — ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध मुनिदशा में होता है। अन्तर में वीतरागभाव प्रगट हो गया हो और बाह्य में बुद्धिपूर्वक वस्त्रादि का सम्बन्ध रहे — ऐसा तीन काल और तीन लोक में नहीं होता। भगवान ऐसी पवित्रदशा की भावना भाते थे और आज उन्होंने वह दशा अङ्गीकार की है। *(- महामहोत्सव प्रवचन, पृष्ठ २४)*

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-३०

अब, भावास्रव का स्वरूप विशेषरूप से कहते हैं —

मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोधादओऽथ विण्णेया।
पण पण पणदस तिय चदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स॥३०॥

मिथ्यात्वाविरतिप्रमादयोगक्रोधादयः अथ विज्ञेयाः।
पञ्च पञ्च पञ्चदश त्रयः चत्वारः क्रमशः भेदाः तु पूर्वस्य॥३०॥

मिथ्यात्व-अविरति पाँच-पाँचरु पंचदश परमाद हैं।
त्रय योग चार कषाय ये सब आस्रवों के भेद हैं॥३०॥

गाथार्थ :— पहले के (भावास्रव के) मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और क्रोधादि कषाय इतने भेद जानना। उनमें मिथ्यात्व आदि के अनुक्रम से पाँच, पाँच, पन्द्रह, तीन और चार भेद हैं।

टीका :— **'मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोधादओ'** मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और क्रोधादि कषाय, आस्रव के भेद हैं। अन्तरङ्ग में जो वीतराग निजात्मतत्त्व की अनुभूति और रुचि में विपरीत अभिनिवेश उत्पन्न कराता है और बाह्य में अन्य के शुद्धात्मतत्त्व आदि समस्त द्रव्यों में विपरीत अभिनिवेश उत्पन्न कराता है, उसे मिथ्यात्व कहते हैं।

अन्तरङ्ग में निज परमात्मस्वरूप की भावना से उत्पन्न परम सुखामृत में जो रति (लीनता), उससे विलक्षण और बाह्य विषय में अव्रतरूप (अर्थात् व्रत धारण न करने का भाव), वह अविरति है।

अन्तरङ्ग में प्रमादरहित शुद्धात्मा की अनुभूति में चलनरूप (चलपनेरूप) और बाह्य-विषय में मूल और उत्तरगुणों में मल उत्पन्न करनेवाला प्रमाद है।

निश्चय से परमात्मा निष्क्रिय है तो भी उसे व्यवहार से वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न ऐसा, मन-वचन-काय वर्गणा को अवलम्बन करनेवाला, कर्म-वर्गणा के ग्रहण करने में हेतुभूत ऐसे आत्मप्रदेशों का जो परिस्पन्द होता है, उसे योग कहते हैं।

अन्तरङ्ग में परम-उपशममूर्ति, केवलज्ञानादि अनन्त गुणस्वभावी परमात्मस्वरूप में क्षोभ उत्पन्न करने वाला और बाह्य-विषय में अन्य पदार्थों के सम्बन्ध से क्रूरता आदि आवेशरूप, वह क्रोधादि कषाय है।

इस प्रकार ऊपर कहे लक्षणयुक्त पाँच आस्रव हैं। '**अथ**' अब, '**विण्णेया**' इसे जानना चाहिए। उसके कितने भेद हैं? '**पण पण पणदस तिय चदु कमसो भेदा दु**' मिथ्यात्व आदि के अनुक्रम से पाँच, पाँच, पन्द्रह, तीन और चार भेद हैं।

उनका विस्तार:- ('**एयंतबुद्धदरसी विवरीओ ब्रह्म तावसो विणओ। इन्दो विय संसइदो मक्कडिओ चेव अण्णाणी॥** बौद्धमत एकान्तमिथ्यात्वी है, याज्ञिक-ब्रह्म विपरीत-मिथ्यात्वी है, तापस विनयमिथ्यात्वी है, इन्द्राचार्य संशयमिथ्यात्वी है और मस्करी अज्ञानमिथ्यात्वी है।') इस गाथा में कहे हुए लक्षण अनुसार पाँच प्रकार का मिथ्यात्व है। हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह की आकांक्षारूप अविरति भी पाँच प्रकार की है अथवा मनसहित पाँच इन्द्रिय की प्रवृत्ति और पृथ्वी आदि छह काय की विराधना के भेद से बारह प्रकार की है। 'चार विकथा, चार कषाय, पाँच इन्द्रिय, निद्रा एक और स्नेह एक — इस प्रकार पन्द्रह प्रमाद कहे हैं।' - इस गाथा में कहे अनुसार पन्द्रह प्रमाद हैं। मन, वचन और काया के व्यापार के भेद से तीन प्रकार का योग है अथवा विस्तार से पन्द्रह प्रकार का योग है। क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से कषाय चार हैं अथवा कषाय और नोकषाय के भेद से पच्चीस प्रकार हैं। ये सब भेद किसके हैं? '**पुव्वस्स**' पूर्व गाथा में कथित भावास्रव के हैं॥३०॥

गाथा ३० पर प्रवचन

भावास्रव के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और क्रोधादिक कषाय — इस प्रकार पाँच भेद जानना। उनमें मिथ्यात्वादि के अनुक्रम से पाँच, पाँच, पन्द्रह, तीन और चार भेद हैं।

आत्मा अनादि-अनन्त टंकोत्कीर्ण वस्तु है। ऐसी आत्माएँ जगत में अनन्त हैं। स्वयं के कारण होने से आत्मा का अस्तित्व स्वतन्त्र है। स्वयं सत्तावाले आत्मा की अवस्थाओं का जो परिणमन समय-समय में होता है, वह स्वयं के कारण तथा स्वकाल में ही होता है; अन्य वस्तु या निमित्त के कारण नहीं होता।

प्रत्येक जीव या पुद्गल पदार्थों का परिणमन अपने से होता है अर्थात् जीव की अवस्था, जीव से होती है और इस शरीर की हलन-चलनादिकरूप क्रिया, शरीररूप पुद्गल से होती है; परन्तु इस जीव को अज्ञानता के कारण यह भ्रम है कि निमित्त के उपस्थित होने से उपादान में हेरा-फेरी हुई; परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है।

प्रत्येक पदार्थ में अपने स्वकाल में अपने से ही परिणमन होता है। उस पर्याय का वही स्वकाल है और वह अन्य के कारण या निमित्तादिक के कारण नहीं है।

यहाँ पर अज्ञानी को यह भ्रम है कि वस्तु की ऐसी अवस्था स्वयं कैसे हो सकती है, अन्य वस्तु के सम्बन्ध से ही ऐसी अवस्था का होना सम्भव है। जैसे कि आत्मा में ज्ञान होने की शक्ति तो त्रिकाल पड़ी है, परन्तु ज्ञान की प्रगटरूप अवस्था तो जब पदार्थ सामने आये, तभी होती है। पदार्थ के सामने आये बिना उसका ज्ञान कैसे हो सकता है?

उसका उत्तर यह है कि भाई! पदार्थ में अर्थात् आत्मा में ज्ञान प्रगट होने की शक्ति है, वह तो त्रिकाल द्रव्यरूप है और जो जाननेरूप अवस्था होती है, वह अपने स्वकाल में अपने कारण से ही होती है। उस समय अन्य ज्ञेयपदार्थ सामने होता ही है। पदार्थ के वास्तविक ज्ञान होने में और पदार्थ की उपस्थिति में कालभेद नहीं है।

शब्द के कारण भी ज्ञान नहीं होता है अर्थात् ज्ञान होने में शब्द कारण नहीं है। यहाँ शब्द के जाननेरूप ज्ञान का स्वकाल अपने से है और उस काल में शब्द, शब्द के ही कारण है।

अब निमित्त-उपादान का क्रमबद्ध व्यवस्थितपना बताते हैं। किसी पदार्थ की अवस्था का जो काल निश्चित है, उस पदार्थ की वह अवस्था उसी काल में होती है। जिस काल में जिस प्रकार की अवस्था होनी निश्चित है, उसी प्रकार की अवस्था होती है तथा जिस समय ज्ञान की जो पर्याय होना है, उस समय वही पर्याय होती है और उस समय जानने में निमित्त जो भी पदार्थ होना होता है, वही होता है अर्थात् प्रत्येक कार्य के सम्पन्न होने में निमित्त-उपादान का क्रमबद्ध व्यवस्थितपना है।

अज्ञानी को भ्रम है कि उस समय में वही पर्याय और वही निमित्त कैसे होता है, दूसरा क्यों नहीं होता ? विकारी परिणाम कैसे होता है ? अज्ञानी कर्म के उदय से विकार होना मानता है।

भगवान समझाते हैं कि आत्मा के गुण की अवस्था में विपरीतता के कारण विकार होता है। अरे भाई! जिस समय में जिस योग्यता के कारण जो विकार होना होता है, उस समय वही पर्याय और वही निमित्त होता है।

जिस समय सम्यक् या मिथ्या, जो पर्याय होनी होती है, वह उस ही समय में होती है और निमित्त भी निश्चित होता है। अतः वर्तमान में एक समय का परिणमन जिस प्रकार क्रमरूप व्यवस्थित है, उसी प्रकार दो, तीन, चार आदि अनन्त समय का अर्थात् तीनों काल का परिणमन भी क्रमबद्ध व्यवस्थित है।

ऐसी बात सुनकर अज्ञानी के हृदय पर वज्रपात होता है कि अब तो मैं बँध गया। प्रत्येक समय का परिणमन (उपादान का उपादान में और निमित्त का निमित्त में) जैसा निश्चित है, वैसा ही होता है तथा आगे-पीछे कुछ नहीं कर सकते हैं, तो आज तक का किया गया हमारा सारा उद्यम (पुरुषार्थ) व्यर्थ गया ?

यहाँ अज्ञानी कहता है कि शास्त्रों में तो ऐसा लिखा है कि सच्ची समझ में सच्चे देव-शास्त्र-गुरु निमित्त होते हैं, तीन कषाय के अभाव से वस्त्र-पात्र आदि छूटते हैं, तब वीतरागता प्रगट होती है, इसको कैसे समझा जाये ?

इसके समाधान में आचार्य कहते हैं कि भाई! यदि तू जरा शान्ति से विचार करे तो सब कुछ स्पष्ट समझ में आ जावे। द्रव्य की जो पर्याय होना होती है, वही होती है और उसके योग्य जो निमित्त होना होता है, वही होता है; परन्तु पर्याय के क्रम का निर्णय करते समय दृष्टि पर्याय तरफ से छूटकर त्रिकाली द्रव्य में ढलती है अर्थात् ज्ञान का ज्ञान में-द्रव्य में ढलना, यही अनन्त पुरुषार्थ है।

दृष्टि के द्रव्य में ढलने से ज्ञान का अनन्त पुरुषार्थ प्रकट होता है — ऐसी महिमा अज्ञानी को ख्याल में नहीं आती है। उसको ऐसा लगता है कि — 'मैं तो हूँ; परन्तु यदि मेरे उपादान से होना होता तो अभी तक क्यों नहीं हुआ ?' पर भाई! तू तो द्रव्य है, द्रव्य में तो शक्ति भरी पड़ी है; परन्तु प्रगटरूप पर्याय में जैसी योग्यता होगी, उस समय उस योग्य ही निमित्त का कारणपना होगा।

भाई! धीरज धारण करके जरा विचार तो कर! तेरा परिणमन जिस काल में जैसा होना है, उसी प्रकार के निमित्त भी होते हैं; 'परन्तु किसी के कारण कोई नहीं है' —

यह बात अज्ञानी के हृदय में नहीं बैठती। परन्तु भाई ! इस बात से तो आत्मा में अनन्त स्वतन्त्रता आती है। निमित्त आवे तो मेरे में किसी प्रकार का फेरफार हो - ऐसी मान्यता होना ही अज्ञान है।

अब, स्व-परप्रकाशक ज्ञानस्वभाव की प्रतीति से ही अनन्त निःशङ्कता आती है — ऐसा कहते हैं। आत्मा का अस्तित्व अपने ज्ञानगुण के कारण परपदार्थों से भिन्न है। आत्मा की सत्ता अपने गुण के कारण ही है, पर पदार्थों या निमित्त के कारण नहीं है। जो ऐसी प्रतीति आती है तो वह स्व-परप्रकाशक ज्ञानगुण की पर्याय के कारण आती है। जहाँ ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय हुआ, वहाँ स्व-परप्रकाशक ज्ञानस्वभाव प्रगट होता है।

ज्ञान का स्व-परप्रकाशकपना संयोग के कारण प्रगट नहीं होता; परन्तु ज्ञान स्वयं स्व-परप्रकाशक स्वभाव वाला है, जिसको ऐसी प्रतीति हो जाती है; उसको इस प्रकार की शंकाएँ नहीं होती हैं कि यह क्यों हुआ ? ऐसा कैसे हुआ ? इत्यादि।

वस्तु प्रज्ञास्वरूप है। उसके ज्ञानगुण में से पर्याय प्रगट होती है — ऐसा कहने पर अज्ञानी को शंका होती है कि ज्ञानगुण में से जब पर्याय प्रगट होती है तो वह अकेले स्व को जानती है या पर को भी ?

समाधान करते हुये आचार्य समझाते हैं कि भाई! वह तो दोनों को जानती है, क्योंकि 'जानना' ही उसका स्वभाव है। स्व-परप्रकाशक स्वभाव में यह निर्णय होता है कि प्रथम सम्यग्ज्ञान होने में सच्चे देव-शास्त्र-गुरु ही निमित्त होते हैं। वास्तव में अज्ञानी को न तो स्व-परप्रकाशक ज्ञानस्वभाव की खबर है और न ही यथार्थ निमित्त-उपादान की सन्धि का ज्ञान। इस कारण वह भ्रम के जाल में उलझा रहता है।

भगवान आत्मा का अनादि-अनन्त स्वभाव मात्र जानना है। जिस वस्तु का जैसा स्वभाव है, उसे वह वैसा ही जानता है तथा पर्यायों का जैसा जो क्रम है, उसे भी वह ज्ञान में जान लेता है। ऐसे ज्ञानस्वभावी आत्मा के निर्णय को चाहे ज्ञानस्वभाव का निर्णय कहो, द्रव्यदृष्टि कहो, क्रमबद्धपर्याय का निर्णय कहो, सर्वज्ञता का निर्णय कहो या निमित्त-उपादान का निर्णय कहो — इसमें सब आ जाता है।

तत्त्व का एक पक्ष यथार्थ अविरोधपने ख्याल में आ जाने पर तत्त्व के सभी पक्ष यथार्थतया प्रतिभासित हो जाते हैं। एक के निर्णय में ही सबका निर्णय आ जाता है।

यह भावास्रव की बात है। राग-द्वेष, दया-दान आदि विकारीभाव आत्मा की पर्याय में स्वयं की भूल के कारण से ही उत्पन्न होते हैं; कर्मादिक या अन्य पदार्थों के कारण से नहीं होते। भगवान आत्मा आनन्दकन्द वस्तु है — ऐसा भूलकर जीव स्वयं विकार करता है, तो भावास्रव होता है और भावास्रव से द्रव्यास्रव होता है।

आत्मा स्वभाव से अबद्ध, शुद्ध, अमूर्तिक और निरञ्जन है तथा वर्तमान पर्याय में अशुद्धता है और पर्याय के आश्रय से शुद्धता प्रगट नहीं होती; इसलिए इसको गौण करके स्वभाव का ज्ञान कराने के लिए आत्मा को अबद्ध आदि कहा है, क्योंकि स्वभाव के आश्रय से ही शुद्धता प्रगट होती है।

यहाँ शंका होती है कि आत्मा, वर्तमान में प्रत्यक्ष, बद्ध, अशुद्ध और मूर्त है, फिर भी इसको अबद्ध आदि क्यों कहा जाता है? आचार्य करुणापूर्वक समाधान करते हैं कि भाई! वर्तमान पर्याय में रागादिक विकारीभाव हैं, यह कौन स्वीकार नहीं करता ? परन्तु क्या वर्तमान अशुद्धता के बराबर आत्मा है ? नहीं, आत्मा तो स्वभाव से त्रिकाल निरञ्जन शुद्ध है। यदि वर्तमान अशुद्धपर्याय से लक्ष्य हटाएं तो वर्तमान में पर्याय भी निरञ्जन हो सकती है।

आत्मा स्वभाव से तो अबद्ध है और वर्तमान पर्याय में भावबन्ध तथा निमित्तरूप द्रव्यबन्ध है। आत्मा स्वभाव से निरञ्जन होने पर भी विकारीभाव के कारण साञ्जन भी है तथा व्यवहार से जड़कर्म का अञ्जनपना कहने में आता है। पर्याय जैसी होती है, ज्ञान उसको वैसा ही जानता है। वस्तु का जैसा अबद्ध, शुद्ध, निरञ्जन, अमूर्त स्वभाव है, उसे वैसा न जाने अर्थात् वस्तुस्वभाव की दृष्टि न करे, तो अशुद्धता दूर नहीं होती।

वर्तमान में जो विकार है, वह वर्तमान पर्याय के आश्रय से दूर नहीं होता, इसलिए द्रव्यस्वभाव का आश्रय करे तो विकारी पर्याय का अभाव हो।

भाई! भगवान आत्मा है, इसकी सत्ता एकबार तो स्वीकार कर। अनादिकाल से पैसे आदि के लोभ में परपदार्थों की सत्ता को तो अनन्तबार स्वीकार किया; परन्तु सिद्धि नहीं

हुई। अगर एक बार भी भगवान आत्मा की सत्ता को स्वीकार कर ले, तो सिद्धि हुए बिना न रहेगी अर्थात् अवश्य होगी।

भावास्रव जीव की पर्याय में ही है, अगर इसको बिल्कुल न माने तो संसार की सिद्धि नहीं होगी और अगर भावास्रव को पर्याय में सर्वथा स्वीकार कर ले, तो संसार किसी भी समय नहीं टल सकता। अवस्था में तो उस क्षण भावास्रव अवश्य है, परन्तु त्रिकालीस्वभाव में नहीं है।

अब, भावास्रव के भेदों में प्रथम मिथ्यात्व के स्वरूप को बताते हैं -

(१) मिथ्यात्व - अन्तरङ्ग में वीतराग निजात्मतत्त्व की अनुभूति और रुचि में जो विपरीत अभिनिवेश उत्पन्न करता है और बाह्य में अन्य के शुद्धात्मतत्त्व और सच्चे देव, शास्त्र तथा गुरु आदि के सम्बन्ध में जो विपरीत आग्रह को उत्पन्न कराने वाला भाव है, उसे मिथ्यात्व कहते हैं।

एक समय की पर्याय को गौण करके त्रिकाली चिदानन्द स्वभाव की रुचि से विरुद्ध दया, दान आदि पुण्यभाव हों तो धर्म होता है तथा सारे निमित्त अनुकूल हों तो आत्मा को लाभ होता है — ऐसी उल्टी मान्यता ही मिथ्यात्व है अथवा स्वध्येय जो ज्ञानानन्दस्वरूप परमात्मा, अखण्ड, ज्ञायक, शुद्ध, बुद्ध, एकस्वभावी है - इसके विषय में विपरीत आग्रह ही मिथ्यात्व है अथवा अन्तर में अपने शुद्धात्मा सम्बन्धी उल्टी मान्यता मिथ्यात्व है तथा बाह्य विषय में अरहन्त और सिद्धभगवान सच्चे देव हैं और आचार्य, उपाध्याय तथा दिगम्बर साधु — ये सच्चे गुरु हैं। इन सच्चे देव तथा गुरु का सच्चा स्वरूप न मानकर विपरीत मानना मिथ्यात्व है अथवा सर्वज्ञ द्वारा कहे गये सच्चे देव-शास्त्र-गुरु, छह द्रव्य, नव तत्त्व आदि का यथार्थ स्वरूप न मानकर, उससे विपरीत मानना ही मिथ्यात्व है।

(२) अविरति — अन्तरङ्ग में निज परमात्मस्वरूप की भावना से उत्पन्न परम सुखामृत में रति (लीनता) से विलक्षण अविरति है और बाह्य विषय में अव्रतरूप परिणाम अर्थात् व्रतधारण न करने का भाव, अविरति है।

सम्यग्दृष्टि को अन्तर में आत्मानुभव तो हो गया है, परन्तु विषयों में आसक्ति की निवृत्ति अभी नहीं हुई है। ज्ञानी को भी आसक्ति का परिणाम अपने ही कारण से होता है, कर्म के कारण नहीं होता। यहाँ अज्ञानी को शंका होती है कि अगर कर्म के कारण

कोई विकार नहीं होता तो तुमको केवलज्ञान प्राप्त करने की इच्छा है, तो उसको प्राप्त क्यों नहीं कर लेते हो ?

समाधान करते हुए आचार्य समझाते हैं कि भाई! ज्ञानी के भावों में सदा सहजता और धैर्य होता है। केवलज्ञान को प्राप्त करने की इच्छा को धैर्य नहीं कहते हैं। भाई! इच्छा तो राग है, विकार है, आकुलतामय परिणाम है, जो स्वभावप्राप्ति में बाधक है। धैर्य, इच्छा के अभाव का नाम है। आत्मा के अनुभवसहित अन्दर में रमणतारूप शुद्धोपयोग को धैर्य कहते हैं, उससे ही वास्तव में केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, मात्र इच्छा से केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता।

स्वभाव के भानसहित स्वरूप में जितनी एकाग्रता बढ़ती है, वह धैर्य का भाव है तथा इसके अलावा ज्ञानी को शुद्धोपयोग की भावना भी निरन्तर होती है, परन्तु जितने अंश में राग है, उसे ज्ञानी रोग के समान जानते हैं। राग के कारण अविरतिपना प्रगट होता है, कर्म के जोर के कारण अविरतिपना नहीं होता है।

अब, अविरति से होनेवाले भावास्रव को बताते हैं। अन्तर में स्वभाव की एकाग्रता से उत्पन्न जो सुखरूप अमृत, उसमें जो रति अर्थात् स्वरूप में विशेषलीनता, उससे विलक्षण अविरति है अर्थात् आत्मा ज्ञायक है, उसकी लीनता से विलक्षण विषयादिक की वासना होती है, वह अविरति है अर्थात् आसक्ति है और आसक्तिरूप परिणाम से ही भावास्रव होता है।

स्वरूप में जो एकाग्रता हुई, वह अपना कार्य है। इससे उल्टा भाव अर्थात् उसको नहीं छोड़नेवाला परिणाम अविरतिरूप है। आत्मा की पर्याय में अविरति आदि के भाव, आस्रव हैं। इनको जाने बिना इससे रहित त्रिकालीस्वभाव की दृष्टि नहीं हो सकती है।

ज्ञानी को जब तक अन्तर में स्थिरता करने से आनन्द का विशेष अनुभव नहीं होता, तब तक वह सहज (हठ बिना) त्याग का भाव भी नहीं आता है। ज्ञानी की परिणति में हठ कभी नहीं होता।

प्रतिज्ञा में विचलित न हो — ऐसा निश्चयभाव जबतक नहीं होता, तबतक अविरति है। चौथे गुणस्थान में आसक्ति का भाव अपनी अस्थिरता के कारण से होता है, अपनी कमजोरी से होता है; कर्म के कारण नहीं होता।

(३) **प्रमाद** - अन्तरङ्ग में प्रमादरहित शुद्धात्मा की अनुभूति से जो विचलित करे तथा बाह्य में मूलगुणों और उत्तरगुणों में दोष (अतिचार) उत्पन्न करे, वह प्रमाद है।

(४) **कषाय** - अन्तरङ्ग में परम उपशममूर्ति केवलज्ञानादि अनन्तगुणस्वभावी परमात्मस्वरूप में क्षोभ उत्पन्न करनेवाली और बाह्यविषय में अन्य पदार्थों के सम्बन्ध से उत्पन्न क्रूरता आदि क्रोधादि कषायें हैं।

(५) **योग** - निश्चय से परमात्मा निष्क्रिय है, तो भी व्यवहार में वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न, मन-वचन-काय का अवलम्बन करनेवाला, कर्मवर्गणा के ग्रहण करने में निमित्त, आत्मप्रदेशों का जो परिस्पन्द होता है, उसे योग कहते हैं।

यह आस्रव हेय है, परन्तु अपना भी विकारीभाव होने के कारण जानने योग्य है। श्री नेमिचन्द्राचार्यदेव ने गाथा में **विण्णेया** शब्द लिखा है अर्थात् ज्ञान को सम्यक् करने के लिए आस्रव को भी जानना चाहिए, सात तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान होना चाहिए। यद्यपि सात तत्त्वों का जानना व्यवहाररूप है, तथापि निश्चय प्रकट न हो तो सात को जानने वाला ज्ञान व्यवहार नाम भी नहीं पाता। अतः प्रथम सात तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान तो होना ही चाहिए।

मिथ्यात्व के पाँच भेद हैं। अभेद में तो भेद नहीं है, परन्तु पर्याय में भूल होने के कारण ये पाँच भेद हैं —

(१) **एकान्त मिथ्यात्व** — वस्तु के एक पक्ष को सर्वथा यथार्थ मानना एकान्त है। बौद्धमत वाले आत्मा को सर्वथा क्षणिक मानते हैं तथा कोई सर्वथा कूटस्थ मानते हैं — वे सब एकान्त मिथ्यादृष्टि हैं। वास्तव में तो आत्मा भेदाभेदस्वरूप है — ऐसा न मानकर सर्वथा नित्य या अनित्य मानना गृहीत एकान्त मिथ्यात्व है, क्योंकि यह जन्म के बाद नवीन धारण किया हुआ मिथ्यात्व है।

(२) **विपरीत मिथ्यात्व** — यज्ञादिक में बकरादि की बलि चढ़ाकर हिंसा में धर्म मानना, हवन में घी का होम करने से धर्म मानना तथा पुण्यभाव से धर्म अर्थात् मोक्ष मानना — गृहीत विपरीत मिथ्यात्व है; यह अनादि अगृहीत मिथ्यात्व का पोषण करने-वाला है।

(३) विनय मिथ्यात्व — सबकी विनय करना चाहिए। कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरु हों चाहे सुदेव-सुशास्त्र-सुगुरु हों — ऐसी मान्यता विनय मिथ्यात्व है। विनयपन्थी ऐसा मानते हैं कि सबको नमस्कार करना चाहिए, क्योंकि जहाँ नम्रता होती है, वहाँ प्रभु प्रगट होता है; इसलिए चाहे कोई कैसा भी हो, सबके पैर पड़ना चाहिए — ऐसा मानने वाले विनय मिथ्यात्वी है।

प्रणाम प्रवर्ज्यावाला भी ऐसा मानता है कि सबके पैर छूना चाहिए।

जैनकुल में रहकर भी कोई ऐसा माने कि गुरु की कृपा से मुक्ति होती है तो वह भी गृहीत मिथ्यात्व का पोषण करता है।

शास्त्रों में ऐसे कथन आते हैं कि 'विनय धर्म का मूल है'। वहाँ निमित्त की तरफ से कथन है, ऐसा समझना चाहिए।

(४) संशय मिथ्यात्व - वस्तुस्वभाव में अनिर्णयात्मक ज्ञान को संशय मिथ्यात्व कहते हैं। राग, संसार का कारण है तथा वीतरागता, मोक्ष का कारण है; उसमें ऐसा शंकित होना कि राग से मोक्ष या धर्म होता है अथवा वीतरागता से — इत्यादि संशय मिथ्यात्व के उदाहरण हैं।

(५) अज्ञान मिथ्यात्व - मस्करी आदि ऐसा मानते हैं कि जो अधिक जानता है, वह अधिक दु:ख प्राप्त करता है और भोले-भाले अज्ञानियों का तो परमेश्वर ही सहायक होता है। जैसे अंधी गाय का परमेश्वर ही रखवाला होता है, इसलिए अपने को तो अज्ञानी ही रहना अच्छा है। अधिक ज्ञान करना अच्छा नहीं है। अत: जिसने जैसा कहा, वैसा ही मान लेना अच्छा है — इस प्रकार की मान्यतावाले घोर अज्ञानरूप मिथ्यात्व का पोषण करते हैं।

वास्तव में सच्चे देव-शास्त्र-गुरु, नव तत्त्व, छह द्रव्य आदि सबका यथार्थ ज्ञान होना चाहिए। 'मैं तो जानता नहीं हूँ' — ऐसा कहकर अपराध से बचा नहीं जा सकता, बल्कि सजा ही मिलेगी, जैसे कि अनजान व्यक्ति भी विष को खाये तो मृत्यु ही होती है।

इस प्रकार मिथ्यात्व के पाँच भेदों का स्वरूप कहा।

अब, अविरति के पाँच भेद हैं, उनको कहते हैं — हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य

और परिग्रह में इच्छा करना, ये अविरति के पाँच भेद हैं अथवा पाँच इन्द्रियाँ तथा मन की प्रवृत्तिरूप छह भेद और छहकाय के जीवों को विराधनारूप छह भेद — इस प्रकार कुल मिलाकर अविरति के बारह भेद भी कहे जा सकते हैं।

प्रमाद के पन्द्रह भेद हैं। चार विकथा — स्त्रीकथा, भोजनकथा, राजकथा तथा राष्ट्रकथा; चार कषाय — क्रोध, मान, माया और लोभ; इन्द्रियों के पाँच विषय; निद्रा और स्नेह — इस प्रकार प्रमाद के पन्द्रह भेद हैं।

आत्मा का कम्पन योग है; परन्तु यहाँ पर शरीर, मन, वाणी की क्रिया को व्यवहार से योग कहा है। वह तीन प्रकार का है और विस्तार से पन्द्रह प्रकार का है। मनोव्यापार के चार, वचन व्यापार के चार और काय व्यापार के सात — इस प्रकार योग के पन्द्रह भेद हैं।

कषाय के पच्चीस भेद हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ — यह चार तथा अनन्तानुबन्धी आदि की चौकड़ी मिलाकर कुल सोलह और नौ नोकषाय — इस प्रकार कषाय के पच्चीस भेद हैं।

पूर्वोक्त भावास्रव के भेद हैं, इनको यथार्थपने जानना चाहिए।

❖❖❖

ऐसे मुनिराज दुर्लभ हैं

मुनिजन अन्तरङ्ग में किञ्चित् भी छिपाये बिना, सरलता से पात्र जीवों को सर्व रहस्य का उपदेश करते हैं। उपदेश के विकल्प को भी वे अपना नहीं मानते। जिनको शरीर और विकल्प का ममत्व नहीं है तथा जो आहार एवं उपदेशादि के विकल्प को तोड़कर वीतरागस्वभाव में स्थित हैं — ऐसे उत्तम आकिञ्चन्यधर्म में रत मुनिगण, इस संसार में धन्य हैं। उनके चारित्रदशा विद्यमान है, केवलज्ञान प्राप्त करने की पूरी तैयारी है। बारह अङ्ग का ज्ञान होने पर भी उसमें आसक्ति नहीं है। किसी समय किञ्चित् उपदेशादि की वृत्ति उठती है, उसे छोड़कर स्वभाव में एकदम सम्पूर्ण स्थिरता द्वारा केवलज्ञान प्रगट करने के अभिलाषी हैं — ऐसे मुनिजन दुर्लभ हैं। *(- दशधर्म प्रवचन, पृष्ठ ९२)*

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-३१

अब, द्रव्यास्रव का स्वरूप कहते हैं —

णाणावरणादीणं जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि।
दव्वासवो स णेओ अणेयभेओ जिणक्खादो॥३१॥

ज्ञानावरणादीनां योग्यं यत् पुद्गलं समास्रवति।
द्रव्यास्रवः सः ज्ञेयः अनेकभेदः जिनाख्यातः॥३१॥

ज्ञानावरण आदिक करम के योग्य पुद्गल आगमन।
है द्रव्य आस्रव विविधविध जो कहा जिनवर देव ने॥३१॥

गाथार्थ :— ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के योग्य जो पुद्गल आते हैं, उन्हें द्रव्यास्रव जानना, वे अनेक भेदवाले हैं — ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

टीका :— '**णाणावरणादीणं**' सहज शुद्ध केवलज्ञान को अथवा अभेद की अपेक्षा से केवलज्ञानादि अनन्तगुण के आधारभूत, ज्ञान शब्द से वाच्य परमात्मा को जो आवृत्त करता है अर्थात् ढकता है उसे ज्ञानावरण कहते हैं। वह ज्ञानावरण जिनकी आदि में है — ऐसे जो ज्ञानावरणादि; उन्हें '**जोग्गं**' योग्य '**जं पुग्गलं समासवदि**' तेलयुक्त शरीरवालों को धूल के रजकणों का जिस प्रकार समागम होता है, उसी प्रकार कषायरहित शुद्धात्मा के संवेदन से रहित जीवों को जो कर्मवर्गणारूप पुद्गल का आस्रव होता है, '**दव्वासओ स णेओ**' उसे द्रव्यास्रव जानना। '**अणेयभेओ**' और वह (द्रव्यास्रव) ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र तथा अंतराय नामक आठ मूल प्रकृतिरूप भेद से तथा '**पण णव दु अट्ठवीसा चउ तियणवदी य दोण्णि पंचेव। बावण्णहीण बियसयपयडिविणासेण होंति ते सिद्धा॥१॥**' (ज्ञानावरणीय की पाँच, दर्शनावरणीय की नौ, वेदनीय की दो, मोहनीय की अट्ठाइस, आयु की चार, नाम की तिरानवे, गोत्र की दो और अन्तराय की पाँच — इस प्रकार एक सौ अड़तालीस प्रकृतियों के नाश से सिद्ध होते हैं।)' इस गाथा में कथित क्रम से एक सौ अड़तालीस उत्तर प्रकृतिरूप भेद से और असंख्यात लोकप्रमाण पृथ्वीकाय-नामकर्म आदि उत्तरोत्तर प्रकृतिरूप भेद से अनेक भेदयुक्त हैं, इस प्रकार '**जिणक्खादो**' श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है॥३१॥

इस प्रकार आस्रव के व्याख्यान की तीन गाथाओं से प्रथम स्थल समाप्त हुआ।

गाथा ३१ पर प्रवचन

ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के योग्य जो पुद्गल परमाणु आते हैं, उन्हें द्रव्यास्रव जानना चाहिए। उनके अनेक भेद हैं — ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा।

जो पुद्गलपरमाणु आते हैं, वे ज्ञानावरणादि जड़कर्मों के योग्य ही आते हैं। आत्मा के परिणाम का निमित्त है; इसलिए पुद्गलपरमाणु आते हैं — ऐसा नहीं है। विकारी परिणाम के समय जड़कर्म के योग्य जो परमाणु आते हैं, उन्हें द्रव्यास्रव कहते हैं।

जिस प्रकार तेल से युक्त शरीर में धूल के कणों का समागम होता है, वहाँ जितने प्रमाण में तेल का सद्भाव पाया जाता है, उसी प्रमाण में धूल के कण चिपकते हैं; उसी प्रकार कषायरहित शुद्धात्मा के संवेदन से रहित जीवों को जो कर्मवर्गणारूप पुद्गल का आस्रव होता है, उसे द्रव्यास्रव कहते हैं, वहाँ जितने प्रमाण में कषाय है, उनके बराबर ही कर्मों का आस्रव होता है।

अब, कर्मों के आठ भेदों का स्वरूप बतलाते हैं —

ज्ञानावरणीकर्म — सहज शुद्ध केवलज्ञान को अथवा अभेद की अपेक्षा से केवलज्ञानादि अनन्तगुण के आधारभूत, ज्ञान शब्द द्वारा वाच्य परमात्मा को, जो आवृत्त करता है अर्थात् ढकता है, उसे ज्ञानावरणीकर्म कहते हैं। ज्ञानावरण कहो या आत्मावरण कहो, एक ही बात है। कर्मों ने ज्ञान को ढाँका — ऐसा कहना व्यवहार है। वास्तव में तो अपनी अवस्था में ज्ञान की हीनदशा होने पर और ज्ञान की प्रगटता का पुरुषार्थ न करने पर ऐसा कहा जाता है कि कर्म ने आवरण किया।

इसी प्रकार सभी कर्मों की दशा है।

दर्शनावरणीकर्म — जो कर्म आत्मा के दर्शनगुण का घात करते हैं, उन्हें दर्शनावरणीकर्म कहते हैं।

मोहनीयकर्म — जो आत्मा के आनन्दगुण का घात करे, वह मोहनीयकर्म कहलाता है।

अन्तरायकर्म — जो कर्म वीर्यादिगुणों के हरने में निमित्त हो, उसे अन्तरायकर्म कहते हैं।

वेदनीयकर्म — जो आत्मा के अव्याबाधगुण की पर्याय का घात करे, वह वेदनीयकर्म कहा जाता है।

आयुकर्म — जो आत्मा के अवगाहनगुण का घात करे अर्थात् आत्मा को मनुष्य, देव, तिर्यंच तथा नरकगति में रोके, वह आयुकर्म है।

नामकर्म — जो आत्मा के सूक्ष्मत्वगुण का घात करे अर्थात् शरीरादि बनाने में निमित्त हो, वह नामकर्म है।

गोत्रकर्म — जिसके निमित्त से पर्याय में उच्च-नीच गति होती है, उसे गोत्रकर्म कहते हैं।

इस प्रकार यहाँ कर्मों की मूलप्रकृतियों के स्वरूप का खुलासा हुआ।

अब, मूलप्रकृतियों में पाये जानेवाले प्रभेदों का स्पष्टीकरण करते हैं —

ज्ञानावरणीकर्म की पाँच, दर्शनावरणीकर्म की नौ, मोहनीयकर्म की अट्ठाईस, अन्तरायकर्म की पाँच, वेदनीयकर्म की दो, आयुकर्म की चार, नामकर्म की तेरानवें तथा गोत्रकर्म की दो प्रकृतियाँ हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर एक सौ अड़तालीस प्रकृतियाँ हैं।

शास्त्रों में कई जगह ऐसा कथन आता है कि सम्यग्दृष्टि को आस्रव-बन्ध नहीं होता है, अज्ञानी को होता है। वहाँ पर शंका होती है कि दशवें गुणस्थान तक छह प्रकृतियों का आस्रव-बन्ध होता है, फिर सम्यग्दृष्टि को निर्बन्ध कैसे कहा ?

आचार्य महाराज समाधान करते हैं कि भाई! दृष्टि के जोर में द्रव्य का स्वभाव एकरूप है, उसकी अपेक्षा ऐसा कहा है। एक में अनेकता होती नहीं। शुद्ध-बुद्ध एकस्वभाव में अनेकतारूप पर्याय की उत्पत्ति होने पर भी वह गौण है; इसलिए एकता के जोर में अनेकता नहीं है अर्थात् सम्यग्दृष्टि के बन्ध नहीं है, यह बात दृष्टि के जोर की अपेक्षा से कही गई है।

इस प्रकार आस्रवतत्त्व के स्वरूप का खुलासा हुआ।

❖❖❖

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-३२

अब, दो गाथाओं द्वारा बन्ध का व्याख्यान करते हैं। वहाँ प्रथम गाथा के पूर्वार्ध से भावबन्ध और उत्तरार्ध से द्रव्यबन्ध का स्वरूप कहते हैं —

बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो।
कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो॥३२॥

बध्यते कर्म्म येन तु चेतनभावेन भावबन्धः सः।
कर्म्मात्मप्रदेशानां अन्योन्यप्रवेशनं इतरः॥३२॥

जिस भाव से हो कर्मबंधन भावबंध है भाव वह।
द्रवबंध बंधन प्रदेशों का आतमा अर कर्म के॥३२॥

गाथार्थ :- जिस चेतनभाव से कर्म बँधता है वह भावबन्ध है और कर्म तथा आत्मा के प्रदेशों का परस्पर प्रवेश वह द्रव्यबन्ध है।

टीका :- **'बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबन्धो सो'** जिस चेतनभाव से कर्म बंधता है, वह भावबन्ध है। समस्त कर्मबन्ध नष्ट करने में समर्थ, अखण्ड, एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय, परम चैतन्यविलास जिसका लक्षण है, ऐसे ज्ञानगुण से सम्बन्धित अथवा अभेदनय से अनन्त ज्ञानादि गुण के आधारभूत परमात्मा के साथ सम्बन्धित जो निर्मल अनुभूति, उससे विरुद्ध मिथ्यात्व-रागादि परिणतिरूप अथवा अशुद्ध चेतनभावस्वरूप जिस परिणाम से ज्ञानावरणादि कर्म बँधते हैं, वह परिणाम भावबन्ध कहलाता है। **'कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो'** कर्म और आत्मा के प्रदेशों का परस्पर प्रवेश होना, वह अन्य अर्थात् द्रव्यबन्ध है। उसी भावबन्ध के निमित्त से कर्म के प्रदेशों का और आत्मा के प्रदेशों का, दूध और पानी की भाँति, एक-दूसरे में प्रवेश अर्थात् संश्लेष वह द्रव्यबन्ध है॥३२॥

गाथा ३२ पर प्रवचन

अब, यहाँ दो गाथाओं द्वारा बन्धतत्त्व के स्वरूप को बताते हैं। यहाँ गाथा के पूर्वार्ध में भावबन्ध और उत्तरार्ध में द्रव्यबन्ध का स्वरूप बताया गया है।

जिस चेतनभाव से कर्म बँधता है, वह भावबन्ध है और जो कर्म तथा आत्मा के प्रदेशों का परस्परानुप्रवेश है, वह द्रव्यबन्ध है।

विश्व में अनन्त पदार्थ हैं। सभी पदार्थ स्वभाव से परिपूर्ण हैं तथा कोई पदार्थ कभी भी अपने स्वभाव से च्युत नहीं होता है। जैसे — शक्कर का स्वभाव मीठापन, नींबू का स्वभाव खट्टापन है। आत्मा भी एक जीव नामक द्रव्य है, वह त्रिकाल ज्ञाता-दृष्टा-स्वभावी है और आज भी अपने स्वभाव में विद्यमान है।

अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करते हुए इस जीव ने अपने चैतन्यस्वभावी आत्मा की ओर लक्ष्य न करके बाह्य अन्य पदार्थों में उपयोग को भ्रमाया और अन्य पदार्थों में लगा हुआ उपयोग, वह चिद्विकार है। जो चैतन्यभाव को प्रकट होने में बाधक है, वही चिद्विकार भावबन्ध है। बारहवें गुणस्थान की हीन-अवस्था के कारण चैतन्यभाव रुका है; अतः वहाँ भी भावबन्ध की सत्ता विद्यमान है।

यह भावबन्ध भगवान आत्मा का विकारी परिणाम तो अवश्य है, परन्तु ऐसा भावबन्ध आत्मा के त्रिकालस्वभाव में नहीं है — ऐसा जानकर इनका आदर करना योग्य नहीं हैं। वे सर्वथा हेय ही हैं — ऐसा इस गाथा का तात्पर्य है।

आत्मा स्वभाव से पूर्ण शुद्ध ही है, इसको समझने के पहले यह जानना भी अत्यावश्यक है कि पर्याय में अशुद्धता किस प्रकार की है ? तथा इस अशुद्धता की उत्पत्ति का कारण क्या है ? क्योंकि इन सबको जाने बिना पर्याय की अशुद्धता दूर नहीं हो सकती है। इसलिए गोम्मटसार में चारों ही अनुयोगों को पढ़ने का उपदेश दिया है।

जो जीव अध्यात्मशास्त्रों को पढ़कर तथा निश्चयनय को न पहिचानकर, निश्चयाभास के ही श्रद्धानी हुए हैं, ऐसे निश्चयाभासी जीवों को आचार्य समझाते हैं कि हे सूक्ष्मबुद्धि के आभासी! तू आत्मा के शुद्ध-स्वभाव की बातें बहुत करता है, परन्तु तुझे स्वभाव की शुद्धता की यथार्थ खबर नहीं है। तुझे स्वभाव और वर्तमान पर्याय की स्थिति की यथार्थता मालूम नहीं है।

अतः आत्मा क्या है ? पुद्गलादि जड़पदार्थ क्या हैं ? इनका आत्मा से सम्बन्ध क्या है ? तथा आत्मा की पर्याय में विकार कैसे हुआ और इसके निराकरण का उपाय क्या है ? — इन सब बातों का ज्ञान होना अत्यावश्यक है।

आत्मा की अशुद्धता के दूर होने में निमित्त सच्चे देव-शास्त्र-गुरु हैं। इनका यथार्थ स्वरूप जाने बिना शुद्धता प्रगट नहीं होती है; अत: सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान आवश्यक है। केवल आत्मा.....आत्मा.....आत्मा की बातें करे और विशेषपक्ष को जानने में अरुचि बतावे, तो पर्याय की अशुद्धता का प्रकार जाने बिना शुद्धात्मा किसी भी प्रकार से नहीं जाना जा सकता है। अत: सामान्य और विशेष दोनों पक्षों का ज्ञान आवश्यक है।

ज्ञानाभ्यास में मूलतत्त्व क्या है? नव तत्त्वों में प्रयोजनभूत मुख्यतत्त्व कौन-सा है? उसको जाने बिना तथा स्व का भान किये बिना विशेषपक्ष का निषेध नहीं किया जा सकता है। इसलिये ज्ञान में नव तत्त्वों को जानने का निषेध नहीं होना चाहिए।

मोह-राग-द्वेष चिद्विकार हैं, आत्मा ज्ञानानन्दस्वभावी है; परन्तु जब जीव अपना उपयोग स्वभाव की ओर न करके मिथ्यात्व, दया, दान आदि विकारभावरूप परिणमित होता है, तब भावबन्ध होता है। ऐसे विकारीभावों का आत्मा के साथ अनादि का सम्बन्ध होने पर भी वे जीव के मूलस्वभाव में नहीं हैं।

समस्त विकारीभाव आत्मा में होने पर भी यदि इस चैतन्यस्वभावी आत्मा का अखण्ड-अभेदरूप में आश्रय लिया जाय तो समस्त कर्मों को नाश करने की उसकी सामर्थ्य है। इसलिए ऐसे अभेदस्वरूप आत्मा को भेद करके देखना योग्य नहीं है। भेद तो समझने के लिये होते है, आश्रय के लिये नहीं।

जिस प्रकार खान से निकाला हुआ मिट्टीसहित सोना स्वभाव से पूर्ण शुद्ध ही है; परन्तु वर्तमान में मिट्टीरूप अशुद्धता है। वहाँ स्वभावरूप पूर्ण शुद्धता को लक्ष्य बनाकर अग्नि आदि साधन से प्रकटरूप सोलहवान सोने की तरह पूर्ण शुद्ध सोना प्राप्त किया जाता है। उसी प्रकार यह आत्मा स्वभाव से शुद्ध है; परन्तु पर्याय में मोह-राग-द्वेष की अशुद्धता है। यहाँ भेदविज्ञान के साधन से स्वाभाव का लक्ष्य बनाकर पर्याय में पूर्ण शुद्धता प्राप्त की जा सकती है।

जबतक मैं स्वभाव से पूर्ण शुद्ध ही हूँ तथा पर्याय में संसारी हूँ दु:खी हूँ, ज्ञान की हीनता है — ऐसी यथार्थता की स्वीकृति न होगी, तबतक मिथ्याभाव ही जानना चाहिए। अत: दोनों पक्षों की स्वीकृति करना चाहिए।

वर्तमान पर्याय में विकार होने पर भी जो पर्याय में सर्वथा विकार का निषेध करके अपने को विकाररहित मानते हैं, उन्हें आचार्य तार्किकबुद्धि से समझाते हैं कि भाई! अगर पर्याय में विकार नहीं है, तो परमानन्ददशा प्रगट होना चाहिए। सो वर्तमान में तो ऐसा दिखता नहीं है, जबकि रागादिक के परिणाम प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। अतः पर्याय में विकार है — ऐसी स्वीकृति आवश्यक है तथा वह विकार स्वभाव में नहीं है और न वह स्वभाव है; स्वभाव तो इन सबसे पृथक् ज्ञानानन्दमय है, ऐसा श्रद्धान करना योग्य है।

जानना जिसका लक्षण है, ऐसा ज्ञानगुण है और उसका आधारभूत आत्मा है। विश्व में ऐसा कोई भी द्रव्य नहीं है, जो गुणों से खाली हो। प्रत्येक वस्तु में अपने स्वभावरूप अनेक गुण, परपदार्थों से भिन्नता प्रदर्शित करते हुए भरे हैं। यह आत्मा स्वज्ञानगुण के कारण ही अन्य द्रव्यों से पृथक् है।

जो ज्ञान, भावबन्ध में अटका होने से अल्प है, वह मेरा स्वभाव नहीं है। मेरा स्वभाव तो उससे भिन्न अनन्तज्ञानादि अनन्तशक्तियों को धारण किये हुए है, ऐसा यथार्थ श्रद्धान होने पर अल्पज्ञता का नाश होकर पर्याय में स्वभावरूप पूर्ण ज्ञान प्रगट होता है।

'ज्ञानगुण है' — इससे आत्मा का अस्तित्वगुण सिद्ध होता है। 'ज्ञान अपने में रहता है, अन्यरूप नहीं हो जाता' — इससे अगुरुलघुत्वगुण सिद्ध होता है तथा 'ज्ञानगुण अवस्था में पलटता है' — इससे द्रव्यत्वगुण सिद्ध होता है। इस प्रकार एक ज्ञानगुण में ही आत्मा में विद्यमान अनन्तगुणों की सिद्धि होती है। ऐसे सर्व सामर्थ्य के धारक ज्ञानगुण का आधार आत्मा है।

परमचैतन्यविलास लक्षण वाला ज्ञानगुण है, अभेदनय से ज्ञानादि अनन्तगुणों का आधारभूत परमात्मा है और ज्ञानादिस्वरूप परमात्मा के साथ सम्बन्ध रखनेवाली अनुभूति है।

इस प्रकार ये ही तीन बातें टीका में ली गई हैं — (१) ज्ञानगुण, (२) उसका आधारभूत परमात्मद्रव्य और (३) द्रव्य के साथ सम्बन्ध रखनेवाली अनुभूति।

जगत के अनन्त पदार्थों में एक पदार्थ आत्मा भी है। वह अपने विशेषगुण के कारण भिन्न पड़ा हुआ है। 'गुण्यते पृथक् क्रियते द्रव्यं द्रव्यान्तराद्यैस्ते गुणाः।' जिस प्रकार लकड़ी में तैरने का गुण है, उसी प्रकार आत्मा में एक ज्ञानगुण है। आत्मा के ज्ञानगुण

का स्वभाव सम्पूर्ण कर्मों का नाश करने में समर्थ है। आत्मा के अनन्त गुणों में जानने वाला एक ज्ञानगुण ही है।

यहाँ पर शिष्य को शंका होती है कि ज्ञानगुण का स्वभाव तो समस्त कर्मों को नाश करने में समर्थ है। फिर वह स्वयं क्यों बँधा है ?

आचार्य समझाते हैं कि जिस प्रकार पेटी में हीरा बन्द हो तो वह बँधा हुआ कहा जाता है, उसी प्रकार ज्ञानगुण कर्मों के आवरण के कारण ढका हुआ होने से बँधा हुआ कहा जाता है। वास्तव में तो ज्ञान, बँधा नहीं; पर्याय में ज्ञान की अटक होने से अल्पज्ञता है, वह वास्तव में आत्मा का स्वभाव नहीं है। अज्ञानियों को ऐसा भ्रम होता है कि 'मैं बँधा हूँ', जिससे उन्हें संसार का परिभ्रमण करना पड़ता है।

'यह कर्म है, यह राग है' — ऐसा जिसको इनका स्वरूप ख्याल में आने पर विचार आता है कि अहो! यह ज्ञानस्वरूप आत्मा तो जाननेवाला समस्त कर्मादि पर-पदार्थों से भिन्न है — वह बँधता भी नहीं है और न वह अटकता ही है। वास्तव में जिसे ऐसा भान है कि 'मैं तो ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा हूँ' तो वह बँधता ही नहीं है तथा ऐसे अनन्त गुणों का आधार आत्मा है, सो मैं ही हूँ — ऐसे जीव के साथ ही अनुभूति सम्बन्ध रखती है।

'जो ज्ञान राग में अटका है, वह बन्ध का कारण है और जो ज्ञान राग में न अटके — ऐसे ज्ञानी आत्मा के साथ अनुभूति सम्बन्ध रखती है' — ऐसा बताने वाले सच्चे देव-शास्त्र-गुरु हैं तथा जो ऐसा बताये कि तुम्हारा राग से सम्बन्ध है; इसलिए शुभराग करना ही तुम्हारा कर्तव्य है, वह कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरु है। राग में तथा बन्ध में तन्मय होकर जाने, तो वह ज्ञान सच्चा नहीं होता अर्थात् व्यवहार और निमित्त की ओर दृष्टि होने पर ज्ञान सम्यक् नाम नहीं पाता।

शास्त्रों में कई जगह निश्चय के साथ में व्यवहार का भी कथन किया गया है। इसका कारण यह है कि कोई जीव स्वभावरूप निश्चय का पक्ष ग्रहण न करके वर्तमान में ही ऐसा मानकर स्वछन्दी न हो जाये, इसलिए निश्चय के साथ में उपचाररूप व्यवहारनय का निरूपण भी किया गया है; क्योंकि जबतक पर्याय की यथार्थता स्वीकार न होगी, तबतक स्वभाव पर दृष्टि जा नहीं सकती है। अतः ज्ञान में सामान्य-विशेष का जानपना होना चाहिए ।

आत्मा का राग के साथ बन्धन है — ऐसी यथार्थता ज्ञान में आने पर ज्ञान मिथ्या नहीं कहा जाता और न ही ज्ञान बँधता ही है; क्योंकि यथार्थ स्थिति को जानना तो ज्ञान का स्वभाव ही है। ऐसी वास्तविकता को जानने वाले ज्ञानगुण के धारक परमात्मा से अनुभूति सम्बन्ध रखती है और यही अनुभूति धर्म है। अतः दोनों पक्षों का यथार्थ ज्ञान होना आवश्यक है।

परमात्मस्वरूप द्रव्य है, अनुभूति पर्याय है, धर्म है और ज्ञानस्वभाव परमात्मद्रव्य का गुण है — इस प्रकार यह द्रव्य-गुण-पर्याय का कथन है।

अनादिकाल से इस जीव को परमात्मा के साथ सम्बन्ध रखनेवाली चैतन्य अनुभूति नहीं हुई, क्योंकि यह जीव अनुभूति से विपरीत अनेक मान्यताओं से जकड़ा है और संसार परिभ्रमण कर रहा है। परमात्मा से लाभ न मानकर, पुण्य से या व्यवहार से लाभ माना — यह अनुभूति से विपरीत परिणमन ही भावबन्ध है।

वास्तव में मिथ्यादृष्टि के यही भावबन्ध माना गया है तथा सम्यग्दृष्टि के अनुभव के पश्चात् अल्पबन्ध होने से बन्ध गिना ही नहीं जाता है। स्वभाव की अधिकता होने से अधिकता ही गिनी जाती है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि के अल्प राग-द्वेष के भावबन्ध गिने ही नहीं जाते; क्योंकि वे अनन्त संसार में कारण नहीं हो सकते हैं। इस अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि को निर्बन्ध भी कहा जाता है और यही भाव सम्यक्त्वदशा छूटने पर तथा मिथ्यात्वदशा होने पर भावबन्ध में गिने जाते हैं।

अब, यहाँ द्रव्यबन्ध की बात करते हैं।

कर्म और आत्मा के प्रदेशों का परस्पर दूध-पानी की तरह प्रवेश होना, वह द्रव्यबन्ध है। पहले भावबन्ध तथा बाद में द्रव्यबन्ध होता है। ऐसा होने पर भी दोनों में समय भेद नहीं है, वे एक ही समय में होते हैं।

आत्मा के विकारीभाव के निमित्त से, जड़कर्मों का आत्मा के प्रदेशों के साथ रहना, वह द्रव्यबन्ध है। आत्मा का अपने अरूपीस्वभाव के चूकने से जो भावबन्ध हुआ, वह निमित्त और उसकी योग्यता के कारण जड़कर्मों का बन्धन, वह नैमित्तिक है; वही द्रव्यबन्ध है।

यहाँ तो द्रव्यबन्ध को आत्मा से भिन्न कहा है, परन्तु वास्तव में तो चैतन्य के त्रिकाली शुद्ध स्वभाव से एक समय का राग भी भिन्न है। जिस प्रकार स्फटिक की स्वच्छता और लालकण की लालिमा — दोनों भिन्न-भिन्न हैं, उसी प्रकार राग आत्मा के स्वरूप से भिन्न है।

यहाँ पर मात्र भावबन्ध और द्रव्यबन्ध की भिन्नता बतलाने के लिये भावबन्ध पहले और द्रव्यबन्ध बाद में होता है — ऐसा कहा है। वास्तव में उन दोनों में समय भेद नहीं है।

यहाँ टीका में जो 'संश्लेष' शब्द है, उसका अर्थ मात्र इतना है कि आत्मा और कर्म निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धरूप से रहते हैं। जीव का कर्म के साथ इस रूप में रहना ही द्रव्यबन्ध है।

❖❖❖

धन्य वह अद्भुत मुनिदशा!

अहाहा! मुनि किसे कहते हैं? कि जो शीघ्र-शीघ्र निज शुद्धात्मा में डुबकी लगाकर अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन करते हों, वे मुनि हैं। उनकी दशा अद्भुत है, जगत से न्यारी है। मुनि को अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का ज्वार आता है। जिस प्रकार पूर्णमासी के पूर्णचन्द्र के योग से समुद्र में ज्वार आता है; उसी प्रकार मुनिराज को पूर्ण चैतन्यचन्द्र के एकाग्र अवलोकन से आत्मसमुद्र में ज्वार आता है, वैराग्य उमड़ता है, आनन्द उछलता है, सर्व गुण-पर्यायों में यथासम्भव वृद्धि होती है। अहा! मुनिराज का वैराग्य, राग के रसरहित उग्र विरक्तभाव कोई और ही है। धन्य वह मुनिदशा!

पञ्च परमेष्ठी में जिनका स्थान है, उन मुनिराज का अन्तर वैराग्य कोई अद्भुत है। वे स्वरूपानन्द में इतने लीन हुए हैं कि भूमिकानुसार जो महाव्रतादि का शुभराग आता है, वह भी दोष लगता है। यह सूक्ष्म बात है भाई!

(- वचनामृत प्रवचन, २/१९८)

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-३३

अब, गाथा के पूर्वार्ध से उसी बन्ध के प्रकृतिबन्ध आदि चार भेदों का कथन करते हैं और उत्तरार्ध से उनके कारण का कथन करते हैं —

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसभेदादु चदुविधो बन्धो।
जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति॥३३॥

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदात् तु चतुर्विधिः बन्धः।
योगात् प्रकृतिप्रदेशौ स्थित्यनुभागौ कषायतः भवतः॥३३॥

बंध चार प्रकार प्रकृति प्रदेश थिति अनुभाग ये।
योग से प्रकृति प्रदेश अनुभाग थिती कषाय से॥३३॥

गाथार्थ :— प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश — इन भेदों से बन्ध चार प्रकार का है; योग से प्रकृति और प्रदेशबन्ध होता है और कषाय से स्थिति और अनुभागबन्ध होता है।

टीका :— '**पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसभेदादु चदुविधो बन्धो**' प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से बन्ध चार प्रकार का है। उसका विस्तार — ज्ञानावरण-कर्म का स्वभाव क्या है? जिस प्रकार पर्दा देव के मुख को ढंक देता है, उसी प्रकार ज्ञानावरणकर्म ज्ञान को ढक देता है। दर्शनावरणकर्म का स्वभाव क्या है ? राजा के दर्शन में प्रतिहारी जिस प्रकार रोकता है, उसी प्रकार दर्शनावरणकर्म दर्शन में रुकावट करता है। साता और असाता वेदनीय का स्वभाव क्या है? मधु से लिप्त तलवार की धार चाटने से जिस प्रकार सुख थोड़ा और दु:ख बहुत होता है, उसी प्रकार वेदनीयकर्म सुख अल्प और दु:ख अधिक उत्पन्न करता है। मोहनीय का स्वभाव क्या है? मद्यपान की भाँति हेय-उपादेय पदार्थ के विचार में विकलता। आयुष्यकर्म का स्वभाव क्या है? बेड़ी की भाँति एक गति में से अन्य गति में जाने से रोकना। नामकर्म का स्वभाव क्या है? चित्रकार की भाँति अनेक प्रकार के रूप करना। गोत्रकर्म का स्वभाव क्या है? छोटे-बड़े बर्तन बनाने वाले कुम्हार की भाँति उच्च अथवा नीच गोत्र करना। अन्तरायकर्म का स्वभाव क्या है? भण्डारी की भाँति दानादि कार्य में विघ्न करना। कहा है कि — 'पट, प्रतिहारी-द्वारपाल, तलवार, मद्य, बेड़ी, चित्रकार, कुम्हार और भण्डारी; इन आठों

का जैसा स्वभाव है, वैसा ही क्रम से ज्ञानावरण आदि आठों कर्मों का स्वभाव जानना।' ये आठ दृष्टान्तों के द्वारा प्रकृतिबन्ध जानना।

बकरी, गाय, भैंस आदि के दूध में जिस प्रकार दो प्रहर आदि तक अपने मधुर रस में रहने की काल की मर्यादा है, उसे स्थिति कहते हैं; उसी प्रकार जीव के प्रदेशों में जितने काल तक कर्मसम्बन्धरूप से स्थिति है, उतने काल को स्थितिबन्ध जानना।

जिस प्रकार उन्हीं के दूध में तारतम्यता से रस सम्बन्धी शक्तिविशेष को (चिकनाई, मिठास को) अनुभाग कहा जाता है; उसी प्रकार जीव के प्रदेशों पर स्थित कर्म के स्कन्धों में भी सुख अथवा दुःख देने की शक्तिविशेष को अनुभागबन्ध जानना। घातिकर्म से सम्बन्धित वह शक्ति लता, काष्ठ, अस्थि (हड्डी) और पत्थर के भेद से चार प्रकार की है। उसी प्रकार अशुभ अघातिकर्म से सम्बन्धित शक्ति नीम, काञ्जीर (कालीजीरी), विष तथा हालाहलरूप के भेद से चार प्रकार की है और शुभ अघाति-कर्म के साथ सम्बन्धित शक्ति गुड़, खाण्ड, शक्कर (मिश्री) और अमृतरूप चार प्रकार की है।

आत्मा के एक-एक प्रदेश पर सिद्धों के अनन्तवें भागप्रमाण और अभव्य जीवों की संख्या से अनन्तगुणे अनन्तानन्त परमाणु प्रत्येक क्षण बँधते हैं वह प्रदेशबन्ध है।

अब बन्ध का कारण कहते हैं — '**जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो हुंति।**' योग से प्रकृति और प्रदेश तथा कषाय से स्थिति और अनुभागबन्ध होता है। विस्तार — निश्चय से निष्क्रिय ऐसे शुद्धात्मा के प्रदेशों के व्यवहार से परिस्पन्द का कारण योग है, उससे प्रकृतिबन्ध ओर प्रदेशबन्ध — ये दो प्रकार के बन्ध होते हैं। निर्दोष परमात्मभावना के प्रतिबन्धक क्रोधादि कषाय के उदय से स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध— ये दो बन्ध होते हैं।

शंका — आस्रव और बन्ध के होने में मिथ्यात्व, अविरति आदि कारण समान हैं, तो आस्रव और बन्ध में क्या अन्तर है ?

उत्तर — इस प्रकार नहीं है। प्रथम क्षण में कर्मस्कन्धों का जो आगमन है, वह आस्रव है और आगमन के पश्चात् द्वितीय आदि क्षणों में जीव के प्रदेशों में उन स्कन्धों का रहना, वह बन्ध है; इस प्रकार (आस्रव और बन्ध में) अन्तर है।

क्योंकि योग और कषाय से चार प्रकार का बन्ध होता है; अतः बन्ध का नाश करने के लिए योग और कषाय का त्याग करके, निज शुद्धात्मा में भावना करना — यह तात्पर्य है ॥३३॥

इस प्रकार बन्ध के व्याख्यान से दो गाथाओं द्वारा द्वितीय स्थल पूर्ण हुआ।

गाथा ३३ पर प्रवचन

अब, गाथा के पूर्वार्ध में बन्ध के प्रकृति आदि चार भेदों को तथा उत्तरार्द्ध में उनके कारणों को कहते हैं —

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश — इन भेदों की अपेक्षा बन्ध चार प्रकार का है। योग से प्रकृति व प्रदेशबन्ध होता है और कषाय से स्थिति व अनुभागबन्ध होता है।

प्रकृति अर्थात् स्वभाव, स्थिति अर्थात् काल, अनुभाग अर्थात् रस तथा प्रदेश अर्थात् कर्मों की संख्या। जिस प्रकार जड़ में प्रकृतिबन्ध आदि चार प्रकार हैं, उसी प्रकार जीव के भावबन्ध में चार प्रकार की बन्धनरूप योग्यता है।

जिस प्रकार दर्पण के सामने छोटे-बड़े आकार के नारियल, जामुन आदि रखे हों, तो उतने ही आकार के नारियल वगैरह दर्पण में झलकते हैं अर्थात् जिस आकार के पदार्थ दर्पण के सामने रखे हैं, उसी आकार को दर्पण में ग्रहण करने की योग्यता है।

निमित्त के अनुरूप सामने नैमित्तिक पर्याय होती देखी जाती है; परन्तु वह पर्याय निमित्त से या निमित्त के कारण उत्पन्न नहीं होती। जामुन के अनुरूप दर्पण की पर्याय है, वहाँ पर जामुन निमित्त और वह पर्याय नैमित्तिक होने पर भी किसी के कारण कोई नहीं है; फिर भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध संसार में अनिवार्य है। अगर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध न हो तो संसार की सिद्धि ही नहीं हो।

आत्मवस्तु अरूपी है और स्वभाव से अबन्ध है; परन्तु पर्याय में स्वभाव को भूलने के कारण दर्शन-ज्ञान की हीन अवस्था अर्थात् विपरीत अवस्था हुई, उसे ही यहाँ पर भावबन्ध कहा गया है।

यह चैतन्यस्वभावी आत्मवस्तु अन्तरङ्ग मूलस्वभाव में निर्मल है — ऐसी वस्तु कैसे बँध सकती है ? अगर वस्तु बँध जाये तो वस्तु का ही अभाव हो जाये, इसलिए मूलवस्तु

तो निर्बन्ध ही है; पर्याय में बन्धन है। वर्तमान पर्याय में शुद्धता और पूर्णता प्रगट नहीं है, इसकारण से 'वस्तु पर आवरण है' — ऐसा कहा जाता है।

वस्तुस्वभाव के सम्बन्ध में भूल होने के कारण पर्याय में भावबन्ध अवश्य है और भावबन्धरूप पर्याय का जड़बन्ध के साथ सम्बन्ध तो है, परन्तु मूलवस्तु का जड़बन्ध के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

पहले तो इसका निर्णय करना चाहिए कि आत्मा वस्तु है कि नहीं? अगर है तो वह जाननस्वभाव वाली ही क्यों न हो और अगर वस्तु है ही नहीं, तो उसके नाश होने का भी कोई प्रश्न पैदा नहीं होता। इसलिए इतना तो सिद्ध है कि आत्मा वस्तु है तथा वर्तमान में भी है और भविष्य में भी रहेगी, क्योंकि ऐसा तो बनता नहीं कि किसी समय वस्तु है और फिर किसी समय उसका नाश हो जाए। जब मूलवस्तु अनादिनिधन है तो उसको बाँधनेवाला आवरण कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता है।

इसलिए आनन्दस्वभाववाली वस्तु में किसी भी प्रकार का बन्धन नही है; परन्तु पर्याय में स्वभाव को प्रगट करने के सम्बन्ध में कुछ भूलें अवश्य है। जैसे मैं पूर्ण आनन्द को प्रगट करने में समर्थ नहीं हूँ, मैं अनन्तज्ञानगुण वाला नहीं हूँ, अनन्त दर्शनशक्ति वाला नहीं हूँ, अनन्त सुख वाला नहीं हूँ, अनन्तवीर्य का धारी नहीं हूँ — इत्यादि स्वभाव की स्वीकृति न होने के कारण चारों गुणों पर घातियाकर्मों का आवरण पड़ा है।

सत्तास्वरूप वस्तु में आवरण नहीं है तथा जो वस्तु जैसी है, जबतक उसका वैसा ही ज्ञान-दर्शन-वीर्य आदि स्वरूप पर्याय में प्रगट न हो, तबतक पर्याय में हीनतारूप विकारपना रहता है अर्थात् उस पर्याय का भावबन्धरूप परिणमन होता रहता है।

यहाँ पर शिष्य को **शंका** होती है कि आत्मा की पर्याय में पूर्ण विकास नहीं है, क्योंकि पर्याय के विकास को रोकने में कर्मरूप निमित्त की सत्ता विद्यमान है; अतः उस कर्म का स्वरूप क्या है, जिसे हटाने से शुद्धता प्रगट होती है ?

शिष्य को अतिजिज्ञासावन्त देखकर आचार्य सान्त्वनापूर्वक **समाधान** करते हैं कि भाई! ऐसे प्रश्न तो भव्यजीवों को ही होते हैं। मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? यह पराधीनता क्यों है? तथा उसको टालने वाला कोई उपाय होगा ? — ऐसी जिज्ञासा वाला ही श्रोता कहा जाता है। यहाँ पर ऐसी ही जिज्ञासा वाले श्रोता को प्रश्न हुआ है कि

मैं कौन हूँ ? और यदि हूँ तो मेरे में शान्ति क्यों नहीं दिखाई देती है ? और यदि पर्याय में अशान्ति है तो उसको रोकने वाला कौन है ?

इस प्रकार जो शिष्य संसार से पीड़ित हुआ है और उसे टालने का जिज्ञासु है, वह आचार्य से **प्रश्न** करता है कि हे प्रभो! जब आत्मा का ज्ञानानन्दस्वभाव है तो वह पर्याय में प्रगट क्यों नहीं होता ? उसको रोकने में जो जड़कर्म निमित्त हैं, उसका स्वरूप क्या है ?

समाधान — भाई! भगवान आत्मा तो ज्ञानस्वरूप त्रिकाली वस्तु है; परन्तु जिस प्रकार वस्त्र के आड़े आ जाने से प्रतिमा नहीं दिखती, उसी प्रकार ज्ञानावरणादि के आड़े आ जाने से भगवान आत्मा का स्वभाव पर्याय में प्रगट नहीं होता।

वास्तव में तो पुरुषार्थ की हीनता होने से ज्ञान की पर्याय स्वयं अल्पज्ञता को लिये हुए है तथा ज्ञानावरणी कर्मों की उस समय विद्यमानता होने के कारण से उनको अल्पज्ञता रूप कार्य में कारण कहा जाता है। जबकि उस समय की पर्याय स्वयं अपने कारण हीन अवस्था को लिये उत्पन्न हुई है, कर्म तो मात्र निमित्त हैं।

विचार किया जाए तो जिसकी योग्यता न हो, उसको कौन ढाँक सकता है ? यदि अग्नि को कपड़े से ढाँकना चाहें तो क्या उसे ढाँक सकते हैं ? कपड़ा अग्नि को ढाँक तो सकता ही नहीं है और अगर कोशिश भी की जायेगी तो वह अग्नि कपड़े को ही जला डालेगी।

इसी प्रकार अनन्तदर्शनधारी भगवान आत्मा को जड़कर्म क्या ढाँक सकते हैं ? कदापि नहीं। स्वयं की योग्यता के कारण ही दर्शनगुण की पर्याय में अल्पता प्रगट होती है। दर्शनावरणी कर्म तो मात्र निमित्त हैं।

जिस प्रकार द्वारपाल राजा के दर्शन करने से रोकता है तो जिसमें रुकने की योग्यता होती है, वही रुकता है, उस समय द्वारपाल निमित्त कहा जाता है तथा जैसे शक्तिशाली राजकुमार द्वारपाल को देखता भी नहीं है, सीधे महाराज के दर्शन करता है। उसी प्रकार उग्रपुरुषार्थी जीव सीधे आत्मस्वभाव के दर्शन कर लेता है। उस समय उसे निमित्त भी नहीं होते हैं।

साता और असाता — ये दो भेद वेदनीयकर्म के हैं। जीव को अनन्त अव्याबाधरूप

आनन्द का अनुभव होना तो पूर्ण स्वभाव है। उसको पर्याय में पूर्ण प्रगट न होने देने में वेदनीयकर्म निमित्त है। जैसे शहद लपेटी तलवार की धार को चाटने से जीभ कट जाती है, उसी प्रकार सातावेदनीयकर्म के फल में थोड़ा सुखाभास होता है; परन्तु वहाँ आत्मा का अनन्त आनन्द लुट जाता है।

अज्ञानी जीव, आत्मा के अनन्त आनन्दरूप स्वभाव को भूलकर सातावेदनीयकर्म के निमित्त से जो इष्ट सामग्री की प्राप्ति होती है, उसमें सुख मान लेता है, जबकि वह सुख नहीं सुखाभास अर्थात् दु:ख ही है और बाद में भी उसके वियोग होने पर दु:खी होता है। वास्तव में तो वेदनीयकर्म के फल से प्राप्त संयोग में सुख मानना, शहद लपेटी तलवार को चाटने के समान है; परन्तु वह जीभ कट जाने से उत्पन्न खून का स्वाद पानकर आनन्द मानता है और उसी में मग्न रहता है।

जिस प्रकार शराब पीनेवाले का विवेक नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार जीव को मोहित करने में मोहनीयकर्म निमित्त है, जिसके कारण जीव का विवेक नष्ट हो जाता है। ऐसी अवस्था में जीव क्या हेय है तथा 'क्या उपादेय है, ये देव-शास्त्र-गुरु सच्चे हैं कि खोटे है' — इन सब प्रयोजनभूत बातों का निर्णय करने में असमर्थ रहता है।

अज्ञानी जीव इस मोहरूपी शराब को पीकर त्याज्य संयोगदृष्टि को आदरणीय मानते हैं, अत: वे विवेकशून्य हैं। जिन जीवों को मोहभाव नहीं है, उनको कर्म निमित्त भी नहीं होता। जिस प्रकार जिन जीवों को शराब पीने का भाव नहीं है तथा बलात् कोई शराब पिला दे तो उन्हें वैसा नशा नहीं चढ़ता, जैसा आसक्ति के साथ पीनेवालों को चढ़ता है। उसी प्रकार मोह और अविवेक से रहित जीवों को मोहनीयकर्म निमित्त भी नहीं होता।

जब तक जीव की मनुष्यादि शरीर में रहने की स्थिति हो, तब तक वह शरीर से नहीं छूटता, वहाँ आयुकर्म का निमित्त है। आयुकर्म जीव को शरीर में रोकने के लिए बेड़ी के सदृश है। उसके उदय में जीव शरीर में बँधा रहता है।

नामकर्म एक प्रकृति है, जो अनेक प्रकार के शरीरों की रचना करती है। कबूतर सर्प, मनुष्य, देव तथा नारकी आदि अनेक प्रकार के शरीर हैं, उन्हें चित्र की भाँति बनाने में नामकर्म निमित्त है।

वस्तुस्वभाव की खबर न होने के कारण मैं कौन हूँ ? मेरा क्या स्वभाव है ? शरीर क्या है ? शरीर का स्वभाव क्या है ? — ऐसा जो नहीं जानता है, वह शरीर में ममत्वबुद्धि करता है। शरीर में ममता करके जैसा नामकर्म का बन्ध किया हो, उसी आकार के शरीर में जन्म लेता है अर्थात् पहले भाव किया, इसके बाद नामकर्म का बन्ध होता है, तब उसके योग्य शरीर की प्राप्ति होती है; उस समय नामकर्म निमित्त कहा जाता है।

गोत्रकर्म उच्च और नीच कर्म के भेद से दो प्रकार का है। जिस प्रकार कुम्भकार छोटे-बड़े बर्तन बनाता है, उसी प्रकार जीव गोत्रकर्म के निमित्त से उच्चकुल अथवा नीचकुल में जन्म लेता है। जैसे — कोई वैश्य के घर तथा कोई आदिवासी के घर में जन्मा, इसमें गोत्रकर्म का निमित्त है।

अन्तरायकर्म दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य के भेद से पाँच प्रकार का कहा जाता है। अन्तरायकर्म भण्डारी जैसा है। जिस प्रकार पैसा तो तिजोरी में है, परन्तु किसी समय भण्डारी पैसा न देने में निमित्त होता है। उसी प्रकार अन्तरङ्ग में तो दानादि करने की बहुत भावना है, परन्तु दान देने के समय वृत्ति पलट जाती है, इसमें अन्तरायकर्म का निमित्त है। खाद्यपदार्थ को खाने का भाव हो, परन्तु खा न सके तो ऐसी न खानेरूप योग्यता स्वयं की है और उसमें भोगान्तरायकर्म निमित्त है तथा वस्त्रादि पदार्थों का ढेर लगा हो, जिसका बार-बार उपयोग किया जा सकता है, परन्तु उपभोग न कर सके तो उसमें उपभोगान्तरायकर्म का निमित्त है।

इन आठ कर्मों के स्वभाव को दर्शानेवाली गोम्मटसार ग्रन्थ में एक गाथा भी आती है, जो इस प्रकार है —

पडपडिहारसिमज्जा हलिचित्ता कुलाल भंड़यारीणं।
जह एदेसिं भावा तहविह कम्मा मुणेयव्वा॥

वस्त्र, द्वारपाल, तलवार, मद्य, वेडी, चित्रकार, कुम्भकार तथा भण्डारी — इन आठों का जैसा स्वभाव है, वैसा ही क्रमानुसार ज्ञानावरणादि आठों कर्मों का स्वभाव है।

अब, प्रकृतिबन्धादि चार भेदों के स्वरूप को सामान्यतया समझाते हैं :-

जीव की भूल अथवा रागादिभावों का निमित्त पाकर पुद्गलपरमाणु कर्मरूप परिणमित होते हैं, उसको प्रथम प्रकृतिबन्ध कहते हैं।

तथा जिस प्रकार बकरी, गाय, भैंस आदि के दूध में निश्चितकाल तक मधुररसरूप रहने की स्थिति है, उसी प्रकार जो कर्म जितने समय तक रहता है, वह उस कर्म की स्थिति कहलाती है अर्थात् आत्मा अपने स्वभाव को भूलकर जो कर्म बाँधता है, उसमें जो अवधि पड़ती है, उसे स्थितिबन्ध कहते हैं।

यहाँ तो यह ज्ञान कराने का अभिप्राय है कि कर्म कितनी अवधि तक आत्मा के साथ रहता है तथा यदि जीव उग्र पुरुषार्थ करे तो अल्पसमय में ही सारे कर्मों का नाश कर सकता है। यह तो निमित्तप्रधान कथन है, परन्तु निमित्त की प्रधानता से कार्य होता है — ऐसा नहीं है। जीव अपनी योग्यता के कारण ही रुका है, कर्म के कारण नहीं।

जिस प्रकार पूर्वोक्त बकरी, गाय, भैंस आदि के दूध में तारतम्य से मिठास में अन्तर है, उसी प्रकार कर्मों के रस में अन्तर है। जैसे, कर्म की अवधि में अन्तर है, वैसे ही उनके अनुभाग (रस) में भी अन्तर है।

जहाँ पर ऐसा कथन आये कि कर्मों का रस तेज है, वहाँ पर जीव की घोर मोहनिद्रा बताना है। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि कर्म का जोर बताया जा रहा है। जैसे, किसी चोर को पकड़ने के लिए पाँच पुलिस के जवान पीछे दौड़ रहे हैं — इस कथन में पुलिस का बल नहीं बताया गया, किन्तु चोर की शक्ति को बताया है। इसी प्रकार यहाँ कर्म का अनुभाग बताया, वह जीव की घोरनिद्रा बताने के लिए कहा है। वहाँ कर्म का जोर नहीं है, परन्तु अपनी घोरनिद्रा का जोर जरूर है।

कर्मों की स्थिति के हिसाब से अनुभाग का नियम नहीं लगता। जितने अधिक समय तक कर्मों की स्थिति होगी, उतना ही ज्यादा अनुभाग पड़ेगा — ऐसा नहीं है। ऐसा भी होता है कि कर्म की स्थिति अधिक हो और रस कम हो अथवा कर्म की स्थिति कम हो और अनुभाग ज्यादा हो। घातिकर्म के अनुभाग में चार प्रकार हैं। यहाँ जितने प्रकार कर्म में हैं, उतने ही प्रकार जीव की पर्याय में भी हैं।

जीव के साथ एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध रखनेवाले कर्मों में जो सुख-दुःख प्रदान करने की शक्तिविशेष है, उसको ही अनुभागबन्ध कहते हैं।

यहाँ घातियाकर्म के साथ सम्बन्ध रखनेवाली शक्ति लता, काष्ठ, अस्थि और पाषाण के समान है। अशुभ अघातियाकर्म से सम्बन्धित शक्ति नीम, कालीजीरी, विष और

हलाहल के समान विषैली है तथा शुभ अघातियाकर्म से सम्बन्धित शक्ति गुड़, शक्कर, मिश्री और अमृत के समान है। इस प्रकार सभी कर्मों में अनुभाग के चार-चार प्रकार हैं। इन सब कर्मों का बन्धन पर्याय में है, ऐसा जानकर सभी कर्म त्याग करने योग्य हैं।

इस जीव को प्रत्येक समय में सिद्ध भगवानों की संख्या से अनन्तवें भाग तथा अभव्यों की संख्या से अनन्तगुणे कर्मरूपी रजकण आते हैं।

एक परमाणु जीव के विकार में निमित्त नहीं हो सकता; लेकिन जो अनन्त रजकण बँधते हैं, वे ही जीव के विकार में निमित्त होते हैं। इस प्रकार यह अन्तिम प्रदेशबन्ध का स्वरूप कहा है।

अब, यहाँ बन्ध के कारण को कहते हैं -

जीव को कर्म का बन्धन किस प्रकार होता है, यह बताया जा रहा है। (१) योग से प्रकृति और प्रदेशबन्ध तथा (२) कषाय से स्थिति और अनुभागबन्ध होता है।

आत्मा के असंख्यात प्रदेश जो अनन्त गुणों के धारक हैं, उनका स्वभाव कम्पनरहित है, निश्चय से शुद्ध आत्मा के प्रदेश क्रियारहित हैं तथा उनका जो व्यवहार से परिस्पन्द होता है, उसे योग कहते हैं। वह योग प्रकृतिबन्ध (कर्म का स्वभाव) और प्रदेशबन्ध (कर्म के रजकणों की संख्या) में निमित्त है।

पर्याय में दोष है, परन्तु आत्मवस्तु उससे रहित है। ऐसे चिदानन्द आत्मा की एकाग्रता को ध्यान, भावना अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कुछ भी कहो — सब एक ही है तथा उस ध्यानरूप एकाग्र भावना के प्रगट न होने में निमित्त मिथ्यात्व आदि कषायें हैं।

यहाँ मिथ्यात्वभाव को कषायों में शामिल किया है, क्योंकि आत्मस्वभाव की अरुचि तथा पुण्य-पाप की रुचि — यह आत्मा का घातकभाव है और वह ही आत्मा के आनन्द को रोकने वाला है, अन्य कोई नहीं। यहाँ कषायों को आनन्दस्वभाव का रोकने वाला कहा — उसका अर्थ यह है कि जिस समय तूने स्वभाव को प्रगट करने का पुरुषार्थ नहीं किया, उस समय वे रोकने में निमित्त कही जाती हैं। इसमें सारा दोष इस जीव का ही है। जब जीव स्वभाव को प्रगट करने का पुरुषार्थ नहीं करता, तब कषायें उत्पन्न होती हैं।

आज तक इस जीव ने भगवान आत्मा के ज्ञानानन्दस्वभाव को रोकनेवाले राग में ही एकत्वबुद्धि की है और स्व-आनन्द की भावना कभी नहीं की, जबकि वही राग स्व-आनन्द को रोकनेवाला है; दूसरा कोई नहीं।

भगवान आत्मा का सात तत्त्वों में ही समावेश कर दिया है। सात तत्त्वों में मोक्ष सर्वोत्कृष्ट है तथा सर्वज्ञ व वीतरागस्वभाव की पर्याय में प्रगटता ही मोक्ष है और उस स्वभाव के धारक अरहन्त-सिद्ध भगवान हैं। ऐसे अखण्डस्वभावी अरहन्त-सिद्ध का जिसको भान हुआ, उसको ही अपने मोक्षस्वभाव का निर्णय हुआ — ऐसा कहा जाता है।

जो अरहन्त को सर्वज्ञ और वीतरागस्वभाव से विपरीत कहते हैं, वे कुदेव व कुगुरु हैं तथा ऐसी मान्यता से आस्रव-बन्ध होता है। अरहन्त-सिद्ध के यथार्थ भान से वे आत्मा में आ नहीं जाते; परन्तु आत्मा के ख्याल में आ जाते हैं कि अरहन्त-सिद्ध भगवान सर्वज्ञ व वीतरागस्वभाव वाले होते हैं।

सात तत्त्वों में जीवतत्त्व मुख्य है और उसका स्वभाव विकारीभाव से रहित पूर्ण शुद्ध है। आत्मा के स्वभाव में राग की उत्पत्ति ही नहीं है तथा राग की उत्पत्ति न होना ही अहिंसा है अर्थात् वीतरागदशा ही अहिंसा है। इस प्रकार जीव का स्वभाव अहिंसामय है। किसी को नहीं मारना अथवा बचाना अहिंसा नहीं है, वह तो व्यवहार से कही जानेवाली अहिंसा है।

सात तत्त्वों की प्रतीति में सच्चे देव-शास्त्र-गुरु तथा धर्म की प्रतीति हो जाती है। वह इस प्रकार है —

संवर-निर्जरा एकदेश उपादेय तत्त्व है और संवर-निर्जरा का स्वभाव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय है, उसको धारण करने वाले आचार्य, उपाध्याय और साधु हैं। इस प्रकार सच्चे गुरु की प्रतीति होती है तथा मोक्ष सर्वदेश उपादेयतत्त्व है एवं उसका स्वभाव वीतरागता और सर्वज्ञता है, उसको धारण करने वाले सच्चे देव हैं। इस प्रकार सच्चे देव की प्रतीति होती है। सच्चे देव और गुरु वीतरागी होने से धर्ममय हैं और उनके द्वारा प्रतिपादित वीतरागमय धर्म का कथन करना, वह शास्त्र है। इस प्रकार देव-शास्त्र-गुरु तथा धर्म की प्रतीति सातों तत्त्वों की प्रतीति में गर्भित है।

शुद्धजीव, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष — ये चार तत्त्व उपादेय हैं और उनके धारक

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु हैं। अजीव, आस्रव व बन्धतत्त्व हेय हैं और उनके धारक, कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र हैं — इनके द्वारा ही विरोधी मार्ग की प्ररूपणा की गई है; अतः वे सर्वथा हेय हैं।

सात तत्त्वों की प्रतीति ज्ञानप्रधान कथन होने से उसमें यथार्थ देव-शास्त्र-गुरु की प्रतीति तो आ ही जाती है तथा कुदेवादिक के अस्तित्व की भी प्रतीति हो जाती है।

पुण्य-पाप हेय हैं, उनको उपादेय मानना तथा आत्मस्वभाव उपादेय है, उसका बहुमान न करना ही भावबन्ध है — ऐसे ही भावबन्ध से जड़कर्म बँधता है और उसमें मिथ्यात्व और कषाय के निमित्त से अनुभाग पड़ता है।

सात तत्त्वों की यथार्थ समझ में सर्वज्ञता क्या है ? अल्पज्ञता क्या है ? आदरणीय क्या है ? हेय क्या है ? — इन सब प्रश्नों का समाधान गर्भित है। 'विद्वज्जन बोधक' नामक ग्रन्थ में आदिपुराण का आधार देकर कहा है कि जिसको आप्त, आगम तथा गुरु के प्रति सच्चा प्रमोदभाव नहीं आया, उसको तत्त्व की बिल्कुल रुचि नहीं है तथा जिसको आप्त, आगम तथा गुरु के प्रति यथार्थ प्रमोदभाव आता है, वह ही तत्त्व की यथार्थ रुचि वाला है। इसका सूचक श्लोक इस प्रकार है —

आप्तागमपदार्थानां, श्रद्धानं परया मुदा।
सम्यग्दर्शनमाम्नातं, प्रथमं मुक्तिसाधनम्॥११८॥

आप्त, आगम और पदार्थ के प्रति परम हर्षसहित श्रद्धान सम्यग्दर्शन है और वह सम्यग्दर्शन ही मोक्ष का प्रथम साधन माना गया है।

जिसको सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति हर्ष होता है, उसको खोटे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति हर्ष नहीं होता और आत्मा के प्रति प्रमोदभाव आता है तथा जिसको अरहन्तदेव एवं निर्ग्रन्थगुरु के अतिरिक्त स्वप्न में भी अन्य कुदेवादिक के प्रति आदरभाव नहीं आता, उसको व्यवहार से सम्यग्दृष्टि कहा जाता है।

यहाँ शिष्य को **शंका** होती है कि प्रभो! कदाचित् आस्रव और बन्ध होने में मिथ्यात्व, अविरति आदि कारण एक जैसे हैं, फिर आस्रव और बन्ध में तो मूलभूत अन्तर क्यों है ?

आचार्य **समाधानपूर्वक** समझाते हैं कि भाई! यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि प्रथम क्षण में जो कर्म स्कन्धों का आगमन है, वह तो आस्रव है तथा कर्म स्कन्धों के **आगमन** के बाद उन कर्मस्कन्धों का जीव के प्रदेशों में स्थित होना, वह बन्ध है; यही आस्रव और बन्ध में अन्तर है।

मेंढक की भाँति टकटकी लगाये शिष्य ने फिर **शंका** की कि रजकणों के आनेरूप आस्रव और उनके बँधनेरूप बंध में क्या वास्तव में समय भेद है ?

समाधान - भाई! वास्तव में जिस समय रजकण आते हैं, उसी समय बन्ध पड़ता है; परन्तु यहाँ पर व्यवहार से कालभेद समझाया गया है। यहाँ तो समझाने के लिए ऐसा कहा गया है कि एक क्षण में कर्म का आगमन, वह तो आस्रव है और आगमन के बाद आत्मप्रदेशों के साथ एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध होना, वह बन्ध है। वास्तव में तो जिस समय आस्रव हुआ, वही उसका बंधकाल भी है।

योग और कषायों से प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग — ये चार बन्ध होते हैं; इसलिए बन्ध का नाश करने के लिए योग तथा कषाय का त्याग करके स्वयं की शुद्धात्मा में एकाग्रतारूप भावना करना चाहिए। यही इस गाथा का तात्पर्य है।

आत्मवस्तु आनन्दमूर्ति है, उसकी श्रद्धा, ज्ञान और रमणता करना — यह ही योग और कषाय के नाश करने का उपाय है, अन्य कोई उपाय नहीं है। कषाय का त्याग करके आत्मा में लीन होना चाहिए, यह तो उपदेश करने की रीति है। वास्तव में तो आत्मा का यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान तथा रमणता करने से योग और कषाय टल जाते हैं।

यहाँ बीच में व्यवहार का भी कथन किया गया है। उसका तात्पर्य व्यवहार की भावना करना नहीं है; किन्तु व्यवहार का ज्ञान कराना है।

इस प्रकार दो गाथाओं का द्वितीयस्थल समाप्त हुआ।

❖❖❖

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-३४

अब, आगे दो गाथाओं द्वारा संवर पदार्थ का कथन किया जाता है। वहाँ प्रथम गाथा में भावसंवर और द्रव्यसंवर का स्वरूप कहते हैं —

चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू।
सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणे अण्णो॥३४॥

चेतनपरिणामः यः कर्म्मणः आस्त्रवनिरोधने हेतु।
सः भावसंवरः खलु द्रव्यास्त्रवरोधनः अन्यः॥३४॥

कर्म रुकना द्रव्यसंवर और उसके हेतु जो।
शुद्धातमा के भाव वे ही भावसंवर जानिये॥३४॥

गाथार्थ :— आत्मा का जो परिणाम कर्म के आस्त्रव को रोकने में कारण है, उसे भावसंवर कहते हैं और जो द्रव्यास्त्रव का रुकना, वह द्रव्यसंवर है।

टीका :— **'चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू सो भावसंवरो खलु'** जो चेतन परिणाम, कैसा? कर्मों के आस्त्रव को रोकने में कारण है, वह वास्तव में निश्चय से भावसंवर है। **'दव्वासवरोहणे अण्णो'** द्रव्यकर्म के आस्त्रव का निरोध होने पर अन्य द्रव्यसंवर होता है। वह इस प्रकार है — निश्चय से स्वतःसिद्ध होने से अन्य कारण की अपेक्षारहित, अविनश्वर होने से नित्य, परम प्रकाशरूप स्वभाव होने से स्व-पर को प्रकाशित करने में समर्थ, अनादि-अनन्त होने से आदि-मध्य और अन्तरहित, दृष्ट, श्रुत और अनुभव किये हुए भोगों की आकांक्षारूप निदानबन्धादि समस्त रागादि विभावमल से रहित होने के कारण अत्यन्त निर्मल, परमचैतन्यविलासरूप लक्षण होने से चिद्-उच्छलन से (चैतन्य के उछलने से) भरपूर, स्वाभाविक परमानन्द एक लक्षण होने से परमसुख की मूर्ति, आस्त्रवरहित सहज स्वभाव होने से सर्व कर्मों का संवर करने में कारण — ऐसे लक्षणों से युक्त परमात्मा है। उसके स्वभाव से उत्पन्न जो शुद्धचेतन परिणाम है, वह भावसंवर है और जो कारणरूप भावसंवर से उत्पन्न हुआ कार्यरूप नये द्रव्यकर्मों के आगमन का अभाव, वह द्रव्यसंवर है।

अब, संवर के विषय में नयविभाग का कथन करते हैं — मिथ्यात्व गुणस्थान से

लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान तक ऊपर-ऊपर मन्दपना होने से तारतम्यता से अशुद्ध निश्चय वर्तता है। उसमें गुणस्थान के भेद से शुभ, अशुभ और शुद्ध अनुष्ठानरूप (आचरणरूप) तीन प्रकार के उपयोग का व्यापार होता है। उसे कहा जाता है — मिथ्यादृष्टि, सासादन और मिश्र — इन तीन गुणस्थानों में ऊपर-ऊपर मन्दरूप से अशुभ उपयोग होता है। उससे आगे असंयत सम्यग्दृष्टि, श्रावक और प्रमत्तसंयत इन तीन गुणस्थानों में परम्परा से शुद्धोपयोग का साधक ऊपर-ऊपर तारतम्यता से शुभोपयोग होता है। इसके पश्चात् अप्रमत्त से क्षीणकषाय तक के छह गुणस्थानों में जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद से विवक्षित एकदेश शुद्धनयरूप शुद्धोपयोग होता है। वहाँ मिथ्यादृष्टि (प्रथम) गुणस्थान में तो संवर नहीं होता है, सासादन आदि गुणस्थानों में 'मिथ्यादृष्टि प्रथम गुणस्थान में सोलह प्रकृति, दूसरे में पच्चीस, तीसरे में शून्य, चौथे में दस, पाँचवें में चार, छट्ठे में छह, सातवें में एक, आठवें में दो, तीस और चार, नवम में पाँच, दसवें में सोलह और सयोगकेवली में (तेरहवें में) एक प्रकृति की बन्ध व्युच्छित्ति होती है।' इस प्रकार बन्धविच्छेद त्रिभङ्गी में कहे अनुसार क्रम से ऊपर-ऊपर अधिकता से संवर जानना।

शङ्का — अशुद्ध निश्चय में मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में (अशुभ, शुभ और शुद्ध) तीन उपयोगों का व्याख्यान किया, वहाँ अशुद्ध निश्चयनय में शुद्धोपयोग किस प्रकार घटित होता है ?

उत्तर — शुद्धोपयोग में शुद्ध-बुद्ध-एकस्वभावी निजात्मा ध्येय होता है, इस कारण शुद्ध ध्येयवाला होने से, शुद्ध अवलम्बनवाला होने से और शुद्धात्मस्वरूप का साधक होने से शुद्धोपयोग सिद्ध होता है और वह 'संवर' शब्द से वाच्य शुद्धोपयोग संसार के कारणभूत मिथ्यात्व रागादि अशुद्धपर्याय की भाँति अशुद्ध नहीं होता है तथा उसके फलरूप केवलज्ञानरूप शुद्धपर्याय की भाँति शुद्ध भी नहीं होता है परन्तु वह अशुद्ध और शुद्ध (दोनों) पर्यायों से विलक्षण, शुद्धात्मा के अनुभवरूप निश्चय-रत्नत्रयात्मक, मोक्ष का कारणभूत, एकदेश प्रगट, एकदेश आवरणरहित — ऐसी तीसरी अवस्थारूप कहलाता है।

कोई शङ्का करता है — केवलज्ञान समस्त आवरणरहित शुद्ध है तो उसका कारण भी समस्त आवरणरहित शुद्ध होना चाहिए, क्योंकि 'उपादानकारण जैसा कार्य होता है' — ऐसा शास्त्र का वचन है। उसका उत्तर दिया जाता है:- आपने जो कहा है, वह तो

योग्य है, परन्तु उपादानकारण भी कार्य से एकदेश भिन्न होता है; जिस प्रकार सोलह वान के सुवर्णरूप कार्य का नीचे की अवस्थावाला (पन्द्रह वान) सुवर्णरूप उपादानकारण एकदेश भिन्न होता है और जिस प्रकार मिट्टी के कलशरूप कार्य का मिट्टी का पिण्ड-स्थास-कोश-कुशुलरूप उपादानकारण एकदेश भिन्न होता है, उसी प्रकार। यदि एकान्त से उपादानकारण का कार्य के साथ अभेद या भेद हो तो पूर्वोक्त सुवर्ण और मिट्टी के दो दृष्टान्तों की भाँति कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता है। इससे क्या सिद्ध हुआ ? (यह सिद्ध हुआ कि) एकदेश-निरावरण होने से, क्षायोपशमिक ज्ञानरूप लक्षणयुक्त, एकदेश-प्रगटरूप, विवक्षित-एकदेश-शुद्धनय से 'संवर' शब्द से वाच्य शुद्धोपयोगस्वरूप (शुद्धोपयोग का स्वरूप) मुक्ति का कारण होता है और जो लब्धि-अपर्याप्तक सूक्ष्म निगोदिया जीव में नित्य उघाड़रूप आवरणरहित ज्ञान सुनने में आता है, वह भी सूक्ष्मनिगोद के सर्व जघन्य क्षयोपशम की अपेक्षा से निरावरण है; सर्वथा आवरणरहित नहीं है।

शङ्का — वह आवरणरहित किस प्रकार रहता है ?

उत्तर — यदि उस जघन्यज्ञान का भी आवरण हो जाए तो जीव का अभाव प्राप्त होता है। वास्तव में तो ऊपर के क्षयोपशमज्ञान की अपेक्षा से और केवलज्ञान की अपेक्षा से वह ज्ञान भी आवरणसहित है और संसारी जीवों को क्षायिकज्ञान का अभाव होने से (वह ज्ञान) क्षायोपशमिक ही है। यदि नेत्रपटल के एकदेश निरावरण की भाँति (अर्थात् नेत्रपटल कुछ खुला हो, उसकी भाँति) केवलज्ञान के अंशरूप वह ज्ञान हो तो उस एकदेश से भी लोकालोक की प्रत्यक्षता होती, तो भी ऐसा तो देखने में नहीं आता है; परन्तु बहुत से बादलों से आच्छादित सूर्य के बिम्ब की भाँति अथवा निबिड़ नेत्रपटल की भाँति उस निगोदिया का ज्ञान थोड़ा-सा जानता है — ऐसा तात्पर्य है।

अब, क्षयोपशम का लक्षण कहते हैं — सर्व प्रकार से आत्मा के गुणों का आच्छादन करने वाली कर्म की शक्तियों को 'सर्वघाती स्पर्द्धक' कहते हैं और विवक्षित एकदेश से आत्मा के गुणों का आच्छादन करने वाली कर्म की शक्तियों को 'देशघाती' स्पर्द्धक कहते हैं। सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदय के अभाव को ही क्षय और उनकी ही सत्‌रूप अवस्था को उपशम कहते हैं। सर्वघाती स्पर्द्धकों का उदयाभावी क्षयसहित उपशम और उनके एकदेशघाती स्पर्द्धकों का उदय — इस प्रकार इन तीनों के समुदाय से क्षयोपशम कहा जाता है। क्षयोपशम में हो उसे क्षायोपशमिकभाव कहते हैं अथवा देशघाती स्पर्द्धकों

का उदय होने पर जीव एकदेश ज्ञानादि गुण प्राप्त करता है, वह क्षायोपशमिकभाव है। इससे क्या सिद्ध हुआ ? पूर्वोक्त सूक्ष्मनिगोद के जीव में ज्ञानावरणकर्म के देशघाती स्पर्द्धकों का उदय होने पर एकदेश ज्ञानगुण प्राप्त होता है, इस कारण वह क्षायोपशमिकज्ञान है; क्षायिकज्ञान नहीं। किस कारण ? क्योंकि वहाँ कर्म के एकदेश उदय का सद्भाव है।

यहाँ सारांश यह है — यद्यपि पूर्वोक्त शुद्धोपयोगलक्षणयुक्त क्षायोपशमिकज्ञान मुक्ति का कारण होता है तो भी ध्याता पुरुष के द्वारा 'नित्य सकल निरावरण, अखण्ड, एक, सम्पूर्ण निर्मल केवलज्ञान जिसका लक्षण है — ऐसा परमात्मस्वरूप वही मैं हूँ; खण्डज्ञानरूप नहीं' — ऐसी भावना करनी चाहिए।

इस प्रकार संवर पदार्थ के व्याख्यान में नयविभाग जानना॥३४॥

गाथा ३४ पर प्रवचन

अब, आगे दो गाथाओं द्वारा संवर पदार्थ का कथन किया जाता है। वहाँ प्रथम गाथा में भावसंवर और द्रव्यसंवर का स्वरूप कहते हैं —

आत्मा का जो परिणाम, कर्म के आस्रव को रोकने में कारण है, उसे भावसंवर कहते हैं और द्रव्यास्रवों का रुकना द्रव्यसंवर है।

जो चैतन्यवस्तु है, वह त्रिकाली द्रव्यरूप वस्तु है तथा उसका परिणाम वर्तमान पर्याय है तथा इसी टीका में चैतन्यवस्तु को परमात्मा कहा है। यह परमात्मा निश्चयनय से स्वयंसिद्ध है। वह किसी समय रहता हो और किसी समय नहीं रहता हो — ऐसा नहीं है, वह तो त्रिकाल एकरूप विद्यमान है। अपना कारणपरमात्मा अन्य कारण की अपेक्षा से रहित है। क्या वस्तु का भी कारण हो सकता है ? अगर वस्तु का कोई कारण हो तो वस्तु ही नहीं रहती।

यहाँ पर चैतन्य की व्याख्या चल रही है। गाथा में तो संवर के कारण जो 'चेतन परिणाम' उसकी बात की गई है; परन्तु टीकाकार पहले चैतन्यद्रव्य की व्याख्या करते हैं।

चैतन्यवस्तु अनेकान्तात्मक है। अतः चैतन्यसत्ता को कोई अन्य कारण नहीं है — इस अपेक्षा (पर की अपेक्षा) वस्तु की नास्ति है और चैतन्यसत्ता अपने ही कारण है — इस अपेक्षा (स्व की अपेक्षा) वस्तु की अस्ति है।

चैतन्यद्रव्य के आश्रय से प्रगट होनेवाला परिणाम संवर है तथा संवर अहिंसास्वरूप है।

यहाँ पर कोई शिष्य पूछता है कि महाराज! संवर की ऐसी व्याख्या किसने की ? आचार्य समाधान करते हैं कि निर्ग्रन्थ देव-गुरु द्वारा ऐसी व्याख्या की गयी है। भाई! भगवान आत्मा चिदानन्द है, सत्तावान होने से अविनाशी है और अविनाशी होने से नित्य है और वह परम-उद्योतस्वभाववाला है। अन्धकार एवं विकार उसके स्वभाव में नहीं हैं। वह स्व और पर को प्रकाशित करने की ताकतवाला है, क्योंकि चैतन्य का स्वभाव परम प्रकाशमय है।

यहाँ पर त्रिकाली चैतन्य की बात चलती है, क्योंकि उसके अवलम्बन से संवरदशा प्रगट होती है। चैतन्य का न तो प्रारम्भ है, न मध्य है और न अन्त है; इसलिए उसे आदि-मध्य-अन्तरहित कहा जाता है।

चैतन्यस्वभावी आत्मा को अनादि कहने से जगत को उलझन होती है कि आदि को नहीं जान सकते, इसलिए आत्मा को अनादि कहते हो ? परन्तु भाई! जो सत्तास्वरूप वस्तु होती है, उसकी न तो आदि होती है और न अन्त ही होता है तथा जिसका आरम्भ है ही नहीं, उसकी आदि जानने में कैसे आ सकती है? जो अनादि का है, वह अनादिपने ही जानने में आता है। वस्तु की आदि जानने में नहीं आयी, इसलिए उसे अनादि कहते हैं — ऐसी बात नहीं है। वस्तु स्वभाव से ही अनादि है, इसलिए वह अनादिरूप ही जानने में आती है।

देखे हुए, सुने हुए तथा अनुभव किए हुए भोगों की आकांक्षारूप निदानबन्ध आदि समस्त रागादि विभावमल से रहित होने के कारण चैतन्यपरमात्मा परम पवित्र है।

यहाँ फिर **प्रश्न** होता है कि जो संवर के नये परिणाम का उत्पाद होता है और पुराने आस्रवभावों का नाश होता है, वह किस कारण से होता है ?

उत्तर — चैतन्यस्वभावी आत्मा के आश्रय से आस्रवादि विभावों का नाश होता है।

प्रश्न — वह चैतन्यस्वभावी आत्मा कैसा है?

उत्तर — परम चैतन्यविलासरूप लक्षण का धारक होने से चैतन्यपरमात्मा चित्-चमत्कारस्वरूप है। ऐसे स्व-परप्रकाशक चैतन्यचमत्कारस्वरूप आत्मा में एकाग्र होने पर अन्तर्मुहूर्त में ही केवलज्ञान को उत्पन्न करता है — ऐसा चैतन्य का चमत्कार है। केवलज्ञान को प्रगट करने का चमत्कार चैतन्यस्वभाव में है तथा जिस आत्मा में मतिज्ञान

है, उसी आत्मा में केवलज्ञान प्रगट होता है — ऐसा अद्‌भुत चमत्कार चैतन्यस्वभावी आत्मा में है।

स्वाभाविक परमसुख की मूर्ति का धारक भगवान आत्मा है। परमस्वाभाविक सुखस्वरूप होने से आत्मा की मूर्ति टांकी के बिना ही गढ़ी हुई है।

प्रश्न — भगवान का चैतन्यस्वभाव कैसा है ?

उत्तर — चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा अनन्त शक्तियों का भण्डार तथा सहजस्वभावी वस्तु है। उसमें मिथ्यात्व आदि पाँचों भावबन्ध के कारण नहीं हैं तथा उसका द्रव्यस्वभाव समस्त कर्मों को रोकने में समर्थ है।

यहाँ पर चैतन्य परमात्मा की व्याख्या चलती है। जो ऐसे चैतन्य का आश्रय करता है, वह संसाररूपी सागर से पार हो जाता है। यह चैतन्य लक्षण परमात्मा का है, उसके आश्रय से उत्पन्न जो शुद्ध चैतन्यपरिणाम होता है, वह भावसंवर है।

प्रश्न — यह भावसंवर कैसे हुआ ? क्या बाह्य महाव्रत का पालन करने से ? या क्रियाकाण्ड करने से ? या नग्न होने से ?

उत्तर — नहीं भाई! ऐसा संवर तो चैतन्यस्वभाव का आश्रय करने पर ही प्रगट होता है। अन्तर चैतन्यस्वभाव का आश्रय होने पर भी बाह्य में पञ्च महाव्रत का पालन तथा नग्नत्व रहता ही है। कोई ऐसा माने कि चाहे जैसा लिङ्ग हो और संवरधर्म या यथार्थ मुनिपना प्रगट हो जाए — ऐसा तीन काल में भी सम्भव नहीं है।

स्वभाव का आश्रय करने से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तथा शुद्ध चैतन्यपरिणाम प्रगट होता है, वही भावसंवर है। चैतन्यद्रव्य परमपारिणामिकभाववाली वस्तु है और यह परिणाम उपशम, क्षयोपशम तथा क्षायिकभावरूप पर्याय है।

यह भावसंवर तथा द्रव्यसंवर का अधिकार है। यहाँ पर चैतन्य आत्मा का वर्णन आठ बोलों के आधार पर किया है। चैतन्य द्रव्य का शुद्ध परिणाम, वह भावसंवर है तथा जड़-रजकणों के रुकने में भावसंवर की निमित्तता है तथा उसके निमित्त से नये रजकणों का नहीं आना, वह द्रव्यसंवर है।

आत्मा त्रिकाल चैतन्यस्वभावी है और उसके आश्रय से जो निर्विकारी परिणाम होते हैं, उसे भावसंवर कहते हैं तथा रजकणों का रुकना, वह द्रव्यसंवर है। अब संवर के विषय को नयविभाग द्वारा समझाते हैं।

मिथ्यात्वगुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय नाम के बारहवें गुणस्थान तक ऊपर-ऊपर मन्दतारूप तारतम्यपने से अशुद्ध निश्चयनय वर्तता है।

इनमें मिथ्यात्व, सासादान और मिश्र — इन तीनों गुणस्थानों में ऊपर-ऊपर मंदता से अशुभोपयोग होता है। देखो! जीव अगर नवमें ग्रैवेयकपर्यन्त जाये तो भी उसे अशुभोपयोग कहने में आया है।

जिसे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की प्रतीति नहीं है और कदाचित् उनकी प्रतीति हो भी जाए, फिर भी आत्मा की अन्तर्प्रतीति नहीं हो तो उसका उपयोग अशुभोपयोग ही है। भले ही वह नग्नमुनि का भेष धारण कर ले तो भी वही उपयोग रहता है। यहाँ मुख्यता-गौणता की अपेक्षा कथन है।

प्रथम गुणस्थान में मुख्यता अशुभोपयोग की ही रहती है। उससे मन्द अशुभोपयोग दूसरे सासादनगुणस्थान में होता है तथा उससे भी अधिक मन्द अशुभोपयोग तीसरे मिश्र-गुणस्थान में रहता है।

जिसे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की खबर नहीं, आत्मस्वभाव का अवभासन नहीं, उसे तीव्र मिथ्यादृष्टि और अशुभोपयोगी कहा है। वह जीव चाहे उत्कृष्ट द्रव्यलिङ्ग धारण कर ले, कोई उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दे तो भी उस पर क्रोध न करे, आँख का कोना भी लाल न हो, तो भी यहाँ कहते हैं कि उसका सारा उपयोग अशुभोपयोग ही है। आत्मा के स्वभाव के अवभासन बिना पूर्व का सारा उपयोग अशुभोपयोग ही है।

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप सुनते हुए जिसे अभी कुदेव आदि का आदरभाव नहीं छूटा है, वह तीव्र अशुभोपयोगी है तथा कदाचित् किसी को कुदेवादि का संयोग छूट जाए, परन्तु अन्तर आत्मा का अनुभव न हो, तब भी वह मिथ्यादृष्टि ही है, अशुभोपयोगी ही है। इस प्रकार पहले, दूसरे तथा तीसरे गुणस्थान में मन्दता से अशुभोपयोग रहता है।

इससे आगे अर्थात् असंयतसम्यक्त्व, संयतासंयत और प्रमत्तसंयत नामक — इन तीन गुणस्थानों में परम्परा से शुद्धोपयोग का साधक और ऊपर-ऊपर तारतम्यता से शुभोपयोग में प्रवर्तता है। अतः चौथे, पाँचवे तथा छट्ठे गुणस्थान में शुद्धोपयोग की मुख्यता नहीं है।

सप्तम गुणस्थान से शुद्धोपयोग की मुख्यता है। चतुर्थ, पञ्चम तथा छट्ठे गुणस्थानवाले जीव को शुद्धोपयोग तो प्रगट हुआ है, अन्तर में आत्मा के निर्विकल्प आनन्द का वेदन

भी हुआ; परन्तु वहाँ शुद्धोपयोग की मुख्यता न होकर शुभोपयोग की ही मुख्यता है। इन गुणस्थानों में देव-शास्त्र-गुरु के प्रति शुभविकल्प बढ़ता है। इसकारण से इन गुणस्थान वालों को शुभोपयोग की प्रधानता कहकर परम्परा से शुद्धोपयोग का साधन कहा है।

इसके बाद अप्रमत्त गुणस्थान से क्षीणकषाय गुणस्थान तक छह गुणस्थानों में जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट के भेद से विवक्षित एकदेश शुद्धनय के आश्रित शुद्धोपयोग वर्तता है। इन छह गुणस्थानों में शुद्धोपयोग क्रम-क्रम से बढ़ता है। ऐसा शुद्धोपयोग एकदेश शुद्धनय का विषय कहा है।

जिन जीवों को अभी भी कुदेवादि का आदरभाव है, उन्हें सम्यग्दर्शन नहीं है। दूसरे गुणस्थान में जो संवर होता है, वह सोलह प्रकृतियों का अभाव करके होता है। वहाँ पर अनन्तानुबन्धी का उदय तो है, परन्तु मिथ्यात्व का उदय नहीं है। जो प्रथम गुणस्थान में मिथ्यात्व सम्बन्धी सोलह प्रकृतियाँ आती थीं, वे दूसरे गुणस्थान में नहीं आतीं, इस अपेक्षा दूसरे गुणस्थान में संवर कहा है।

द्वितीय गुणस्थान में जो पच्चीस प्रकृतियाँ बँधती हैं, वे प्रकृतियाँ चतुर्थ गुणस्थान में नहीं बँधतीं। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव यदि लड़ाई में भी हो तो उसे इकतालीस प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता, उसे तो संवर ही वर्तता रहता है। जिसे आत्मा का भान नहीं है, वह भले ही मुनि हो गया हो, क्रियाकाण्ड करता हो तथा जैसा जगत को रुचे वैसा बाह्यसंयम भी करता हो, तो भी उसे नाममात्र को भी संवर नहीं है।

अनादि निगोद में बाँधी हुई इकतालीस प्रकृतियों का बन्ध सम्यग्दर्शन होने के बाद रुक जाता है अर्थात् संवर होता है। वास्तव में तो जिस परिणाम से कर्म का आगमन तथा अशुद्धता न हो, उसे परिणाम को संवर कहते हैं।

इस प्रकार अशुद्ध निश्चयनय के अन्तर्गत मिथ्यात्व आदि गुणस्थानों में अशुभ, शुभ तथा शुद्ध — इन तीनों उपयोगों का व्याख्यान किया गया है। वहाँ पर जितनी शुद्धता प्रगटी, वह शुद्ध निश्चयनय का विषय है; परन्तु जो अशुद्धता रही, वह अशुद्ध निश्चय नय का विषय है।

यहाँ पर शिष्य **शङ्का** करता है कि आपने अभी अशुद्ध निश्चयनय में मिथ्यात्व

आदि गुणस्थानों में (अशुभ, शुभ और शुद्ध) तीन उपयोगों का व्याख्यान किया किया, वहाँ अशुद्ध निश्चयनय में शुद्धोपयोग किस प्रकार घटित होता है।

आचार्य **समाधान** करते हैं कि भाई! शुद्धोपयोग में शुद्ध-बुद्ध-एकस्वभावी निजात्मा ध्येय होता है, इस कारण शुद्ध ध्येयवाला होने से, शुद्ध अवलम्बनवाला होने से और शुद्धात्मस्वरूप का साधक होने से शुद्धोपयोग सिद्ध होता है।

शरीर जड़ है, हिंसादि भाव, अशुभ हैं तथा दयादि भाव, शुभ हैं — इन सबसे रहित ज्ञायक निजात्मा ध्येय है। शुद्धोपयोग का ध्येय त्रिकाल ज्ञानानन्द शुद्ध-बुद्ध-एकस्वभाव है। पुण्य-पाप से रहित शुद्ध भगवान आत्मा ध्येय होने से शुद्धोपयोग का आधार है। पुण्य-पाप, दया-दान आदि बाह्य क्रियाएँ शुद्धोपयोग का आधार नहीं हैं, व्यवहार अर्थात् विकार मात्र शुद्धोपयोग का आधार नहीं है, क्योंकि उसका ध्येय पर-निमित्त के ऊपर रहता है। उसका अवलम्बन भी पर है।

जो पुण्य-पाप के परिणाम होते हैं, वह पर के अवलम्बन से होते हैं; अतः बन्ध के साधक हैं तथा शुद्धोपयोग का आधार एक स्वभावी त्रिकाल ध्रुव भगवान आत्मा है; अतः वह शुद्धोपयोग का साधक है।

शुद्धोपयोग का आधार भी आत्मा है और उसका साधन भी आत्मा है। एकाग्रता का ध्येय, अवलम्बन तथा साधक आत्मा है। आत्मा का ध्यान करने से ही शुद्धोपयोग सिद्ध होता है। इस प्रकार यहाँ शुद्धोपयोग की सिद्धि की।

अब, अशुद्धनय के विषय में शुद्धोपयोग कैसे घटित होता है ? यह बताते हैं —

संवर और शुद्धोपयोग दोनों एक ही बात हैं। ज्ञायकस्वभावी चिदानन्द भगवान आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले परिणाम को चाहे संवर कहो या शुद्धोपयोग कहो, एक ही बात है। वह संवर संसारदशा के कारणभूत मिथ्यात्व-राग-द्वेष आदि विकारी भावों के समान न तो अशुद्ध है और न केवलज्ञान पर्याय के समान शुद्ध ही है।

चतुर्थ गुणस्थान में शुद्धोपयोग अल्प होता है और देव-शास्त्र-गुरु के आदरभावरूप शुभोपयोग ज्यादा रहता है। अतः इस गुणस्थान में शुद्धोपयोग को गौण किया है तथा शुभोपयोग को मुख्य किया है।

चतुर्थ गुणस्थान की अपेक्षा पञ्चम गुणस्थान में निर्विकल्पदशा का अनुभव बढ़ता

हुआ होने पर भी थोड़ा है। इसलिए पञ्चम गुणस्थानवर्ती के भी शुद्धोपयोग गौण कहा है। इसी प्रकार छट्ठे गुणस्थान में भी शुभोपयोग की मुख्यता है।

इस प्रकार चतुर्थ, पञ्चम तथा छट्ठे गुणस्थान में शुद्धोपयोग गौणपने है तथा सातवें से लेकर बारहवें गुणस्थान पर्यन्त जघन्य-मध्यम-उत्कृष्टपने मुख्यरूप से है। फिर भी बारहवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग की अपूर्णता है।

इस प्रकार शुद्धोपयोग की अपूर्णता होने के कारण साधक अवस्था को एकदेश शुद्ध निश्चयनय का विषय कहा है।

यहाँ पुनः **शङ्का** होती है कि शुद्ध और अशुद्ध दोनों पर्यायों से विलक्षण शुद्धपर्याय प्रगट नहीं हुई, तो अभी साधक अवस्था को शुद्ध कहें या अशुद्ध ?

समाधान — भाई! जितनी शुद्धता प्रगटी है, उस अपेक्षा शुद्ध कहना और जितनी मलिनता बाकी है, उस अपेक्षा से अशुद्ध कहना। इस प्रकार अपेक्षा से यथार्थ समझना चाहिए।

मुनिराज जब प्रमत्तगुणस्थान में होते हैं तो उन्हें भी शुभ-विकल्प ही रहता है। वे कहते हैं कि इस समय हमें शुद्धोपयोग गौण है, हमें तो अन्तर में लीन होने पर ही शुद्धोपयोग मुख्य रहता है। वह शुद्धोपयोग मिथ्यात्व-राग-द्वेष इत्यादि अशुद्ध पर्यायों से भी भिन्न लक्षण वाला है और पूर्ण शुद्ध केवलज्ञान पर्याय से भी भिन्न लक्षण वाला है; अतः एकदेश शुद्ध है।

यह शुद्धोपयोग आत्मा के अनुभवस्वरूप है। ऐसा शुद्धोपयोग जिसे एकदेश प्रगट है, वह एक अंश में आवरणरहित और दूसरे अंश में आवरणसहित — ऐसा तृतीय अवस्थान्तररूप है।

जो त्रिकाल वस्तु को मानता है, परन्तु पर्याय की तारतम्यता को नहीं मानता तो उसने अभी वस्तु के स्वरूप को नहीं समझा है तथा जो पर्याय की तारतम्यता को मानता है; किन्तु त्रिकालभाव को न मानता तो उसने भी वस्तु के वास्तविक स्वरूप को नहीं जाना; इसलिए वस्तु के दोनों पक्षों का यथार्थ ज्ञान होना अत्यावश्यक है।

सम्यग्दृष्टि तथा छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनि को दृष्टि में शुभोपयोग की मुख्यता नहीं है। 'मुझे शुभोपयोग करना' — ऐसा हठपूर्वक विकल्प नहीं होता; किन्तु हठ बिना सहज में ही शुभभाव आ जाता है, इसकी मुख्यता से शुद्धोपयोग गौण कहा है। मुनि तो अपने

योग्य बाह्यक्रिया जिस प्रकार बनती है, उसमें हठ नहीं करते, जबरदस्ती या खींचातानी से क्रियाएँ नहीं करते हैं, उनके तो हमेशा शुद्धोपयोग प्राप्ति का ही उद्यम वर्तता है।

इस प्रकार साधकदशा, केवलज्ञान पर्याय के समान निर्मल नहीं है तथा मिथ्यात्व, राग आदि जैसी तीव्र अशुद्धता भी नहीं है। सर्वथा शुद्ध नहीं तथा सर्वथा अशुद्ध भी नहीं — ऐसी तीसरी अवस्था साधक के होती है।

यहाँ पर चेतन और चेतन का परिणाम — इन दोनों की बात चलती है। चेतन और चेतन का परिणाम, ये दो वस्तुएँ हैं। उसमें से यहाँ पर चेतन के परिणाम का अधिकार है। भावसंवर चेतन का परिणाम है। भावसंवर अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप परिणाम की यहाँ पर बात चलती है।

आत्मा की आनन्ददशा वह भावसंवर है तथा इसकी पूर्णता मोक्षदशा में है; अतः सभी जीवों को ऐसा प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि ऐसी आनन्ददशा का कारण कौन है ? तथा वह दशा कहाँ से प्रगट हुई ?

इसका खुलासा करते हुए आचार्य कहते हैं कि अनन्त आनन्ददायक, ऐसी संवर पर्याय का कारण त्रिकाली आत्मा है तथा स्व-परप्रकाशक परिपूर्ण चेतन द्रव्य के आधार से भावसंवररूप परिणाम होते हैं।

भगवान आत्मा राग-द्वेष से रहित ज्ञायक है एवं उसके अवलम्बन से होने वाला परिणाम भावसंवर है। वह मोक्षदशा प्रगट होने में कारण है।

शिष्य **प्रश्न** पूछता है कि भगवान! संवररूप परिणाम, पूर्णदशा नहीं है, इसलिए जब वह अशुद्धनय का विषय है तो उस परिणाम में शुद्धता कैसे लागू हो सकती है।

उत्तर — सुनो, सप्तम गुणस्थान में शुद्धोपयोग मुख्यरूप से होता है तथा गौणपने वह चतुर्थ गुणस्थान से ही प्रारम्भ होता है। सप्तम गुणस्थान में शुद्धोपयोग मुख्यपने होने पर भी उसमें उत्तम-मध्यम-जघन्य — ऐसे तीन भेद पड़ते हैं। ऐसे परिणाम सूक्ष्म होने के कारण समझ में नहीं आते हैं। छद्मस्थदशा में केवलज्ञान भले ही न हो, परन्तु अर्थात् गुणस्थानानुसार तत्सम्बन्धी राग का अभाव होकर आत्मा का अनुभव हुआ है, इसकारण उस अवस्था में शुद्धता प्रगट हुई है — ऐसा भी कहा जा सकता है।

भाई! आचार्य भगवान के कथन में बहुत गम्भीरता है। भगवान आत्मा चैतन्यगुणों

का धारी अनन्तशक्तियों से परिपूर्ण तत्त्व है, वह स्व-परप्रकाशक ज्ञानस्वभावी है। जिसके अन्तरस्वभाव में उतरने से मात्र ज्ञायक के परिणाम होते हैं। वहाँ पर राग-द्वेष के परिणामों का उत्पाद नहीं होता है। ऐसे चेतन के परिणामस्वरूप भावसंवर को शुद्धोपयोग कहा है और वह नीचे के गुणस्थान की अपेक्षा शुद्ध एवं ऊपर के गुणस्थानों की अपेक्षा से अशुद्ध कहा जाता है।

यहाँ पर शिष्य द्वारा पुनः **शङ्का** की जाती है कि केवलज्ञान समस्त आवरणरहित शुद्ध है तो उसका कारण भी समस्त आवरणरहित शुद्ध होना चाहिए; क्योंकि 'उपादान कारण जैसा कार्य होता है' — ऐसा शास्त्र में कहा है अर्थात् चेतनपरिणामरूप भावसंवर एक अंश में आवरणरहित-प्रगटरूप है; परन्तु उस पूर्ण निरावरण केवलज्ञानरूप कार्य का कारण सम्पूर्ण निरावरणवाला होना चाहिए ?

शिष्य अपनी **शङ्का** का और खुलासा करता है कि प्रभो! आत्मा के आश्रय से प्रगटित परिणाम को केवलज्ञान का कारण कहना उचित है, क्योंकि आत्मा का अनादि-अनन्त स्वभाव पूर्ण निरावरण है; परन्तु जो केवलज्ञान सम्पूर्ण आवरणरहित है, उसका कारण एकदेश प्रगटरूप अर्थात् एकदेश आवरणरहित — ऐसा भावसंवर कैसे हो सकता है?

उपादानकारण के सदृश ही कार्य होता है तथा वह सदृशता कई प्रकार की है तथा यहाँ पर उपादानकारण क्या है ? यह शिष्य की **शङ्का** का अभिप्राय है।

संवर को एक अंश में आवरणरहित कहा और केवलज्ञान को सर्व प्रकार आवरणरहित कहा है, इसलिए यहाँ पर कारण के समान कार्य नहीं रहा। पूर्ण शुद्धता का कारण पूर्ण शुद्ध हो — यह तो युक्तिसङ्गत है तथा आप एकदेश शुद्धतावाले भावसंवर को केवलज्ञान का कारण कहते हो — इसमें युक्तिसङ्गता प्रतीत नहीं होती ?

शिष्य का **समाधान** करते हुए आचार्य कहते हैं कि कारण कई प्रकार के हैं, जिसमें यहाँ पर निमित्तकारण की तो चर्चा ही नहीं है। दूसरा द्रव्यरूप उपादानकारण है, उसकी भी यहाँ पर चर्चा नहीं है। इस प्रकरण में तो पर्यायरूप उपादानकारण की चर्चा है।

यहाँ पर उदाहरण के द्वारा समझाते हैं कि जैसे सोलह तापवाले स्वर्ण का कारण उसके नीचेवाला ताप अर्थात् पन्द्रह तापवाला स्वर्ण है। पन्द्रह तापवाले स्वर्ण में जो स्वर्णपना है, उस स्वर्ण के सदृश ही कार्य हुआ है। यहाँ भिन्न-भिन्न कालभेद की बात

नहीं है, समय अभेद है अर्थात् सोलह ताप वाले स्वर्ण का उत्पाद और पन्द्रह ताप वाले स्वर्ण का व्यय — इन दोनों का समय एक है।

यहाँ पर **'पुव्वपरिणामजुत्तं दव्वं कारण'** और **'उत्तरपरिणाम जुत्तं दव्वं कार्य'** — इन दोनों को अभेदरूप लिया है। पन्द्रह तापवान स्वर्ण और सोलह तापवान स्वर्ण में, स्वर्णत्व अभेद है और पन्द्रह तापवान स्वर्णरूप कारण एवं सोलह तापवान स्वर्णरूप कार्य में भेद भी है। अतः भेद और अभेद — दोनों अपेक्षाएँ हैं।

जब दोनों में समानता की व्याख्या करते हैं तो जो सोना सोलहवान वाले स्वर्ण में है, वही सोना पन्द्रहवान वाले स्वर्ण में समानरूप से विद्यमान है; परन्तु सोलहवान स्वर्ण का कारण सोलहवान स्वर्ण ही नहीं हो सकता है। यहाँ पर परिणामों की तारतम्यता की अपेक्षा वर्णन किया जा रहा है, कालभेद की अपेक्षा से वर्णन नहीं है।

यहाँ पर यह सिद्ध नहीं करना है कि दोनों में कालभेद है, बल्कि यह सिद्ध करना है कि सोना तारतम्यता से भेद-अभेद दोनों रूप है। जो सोलहवान कार्य हुआ, उसकी अपेक्षा से पन्द्रहवानरूप कारण एकदेश भिन्न है; क्योंकि यह नियम है कि कार्य से कारण एकदेश भिन्न होता है।

जिस प्रकार मिट्टी के घड़ेरूप कार्य से मृत्तिका-पिण्ड-स्थास-कोश-कुशूल आदिरूप उपादानकारण एकदेश भिन्न है, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए।

यहाँ समान-असमानरूप अपेक्षायें स्व की हैं, पर की नहीं हैं। सोलहवान स्वर्ण की अपेक्षा पन्द्रहवान स्वर्ण में जो असमानता है, वह ताँबे के कारण नहीं है, बल्कि अपने ही कारण है तथा जो पिण्ड है, वह मिट्टी की दशा है एवं घड़ा भी मिट्टी की दशा है; इसलिए मिट्टी की अपेक्षा से मिट्टी समान है; परन्तु पर्याय की तारतम्यता और असदृशता की अपेक्षा से भेद-अभेद भी मिट्टी में ही हैं, पर में नहीं हैं। सर्वत्र स्वतन्त्रता का ही साम्राज्य है। स्वर्ण की पर्याय पलटकर सोलहवानरूप होने में स्वतन्त्र है तथा अन्य पर्याय में स्वर्ण सदृश हैं, इसलिए दोनों में समानता की अपेक्षा अभेद है एवं सोलहवान से पन्द्रहवान स्वर्ण में एकदेश भिन्नता अर्थात् भेद है, क्योंकि पन्द्रहवान में जो कचास शेष रहती है, वह सोलहवान में नहीं रहती है। इसलिए दोनों में एकदेश भेद है; परन्तु ऐसा भेद होते हुए भी स्वर्णत्व की अपेक्षा दोनों में समानता है।

यदि एकान्तरूप से कारण-कार्य में भेद अथवा अभेद मानें तो उसमें कार्य-

कारणभाव ही सिद्ध नहीं होगा। अगर ऐसा मानें कि सोलहवान का कारण सोलहवान, केवलज्ञान का कारण केवलज्ञान और सिद्धदशा का कारण सिद्धदशा है तो इस रीति से कारण-कार्यभाव में कोई मेल ही नहीं रहेगा। भाई! कारण-कार्य में समानता भी है और भेद भी है — इस प्रकार इसमें अनेकान्त सिद्ध होता है।

यहाँ पर पर्यायरूप से उत्पाद-व्यय सिद्ध करना है। द्रव्य उपादानकारण है, यह सिद्ध नहीं करना है; क्योंकि द्रव्य तो उपादानकारण है ही। यहाँ तो पर्याय की स्वतन्त्रता बताकर परिणाम को ही कारण कहा है। यदि कार्य-कारण को सर्वथा अभेद माने तो केवलज्ञान पर्याय का कारण केवलज्ञान मानना पड़ेगा; परन्तु इससे पर्याय में तारतम्यता सिद्ध नहीं होती है, इसलिए चैतन्यपर्यायरूप संवरपरिणाम कारण और केवलज्ञान कार्य — ऐसा बताया गया है।

संवर के एकदेश शुद्ध होने के कारण आत्मा पूर्ण शुद्धता को प्राप्त करता है। आत्मा को चैतन्यपरिणाम की अपेक्षा सदृशता और परिणाम की हीनाधिकता की अपेक्षा असदृशता-असमानता है।

भाई! उपादान से कार्य अवश्य होता है; परन्तु जिसके निमित्त का पलटा नहीं हुआ, उसका उपादान तीनकाल में पलट नहीं सकता है। सिद्धान्तचक्रवर्ती श्री नेमिचन्द्राचार्य ने गोम्मटसार में कहा है कि जिसे कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की मान्यता है, उसका गृहीतमिथ्यात्व, दूर नहीं हो सकता है; क्योंकि कुदेवादि गृहीतमिथ्यात्व के नोकर्म हैं तथा मिथ्यात्व के आयतन हैं।

एकदेश निरावरण अर्थात् एकदेश व्यक्तिरूप क्षायोपशमिकभाव है तथा केवलज्ञान क्षायिकभाव है। जो एकदेश शुद्धता या संवरभाव है — वह एकदेश शुद्धनय का विषय है, वह पूर्ण शुद्धता का कारण है अर्थात् क्षायोपशमिकज्ञान क्षायिकज्ञान का कारण है और एकदेश शुद्धता संवर अर्थात् पूर्ण शुद्धता का कारण है।

क्षयोपशमज्ञान अर्थात् अल्पज्ञान। जो भावसंवर है, वह एकदेश शुद्ध है और जो क्षायोपशमिक ज्ञान है, वह एकदेश निरावरण प्रगटरूप है।

समानता तथा असमानता, ये दो अपेक्षाएँ हैं। अंशरूप शुद्ध तथा अंशरूप निरावरण, वह पूर्ण शुद्धता और पूर्ण निरावरण का कारण है कि नहीं — इसका समाधान किया है और उसको क्षयोपशमज्ञान की बात से सिद्ध किया है।

यहाँ तक उपादानकारण के सदृश कार्य होता है, इसकी बात की है। यह परिणाम की व्याख्या है। संवर कहो या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहो — एक ही बात है; क्योंकि संवर मोक्ष का मार्ग है और वह चैतन्यवस्तु के आश्रय से उत्पन्न होता है, इसलिए वह परिणाम रत्नत्रयमय ही है। यही बात मोक्षमार्ग में मुख्य है, इसलिए प्रथम इसकी बात की है।

चैतन्यस्वरूप आत्मा अनन्त गुणों का सत्त्वरूप है। उसका परिणाम राग के साथ एकत्व करता है, तो संसारदशा उत्पन्न होती है तथा परिणाम अनन्त गुणरूप चेतन के साथ एकत्व करता है, तो संवरदशा उत्पन्न होती है। उपादानकारण से कार्य होता है — यह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो जो परिणाम त्रिकाली चेतन का अवलम्बन लेते हैं अर्थात् जो परिणाम अनन्तगुण का अवलम्बन लेते हैं, वे परिणाम संवर कहे जाते हैं — इसकी बात है।

पन्द्रहवान सुवर्णरूप कार्य बदलकर सोलहवान सुवर्णरूप कार्य हुआ, वहाँ दोनों अवस्थाओं में स्वर्णत्व रहा। स्वर्ण में स्वर्णत्व कायम रहता है। पन्द्रहवानरूप कारण में भी स्वर्णत्व है और सोलहवानरूप कार्य में भी स्वर्णत्व रहा — इस अपेक्षा से 'कारणसदृश कार्य' ऐसा कहा जाता है। इसी प्रकार संवररूप परिणाम में और केवलज्ञान में ज्ञानत्व की अपेक्षा समानता है तथा अल्पज्ञान का नाश एवं पूर्ण ज्ञान की प्रगटता होने की अपेक्षा असमानता कही जाती है। ज्ञान की तरह श्रद्धागुण की पर्याय में मिथ्यात्व पर्याय का व्यय हुआ, वह सम्यग्दर्शन के उत्पाद में कारण है। मिथ्यात्व श्रद्धागुण का परिणाम है और सम्यग्दर्शन भी श्रद्धागुण का परिणाम है — इस अपेक्षा से इनमें अभेद अर्थात् समानता-सदृशता कही जाती है, तथापि परिणाम अपेक्षा उनमें भी भेद है।

इसी बात को उदाहरण द्वारा समझाया जाता है कि जिस प्रकार से पिण्ड के व्यय होने पर घड़ेरूप कार्य का उत्पाद होता है; परन्तु मिट्टी दोनों ही अवस्थाओं में पाई जाती है, इस अपेक्षा से समानता है और पर्यायों की भिन्नता के कारण असमानता है। उसी प्रकार मिथ्यादर्शन पर्याय का व्यय होने पर सम्यग्दर्शनरूप कार्य का उत्पाद होता है; परन्तु दोनों ही अवस्थाओं में श्रद्धागुण का अस्तित्व मौजूद है, इस अपेक्षा से दोनों में समानता है तथा परिणामों की भिन्नता के कारण दोनों में असमानता है।

इसी प्रकार अल्पज्ञान की पर्याय का व्यय और पूर्णज्ञान की पर्याय का उत्पाद हुआ

तथा उनमें ज्ञानगुण की अपेक्षा समानता है तथा एक पर्याय अल्पज्ञान की और दूसरी पर्याय पूर्णज्ञान की इस अपेक्षा से दोनों में असमानता है।

यहाँ पर शिष्य की शङ्का का समाधान चलता है कि "एकदेश शुद्ध तथा एकदेश निरावरण परिणाम — वह पूर्ण शुद्ध और पूर्ण निरावरणरूप कार्य का कारण कैसे हो सकता है ?"

भेद और अभेद — दोनों की विवक्षा वास्तव में वस्तु में है। क्षयोपशमज्ञान में शुद्धता और प्रगटता एक अंश में है, वह सर्वथा शुद्ध और निरावरण नहीं है।

मिथ्यादर्शन का व्यय और सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति — इस अपेक्षा असमानता है; परन्तु श्रद्धागुण की अपेक्षा दोनों में समानता है। यहाँ संसार को मोक्ष का कारण और मिथ्यादर्शन को सम्यग्दर्शन का कारण कहा है। वस्तुतः संसार की सत्ता को मोक्ष का कारण नहीं कहा; किन्तु संसार-अवस्थामय आत्मा का परिणाम बदलकर मोक्षदशा प्रकट हुई, इस अपेक्षा से कारण कहा है। दोनों अवस्थाओं में चैतन्य होने के कारण समानता और संसार व मोक्ष अवस्था की अपेक्षा असमानता कही है।

संवरदशा की क्या बात करना ? वह तो एक अंश में शुद्ध तथा आवरणरहित है। क्षयोपशमज्ञान एकदेश शुद्ध तथा एकदेश निरावरण है। ऐसे भावसंवररूप परिणाम को उक्त अपेक्षा से केवलज्ञान का कारण कहा। इसमें किसी भी प्रकार का विवाद नहीं है।

लब्धि-अपर्याप्तक जीव अतिसूक्ष्म निगोदिया हैं तथा वह सारे लोक में ठसाठस भरे हैं। सूक्ष्म निगोद में अपर्याप्तक के अतिरिक्त पर्याप्तक भी बहुत हैं। ऐसे केवलज्ञानगम्य सूक्ष्म लब्धि-अपर्याप्तक जीवों के ज्ञान में नित्य प्रगटपना रहता है। अगर ज्ञानगुण की प्रगटता न हो तो वह जड़ ही हो जायेगा; परन्तु ऐसा कभी होता नहीं है।

निगोद में भी द्रव्य एवं गुण त्रिकाल हैं तथा उनकी पर्याय में यदि व्यक्तता अंशरूप में भी न हो तो द्रव्य और गुणों के अभाव का प्रसङ्ग आता है। वहाँ भी द्रव्य-गुण पारिणामिक भावरूप है तथा ज्ञान की जितनी व्यक्तता है, वह क्षायोपशमिक भावरूप है तथा जितनी प्रगटता नहीं है, वह औदयिक भावरूप है।

भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप ध्रुव है तथा उसकी पर्याय में अंशरूप प्रगटता है, उसको ध्रुवमय कारणपर्याय कहना योग्य नहीं है। भाई! कारणपर्याय का स्वरूप उससे भिन्न

है, वह अतिगूढ़ तथा गम्भीर है। नियमसार शास्त्र में कारणपर्याय की बात स्पष्टरूप से आती है।

सूक्ष्म निगोदिया जीवों के ज्ञान का सर्व जघन्य अंश भी एकदेश आवरणसहित है, सर्वथा आवरणसहित नहीं है, क्योंकि यदि जीव पर सर्वथा आवरण होवे तो जड़ होने का प्रसङ्ग आता है और उससे वस्तु की सत्ता का नाश हो जायेगा।

वास्तव में तो विशेष क्षायोपशमिकज्ञान की अपेक्षा से या केवलज्ञान की अपेक्षा से वह ज्ञान आवरणसहित है तथा संसारी जीवों के पूर्ण क्षायिकज्ञान का अभाव है, इसलिए उनके क्षायोपशमिकज्ञान ही है। ज्ञान आवरणसहित है अर्थात् मनुष्य और देव के क्षयोपशमज्ञान की अपेक्षा से अथवा केवलज्ञान की अपेक्षा से सर्वजघन्यज्ञान आवरणसहित कहलाता है।

यहाँ पर न्याय से बताया गया है कि संवर का परिणाम एकदेश व्यक्त एवं एकदेश निरावरण तो है ही तथा सूक्ष्मनिगोदिया जीवों का क्षयोपशमज्ञान भी एकदेश निरावरण है।

इस लोक में अनन्त आत्माएँ हैं। उनके ज्ञान का जितना विकास है, उस अपेक्षा से उनके उतना ज्ञान का उघाड़ है और विशेष ज्ञान वालों की अपेक्षा आवरण है। लब्धि अपर्याप्तक जीवों के थोड़ा उघाड़ है और संवरदशा वाले जीवों को भी एकदेशशुद्धता तथा उघाड़ होने से सर्वथा आवरण किसी जीव को भी नहीं है — यह बताया गया है।

''यदि नेत्रपटल के एकदेश निरावरण की भाँति (अर्थात् नेत्रपटल कुछ खुला हो, उसकी भाँति) केवलज्ञान के अंशरूप वह ज्ञान हो तो उस एकदेश से भी लोकालोक की प्रत्यक्षता होती; परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता है; किन्तु बहुत से बादलों से आच्छादित सूर्य के बिम्ब की भांति अथवा निविड़ नेत्रपटल की भाँति उस निगोदिया जीव का ज्ञान थोड़ा-सा जानता है — यहाँ ऐसा तात्पर्य है।''

जो संवरपर्याय प्रगट हुई, वह पूर्ण नहीं है, इसलिए उसके शुद्धता ही नहीं है — ऐसा नहीं है। एकदेश निरावरण अर्थात् एकदेश प्रगटतावाला ज्ञान केवलज्ञान का अंश नहीं है, इसका अर्थ यह है कि वह क्षायिकज्ञान का अंश नहीं है।

यहाँ कोई कहता है कि निगोद में शुभभाव नहीं होता है तथा उसमें शुद्धता का अंश भी है। अगर वह न होवे तो वह बढ़कर यथाख्यातचारित्ररूप कभी भी नहीं हो सकता।

इसी प्रकार भव्य तथा अभव्य सभी में जो ज्ञान की प्रगटता है, वह केवलज्ञान का अंश है। अगर वह केवलज्ञान का अंश न होवे तो किसी के केवलज्ञान नहीं हो सकता है; परन्तु ऐसी बात यहाँ नहीं है।

पण्डित टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी में सम्यग्ज्ञान को केवलज्ञान का अंश कहा है। वहाँ क्षयोपशमिकज्ञान और निरावरणज्ञान में — दोनों में ज्ञानपना है; इसलिए वह क्षयोपशमज्ञान बढ़कर केवलज्ञान होता है, अतः वहाँ पर केवलज्ञान का अंश कहा है; परन्तु वह उघाड़ज्ञान क्षायिकज्ञान का अंश नहीं है, सर्वथा निरावरण ज्ञान का अंश नहीं।

निगोद में विकास होने पर भी आवरण की अधिकता है तथा विकास कम है; परन्तु ऐसा नहीं है कि आवरण अधिक है, इसलिए विकास है ही नहीं। विकास अवश्य है; किन्तु वह क्षायिक की जाति का नहीं है।

सारांश यह है चेतन के परिणामरूप जो ज्ञान का उघाड़ है, वह चेतन की जाति का होने पर भी क्षायिक का अंश नहीं है। उघाड़ज्ञान और क्षायिकज्ञान की ज्ञानजाति एक है; परन्तु जो उघाड़ है, वह क्षायिक का अंश नहीं है। इस प्रकार जीव के ऊपर पड़े आवरण के सम्बन्ध में बात की।

अब क्षयोपशम का लक्षण कहते हैं। सर्व प्रकार से आत्मा के गुणों का आच्छादन करने वाली कर्म की शक्तियों को 'सर्वघाती स्पर्द्धक' और विवक्षित एकदेश से आत्मा के गुणों का आच्छादन करने वाली कर्म की शक्तियों को 'देशघाती स्पर्द्धक' कहते हैं। सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदय के अभाव को ही क्षय और उनकी ही सत्रूप अवस्था को उपशम कहते हैं। सर्वघाती स्पर्द्धकों का उदयाभावी क्षय, उनकी ही सत्तारूप अवस्थासहित उपशम और उनके एकदेशघाती स्पर्द्धकों का उदय — इस प्रकार क्षयोपशम कहा जाता है। क्षयोपशम में जो हो, उसे क्षायोपशमिकभाव कहते हैं अथवा देशघाती स्पर्द्धकों का उदय होने पर जीव एकदेश ज्ञानादि गुण प्राप्त करता है, वह क्षायोपशमिक भाव है। इससे क्या सिद्ध हुआ ? पूर्वोक्त सूक्ष्मनिगोद के जीव में ज्ञानावरण कर्म के देशघाती स्पर्द्धकों का उदय होने पर एकदेश ज्ञानगुण प्राप्त होता है। इसकारण वह क्षयोपशमिक ज्ञान है, क्षायिकज्ञान नहीं। किसकारण ? क्योंकि वहाँ कर्म के एकदेश उदय का सद्भाव है।

यहाँ यह समझाया जाता है कि सर्व प्रकार से आत्मा के गुणों का आच्छादन करने में कर्म की शक्ति अर्थात् कर्म निमित्त है।

यहाँ पर शिष्य **शङ्का** करता है कि आत्मा भारी कर्मों से जकड़ा हुआ है, तो क्या जड़कर्म आत्मा का आवरण कर सकता है, जबकि आत्मा तो अनन्त शक्तियों वाला है?

समाधान - भाई! जड़कर्म तो निमित्तमात्र हैं। उसमें तो विचार की शक्ति ही नहीं है कि मैं कौन हूँ ? फिर वह चेतनहीन कर्म अनन्त शक्तियों के धारी आत्मा को कैसे रोक सकता है अर्थात् नहीं रोक सकता।

स्पर्द्धक अर्थात् कर्मस्कन्धों में फल देने की योग्यता। वह कर्म की योग्यता दो प्रकार है — (१) सर्वघाती स्पर्द्धक तथा (२) देशघाती स्पर्द्धक। यहाँ सर्व प्रकार से आत्मा के गुणों का आच्छादन करने वाली कर्म की शक्तियों को 'सर्वघाती स्पर्द्धक' कहते हैं और विवक्षित एकदेश से आत्मा के गुणों का आच्छादन करने वाली कर्म की शक्तियों को 'देशघाती स्पर्द्धक' कहते हैं।

सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदय का अभाव और आत्मा का उसकी तरफ जोड़रूप शक्ति का अभाव, उसे उदयाभावी क्षय कहते हैं और उन सर्वघाती स्पर्द्धकों की वर्तमान में फल देने की शक्ति नहीं है, परन्तु सत्ता में पड़े रहते हैं; अत: उसे उपशम कहते हैं अर्थात् सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदय के अभाव को ही क्षय और उनकी ही सत्रूप अवस्था को उपशम कहते हैं। यह उपशम पुरुषार्थपूर्वक नहीं है।

जब आत्मा में ज्ञानगुण की पर्याय प्रगट होने योग्य होती है, उस समय सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदय का अभाव होता है तथा सर्वघाती स्पर्द्धकों का अनुदयरूप क्षय, सत्तारूप उपशम और देशघाती स्पर्द्धकों का उदय — इस प्रकार निमित्त की तीन प्रकार की योग्यता के निमित्त से होनेवाले जीव के भाव को क्षयोपशमभाव कहते हैं। अगर सर्वघाती स्पर्द्धकों का सर्वथा उदय होवे तो जीव में जड़ होने का प्रसङ्ग आवेगा एवं यदि सर्वथा उदय न होवे तो केवलज्ञान की सिद्धि संसार-अवस्था में होने का प्रसङ्ग आता है, जो कि प्रत्यक्ष, आगम तथा युक्ति से बाधित है।

सारांश यह है कि सर्वघाति स्पर्द्धकों का उदयाभावी क्षय, सत्तारूप उपशम और देशघाति स्पर्द्धकों का उदय — इस प्रकार इन तीनों के समुदाय को क्षयोपशम कहा जाता

है तथा जो भाव क्षयोपशम में हो उसे क्षायोपशमिकभाव कहते हैं अर्थात् देशघाती स्पर्द्धकों का उदय होने पर जीव एकदेश ज्ञानादि गुणों को प्राप्त करता है, अतः वह क्षायोपशमिकभाव है।

इस प्रकार यहाँ यह सिद्ध हुआ कि सूक्ष्मनिगोद के जीवों में ज्ञानावरणकर्म के देशघाती स्पर्द्धकों का उदय होने पर एकदेश ज्ञानगुण प्राप्त होता है, इसलिए वह क्षायोपशमिकज्ञान है, क्षायिकज्ञान नहीं है; क्योंकि वहाँ कर्म के एकदेश उदय का सद्भाव है।

यद्यपि पहले कहा गया शुद्धोपयोगलक्षणयुक्त क्षायोपशमिकज्ञान मुक्ति का कारण है तो भी ध्याता पुरुष के द्वारा 'नित्य, सकल निरावरण, अखण्ड, एक, सम्पूर्ण निर्मल केवलज्ञान जिसका लक्षण है — ऐसा मैं परमात्मस्वरूप हूँ; खण्डज्ञानरूप नहीं हूँ' — ऐसी भावना करनी चाहिए। ध्यान की पर्याय एक समय की है, वह स्वयं भी ध्यान का ध्येय नहीं है। पर्याय तो नई उत्पन्न होती है; परन्तु द्रव्यवस्तु खण्डरूप नहीं है; इसलिए पर्यायमात्र का आश्रय करना योग्य नहीं है, आश्रय तो अनादि-अनन्त, एक, चैतन्यस्वरूप, आत्मवस्तु का ही करना योग्य है, इस प्रकार संवरतत्त्व में नयविभाग जानना चाहिए।

लोग आत्मज्ञान की बात का विरोध करते हैं; परन्तु सभी स्थानों में आत्मा की ही मुख्यत है; क्योंकि आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और एकाग्रता करने से निर्मलता प्रगट होती है।

निश्चय से धर्म तो एक वीतरागभावमय है। संवररूप धर्म के अनेक भेद होने पर भी धर्म तो एक द्रव्य के आश्रय से प्रगट होता है। योगसार तथा समाधिशतक में भी कहा है कि आत्मा को जानना, पहिचानना तथा ध्यान करना एवं उसके सम्बन्ध में ही कहना तथा पूछना योग्य है; क्योंकि एक आत्मा ही मुख्य है, श्रेष्ठ है।

❖❖❖

सन्तों को परम आनन्द की दशा

बाह्य प्रतिकूल संयोग होने पर भी सन्तों को दुःख नहीं होता, क्योंकि चैतन्यमूर्ति आत्मा अस्पर्शस्वभावी है; वह परसंयोगों को स्पर्श नहीं करता; अतः उसे संयोगों का दुःख नहीं है। धर्मात्मा को अन्तर स्वभाव की दृष्टि होने से आत्मा के परम आनन्द का स्पर्श हुआ है, आनन्द का अनुभव हुआ है और फिर विशेष लीनता होने पर वीतरागी चारित्रदशा प्रगट हुई है, उसमें परम-आनन्द की लहरें बढ़ जाती हैं। *(- महामहोत्सव प्रवचन, पृष्ठ २८)*

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-३५

अब, संवर के कारणों के भेद कहते हैं — इस प्रकार एक भूमिका है, 'संवर किससे होता है ?' ऐसा प्रश्न पूछने पर प्रत्युत्तर देते हैं — इस प्रकार द्वितीय भूमिका है। ये दोनों भूमिकाएँ मन में धारण करके भगवान श्रीनेमिचन्द्र आचार्य यह गाथा कहते हैं —

वदसमिदीगुत्तीओ धम्माणुपेहा परीसहजओ य।
चारित्तं बहुभेया णायव्वा भावसंवरविसेसा॥३५॥

व्रतसमितिगुप्तयः धर्म्मानुप्रेक्षाः परीषहजयः च।
चारित्रं बहुभेदं ज्ञातव्याः भावसंवरविशेषाः॥३५॥

व्रत समिति गुप्ती धर्म परिषहजय तथा अनुप्रेक्षा।
चारित्र भेद अनेक वे सब भावसंवररूप हैं॥३५॥

गाथार्थ :- व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और अनेकप्रकार का चारित्र — इन सबको भावसंवर के भेद जानना।

टीका :- '**वदसमिदीगुत्तीओ**' व्रत, समिति, गुप्ति, '**धम्माणुपेहा**' धर्म, अनुप्रेक्षा '**परीषहजओ य**' परिषहों का जीतना और '**चारित्तं बहुभेया**' अनेक भेदयुक्त चारित्र; '**णायव्वा भावसंवरविसेसा**' ये सब भावसंवर के भेद जानना। अब, इनको विस्तार से कहते हैं — निश्चय से विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावी निजात्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न सुखरूपी सुधा के आस्वाद के बल से समस्त शुभाशुभ रागादि विकल्पों की निवृत्ति, वह व्रत है। व्यवहार से उस निश्चयव्रत के साधक, हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह के आजीवन त्यागलक्षणरूप पाँच प्रकार के व्रत हैं। निश्चय से अनंत ज्ञानादि स्वभाव के धारक निजात्मा में 'सम' अर्थात् सम्यक् प्रकार से समस्त रागादि विभावों के परित्याग द्वारा, निजात्मा में लीनता-चिन्तन-तन्मयता से 'अयन' गमन-परिणमन करना, वह 'समिति' है; व्यवहार से उसके बहिरङ्ग सहकारी कारणभूत, आचारादि चरणानुयोग के ग्रन्थों में कथित ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और उत्सर्ग नामक पाँच समितियाँ हैं। निश्चय से सहज शुद्धात्मा की भावनारूप लक्षणयुक्त गुप्तस्थान में संसार के कारणरूप रागादि भयों से अपने आत्मा का छिपाना, ढकना, झम्पना, प्रवेश

कराना अथवा रक्षा करना, वह गुप्ति है। व्यवहार से बहिरङ्ग साधन के लिये मन, वचन और काया के व्यापार को रोकना, वह गुप्ति है। निश्चय से संसार में पड़ते हुए आत्मा को धारण करके रखता है, वह विशुद्ध-ज्ञान-दर्शनलक्षणमय निज शुद्धात्मा की भावनारूप धर्म है। व्यवहार से उसके साधन के लिये देवेन्द्र, नरेन्द्र, आदि से वंद्यपद में जो धरता है-पहुँचाता है, वह उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन और ब्रह्मचर्यरूप दस प्रकार का धर्म है।

वह इस प्रकार है। धर्म में प्रवर्तन करनेवाले के प्रमाद को दूर करने के लिये धर्म का कथन है। क्रोध उत्पन्न होने में निमित्त ऐसे असह्य दुर्वचन आदि होने पर भी कलुषता (मन की मलिनता) न होना, वह परम क्षमा है। शरीर की स्थिति के हेतु (आहार) की शोध में अन्य के घर जाते हुए मुनि को दुष्टजनों द्वारा गाली, हंसी, तिरस्कार के वचन, मारना, शरीर का घात इत्यादि क्रोध उत्पन्न होने के निमित्त मिलने पर भी परिणामों में मलिनता का अभाव होना, उसे क्षमा कहते हैं॥ १॥ जाति आदि के मद के आवेश से हुए अभिमान के अभाव को मार्दव कहते हैं॥ २॥ योगों की अवक्रता को आर्जव कहते हैं अर्थात् मन-वचन-कायरूप योगों की सरलता को आर्जव कहते हैं॥ ३॥ सज्जनों के प्रति अच्छे वचन बोलना, उसे सत्य कहते हैं अर्थात् प्रशस्तजनों के प्रति समीचीन वचन बोलना, वह सत्य कहलाता है॥ ४॥ लोभ की प्रकर्षरूप से (अत्यन्त) निवृत्ति को शौच कहते हैं। लोभ की निवृत्ति प्रकर्षपने को प्राप्त हो, वह शौच, शुचि (पवित्र) भाव अथवा शुचिकर्म, वह शौच — इस प्रकार निश्चित किया जाता है॥ ५॥ समिति में प्रवर्तमान मुनि को प्राणघात और इन्द्रिय विषयों का त्याग, वह संयम है। ईर्यासमिति आदि में वर्तते हुए मुनि को उनका परिपालन करने के लिये प्राणियों के घात के त्याग और इन्द्रिय-विषयों के त्याग को संयम कहा जाता है॥ ६॥ एकेन्द्रियादि प्राणियों को पीड़ा पहुँचाने का त्याग, वह प्राणीसंयम है और शब्दादि इन्द्रिय-विषयों में राग का आसक्त भाव न होना, वह इन्द्रियसंयम है।

उसका प्रतिपादन करने के लिये आठ शुद्धियों का उपदेश है। वह इस प्रकार है — आठ शुद्धि — भावशुद्धि, कार्यशुद्धि, विनयशुद्धि, ईर्यापथशुद्धि, भिक्षाशुद्धि, प्रतिष्ठापनशुद्धि, शयनासनशुद्धि और वाक्यशुद्धि। उसमें भावशुद्धि-कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होती है, मोक्षमार्ग में रुचि होने से परिणामों को निर्मल करनेवाली है, रागादि विकार से रहित

है॥ १॥ कायशुद्धि–आवरण और आभूषणों से रहित, शरीर के संस्काररहित, जन्मसमय समान मैलयुक्त, शरीर के विकारों से रहित होती है॥ २॥ विनयशुद्धि–परमगुरु अर्हन्त आदि के प्रति यथायोग्य पूजा में तत्परतासहित, ज्ञानादि में विधिपूर्वक की भक्तियुक्त, और गुरु के प्रति सर्वत्र अनुकूल वृत्तियुक्त होती है॥ ३॥ ईर्यापथशुद्धि — भिन्न–भिन्न प्रकार के जीवों के उत्पत्तिस्थान तथा योनिरूप आश्रय का बोध होने से जन्तुओं को पीड़ा न हो, ऐसे प्रयत्नयुक्त ज्ञानरूपी सूर्य से और इन्द्रिय, प्रकाश आदि से निरीक्षण किये प्रदेश में गमनयुक्त (होती है); शीघ्र चलना, विलम्ब से चलना, चञ्चल उपयोगसहित, विस्मय पूर्वक, लीलापूर्वक, विकारपूर्वक, इधर–उधर दिशाओं में देखकर चलना आदि प्रकार के दोषरहित गमनरूप होती है॥ ४॥ भिक्षाशुद्धि — आचारसूत्रों में कहे अनुसार काल, देश और प्रकृति के ज्ञान में कुशल, लाभ–अलाभ, मान–अपमान में समान मनोवृत्तियुक्त, लोकनिनद्य कुल में (घर में) जाने से रहित, चन्द्रमा की गति की भाँति कम या अधिक घरों में जाने की मर्यादा से युक्त, विशिष्ट प्रकार के स्थान– जैसे कि गरीब और अनाथों के लिये दानशाला, विवाह अथवा यज्ञ के प्रसङ्ग वाले घर आदि स्थानों के त्यागरूप लक्षणसहित, दीनवृत्तिरहित, प्रासुक (निर्दोष) आहार शोधने की इच्छायुक्त, आगमकथित निर्दोष भोजन से प्राणयात्रा टिकानेवाली होती है॥ ५॥ प्रतिष्ठापनशुद्धि–नख, रोम, नासिकामल, कफ, वीर्य, मल और मूत्र के त्याग में तथा शरीर की उठने–बैठने की क्रिया करने में जन्तुओं को पीड़ा न हो, उस प्रकार आचरण करने को कहते हैं॥ ६॥ शयना–सनशुद्धि — स्त्री, क्षुद्र पुरुष, चोर, शराबी, जुआरी, कलाल, पारधि आदि पापीजनों के रहने योग्य स्थान छोड़ना और अकृत्रिम पर्वत की गुफा, वृक्ष की कोटर आदि तथा कृत्रिम निर्जन आवास आदि, छोड़े गये अथवा छूट गये आवास, जो अपने लिये न बनायें हों — ऐसे स्थानों में रहना, वह (शयनासनशुद्धि है)॥ ७॥ वाक्यशुद्धि–पृथ्वीकायादि के आरम्भ आदि की प्रेरणारहित, कठोर, निर्दय आदि अन्य को पीड़ा देनेवाले प्रयोगों से रहित, व्रत–शील आदि का प्रधानरूप से उपदेश देने वाली, हितकारी, मर्यादित, मधुर, मनोहर और संयमी के योग्य होती है॥ ८॥ इस प्रकार संयम में समाविष्ट आठ शुद्धियाँ हैं॥ ६॥

कर्म का क्षय करने के लिये जो तपा जाता है, वह तप है। वह तप दो प्रकार का है; बाह्यतप और अभ्यन्तर तप। उनमें से प्रत्येक छह प्रकार का है॥ ७॥ परिग्रह की निवृत्ति वह त्याग है। चेतन और अचेतनस्वरूप परिग्रह की निवृत्ति, वह त्याग अथवा

संयमी को योग्य ज्ञानादि के दान को भी त्याग कहा जाता है॥ ८॥ 'यह मेरा है' — ऐसे अभिप्राय की निवृत्ति, वह आकिञ्चन्य है। शरीरादि प्राप्त परिग्रहों में भी संस्कार छोड़कर 'यह मेरा है' — ऐसे अभिप्राय की निवृत्ति को आकिञ्चन्य कहा जाता है। 'जिसका कुछ भी नहीं' वह आकिञ्चन्य है, उसका भाव अथवा कर्म, वह आकिञ्चन्य है॥ ९॥ जिसका अनुभव किया हो, उस स्त्री का स्मरण, उसकी बातें सुनना, जिस पर स्त्री बैठी हो, उस शय्या, आसन आदि के त्याग से ब्रह्मचर्य होता है। मेरे द्वारा भोगी गई स्त्री कला और गुणों में विशारद थी — ऐसा स्मरण करना, उसकी बातों को सुनना, रति समय के सुगन्धी द्रव्यों की सुवास, स्त्री के सम्बन्धयुक्त शय्या-आसन आदि के त्याग से परिपूर्ण ब्रह्मचर्य होता है अथवा स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिये गुरुस्वरूप ब्रह्म में चर्या करना ब्रह्मचर्य है॥ १०॥ इस प्रकार दस प्रकार के धर्म हैं।

बारह अनुप्रेक्षाओं का कथन किया जाता है — अध्रुव, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म का चिन्तन करना — वह अनुप्रेक्षा है।

अब, अध्रुव अनुप्रेक्षा का कथन किया जाता है। वह इस प्रकार-द्रव्यार्थिकनय से टंकोत्कीर्ण-ज्ञायक-एक स्वभावपने से, अविनाशी स्वभाववाले निज परमात्मद्रव्य से भिन्न, जीव के सम्बन्धी जो अशुद्धनिश्चयनय से रागादि विभावरूप भावकर्म, अनुपचरित असद्भूतव्यवहार से द्रव्यकर्म और नोकर्म तथा (उपचरित असद्भूतव्यवहार से) उसके स्व-स्वामी सम्बन्धभाव से गृहीत जो स्त्री आदि चेतन पदार्थ, सुवर्णादि अचेतन पदार्थ तथा चेतन-अचेतन मिश्र पदार्थ आदि लक्षणयुक्त, ये सब पदार्थ अध्रुव हैं — ऐसी भावना करनी चाहिए। वैसी भावनावाले पुरुष को उनका वियोग होने पर भी झूठे भोजन के समान ममत्व नहीं होता। उनमें ममत्व का अभाव होने से अविनाशी निज परमात्मा को ही भेदाभेद रत्नत्रय की भावना द्वारा भाते हैं और जैसे अविनाशी आत्मा की भावना करते हैं, वैसे ही अक्षय, अनन्त सुखस्वभावी मुक्तात्मा को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार अध्रुव व अनुप्रेक्षा पूर्ण हुई॥ १॥

अब, अशरण अनुप्रेक्षा कहते हैं — निश्चयरत्नत्रयपरिणत स्वशुद्धात्मद्रव्य और उसके बहिरङ्ग सहकारी कारणभूत पञ्चपरमेष्ठी की आराधना शरण है, उससे भिन्न देव, इन्द्र, चक्रवर्ती, सुभट, कोटिभट, पुत्र आदि चेतन पदार्थ तथा पर्वत, किला, भौंहरा, मणि, मन्त्र,

तन्त्र, आज्ञा, महल, औषध आदि अचेतन पदार्थ तथा चेतन-अचेतन मिश्र पदार्थ भी मरण आदि के समय में, महान वन में बाघ के द्वारा पकड़े हुए हिरन के बच्चे की भाँति अथवा महासमुद्र में जहाज से पृथक् हुए पक्षी की भाँति, शरणरूप नहीं होते हैं, ऐसा जानना। यह जानकर भोगों की वांछारूप निदान बन्धादि का अवलम्बन न लेता हुआ, स्वसम्वेदन से उत्पन्न सुखामृत के धारक स्व-शुद्धात्मा का ही अवलम्बन लेकर (उस शुद्धात्मा की) भावना करता है। वह जैसे शरणभूत आत्मा का चिन्तवन करता है, वैसे ही सर्वकाल में शरणभूत, शरण में आए हुए वज्र के पञ्जर की भाँति निज शुद्धात्मा को प्राप्त करता है। इस प्रकार अशरण अनुप्रेक्षा का व्याख्यान किया॥ २॥

अब, संसार अनुप्रेक्षा कहते हैं — इस जीव ने शुद्धात्मद्रव्य से भिन्न पूर्व में मिले हुए, पूर्व में नहीं मिले हुए और मिश्र ऐसे पुद्गलद्रव्य, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मरूप से तथा शरीर के पोषण के लिये भोजन, पान आदि पाँच इन्द्रिय के विषयरूप से अनन्तबार ग्रहण कर छोड़े हैं-यह 'द्रव्यसंसार' है। स्व-शुद्धात्मद्रव्य सम्बन्धी सहज शुद्ध लोकाकाशप्रमाण असंख्य प्रदेशों से भिन्न जो लोकाकाश के प्रदेश हैं, उनमें एक-एक प्रदेश में व्याप्त होकर इस जीव ने यहाँ अनन्तबार जन्म या मरण न किया हो, ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं है — वह 'क्षेत्रसंसार' है। स्व-शुद्धात्मा के अनुभवरूप निर्विकल्प समाधि का काल छोड़कर दस कोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण उत्सर्पिणीकाल और दस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण अवसर्पिणी काल के एक-एक समय में अनेक परावर्तन करके, इस जीव ने जिसमें अनन्तबार जन्म या मरण न किया हो, ऐसा कोई भी समय नहीं है — यह 'कालसंसार' है। अभेदरत्नत्रयात्मक समाधि के बल से सिद्धगति में निजात्मा की उपलब्धि जिसका लक्षण है — ऐसी सिद्धपर्यायरूप जो उत्पाद-उसे छोड़कर नरक, तिर्यंच और मनुष्यभव में तथा देव के भवों में निश्चयरत्नत्रय की भावनारहित, भोगाकांक्षानिदानपूर्वक द्रव्य-तपश्चरणरूप जिनदीक्षा के बल से नव ग्रैवेयक तक, **'सक्को सहग्गमहिस्सी दक्खिणइंदा य लोयवाला य। लोयंतिया य देवा तच्छ चुदा णिव्वुदिं जंति॥'** शक्र (प्रथम स्वर्ग का इन्द्र), प्रथम स्वर्ग की इन्द्राणी (शची), दक्षिण दिशा के इन्द्र, लोकपाल और लोकान्तिक देव ये सब स्वर्ग से च्युत होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। इस गाथा में कहे हुए पद तथा आगम निषिद्ध अन्य पद छोड़कर,भवनाशक निजशुद्धात्मभावना से रहित वर्तते हुए और भव-उत्पादक मिथ्यात्व-रागादि भावनासहित वर्तते हुए इस जीव ने अनन्तबार जन्म और मरण किया है — इस प्रकार 'भवसंसार' जानना।

अब, भावसंसार का कथन किया जाता है। वह इस प्रकार — सर्व जघन्य प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध के निमित्तभूत, सर्व जघन्य मन-वचन-काया के परिस्पन्दरूप, श्रेणी के असंख्यातवें भागप्रमाण, चार स्थान में पतित ऐसे सर्वजघन्य योगस्थान होते हैं। उसी प्रकार सर्वोत्कृष्ट प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध के निमित्तभूत, सर्वोत्कृष्ट मन-वचन-काया के व्यापाररूप, उसके योग्य श्रेणी के असंख्यातवें भागप्रमाण, चार स्थान में पतित ऐसे सर्वोत्कृष्ट योगस्थान होते हैं। उसी प्रकार सर्वजघन्य स्थितिबन्ध के निमित्तभूत, सर्वजघन्य कषाय-अध्यवसाय के स्थान, उनके योग्य असंख्यात लोकप्रमाण और षट्स्थानपतित होते हैं और तथा सर्वोत्कृष्ट स्थितिबन्ध के निमित्तभूत, सर्वोत्कृष्ट कषाय-अध्यवसाय के स्थान भी असंख्यात लोकप्रमाण और षट्स्थान पतित होते हैं। उसी प्रकार सर्वजघन्य अनुभागबन्ध के निमित्तभूत, सर्वजघन्य अनुभाग-अध्यवसाय के स्थान असंख्यात लोकप्रमाण और षट्स्थानपतित होते हैं। उसीप्रकार सर्वोत्कृष्ट अनुभागबन्ध के निमित्तभूत, सर्वोत्कृष्ट अनुभाग-अध्यवसाय के स्थान भी असंख्यात लोकप्रमाण और षट्स्थानपतित जानना। उसी प्रकार अपने-अपने जघन्य और उत्कृष्ट भेदों के मध्य में तारतम्यतापूर्वक मध्यम भेद भी हैं। उसी प्रकार जघन्य से लेकर उत्कृष्ट तक के ज्ञानावरणादि मूल तथा उत्तर प्रकृतियों के स्थितिबन्ध स्थान हैं। उन सब में परमागम में कहे अनुसार इस जीव ने अनन्तबार भ्रमण किया है; परन्तु पूर्वोक्त समस्त प्रकृतिबन्ध आदि की सत्ता के नाश के कारणरूप जो विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभाव निजपरमात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-अनुचरणरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वही इस जीव ने प्राप्त नहीं किया है — इस प्रकार 'भावसंसार' है।

इस पूर्वोक्त प्रकार से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पाँच प्रकार के संसार का चिन्तवन करते हुए इस जीव को संसाररहित स्वशुद्धात्मसंवेदन के विनाशक और संसार की वृद्धि में कारणभूत मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के परिणाम नहीं होते हैं; किन्तु संसारातीत सुख के आस्वाद में रत होकर, स्वशुद्धात्मसंवेदन के बल से संसार विनाशक निज निरञ्जन परमात्मा में ही भावना करता है और तत्पश्चात् जैसे परमात्मा की भावना करता है, वैसे ही परमात्मा को प्राप्तकर संसार से विलक्षण ऐसे मोक्ष में अनन्तकाल स्थित रहता है। यहाँ विशेष यह है कि नित्यनिगोद के जीवों को छोड़कर पाँच प्रकार के संसार का व्याख्यान जानना।

प्रश्न — ऐसा क्यों ?

उत्तर — क्योंकि नित्यनिगोद के जीवों को तीनों कालों में भी त्रसपना नहीं है। कहा भी है — ऐसे अनन्त जीव हैं कि जिन्होंने अब तक त्रस-पर्याय नहीं प्राप्त की है, वे प्रचुर भावकलङ्क होने से निगोदवास नहीं छोड़ते हैं।

अनुपम और अद्वितीय कथन यह है कि नित्य-निगोदवासी, अनादि मिथ्यादृष्टि जीव भी भरत चक्रवर्ती के नौ सौ तेईस पुत्र कर्मों की निर्जरा करने से इन्द्रगोप हुए और उनके समूह पर भरत के हाथी ने पैर रखा, जिससे वे मरकर वर्धनकुमार आदि भरत के पुत्र हुए। वे किसी के साथ नहीं बोलते थे; अतः भरत ने समवसरण में भगवान से पूछा तब भगवान ने उनका पूर्ववृत्तान्त कहा, उसे सुनकर उन्होंने तप ग्रहण किया और बहुत थोड़े समय में मोक्ष प्राप्त किया। यह कथा आचार-आराधना के टिप्पण में है — इस प्रकार 'संसार-अनुप्रेक्षा' पूर्ण हुई ॥३॥

अब, एकत्व-अनुप्रेक्षा कहते हैं। वह इस प्रकार है:— निश्चयरत्नत्रय ही जिसका एक लक्षण है, ऐसी एकत्वभावनारूप से परिणमित इस जीव को निश्चयनय से (१) सहजानन्द सुखादि अनन्तगुण के आधारभूत केवलज्ञान ही एक सहज शरीर है; शरीर अर्थात् क्या ? स्वरूप; सात धातुमय औदारिकशरीर नहीं; (२) उसी प्रकार आर्त और रौद्ररूप दुर्ध्यान से विलक्षण परमसामायिक जिसका लक्षण (स्वरूप) है, ऐसी एकत्वभावनारूप से परिणमित निजात्मतत्त्व ही एक सदा शाश्वत, परम हितकारी, परमबन्धु है, विनश्वर और अहितकारी पुत्र, स्त्री आदि नहीं; (३) उसी प्रकार परम-उपेक्षासंयम जिसका लक्षण है, ऐसी एकत्वभावनासहित स्वशुद्धात्मपदार्थ एक ही अविनाशी और हितकारी परम अर्थ है, सुवर्ण आदि अर्थ नहीं; (४) उसी प्रकार निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न निर्विकार परमानन्द जिसका लक्षण है — ऐसे अनाकुलपनेरूप स्वभावयुक्त आत्मसुख ही एक सुख है, आकुलता का उत्पादक इन्द्रियसुख नहीं।

शङ्का — यह (१) शरीर, (२) बन्धुजन, (३) सुवर्णादि अर्थ और (४) इन्द्रियसुख आदि जीव के निश्चय से नहीं हैं — ऐसा कैसे कहा ?

समाधान — क्योंकि मरण के समय जीव अकेला ही दूसरी गति में जाता है, शरीर आदि जीव के साथ नहीं जाते हैं तथा जीव जब रोगों से घिर जाता है, तब भी विषय-कषायादि दुर्ध्यान से रहित निज शुद्धात्मा ही सहायक होता है।

शङ्का — वह किस प्रकार सहायक होता है ?

उत्तर — यदि जीव का यह अन्तिम शरीर हो तो वह केवलज्ञानादि की प्रगटतारूप मोक्ष में ले जाता है और यदि अन्तिम शरीर न हो तो वह संसार की स्थिति घटाकर देवेन्द्रादि सम्बन्धी पुण्य का सुख देकर तत्पश्चात् परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति कराता है। कहा है कि :— 'तप करने से स्वर्ग सब कोई प्राप्त करते हैं; परन्तु ध्यान के योग से जो स्वर्ग प्राप्त करता है, वह आगामी भव में अक्षय सुख प्राप्त करता है।' इस प्रकार एकत्वभावना का फल जानकर निरन्तर निज शुद्धात्मा के एकत्व की भावना करना। इस प्रकार 'एकत्व-अनुप्रेक्षा' पूर्ण हुई॥४॥

अब, अन्यत्व-अनुप्रेक्षा कहते हैं। वह इस प्रकार — पूर्वोक्त देह, बन्धुजन, सुवर्णादि अर्थ और इन्द्रियसुखादि कर्मों के आधीन होने से, विनश्वर और हेय भी हैं। वे सब, टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एकस्वभावपने के कारण नित्य और सब प्रकार से उपादेयभूत निर्विकार परमचैतन्यरूप चित्चमत्कारस्वभावी निज परमात्मपदार्थ से निश्चयनय से अन्य /भिन्न हैं, आत्मा भी उनसे अन्य/भिन्न है। यहाँ भाव (आशय) यह है कि — एकत्व-अनुप्रेक्षा में ''मैं एक हूँ'' इत्यादि प्रकार से विधिरूप व्याख्यान है और अन्यत्व-अनुप्रेक्षा में 'देहादि पदार्थ मेरे से भिन्न हैं, मेरे नहीं हैं — इस प्रकार निषेधरूप से व्याख्यान है। इस रीति से एकत्व और अन्यत्व इन दोनों अनुप्रेक्षाओं में विधि और विशेषरूप ही अन्तर है; दोनों का तात्पर्य एक ही है — इस प्रकार 'अन्यत्व-अनुप्रेक्षा' समाप्त हुई॥५॥

इसके पश्चात् अशुचि-अनुप्रेक्षा कहते हैं। वह इस प्रकार है — सर्व प्रकार से अशुचि (अपवित्र) वीर्य और रज से उत्पन्न होने के कारण, और **'वसासृग्मांसमेदोऽस्थिमज्जा-शुक्राणि धातवः।** (वसा, रुधिर, मांस, मेद, हड्डी, मज्जा और शुक्र — ये धातुएँ हैं)' इसमें कथित अशुचि सात धातुमय होने से तथा नाक आदि नव छिद्रद्वार होने से स्वरूप से भी अशुचि होने के कारण तथा मूत्र, विष्टा आदि अशुचि मलों की उत्पत्ति का स्थान होने के कारण यह देह अशुचि है। मात्र वह अशुचि का कारण होने से ही अशुचि नहीं है परन्तु स्वरूप से अशुचि को उत्पन्न करनेवाला होने से वह अशुचि है; शुचि (पवित्र) ऐसे सुगन्धित माला, वस्त्र आदि में अशुचिपना उत्पन्न करने के कारण भी देह अशुचि है।

अब, शुचित्व का (पवित्रता का) कथन किया जाता है — सहज शुद्ध केवलज्ञानादि गुणों का आधारभूत होने से और स्वयं ही निश्चय से शुचिरूप होने से परमात्मा ही

शुचि है। **'जीवो बह्मा जीवह्मि चेव चरिया हविज्ज जो जदिणो। तं जाण ब्रह्मचेरं विमुक्कपरदेहभत्तीए॥'** (जीव ब्रह्म है, जीव में ही मुनि की जो चर्या होती है, उसे पर ऐसे देह की सेवारहित ब्रह्मचर्य जानना।) — इस गाथा में कथित निर्मल ब्रह्मचर्य, वह निज परमात्मा में स्थित जीवों को ही होता है। उसी प्रकार **'ब्रह्मचारी सदा शुचिः** (ब्रह्मचारी सदा शुचि है)' इस वचन से उस प्रकार के ब्रह्मचारियों को ही शुचिपना है, काम-क्रोधादि में रत रहनेवालों को जलस्नान आदि से शुद्धि करने पर भी शुचिपना नहीं है। इसी प्रकार कहा है कि 'जन्म से शूद्र होता है, क्रिया से द्विज कहलाता है, श्रुत द्वारा श्रोत्रिय और ब्रह्मचर्य द्वारा ब्राह्मण जानना॥१॥' इस वचन अनुसार वे ही निश्चय शुद्ध (वास्तविक शुद्ध) ब्राह्मण हैं। इस प्रकार नारायण ने युधिष्ठिर से कहा है कि विशुद्ध आत्मारूपी नदी में स्नान करना, वही परम शुचिता का कारण है, लौकिक गङ्गा आदि तीर्थों में स्नानादि वह शुचि का कारण नहीं है: **'आत्मा नदी संयमतोयपूर्णा सत्यावहा शीलतटा दयोर्मिः। तत्राभिषेकं कुरू पाण्डुपुत्र न वारिणा शुद्धयति चान्तरात्मा॥** (संयमरूपी जल से परिपूर्ण, सत्यरूपी प्रवाहवाली, शीलरूपी किनारोंवाली और दयारूपी तरङ्गोंवाली जो आत्मनदी है, उसमें हे पाण्डुपुत्र! स्नान करो; अन्तरात्मा जल से शुद्ध नहीं होता है।)' — इस प्रकार 'अशुचित्व-अनुप्रेक्षा' पूर्ण हुई॥६॥

अब, आगे आस्रव-अनुप्रेक्षा कहते हैं — 'समुद्र में छिद्रयुक्त नाव की भाँति यह जीव इन्द्रियादि आस्रवों से संसाररूपी सागर में पड़ता है', यह वार्तिक है। अतीन्द्रिय स्वशुद्धात्मसंवेदन से विलक्षण स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण — ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। परम-उपशममूर्ति परमात्मस्वभाव को क्षोभ उत्पन्न करनेवाले क्रोध, मान, माया और लोभ — ये चार कषाय कहलाते हैं। रागादि विकल्पों की निवृत्तिरूप शुद्धात्मानुभूति से प्रतिकूल हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह में प्रवृत्तिरूप पाँच अव्रत हैं। निष्क्रिय निर्विकार आत्मतत्त्व से विपरीत ऐसी, मन-वचन-काया के व्यापाररूप, परमागम में कथित सम्यक्त्वक्रिया, मिथ्यात्वक्रिया आदि पच्चीस क्रियाएँ हैं। इस प्रकार इन्द्रिय, कषाय, अव्रत और क्रियारूप आस्रवों का स्वरूप जानना। जिस प्रकार समुद्र में अनेक रत्नोंरूपी माल से भरा हुआ, छिद्रयुक्त जहाज, उसमें जल प्रवेश करने पर डूब जाता है, समुद्र के किनारे नगर में नहीं पहुँच सकता है; उसी प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप अमूल्य रत्नोंरूपी माल से भरा हुआ जीवरूपी जहाज, पूर्वोक्त आस्रवरूपी द्वारों में कर्मरूपी जल प्रवेश करने पर संसाररूपी समुद्र में डूब जाता है; केवलज्ञान,

अव्याबाध, सुख आदि अनन्त गुणरूप रत्नों से पूर्ण ऐसे, मुक्तिरूपी समुद्र किनारे के नगर में नहीं पहुँच सकता है। इस प्रकार आस्रवगत दोषों का चिन्तन करना, उसे आस्रव-अनुप्रेक्षा जानना ॥७॥

अब, संवर-अनुप्रेक्षा कहते हैं — जिस प्रकार वही जहाज छिद्र बन्द हो जाने से, उसमें पानी का प्रवेश न होने के कारण निर्विघ्नरूप से समुद्रकिनारे के नगर में पहुँच जाता है, उसी प्रकार जीवरूपी जहाज निजशुद्धात्मा की संवित्ति के बल से इन्द्रियादि आस्रवोंरूपी छिद्र बन्द होने पर, उसमें कर्मरूपी जल का प्रवेश न होने के कारण निर्विघ्नरूप से केवलज्ञानादि अनन्त गुणरत्नों से पूर्ण ऐसे, मुक्तिरूपी समुद्रकिनारे के नगर में पहुँच जाता है। इस प्रकार संवरगत गुणों के चिन्तवनरूप संवर-अनुप्रेक्षा जानना ॥८॥

अब, निर्जरा-अनुप्रेक्षा का प्रतिपादन करते हैं — जिस प्रकार किसी मनुष्य को अजीर्णदोष के कारण मलसंचय होने से, वह मनुष्य आहार का त्याग करके मल को पकाने वाली और जठराग्नि बढ़ाने वाली ऐसी हरड़ आदि दवा लेता है और उससे मल पक जाने से, गल जाने-खिर जाने पर, वह सुखी होता है; उसी प्रकार यह भव्य जीव भी अजीर्ण उत्पन्न करनेवाले आहार के समान मिथ्यात्व-रागादि अज्ञानभाव से कर्मरूपी मल का संचय होने पर, मिथ्यात्व-रागादि छोड़कर, परम औषध-समान ऐसी जो जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख आदि में समभाव का प्रतिपादन करनेवाली, कर्मरूपी मल को पचानेवाली, शुद्ध ध्यानरूपी अग्नि को प्रज्वलित करनेवाली जिनवचनरूपी औषधि, उसका सेवन करता है और उससे कर्मरूपी मल गल जाने पर, निर्जरित हो जाने पर वह सुखी होता है। विशेष — जिस प्रकार कोई बुद्धिमान मनुष्य अजीर्ण के समय स्वयं को जो दुःख हुआ था, उसे अजीर्ण मिट जाने पर भी नहीं भूल जाता है और अजीर्ण उत्पन्न करनेवाले आहार का त्याग करता है और उससे वह सदा सुखी रहता है; उसी प्रकार विवेकी जीव भी '**आर्ता नरा धर्मपरा भवन्ति।** (दुःखी मनुष्य धर्म में तत्पर होते हैं)' इस वचन के अनुसार दुःख उत्पन्न होने के समय जो धर्म का परिणाम उत्पन्न होता है, उसे दुःख चला जाने पर भी भूलता नहीं है और इसलिए निज परमात्मा के अनुभव के बल से निर्जरा के लिये दृष्ट-श्रुत-अनुभूत भोगाकांक्षादिरूप विभावपरिणाम के परित्यागरूप संवेग-वैराग्य परिणामों में वर्तता है।

संवेग और वैराग्य का लक्षण कहते हैं। '**धम्मे य धम्मफलम्हि दंसणे य हरिसो**

य हुंति संवेगो। संसारदेहभोगेसु विरत्तभावो य वैरग्गं॥' (धर्म में, धर्म के फल में और दर्शन में जो हर्ष होता है, वह संवेग है; संसार, देह तथा भोगों में जो विरक्तभाव है, वह वैराग्य है।)' — इस प्रकार निर्जरा अनुप्रेक्षा पूर्ण हुई॥९॥

अब, लोक-अनुप्रेक्षा का प्रतिपादन करते हैं। वह इस प्रकार है — अनन्तानन्त आकाश के बिलकुल मध्यप्रदेश में घनोदधि, घनवात और तनुवात नामक तीन वायुओं से वेष्टित (लिपटा हुआ), अनादिनिधन, अकृत्रिम, निश्चल, असंख्यातप्रदेशी लोक है। उसका आकार कहते हैं; नीचा मुख करके रखे हुए आधे मृदङ्ग पर सम्पूर्ण मृदङ्ग रखने पर जैसा आकार होता है, वैसा लोक का आकार है; परन्तु मृदङ्ग गोलाकार होता है और लोक चौरस (चौकोर) है, इतना अन्तर है अथवा पैर चौड़े करके, कटि पर हाथ रखकर खड़े हुए पुरुष का जैसा आकार होता है, वैसा लोक का आकार है। अब उसकी ही ऊँचाई-लम्बाई-विस्तार का कथन करते हैं। चौदह राजू ऊँचा, उत्तर-दक्षिण सब ओर (तरफ) सात राजू चौड़ा है। पूर्व-पश्चिम में नीचे के भाग में सात राजू चौड़ा है, उस अधोभाग से चौड़ाई क्रम-क्रम से घटते-घटते जहाँ मध्यलोक है, वहाँ एक राजू चौड़ाई रहती है। इसके पश्चात् मध्यलोक से ऊपर क्रम-क्रम से बढ़ती है और ब्रह्मलोक के अन्त में पाँच राजू चौड़ाई हो जाती है। इसके पश्चात् फिर घटती है और लोक के अन्त में एक राजू की चौड़ाई रहती है। उसी लोक के मध्यभाग में, ऊखल के मध्यभाग से नीचे की ओर छिद्र करके एक बांस की नली रखी हो, वैसा आकार होता है, उसके समान एक चौकोर त्रसनाड़ी है। वह एक राजू लम्बी-चौड़ी और चौदह राजू ऊँची है। उसके नीचे के भाग में सात राजू अधोलोक सम्बन्धी हैं। ऊर्ध्वभाग में मध्यलोक की ऊँचाई सम्बन्धी एक लाख योजन प्रमाण सुमेरु पर्वत की ऊँचाईसहित सात राजू ऊर्ध्वलोक सम्बन्धी है।*

विशेष — आदि-मध्य-अन्तरहित, शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव परमात्मा में सकल निर्मल केवलज्ञानरूप नेत्र द्वारा दर्पण में प्रतिबिम्बों के समान, शुद्धात्मा आदि पदार्थ आलोकित होते हैं-दिखलाई देते है-ज्ञान होते हैं-परिच्छिन्न होते हैं; अतः इस कारण वही (शुद्धात्मा ही) निश्चयलोक है अथवा उस निश्चयलोक नामक अपने शुद्ध परमात्मा में

* इसके बाद बृहद् द्रव्यसंग्रह में सम्पूर्ण लोक का विस्तृत वर्णन किया गया है। इस पर पूज्य गुरुदेव के प्रवचन न होने से उसे यहाँ नहीं दिया गया है। विस्तृत वर्णन के लिए मूल ग्रन्थ देखें। - **सम्पादक**

अवलोकन, वह निश्चयलोक है। **'सण्णाओ य तिलेस्सा इंदियवसदाय अत्तरुद्दाणि। णाणं च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदा होंति॥** (श्री पञ्चास्तिकाय, गाथा १४०)

'(**अर्थ** — संज्ञा, तीन लेश्या, इन्द्रियों के वश में होना, आर्त और रौद्रध्यान, दुष्प्रयुक्त (खोटे कार्य में जुड़ा हुआ) ज्ञान और मोह — ये सब पाप देनेवाले हैं।)'

इस गाथा में कथित विभावपरिणाम से प्रारम्भ करके समस्त शुभाशुभ सङ्कल्प-विकल्प त्यागकर, निज शुद्धात्मभावना से उत्पन्न परम आह्लादरूप एक सुखामृत के रसास्वाद के अनुभव से जो भावना हो, वही निश्चय लोकानुप्रेक्षा है, शेष व्यवहार से है।

इस प्रकार संक्षेप से लोक-अनुप्रेक्षा का व्याख्यान समाप्त हुआ॥१०॥

अब, बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा कहते हैं — एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, संज्ञी, पर्याप्त, मनुष्य, उत्तमदेश, उत्तमकुल, सुन्दररूप, इन्दियों की पूर्णता, निरोगपना, लम्बी आयु, उत्तमबुद्धि, सत्धर्म का श्रवण, ग्रहण, धारण तथा श्रद्धान, संयम, विषय सुख से छूटना और क्रोधादि कषायों की निवृत्ति — ये सब उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं। कदाचित् काकतालीयन्याय से ये सब प्राप्त होने पर भी उनकी प्राप्तिरूप 'बोधि' के फलभूत ऐसी स्वशुद्धात्मा के संवेदनात्मक निर्मल धर्मध्यान-शुक्लध्यानरूप परमसमाधि दुर्लभ है।

प्रश्न — परमसमाधि दुर्लभ किस प्रकार है ?

समाधान — उसे (परमसमाधि को) रोकनेवाले मिथ्यात्व, विषय, कषाय, निदान, बन्ध आदि विभाव परिणामों का (जीव में) प्रबलपना है; अतः (परमसमाधि दुर्लभ है।) अतः वह (परमसमाधि) ही निरन्तर भावना करने योग्य है। उस भावना से रहित जीवों का पुनः पुनः संसार में पतन होता है। कहा है — 'जो मनुष्य अत्यन्त दुर्लभ ऐसी 'बोधि' को प्राप्त कर भी प्रमादी होता है, वह बेचारा संसाररूपी भयङ्कर वन में लम्बे समय तक भ्रमण करता है।'

तथा मनुष्यभव की दुर्लभता के विषय में कहा है — 'अशुभ परिणामों की बहुलता, संसार की विशालता, योनियों की अत्यन्त विपुलता — यह सब मनुष्य योनि को बहु दुर्लभ करते हैं॥१॥'

अब, बोधि और समाधि का लक्षण कहते हैं। प्राप्त नहीं किये हुए सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की प्राप्ति करना, वह बोधि है और उनको (सम्यग्दर्शनादि को) ही निर्विघ्नरूप

से अन्य भव में साथ ले जाना, वह समाधि है। इस प्रकार संक्षेप में (बोधि) दुर्लभ अनुप्रेक्षा समाप्त हुई॥११॥

अब, धर्म-अनुप्रेक्षा कहते हैं। वह इस प्रकार है — संसार में गिरते हुए जीव का उद्धार करके नागेन्द्र, चक्रवर्ती, देवेन्द्र आदि से पूज्य, अव्याबाध अनन्त सुखादि अनन्त गुणोंरूप लक्षणवाले मोक्षपद में जो धरता है, वह धर्म है। उस धर्म के भेद कहे जाते हैं। अहिंसा लक्षणयुक्त, गृहस्थ और मुनिरूप लक्षणयुक्त, उत्तमक्षमादि लक्षणयुक्त, निश्चय-व्यवहार रत्नत्रयात्मक अथवा शुद्धात्मा के संवेदनरूप मोह-क्षोभरहित आत्मा का परिणाम, धर्म है। इस धर्म की प्राप्ति नहीं होने से अनंत भूतकाल में **'णिच्चदरधाउसत्त य तरुदस वियलेंदियेसु छच्चेव। सुरणिरयतिरियचउरो चउदस मणुयेसु सदसहस्सा॥ अर्थः**- वनस्पति में सात लाख, नित्य तथा इतर निगोद वनस्पति में सात-सात लाख, पृथ्वीकाय में सात लाख, जलकाय में सात लाख, तेजकाय में सात लाख, वायुकाय में सात लाख, प्रत्येक वनस्पति में दस लाख, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय में दो-दो लाख, देव-नारकी और तिर्यञ्च में चार-चार लाख तथा मनुष्यों में चौदह लाख' — इस प्रकार इस गाथा में कहे अनुसार चौरासी लाख योनियों में परम स्वास्थभावना से उत्पन्न निर्व्याकुल पारमार्थिक सुख से विपरीत पञ्चेन्द्रिय सुख की अभिलाषा से उत्पन्न व्याकुलता को उत्पन्न करनेवाले दुःखों को सहन करते हुए इस जीव ने भ्रमण किया है। जब जीव को इस प्रकार के विशिष्ट गुणवाले धर्म की प्राप्ति होती है, तब राजाधिराज, अर्धमाण्डलिक, महामाण्डलिक, बलदेव, वासुदेव, कामदेव, चक्रवर्ती, देवेन्द्र, गणधरदेव और तीर्थङ्कर परमदेव के पद तथा तीर्थङ्कर के प्रथम तीन कल्याणकों (गर्भ, जन्म और तप) तक के विविध प्रकार के वैभव के सुख प्राप्त कर, तत्पश्चात् अभेदि रत्नत्रय की भावना के बल से अक्षय अनन्त सुखादि गुणों के स्थानभूत अर्हन्तपद और सिद्धपद को प्राप्त करता है। इस कारण धर्म ही परमरस का रसायन, निधियों का निधान, कल्पवृक्ष, कामधेनु और चिन्तामणि है। विशेष क्या कहना ? जो जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित धर्म को प्राप्त कर दृढ़ श्रद्धावान् (सम्यक्दृष्टि) हुए हैं, वे ही धन्य हैं। कहा भी है कि **'धन्या ये प्रतिबुद्धा धर्मे खलु जिनवरैः समुपदिष्टे। ये प्रतिपन्ना धर्मं स्वभावनोपस्थितमनीषाः॥' अर्थः**- जिनवरों द्वारा सम्यक् प्रकार से उपदेशित धर्म से जिन्होंने प्रतिबोध प्राप्त किया है, वे वास्तव में धन्य हैं और जिन्होंने स्वभावना में अपनी बुद्धि जोड़कर (लगाकर) धर्म प्राप्त किया हैं, उनको धन्य है।'

इस प्रकार संक्षेप धर्म-अनुप्रेक्षा समाप्त हुई॥१२॥

इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षणवाली अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्मतत्त्व के चिन्तनरूप संज्ञा वाली, आस्रवरहित शुद्धात्मतत्त्व में परिणतिरूप संवर के कारणभूत बारह अनुप्रेक्षाएँ समाप्त हुईं।

अब, परीषहजय का कथन करते हैं:— क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंश-मशक, नग्नपना, अरति, स्त्री, गमन, आसन, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन — ये बाईस परीषह जानना। उन क्षुधादि वेदनाओं का तीव्र उदय होने पर भी, सुख-दुःख, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, निन्दा-प्रशंसा आदि में समतारूप परम सामायिक द्वारा-कि जो (परम-सामायिक) नये शुभाशुभ कर्मों का संवर करने में और पूर्व शुभाशुभकर्मों की निर्जरा करने में समर्थ है, उसके द्वारा, निज परमात्मभावना से उत्पन्न निर्विकार, नित्यानन्दलक्षण सुखामृत के अनुभव में से चलित न होना, वह परीषहजय है।

अब, चारित्र का कथन करते हैं — शुद्धोपयोगलक्षण निश्चयरत्नत्रयमयी परिणतिरूप निजशुद्धात्मस्वरूप में जो चरना-स्थिति करना, वह चारित्र है। वह तारतम्यभेद से पाँच प्रकार का है। वह इस प्रकार — सर्व जीव केवलज्ञानमय हैं — ऐसी भावना से जो समतारूप परिणाम, वह सामायिक है अथवा परमस्वास्थ के बल से युगपत् समस्त शुभाशुभ सङ्कल्प-विकल्पों के त्यागरूप समाधि जिसका लक्षण है, वह सामायिक है अथवा निर्विकार स्वसम्वेदन के बल से राग-द्वेष के परिहाररूप सामायिक है अथवा निजशुद्धात्मा के अनुभव के बल से आर्त और रौद्रध्यान के परित्यागरूप सामायिक है अथवा समस्त सुख-दुःखादि में मध्यस्थभावरूप सामायिक है।

अब, छेदोपस्थापन का कथन करते हैं — जब एकसाथ समस्त विकल्पों के त्यागरूप परमसामायिक में स्थित होने में यह जीव अशक्त होता है, तब 'समस्त हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह से विरति, वह व्रत है' — इस प्रकार इस पाँच प्रकार के विकल्पभेद द्वारा-व्रतरूप छेद द्वारा रागादि विकल्परूप सावद्यों से अपने को निवृत्त करके निजशुद्धात्मा में स्वयं को स्थापित करता है, वह छेदोपस्थापन है अथवा छेद अर्थात् व्रत का भङ्ग होने पर निर्विकार स्वसंवेदनरूप निश्चय-प्रायश्चित्त से अथवा उसके साधक बहिरङ्ग व्यवहार-प्रायश्चित से अपने आत्मा में स्थित होना, वह छेदोपस्थापन है। अब,

परिहारविशुद्धिका कथन करते हैं : **'तीसं वासो जम्मे वासुपुहत्तं खु तित्थयरमूले। पच्चक्खाणं पढिदो संज्झूण दुगाउ य विहारो॥ अर्थः**— जो जन्म से तीस वर्ष सुख में व्यतीत करके, वर्ष पृथकत्व (आठ वर्ष) तक तीर्थङ्कर के चरणों में प्रत्याख्यान नामक नवम् पूर्व पढ़कर, तीनों सन्ध्याकाल के अतिरिक्त समय में प्रतिदिन दो कोस गमन करता है।' — इस गाथा में कथित क्रम अनुसार मिथ्यात्व, राग आदि विकल्पमलों के प्रत्याख्यान से-'परिहार से' अपने आत्मा की जो विशेषरूप से 'शुद्धि' अर्थात् निर्मलता है, वह परिहारविशुद्धि चारित्र है।

अब, सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र का कथन करते हैं:— सूक्ष्म अतीन्द्रिय निजशुद्धात्मसंवेदन के बल से सूक्ष्मलोभ नामक साम्पराय का-कषाय का जहाँ पूर्णरूप से उपशम अथवा क्षय होता है, वह सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र है।

अब, यथाख्यातचारित्र का कथन करते हैं:— 'यथा' अर्थात् जैसा, सहज शुद्धस्वभावपने के कारण, निष्कम्पपने के कारण, निष्कषाय (कषायरहित) आत्मा का स्वरूप है, वैसा ही जो 'आख्यात' अर्थात् कहा गया है, वह यथाख्यातचारित्र है।

अब, सामायिकादि पाँच प्रकार के चारित्र का गुणस्थान स्वामित्व कहते हैं — प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामक चार गुणस्थानों में सामायिकचारित्र और छेदोपस्थापनचारित्र होता है। परिहारविशुद्धिचारित्र प्रमत्त और अप्रमत्त — इन दो गुणस्थानों में होता है। सूक्ष्मसाम्परायचारित्र एक सूक्ष्मसाम्पराय (दसवें) गुणस्थान में ही होता है। यथाख्यातचारित्र उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगीजिन और अयोगीजिन नामक चार गुणस्थानों में होता है।

अब, संयम के प्रतिपक्ष का कथन करते हैं। दार्शनिक आदि ग्यारह प्रतिमाओं के भेदयुक्त, संयमासंयम नामक देशचारित्र-पाँचवें गुणस्थान में ही जानना। मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र और अविरत सम्यग्दृष्टि नामक चार गुणस्थानों में असंयम होता है। इस प्रकार चारित्र का व्याख्यान समाप्त हुआ।

इसप्रकार व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्ररूप भावसंवर के कारणों का जो व्याख्यान किया, उसमें निश्चयरत्नत्रय के साधक व्यवहार-रत्नत्रयरूप शुभोपयोग के प्रतिपादन करनेवाले जो वाक्य हैं, उन्हें पापास्रव के संवर के

कारण जानना और जो व्यवहार-रत्नत्रय से साध्य शुद्धोपयोग लक्षणवाले निश्चयरत्नत्रय का प्रतिपादन करनेवाले वाक्य हैं, उन्हें पुण्य-पाप — इन दोनों के संवर के कारण जानना।

यहाँ सोम नामक राजश्रेष्ठी कहता है कि हे भगवान्! इन व्रतादि संवर के कारणों में संवर-अनुप्रेक्षा ही सारभूत है, वही संवर करेगी तो फिर विशेष विस्तार से क्या लाभ? भगवान नेमिचन्द्र आचार्य कहते हैं — त्रिगुप्तिलक्षणयुक्त निर्विकल्प समाधि में स्थित मुनियों को उससे ही (संवर अनुप्रेक्षा से ही) संवर हो जाता है; परन्तु उसमें असमर्थ जीवों को अनेक प्रकार से संवर का प्रतिपक्षी ऐसा मोह उत्पन्न होता है, इस कारण आचार्य व्रतादि का विस्तार-कथन करते हैं। '**असिदिसदं किरियाणं अक्किरियाणं तु होइ चुलसीदी। सत्तट्ठी अण्णाणीणं वेणइयाणं हुंति बत्तीसं॥ अर्थः**- क्रियावादियों के एक सौ अस्सी, अक्रियावादियों के चौरासी, अज्ञानियों के सड़सठ और वैनयिकों के बत्तीस, इस प्रकार पाखण्डियों के कुल तीन सौ तिरेसठ भेद हैं।' **जोगा पयडिपदेसा ठिदि अणुभागा कसायदो हुंति।अपरिणदुच्छिण्णेसु य बंधो ठिदिकारणं णत्थि॥ अर्थः**- योग से प्रकृति और प्रदेश तथा कषाय से स्थिति और अनुभागबन्ध होता है, जिनको कषाय का उदय नहीं है तथा कषायों का क्षय हुआ है, उनको (उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगी केवली को) तत्कालबन्ध (एक समय का बन्ध) स्थिति का कारण नहीं है॥३५॥

इस प्रकार संवरतत्त्व के व्याख्यान में दो सूत्रों द्वारा तृतीय स्थल पूर्ण हुआ।

गाथा ३५ पर प्रवचन

अब, भगवान श्री नेमिचन्द्राचार्य दो भूमिकाओं को मन में धारण करके गाथा कहते हैं। प्रथम भूमिका — संवर के कारणों को बतानेवाली तथा द्वितीय भूमिका — संवर किससे होता है ? इसका समाधान करनेवाली है —

व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और अनेक भेदोंवाला चारित्र — इन सबको भावसंवर के भेद जानना चाहिए।

संवर के प्रभेद इस प्रकार हैं — पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, उत्तमक्षमादि दशधर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषहजय तथा अनेक प्रकार का चारित्र।

गाथा में अभेद की बात की है, उसके भेद भी जानना योग्य है। जगत में लोग देह

की क्रिया और शुभराग को अर्थात् बाह्य व्रत, तप आदि को संवर कहते हैं; परन्तु ऐसा नहीं है।

इसका कारण यह है कि सम्यग्दर्शनपूर्वक निजशुद्धात्मा के अवलम्बन से प्रकट होनेवाली शुद्धता में ही व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और अनेक प्रकार का चारित्र — इन सबका समावेश हो जाता है। ये सब भावसंवर के भेद हैं तथा वहाँ पर व्यवहार व्रतादि के शुभभाव (विकल्प) होते हैं, उनको उपचार से साधन कहने में आता है।

व्रत - विशुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वभावी निज आत्मतत्त्व की रत्नत्रयरूप भावना से उत्पन्न सुखरूपी अमृतमय परमानन्द के स्वाद के बल से शुभाशुभरागादि विकल्पों से रहित स्वरूप में ठहरना, वह सच्चा व्रत है। मात्र शुभराग या शरीर की क्रिया से व्रत या चारित्र नहीं होता है। भाई! पुण्य-पाप की वृत्ति उत्पन्न न होना तथा अन्तरङ्ग में स्थिरता होना, वह ही वास्तव में मोक्ष का कारणरूप व्रत है।

प्रथम, शुभाशुभरागरहित विशुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वरूप निज आत्मतत्त्व का अनुभव होना चाहिए। बाद में स्व का आश्रय लेकर विशेष स्थिरता होना, वह सच्चा व्रत है तथा जो इसके अतिरिक्त मात्र व्यवहार में ही व्रत माने, उसको व्यवहारव्रत भी नहीं होता, केवल व्यवहाराभास है। भाई! जहाँ निश्चयश्रद्धा और वीतरागता होती है, वहाँ ही व्यवहारव्रत होता है अर्थात् उसको ही उपचार से व्रत कहा जाता है।

स्वद्रव्य के आश्रय से उत्पन्न चैतन्यपरिणाम संवर है; परन्तु उस संवर का शुद्ध उपादान तो आत्मा ही है — यह बात इस ग्रन्थ की ३४वीं गाथा में कही है। ऐसा निश्चयव्रत जहाँ होता है, वहाँ पर व्यवहार से उस निश्चयव्रत के साधनरूप अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह — ऐसे शुभविकल्परूप पाँच प्रकार के व्रत होते हैं।

वास्तव में वीतरागी श्रद्धा और स्वरूपस्थिरता होने पर ही मुनि को अट्ठाईस मूलगुणों के शुभविकल्प होते हैं, इसके विरुद्ध उन्हें अशुभ की उत्पत्ति नहीं होती है। भाई! भावलिङ्गी सन्तों की ऐसी दशा तो सहज में ही होती है। मात्र बाह्यक्रिया अथवा शुभराग करके फिर निश्चयचारित्र हो जायेगा - ऐसा कहना नितान्त असत्य है।

यहाँ कोई कहे कि वेश आदि का आग्रह न रखो, चाहे जो वेश हो। ऐसा कहनेवाले मूलमार्ग में व्यवहार को उड़ाने की कुचेष्टा करते हैं।

यहाँ पर तो कहते हैं कि मुक्तिमार्ग में चलनेवाले सन्तों का नग्नत्व ही वेश होता है। यथार्थतया जहाँ निश्चयचारित्र हो, वहाँ पर सच्चा व्यवहार होता ही है। ऐसे सन्तों के सर्वपरिग्रह का अभाव होता है। जो स्वच्छन्द होने के लिए व्यवहार के नियमों को उड़ाता है, वह मूढ़ है अर्थात् अनन्त संसार का पोषण करनेवाला है।

यहाँ कोई ऐसा माने की बाह्यक्रिया और लिङ्ग से मुक्ति होती है तो वह भी मूढ़ है, क्योंकि मोक्षमार्ग सहज होनेवाली दशा है, खींचातानी से काम नहीं चलता है। मोक्षमार्गी भावलिङ्गी सन्तों की अद्भुतदशा होती है। उनके सम्पूर्णरूप से अहिंसादि व्रतों का अखण्ड पालन होता है तथा उस भूमिका में अध:कर्मी और उद्दिष्ट आहार लेने का विकल्प भी नहीं होता है। वे तो छठे-सातवें गुणस्थान में झूलते हुये परमानन्द का अनुभव करते हैं।

यहाँ कोई अज्ञानी कहे कि इस भूमिका में मूर्च्छा का अभाव होने के कारण वस्त्र तथा पात्रादि रखें तो चारित्र में कोई बाधा नहीं है — ऐसी मान्यतावाला घोर अज्ञानी है, मूढ़ है।

कोई माने कि चाण्डलादि के मुनिपना नहीं होता और हम तो ऊँचे कुलवाले हैं, इसलिए कुल से ही तिर जायेंगे — ऐसा माननेवाले, हवा में राजमहल की कल्पना करके व्यर्थ ही समय गंवा रहे हैं अर्थात् वे भी मूढ़ हैं।

सनातन वीतरागमार्ग में वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु का ऐसा ही स्वरूप है, अन्यथा संभव ही नहीं है। वास्तव में ज्ञानादि अनन्तगुणों का धारक भगवान आत्मा निजवस्तु है तथा आत्मा में ही निर्मल परिणति नित्य प्रवाहमान रहती है, वह सच्चा व्रत है।

समिति - निश्चय से अनन्त ज्ञानादि स्वभाव के धारक निजात्मा में 'सम' अर्थात् सम्यक् प्रकार से समस्त रागादि विभावों के परित्याग द्वारा व्यवहार-निश्चय समिति के विकल्पों तथा पुण्य-पाप, दया-दान, व्रत आदि के विकल्पों से रहित, निजात्मा में लीनता-तन्मयता से 'अयन' — गमन या परिणमन करना, वह समिति है। अनन्त ज्ञानादि गुणों के धारक निज शुद्धात्मा के ही आश्रय से जो निर्मल परिणति होती है, वह शुद्धोपयोगरूप सत्य समिति है।

तथा व्यवहार से उसके बहिरङ्ग सहकारी कारणभूत-निमित्तभूत आचारादि चरणानुयोग के ग्रन्थों में कथित ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और व्युत्सर्ग नामक पाँच समितियाँ हैं — इनके पालन करने को व्यवहारसमिति कहते हैं।

जो सम्प्रदाय में आकर बाहर की समिति को धर्म माने तो उसको व्यवहार में भी संवर नहीं है। शास्त्र में कहे गये व्यवहारकथन को ही निश्चय से धर्म का स्वरूप मान ले, वह व्यवहाराभासी है, अज्ञानी है।

जो वस्त्र का छोटा-सा टुकड़ा भी अपने साथ रखता है या उसका जिसे राग है, वह मुनि नहीं है, मिथ्यादृष्टि है, उसको आत्मा की खबर नहीं है। यथार्थतया ज्ञानानन्दरूप अन्तरस्वभाव में लीन होकर परिणमन करना, वह सत्य समिति है। ऐसी निश्चयसमिति मोक्ष का कारण है।

अब, व्यवहारसमिति का वर्णन करते हैं —

ईर्यासमिति — समिति आत्मा के निर्मल परिणामरूप संवरदशा है। जिस समय आत्मा में चलने का विकल्प आता है, उसी समय ज्ञानी जानते हैं कि मैं 'देह की क्रिया का कर्ता नहीं हूँ'; परन्तु उन्हें 'पर को दुःख दूँ' — ऐसा भाव भी नहीं होता। ऐसे विकल्प की उत्पत्ति शुभभाव है, विकार है-उसे व्यवहार से ईर्यासमिति कहते हैं।

भाषासमिति — वीतराग भगवान ने जो सत्य-तत्त्व कहा है, उसकी मर्यादाप्रमाण में वीतराग सन्तों की भाषा निकलती है। भाषा तो जड़ है; परन्तु सत्य-तत्त्व कहने का भाव शुभभाव होने से उसे व्यवहार से भाषासमिति कहा है।

एषणासमिति — आहार लेते समय यदि आहार में छोटा-सा बाल का टुकड़ा भी निकल आये तो मुनि आहार का त्याग कर देते हैं। इस प्रकार १४ मल और ३२ अन्तराय रहित आहार लेते हैं। मुनियों के आहार और पानी ये दो ही चीजें होती हैं। वस्त्र-बर्तन नहीं होते। 'समयसार' में अन्न और पानी — दो ही की बात है।

आदान-निक्षेपणसमिति - श्वेताम्बर में भण्ड शब्द भोजनादि के पात्रों के लिए दिया है; परन्तु मुनि के पास में पात्र और वस्त्र कैसे ? मात्र शौच के लिए लकड़ी का कमण्डल और संयम के लिए पिच्छी होती है, उसे ही सावधानी से उठाते-धरते हैं — यही व्यवहार से आदान-निक्षेपणसमिति है।

व्युत्सर्गसमिति (प्रतिष्ठापनासमिति) - पेशाब, थूक तथा मलक्षेपण करते समय प्रमाद नहीं होता। उनका ऐसा शुभराग, व्यवहार से व्युत्सर्गसमिति कहलाता है।

वास्तव में जो स्वभाव के आश्रय से आनन्द प्रगट होता है, उसे अन्तरङ्ग निश्चयसमिति कहते हैं तथा जो राग होता है, उसे बहिरङ्ग व्यवहारसमिति कहते हैं। बहिरङ्ग मात्र विकल्प है, वह अन्तरङ्ग आत्मा का स्वरूप नहीं है; इसलिए विकल्प को बहिरङ्ग कहा है।

आचार्य भगवान कहते हैं कि चारित्र के इन भेदों को जानना चाहिए। स्वभाव के भानसहित जो मुनिदशा होती है, उसमें ऐसा राग सहज होता है, उसे ही उपचारसमिति कहा है तथा जो वस्तु की अन्तरङ्ग शुद्धदशा हुई, उसे निश्चयसमिति कहा है।

गुप्ति — निश्चय से सहज शुद्धात्मा की भावनारूप लक्षणयुक्त गुप्तस्थान में संसार के कारणरूप रागादि भयों से अपने आत्मा का छिपाना, ढकना, झम्पना, प्रवेश कराना अथवा रक्षा करना, वह गुप्ति है। व्यवहार से बहिरङ्ग साधन के लिए मन, वचन और काया के व्यापार को रोकना, वह गुप्ति है।

आत्मा को शरीर से खींचकर स्वरूप में 'गोपन' करना गुप्ति है। निश्चय से भगवान आत्मा शुद्ध, सहज, ज्ञायकमात्र है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र उसकी निर्मल पर्यायें हैं तथा राग-द्वेष विकार संसारबन्ध के कारण हैं। इनसे रहित जीवस्वभाव में गुप्त हो जाये, संसार के भय से आत्मा का स्वरूप में गोपन करे, उसे गुप्ति कहते हैं।

निश्चय से व्रत को साधनेवाला आत्मा नहीं है, क्योंकि निश्चय से आत्मा तो स्वरूप को साधता है तथा उसे जो व्रतादि का विकल्प उठता है, वह व्यवहार है।

मन-वचन-काय की ओर से अशुभ विकल्प को न होने देना अर्थात् गुप्त करना — ऐसा व्यवहार से कहा जाता है, क्योंकि अशुभ को गुप्त कर शुभराग में ऊर्ध्व है; इसलिए उसे व्यवहार से गुप्ति कहा। पूर्ण वीतरागता होने के पहले तक राग होता है; परन्तु निश्चय-व्यवहार एकसाथ होने से स्वभाव की ऊर्ध्वता रहती है, राग की नहीं तथा जिसे निश्चय नहीं, उसे व्यवहार कैसा ? क्योंकि निश्चय की प्रगटता में जो विकल्प रहता है, उसे ही व्यवहार कहते हैं। निश्चय बिना व्यवहार नहीं होता; इसलिए आत्मा के भान-ज्ञान-लीनता होने के पश्चात् जो राग होता है, उसे व्यवहार कहते हैं। इस प्रकार निश्चय तथा व्यवहारगुप्ति का स्वरूप कहा।

धर्म — निश्चय से संसार में पड़ते हुए आत्मा को धारण करके रखता है, वह विशुद्ध ज्ञानदर्शन लक्षणमय निज शुद्धात्मा की भावनारूप धर्म है। व्यवहार से उसके साधन के लिए देवेन्द्र, नरेन्द्र आदि से वन्द्यपद में जो धरता है, पहुँचाता है — वह उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्यरूप दश प्रकार का धर्म है।

जो धर्म के दश भेद बताये, वह व्यवहार कथन है। भेद, विकल्प का कारण है, अत: वह निश्चयधर्म नहीं है। संसार में रहते हुए आत्मा ने अपने स्वरूप को नहीं छोड़ा — यह धर्म है। विशुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वभाव की भावनास्वरूप धर्म है। अभेदता अथवा एकता — वह निश्चयधर्म है। भेद के पड़ते ही वह व्यवहार हो जाता है। गुप्ति, समिति आदि में भी इसी प्रकार समझना चाहिए।

निश्चय से निज शुद्ध आत्मा की महिमा धर्म है तथा उसको समझने के लिए भेद करके व्यवहाररूप उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य तथा ब्रह्मचर्य — ये दश धर्म कहे हैं। ये भेदरूप हैं-शुभ हैं तथा जो उनसे बचाकर अन्तर में शुद्धता करे, वह धर्म है। वीतरागता निश्चयधर्म है और शुभराग व्यवहारधर्म है। धर्म में प्रवर्तन करनेवाले के प्रमाद को दूर करने के लिए धर्म का कथन है।

क्रोध उत्पन्न होने में निमित्त ऐसे असह्य दुर्वचन आदि होने पर भी कलुषता (मन की मलिनता) न होना, वह परमक्षमा है। शरीर की स्थिति के हेतु (आहार) की शोध में अन्य के घर जाते हुए मुनि को दुष्टजनों द्वारा गाली, हँसी, तिरस्कार के वचन, मारना, शरीर का घात इत्यादि क्रोध उत्पन्न होने के निमित्त मिलने पर भी परिणामों में मलिनता का अभाव होना, उसे **क्षमा** कहते हैं।

जाति आदि के मद के आवेश से हुए अभिमान के अभाव को **मार्दव** कहते हैं।

योगों की अवक्रता को आर्जव कहते हैं अर्थात् मन-वचन-कायरूप योगों की सरलता को **आर्जव** कहते हैं।

सज्जनों के प्रति अच्छे वचन बोलना, उसे सत्य कहते हैं अर्थात् प्रशस्तजनों के प्रति समीचीन वचन बोलना, वह **सत्य** कहलाता है।

लोभ की प्रकर्षरूप से (अत्यन्त) निवृत्ति को शौच कहते हैं। लोभ की निवृत्ति प्रकर्षपने को प्राप्त हो, वह शौच। शुचि (पवित्र) का भाव अथवा शुचिकर्म, वह **शौच** है।

समिति में प्रवर्तमान मुनि को प्राणघात और इन्द्रिय विषयों का त्याग, वह **संयम** है। ईर्यासमिति आदि में वर्तते हुए मुनि को उनका परिपालन करने के लिए प्राणियों के घात को त्याग और इन्द्रिय-विषयों के त्याग को संयम कहा जाता है। एकेन्द्रियादि प्राणियों को पीड़ा पहुँचाने का त्याग, वह प्राणीसंयम है और शब्दादि इन्द्रिय विषयों में राग का आसक्तभाव न होना, वह इन्द्रियसंयम है।

उसका प्रतिपादन करने के लिए आठ शुद्धियों का उपदेश है।

आठ शुद्धियाँ - भावशुद्धि, कायशुद्धि, विनयशुद्धि, ईर्यापथशुद्धि, भिक्षाशुद्धि, प्रतिष्ठापनशुद्धि, शयनासनशुद्धि और वाक्यशुद्धि।

भावशुद्धि कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होती है, मोक्षमार्ग में रुचि परिणामों को निर्मल करनेवाली है और वह रागादि विकार से रहित है।

कायशुद्धि आवरण और आभूषणों से रहित होती है।

विनयशुद्धि परमगुरु अर्हन्त आदि के प्रति यथायोग्य पूजा में तत्परतासहित ज्ञानादि में विधिपूर्वक की भक्तियुक्त और गुरु के प्रति सर्वत्र अनुकूल वृत्तियुक्त होती है।

ईर्यापथशुद्धि भिन्न-भिन्न प्रकार के जीवों के उत्पत्ति स्थान तथा योनिरूप आश्रय का बोध होने से जन्तुओं को पीड़ा न हो — ऐसे प्रयत्नयुक्त, ज्ञानरूपी सूर्य से और इन्द्रिय, प्रकाश आदि से निरीक्षण किये प्रदेश में शीघ्र चलना, विलम्ब से चलना, चञ्चल उपयोगसहित, विस्मयपूर्वक, लीलापूर्वक, विकारपूर्वक इधर-उधर दिशाओं में देखकर चलना आदि प्रकार के दोषरहित गमनरूप होती है।

भिक्षाशुद्धि आचारसूत्रों में कहे अनुसार काल, देश और प्रकृति के ज्ञान में कुशल, लाभ-अलाभ, मान-अपमान में समान मनोवृत्तियुक्त, लोकनिन्द्य कुल में (घर में) जाने से रहित, चन्द्रमा की गति की भाँति कम या अधिक घरों में जाने की मर्यादा से युक्त, विशिष्ट प्रकार के स्थान — जैसे कि गरीब और अनाथों के लिए, दानशाला, विवाह अथवा यज्ञ के प्रसङ्गवाले घर आदि स्थानों के त्यागरूप लक्षणसहित, दीनवृत्तिरहित, प्रासुक (निर्दोष) आहार शोधने की इच्छायुक्त आगमकथित निर्दोष भोजन से प्राणयात्रा टिकानेवाली होती है।

प्रतिष्ठापनशुद्धि नख, रोम, नासिकामल, कफ, वीर्य, मल और मूत्र के त्याग में तथा शरीर की उठने-बैठने की क्रिया करने में जन्तुओं को पीड़ा न हो, इस प्रकार आचरण करने को कहते हैं।

शयनासनशुद्धि स्त्री, क्षुद्रपुरुष, चोर, शराबी, जुआरी, कलाल, पारधि आदि पापीजनों के रहनेयोग्य स्थान छोड़ना और अकृत्रिम पर्वत की गुफा, वृक्ष की कोटर आदि तथा कृत्रिम निर्जन आवास आदि छोड़े गये अथवा छूट गये आवास, जो अपने लिए न बनाये हों — ऐसे स्थान में रहना शयनासनशुद्धि है।

वाक्यशुद्धि पृथ्वीकायादि के आरम्भ आदि की प्रेरणारहित कठोर, निर्दय आदि अन्य को पीड़ा देनेवाले प्रयोगों से रहित, व्रत-शील आदि का प्रधानरूप से उपदेश देनेवाली, हितकारी, मर्यादित, मधुर, मनोहर और संयमी के योग्य होती है।

इस प्रकार संयम में समाविष्ट आठ शुद्धियाँ हैं।

कर्म का क्षय करने के लिए जो तपा जाता है, वह तप धर्म है। वह तप दो प्रकार का है — (१) बाह्य तप और (२) अभ्यन्तर तप। उनमें से प्रत्येक छह प्रकार का है।

परिग्रह की निवृत्ति, वह त्याग धर्म है। चेतन और अचेतनस्वरूप परिग्रह की निवृत्ति वह त्याग अथवा संयमी को योग्य ज्ञानादि के दान को भी त्याग कहा जाता है।

'यह मेरा है' — ऐसे अभिप्राय की निवृत्ति, वह आकिञ्चन्य धर्म है। शरीरादि प्राप्त परिग्रहों में भी संस्कार छोड़कर 'यह मेरा है' — ऐसे अभिप्राय की निवृत्ति को आकिञ्चन्य कहा जाता है — जिसका कुछ भी नहीं, वह आकिञ्चन्य है, उसका भाव अथवा कर्म, वह आकिञ्चन्य है।

जिसका अनुभव किया हो, उस स्त्री का स्मरण करना, उसकी बातें सुनना, जिस पर स्त्री बैठी हो — शय्या, आसन आदि के त्याग से ब्रह्मचर्य होता है। मेरे द्वारा भोगी गई स्त्री कला और गुणों में विशारद थी — ऐसा स्मरण करना, उसकी बातों को सुनना, रतिसमय के सुगन्धी द्रव्यों की सुवास, स्त्री के सम्बन्धयुक्त शय्या-आसन आदि के त्याग से परिपूर्ण ब्रह्मचर्य होता है अथवा स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए गुरुस्वरूप ब्रह्म में चर्या करना ब्रह्मचर्य है। इस प्रकार दशप्रकार के धर्म हैं।

अनुप्रेक्षा — अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ तथा धर्म — इनका विचार करना अनुप्रेक्षा है।

सर्वप्रथम अध्रुव अनुप्रेक्षा का कथन किया जाता है। वह इस प्रकार है — द्रव्यार्थिकनय से टंकोत्कीर्ण-ज्ञायक-एकस्वभावपने से अविनाशी स्वभाववाले निज परमात्मद्रव्य से भिन्न जीव के सम्बन्धित जो अशुद्धनिश्चयनय से रागादि विभावरूप भावकर्म, अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय से द्रव्यकर्म और नोकर्म तथा (उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से) उसके स्व-स्वामी सम्बन्धभाव से गृहीत जो स्त्री आदि चेतन पदार्थ, सुवर्णादि अचेतन पदार्थ तथा चेतन-अचेतन मिश्र पदार्थ आदि लक्षणयुक्त, ये सब पदार्थ अध्रुव हैं — ऐसी भावना करना चाहिए। वैसी भावनावाले पुरुष को उनका वियोग होने पर भी झूठ भोजन के समान ममत्व नहीं होता। उनमें ममत्व का अभाव होने से अविनाशी निज परमात्मा को ही भेदाभेदरत्नत्रय की भावना द्वारा भाते हैं और जैसे अविनाशी आत्मा की भावना करते हैं, वैसे ही अक्षय अनन्त सुखस्वभावी मुक्तात्मा को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार **अध्रुव अनुप्रेक्षा** पूर्ण हुई।

द्रव्यार्थिकनय से देखा जाए तो आत्मा टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एकरूप स्वभाववाला है तथा अविनाशी है, एक है, ध्रुव है और रागादि परिणाम अध्रुव हैं। आत्मा की पर्याय में होने से रागादि परिणाम अशुद्धनिश्चयनय से अपने हैं; परन्तु अध्रुव हैं। जिस भाव से तीर्थङ्कर नामकर्म बँधता है, वह भाव अध्रुव है, आत्मा के साथ कायम नहीं रहता; अतः अध्रुव है।

अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, शरीरादि नोकर्म और स्व-स्वामी सम्बन्ध से अपनत्व किये गये परपदार्थ - स्त्री, पुत्र, कुटुम्बीजन आदि चेतनद्रव्य तथा सोना, चाँदी, मकान आदि अचेतनद्रव्य तथा चेतन व अचेतन से मिले मिश्रपदार्थ इत्यादि सभी अध्रुव हैं।

अज्ञानी जीव गाय, भैंस, मकान आदि को अपना मानता है; परन्तु वे आत्मा के नहीं हैं तथा आत्मा ने भी इन्हें ग्रहण नहीं किया; किन्तु अज्ञानी मानता है कि 'ये मेरे हैं'। भगवान आत्मा तो ज्ञानस्वभावी एक ध्रुव वस्तु है, दूसरी चीजें अध्रुव हैं। इस प्रकार अन्य चीजों की अध्रुवता का विचार करने पर स्व-तरफ ढलान होता है-एकाग्रता होती है, वह ही संवर की भावना है।

आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाली निर्विकारी पर्याय एक समय की है, अत: क्षणिक है — ऐसा होने पर भी उसे अध्रुवता में नहीं लिया गया, क्योंकि वह शुद्ध आत्मा के साथ अभेद की गणना में आ जाती है।

शरीर, कर्म, लक्ष्मी, मोटर, बगीचा, घोड़ागाड़ी आदि समस्त अन्य पदार्थ अनित्य हैं तथा दु:ख के ही निमित्त हैं। भोजन करते समय यदि मैसूरपाक में कङ्कर निकल आवे तो उसे निकाल कर फेंक देते हैं, उसमें ममत्व नहीं होता। इसी प्रकार ज्ञानानन्दस्वभाव की भावनावाले को पैसा, पुत्र, नौकर आदि में कङ्कर के समान ममता नहीं होती।

भाई! ज्ञानी परपदार्थों की अनित्यता को जानते हैं, अत: उनके अनित्यभावना का भाव होने से अनित्य पदार्थों के वियोग में दु:ख नहीं होता है तथा अज्ञानी को परपदार्थों की अनित्यता का ख्याल न होने से अनित्य पदार्थों के वियोग में अत्यन्त दु:ख होता है।

वास्तव में ज्ञानी को अविनाशी निज परमात्मा का परिचय होने से-आश्रय होने से बाह्य पदार्थों की अनित्यता भासित होती है, इसलिए उन पदार्थों में ममत्व नहीं होता तथा अपने अविनश्वर आत्मा की भावना से वह अक्षय अविनाशी सुखरूप मुक्तदशा को प्राप्त करता है।

जिस प्रकार एक मनुष्य रात्रि में लकड़ी की पुतली को स्त्री मानकर उसकी सेवा करता है, परन्तु सबेरे उसे लकड़ी की पुतली का भान होता है; उसी प्रकार अज्ञानी जीव अज्ञान-अंधकार में शरीरादि पुद्गल को अपना मानता है तथा खूब सेवा करता है; परन्तु वह सब व्यर्थ है।

जब श्रीकृष्ण-वासुदेव का पुण्य हीन हुआ, तो भाग्य पलट गया। द्वारिकानगरी भट्टी के समान जलने लगी, पानी तेलरूप हो गया, अग्नि जोर से धधकने लगी — सारा संयोग पलट गया। भाई! यह सारे पदार्थ अध्रुव हैं, अनित्य हैं। शुद्ध चैतन्यस्वभावी आत्मा ही ध्रुव है — ऐसी भावना भाने से कभी नाश न होनेवाला अविनाशी सुख प्राप्त होता है।

(२) अशरण-अनुप्रेक्षा - निश्चयरत्नत्रयपरिणत स्वशुद्धात्मद्रव्य और उसके बहिरङ्ग सहकारी कारणभूत पञ्चपरमेष्ठी की आराधना शरण है। उनसे भिन्न देव, इन्द्र, चक्रवर्ती, सुभट, कोटिभट, पुत्र आदि चेतनपदार्थ तथा पर्वत, किला, भौंहरा, मणि, मन्त्र, तन्त्र, आज्ञा, महल, औषध आदि अचेतनपदार्थ तथा चेतन-अचेतन मिश्रपदार्थ भी मरण आदि

के समय में महान वन में बाघ के द्वारा पकड़े हुए हिरण के बच्चे की भाँति अथवा महासमुद्र में जहाज से पृथक् हुए पक्षी की भाँति शरणरूप नहीं होते है — ऐसा जानना।

यह जानकर जो जीव भोगों की वाञ्छारूप निदानबन्धादि का अवलम्बन न लेता हुआ, स्वसम्वेदन से उत्पन्न सुखामृत के धारक स्वशुद्धात्मा का ही अवलम्बन लेकर (उस शुद्धात्मा की) भावना करता है; वह जैसे शरणभूत आत्मा का चिंतवन करता है, वैसे ही सर्वकाल में शरणभूत, शरण में आये हुए वज्र के पञ्जर की भाँति निज शुद्धात्मा को प्राप्त करता है।

अपने आश्रय से प्रगट हुई सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की परिणतिवाला आत्मद्रव्य निश्चय से शरणरूप है और बहिरङ्ग सहकारी कारण पञ्चपरमेष्ठी की आराधना व्यवहार से शरणरूप है। सम्यग्दृष्टि को विकल्प के समय पञ्चपरमेष्ठी के प्रति लक्ष्य जाता है। अशुभ से बचने के लिए शुभभाव आता है, इसलिए व्यवहार से उसे शरण कहा है।

इन्द्र, चक्रवर्ती, सुभट, पुत्र आदि चेतनपदार्थ तथा पर्वत, किला, मणि, मन्त्र, आज्ञा, भवन, औषध आदि अचेतनपदार्थ तथा मिश्रपदार्थ — ये सब जीव के शरणभूत नहीं हैं। अरे! ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को भी मरते समय १६ हजार देव, ९६ हजार स्त्रियाँ वगैरह कोई शरण नहीं हुए।

जिस प्रकार महाभयानक जङ्गल में बाघ के द्वारा पकड़े गये हिरण को बचाने के लिए कोई शरण नहीं है तथा महासमुद्र में जहाज से उड़े हुए पक्षी को कहीं शरण नहीं है; उसी प्रकार इस जगत में रोग मिटाने के लिए अथवा मृत्यु से बचाने के लिए कोई शरण नहीं है।

अहाहा! धर्मी जीव ऐसी भावना भाते हैं कि जगत में कोई शरण नहीं है। अखण्ड आत्मा की भावना करने के अलावा अन्य सभी पदार्थ अशरणरूप हैं। अन्य वस्तु को अशरण जानकर, भोगों की वाञ्छारूप निदानबन्ध आदि से रहित होकर तथा अपने आत्मज्ञान से उत्पन्न सुखरूप अमृत का धारक निज शुद्ध आत्मा का अवलम्बन लेकर सम्यग्दृष्टि जीव ऐसी भावना भाते हैं।

जो जीव अपने आत्मा को शरणभूत जानकर भावना भाते हैं, वे जीव वज्र की दीवाल के समान सुरक्षित शुद्ध आत्मा को प्राप्त करते हैं अर्थात् पूर्ण सिद्धदशा को पाते हैं।

(३) संसार-अनुप्रेक्षा — जीव के संसार परिभ्रमण का वर्णन पाँचों रूपों में करते हैं — द्रव्य-संसार, क्षेत्र-संसार, काल-संसार, भव-संसार और भाव-संसार। इनमें सर्वप्रथम द्रव्य-संसार का वर्णन करते हैं।

(क) द्रव्य-संसार — इस जीव ने शुद्धात्मद्रव्य से भिन्न पूर्व में मिले हुए, पूर्व में नहीं मिले हुए और मिश्र, ऐसे पुद्गलद्रव्य-ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मरूप तथा शरीर के पोषण के लिए भोजन-पान आदि पाँच इन्द्रियों के विषयरूप पुद्गलपरमाणुओं को अनन्तबार ग्रहण किया व छोड़ा है — यह द्रव्य-संसार है।

आत्मा शुद्ध निर्मलानन्द है तथा ग्रहण किये हुए, ग्रहण नहीं किये हुए और मिश्र — ऐसे समस्त पुद्गलपरमाणु आत्मा से भिन्न हैं। जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए परमाणुओं से, ग्रहण नहीं किए हुए परमाणु अनन्तगुने हैं, जिन्हें जीव ने आज तक न तो ग्रहण किया है और न ही ग्रहण करेगा।

जीव ने ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तथा शरीरादि के पोषण के लिए भोजन-पानी आदि पाँच इन्द्रियों के विषयरूप अनन्त पुद्गलपरमाणुओं को अनन्तबार ग्रहण किया है। अपने स्वभाव का सम्बन्ध छोड़कर पुद्गलपरमाणुओं से सम्बन्ध किया; परन्तु स्वभाव का सम्बन्ध नहीं किया — ऐसे जीवद्रव्य के संसार-परिभ्रमणरूप संसार भावना का विचार ज्ञानी करते हैं।

(ख) क्षेत्र-संसार — स्व-शुद्धात्मद्रव्य सम्बन्धी सहज शुद्ध लोकाकाशप्रमाण असंख्य प्रदेशों से भिन्न जो लोकाकाश के प्रदेश हैं, इस जीव ने उनमें एक-एक प्रदेश में व्याप्त होकर अनन्तबार जन्म या मरण न किया हो — ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं है, वह क्षेत्र-संसार है।

स्व-आत्मा के असंख्यप्रदेश अपने क्षेत्र हैं। उसमें अनन्त गुण विद्यमान हैं। उसकी भावना छोड़कर यह जीव चौदह ब्रह्माण्ड के क्षेत्र में अनन्तबार रखड़ा-परिभ्रमण किया। इस लोक में असंख्यप्रदेश हैं तथा यह जीव उसके एक-एक प्रदेश में जन्मा और मरण किया। कोई भी प्रदेश खाली नहीं है, जिसमें कि यह अनन्तबार जन्म या मरण को प्राप्त न हुआ हो।

अज्ञानी जीव को परक्षेत्र की महिमा आती है। महाविदेह की महिमा आती है, क्योंकि वहाँ से मोक्ष जाते हैं और पञ्चमकाल होने से भरतक्षेत्र से नहीं जाते; परन्तु भाई!

महाविदेहक्षेत्र में अनन्तबार जन्म लिया है, इसलिए क्षेत्र की महिमा छोड़कर जो तेरा असंख्यप्रदेशी आत्मा है, उसकी महिमा कर।

(ग) काल-संसार — स्व-शुद्धात्मा के अनुभवरूप निर्विकल्प समाधि का काल छोड़कर दश कोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण उत्सर्पिणी काल और दश कोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण अवसर्पिणी काल के एक-एक समय में अनेक परावर्तन करके, इस जीव ने जिसमें अनन्त बार जन्म या मरण न किया हो — ऐसा कोई भी समय नहीं है, यह काल-संसार है।

अपने शुद्ध आत्मा का अनुभवरूप निर्विकल्प समाधिकाल, वह स्वकाल है। इस स्वकाल की प्राप्ति के बिना जीव दश कोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण उत्सर्पिणी काल और दश कोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण अवसर्पिणी काल में अनन्तबार जन्मा तथा मरा है। इस प्रकार के अनेक परावर्तनकाल में ऐसा कोई समय नहीं है, जिसमें यह जीव अनन्तबार जन्मा और मरा न हो; इसलिए बाह्यकाल की दृष्टि छोड़कर अपना स्वकाल ही वास्तविक काल है, उस पर दृष्टि करना चाहिए।

(घ) भव-संसार — अभेदरत्नत्रयात्मक समाधि के बल से सिद्धगति में निजात्मा की उपलब्धि जिसका लक्षण है — ऐसी सिद्धपर्यायरूप जो उत्पाद, उसे छोड़कर नरक, तिर्यञ्च और मनुष्यभव में तथा देव के भवों में निश्चयरत्नत्रय की भावनारहित, भोगाकांक्षानिदानपूर्वक द्रव्य-तपश्चरणरूप जिनदीक्षा के बल से नव ग्रैवेयक तक, भव-नाशक निजशुद्धात्मभावना से रहित वर्तते हुए और भव-उत्पादक मिथ्यात्व-रागादिभावना-सहित वर्तते हुए इस जीव ने अनन्तबार जन्म और मरण किया है — इस प्रकार 'भव-संसार' जानना।

अपने शुद्ध आत्मा की श्रद्धा तथा स्वसम्वेदनज्ञानपूर्वक ध्यान के बल से निज आत्मा की प्राप्तिरूप लक्षणवाली सिद्धगति प्राप्त होती है। कोई व्यवहार या क्रियाकाण्ड से सिद्धगति की प्राप्ति नहीं होती तथा उस गति को प्राप्त किये बिना अर्थात् 'अपना आत्मा शुद्ध चैतन्यमय भगवान है' — ऐसी भावना किये बिना भव का अभाव नहीं हो सकता, सच्चा सुख प्राप्त नहीं हो सकता।

भोग-वाञ्छा के निदानसहित द्रव्यलिङ्गपना धारण किया, तपश्चरण किया तथा नववें ग्रैवेयक तक देवपद धारण किया, फिर भी कार्य की सिद्धि नहीं हुई। जो वस्त्र-पात्र रखे, वह तो द्रव्यलिङ्गी भी नहीं है। बाह्य से नग्न हो, पाँच महाव्रतादि का पालन

करना हो और जङ्गल में रहता हो; परन्तु जिसे स्वभाव की रुचि नहीं है तथा शुभभाव व क्रिया की रुचि है, उसका द्रव्यलिङ्गपना भी व्यर्थ है। ऐसी जिनदीक्षा तो अनन्तबार धारण की; परन्तु स्वभाव की रुचि नहीं हुई, इसलिए वह द्रव्यलिङ्गपना भी व्यर्थ है।

छहढाला में कहा है —

मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।।

भाई ! मुनिव्रत धारण करके यह जीव अनन्तबार नववें ग्रैवेयक तक गया; परन्तु निजात्मज्ञान के बिना थोड़ा भी सुख प्राप्त नहीं हुआ। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को माना; परन्तु पुण्य और व्यवहार की भावना रही; इसलिए देवगति में पैदा होकर भी संसार परिभ्रमण ही करता रहा है, सच्चा सुख प्राप्त नहीं हुआ है।

मिथ्यादृष्टि जीव पहले स्वर्ग का इन्द्र (शक्रेन्द्र) नहीं होता, इन्द्राणी पर्याय में भी नहीं जाता। इन्द्राणी जन्मते समय तो मिथ्यादृष्टि होती है; परन्तु उसी भव में सम्यक्त्व प्राप्त कर बाद में मोक्ष जाती है। दक्षिण दिशा के इन्द्र, लोकपाल और लोकान्तिक देव — ये सब एकावतारी होते हैं। वे पहले ही सम्यक्त्वसहित होते हैं। ये देव आठ सागर की स्थितिवाले ब्रह्मचारी होते हैं। बारह अङ्ग के पाठी होते हैं। ये तीर्थङ्कर के दीक्षाकल्याणक के प्रसङ्ग में आते हैं। ऐसे देवों का भव मिथ्यादृष्टियों को नहीं मिलता।

इसके अतिरिक्त भी तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, बलदेव, गणधर, अनुत्तरविमान के देव आदि के भव मिथ्यादृष्टियों को नहीं मिलते हैं, क्योंकि इनके भव अनन्त नहीं हो सकते।

अहो! अपने शुद्ध आत्मा की भावना ही भव का नाश करनेवाली है तथा उस भावना से रहित होकर मिथ्यात्व, राग-द्वेष आदि भाव करके मनुष्य, तिर्यञ्च आदि भव अनन्त बार धारण किये, इसलिए भव के अभाव के लिए निज शुद्धात्मा की भावना करना योग्य है। इस प्रकार भव-संसार के स्वरूप का वर्णन हुआ।

(ड) भाव-संसार- अब भाव-संसार का कथन किया जाता है। सर्व जघन्य प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध के निमित्तभूत, सर्व जघन्य मन-वचन-काया के परिस्पन्दरूप श्रेणी के असंख्यातवें भागप्रमाण चार स्थान में पतित — ऐसे सर्व जघन्य योगस्थान होते हैं। उसी प्रकार सर्वोत्कृष्ट प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध के निमित्तभूत, सर्वोत्कृष्ट मन-

वचन-काया के व्यापाररूप उसके योग्य श्रेणी के असंख्यातवें भागप्रमाण, चार स्थान में पतित — ऐसे सर्वोत्कृष्ट योगस्थान होते हैं। उसी प्रकार सर्वजघन्य स्थितिबन्ध के निमित्तभूत, सर्वजघन्य कषाय-अध्यवसाय के स्थान, उनके योग्य असंख्यात, लोकप्रमाण और षट्स्थानपतित होते हैं और सर्वोत्कृष्ट स्थितिबन्ध के निमित्तभूत, सर्वोत्कृष्ट कषाय-अध्यवसाय के स्थान असंख्यात लोकप्रमाण, सर्वोत्कृष्ट अनुभाग-अध्यवसाय के स्थान भी असंख्यात लोकप्रमाण और षट्स्थानपतित जानना।

उसी प्रकार अपने-अपने जघन्य और उत्कृष्ट भेदों के मध्य में तारतम्यतापूर्वक मध्यम भेद भी हैं। उसी प्रकार जघन्य से उत्कृष्ट तक के ज्ञानावरणादि मूल तथा उत्तर प्रकृतियों के स्थितिबन्ध स्थान हैं।

उन सबमें परमागम में कहे अनुसार इस जीव ने अनन्तबार भ्रमण किया है; परन्तु पूर्वोक्त समस्त प्रकृतिबन्ध आदि की सत्ता के नाश को कारणरूप जो विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभावरूप निजपरमात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-अनुचरणरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, उसे इस जीव ने प्राप्त नहीं किया है।

इस प्रकार जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट स्थिति-रस आदि के परिणाम, यह जीव अनन्तबार भोग चुका है। उसमें जघन्य से उत्कृष्ट तक ज्ञानावरणादि मूल तथा उत्तरप्रकृतियों का स्थितिबन्ध में स्थान है। ज्ञानावरणीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ाकोड़ी सागर है और मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागर है। इस प्रकार ज्ञानावरणादि की मूलप्रकृतियों और उनकी उत्तरप्रकृतियों का स्थितिबन्ध होता है।

इस प्रकार परमागम में लिखे अनुसार इस जीव ने अनन्तबार स्थितिबन्ध आदि किया; परन्तु सम्पूर्ण प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध तथा अनुभागबन्ध के नाश का कारण जो विशुद्धज्ञान-दर्शनस्वभाव का धारक निजपरमात्मा है, उसमें सम्यक्श्रद्धा, ज्ञान और आचरण इस जीव ने किया नहीं, इसलिए भाव-संसाररूप परिभ्रमण कर रहा है।

जो कषाय और योग, बन्ध के कारण हैं, उससे रहित आत्मा शुद्ध है; उसका ज्ञान तथा श्रद्धान नहीं किया। जिससे कर्म बँधते हैं — ऐसे भाव अनन्तबार किये। साता वेदनीय कर्म १५ कोड़ाकोड़ी सागर का बन्ध करे — ऐसा भाव है तथा उस भाव से पञ्चेन्द्रियपना मिले व जीव नववें ग्रैवेयक तक जावे। जिन भावों से यशोकीर्ति नामकर्म

बँधता है — ऐसे भाव इस जीव ने अनन्तबार किये; परन्तु जिस भाव से संसार का नाश होना है — ऐसे भाव कभी नहीं किये।

पुण्यभाव, व्यवहाररत्नत्रय के भाव, दया-दान के भाव, मुनि को आहार देने के भाव तथा जिस भाव से भोगभूमि में उत्पन्न हो — ऐसे भाव अनन्तबार किये। फलस्वरूप उत्कृष्ट देव भी हुआ; परन्तु ये सभी भाव संसार के कारण हैं।

यहाँ कोई शङ्का करता है कि मुनि के आहारदान से तथा दूसरे जीवों की अनुकम्पा के भाव से संसार नष्ट होता है। उसे आचार्य महाराज करुणा करके समझाते हैं कि भाई! यह बात खोटी है-झूठी है, क्योंकि ऐसे भाव तो इस जीव ने अनन्तबार किये हैं। अहाहा! ये सभी भाव संसार के ही कारण हैं। इस प्रकार भाव-संसार का स्वरूप जानना चाहिए।

इस पूर्वोक्त प्रकार से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पाँच प्रकार के संसार का चिन्तवन करते हुये, इस जीव को संसाररहित स्वशुद्धात्मसम्वेदन के विनाशक और संसार की वृद्धि में कारणभूत मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के परिणाम नहीं होते हैं। वहाँ संसारातीत सुख के आस्वाद में रत होकर, स्वशुद्धात्मसम्वेदन के बल से संसारविनाशक निज निरञ्जन परमात्मा में ही भावना करता है और तत्पश्चात् जैसे परमात्मा की भावना करता है, वैसे ही परमात्मा को प्राप्तकर संसार से विलक्षण — ऐसे मोक्ष में अनन्तकाल स्थित रहता है।

यहाँ विशेष यह है कि यह पाँच प्रकार के संसार का व्याख्यान नित्यनिगोद के जीवों को छोड़कर है, क्योंकि नित्यनिगोद के जीवों को तीनों कालों में भी त्रसपना नहीं है। कहा भी है — **'ऐसे अनन्त जीव हैं कि जिन्होंने अब तक त्रस-पर्याय प्राप्त नहीं की है, वे प्रचुर भाव-कलङ्क होने से निगोदवास नहीं छोड़ते हैं।'**

कोई ऐसा सोचे कि मोक्षमार्ग कठिन है, अतः पुण्यभाव करना चाहिए, जिससे स्वर्गलोक की प्राप्ति होगी और वहाँ से भगवान की वाणी सुनने जाऊँगा। यहाँ तो आचार्य भगवान ऐसा कहते हैं कि ऐसी सभी भावनाएँ संसार की हैं-संसार की कारण हैं अर्थात् उनका फल संसार ही है। अहाहा! संसार भावना का विचार करनेवाला निजशुद्धात्मा की भावना भाता है, क्योंकि संसार के नाश का कारण अपने शुद्ध आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान करना है। ऐसी सम्यक्श्रद्धा एवं सम्यग्ज्ञान के नाश करनेवाले अर्थात् संसार की वृद्धि के कारणभूत मिथ्याश्रद्धा, अशुभभाव, स्वरूप की असावधानी के भाव, क्रोध,

मान, माया, लोभ और योग के परिणाम धर्मी जीव नहीं करता है। वह संसार-सुख से विलक्षण अपने आत्मा के आनन्द में और सुख मे तत्पर होकर निज शुद्ध आत्मा के ज्ञान के बल से संसार का नाश करनेवाली अपने परमात्मस्वरूप आत्मा की भावना करता है और उससे परमात्मदशा प्राप्त करता है अर्थात् वह संसारदशा से विलक्षण मोक्षदशा में अनन्तकालपर्यन्त निवास करता है।

गोम्मटसार में आता है कि ऐसे अनन्त जीव हैं, जिन्होने अभी तक त्रसपर्याय अर्थात् द्वि-इन्द्रिय से पञ्चेन्द्रियपना प्राप्त किया ही नहीं है। वे जीव तीव्र अशुभभाव कर रहे हैं — इस कारण निगोद से बाहर निकलते नहीं हैं। कर्म के उदय के कारण जीव निगोद में रहते हों — ऐसा नहीं है; परन्तु तीव्र अशुभपरिणाम के कारण निगोद में रहते हैं।

अनुपम और अद्वितीय कथन तो यह है कि भरत चक्रवर्ती के ९२३ पुत्रों ने, नित्यनिगोदवासी, अनादि मिथ्यादृष्टि जीव होते हुए भी, कर्मों की निर्जरा करने से पूर्वभव में इन्द्रगोप पर्याय धारण की और उनके समूह पर भरत के हाथी ने पैर रखा, जिससे वे मरकर वर्धनकुमार आदि भरत के ९२३ पुत्र हुए। वे किसी के साथ नहीं बोलते थे, अतः भरत ने समवसरण में भगवान से पूछा — तब भगवान ने उनका पूर्व वृत्तान्त कहा, उसे सुनकर उन्होंने तप ग्रहण किया और बहुत थोड़े समय में मोक्ष प्राप्त किया।

वस्तु में प्रत्येक समय अपनी योग्यता के अनुसार परिणमन होता है। वस्तु त्रिकाल है, उसमें प्रत्येक समय परिणमन होता है। परिणमन बिना वस्तु नहीं रहती है। निगोद में अधिक-हीन परिणमन अपने कारण से है। भरत चक्रवर्ती के पुत्र पूर्वभव में इन्द्रगोप हुए तो अपने कारण से हुए एवं राजकुमार हुए तो अपने कारण से हुए। आत्मा अपने परिणामों का कर्ता स्वयं है। कार्यरूप परिणाम अपने में होता है तथा उसका साधन भी स्वयं है — इस प्रकार छहों कारक अपने में हैं। जीव के परिणाम निमित्त के कारण या कर्म के कारण नहीं होते।

वे जीव राजकुमार रूप में मिथ्यात्वसहित अवतरित हुए, परन्तु जन्म के बाद बोले नहीं; मूक ही रहे। पुत्रों के मूक होने के कारण भरत ने भगवान से पूछा — हे भगवान्! ये मेरे पुत्र मूक क्यों है ? मैं इतना पुण्यशाली और मेरे पुत्र मूक क्यों हैं ? भगवान की ओंकार ध्वनि में जवाब के रूप में पिछले भव का वृत्तान्त आया कि पूर्व में ये पुत्र नित्यनिगोद में थे, वहाँ से निकलकर इन्द्रगोप हुए और तुम्हारे हाथी के पैर के नीचे

कुचलने पर भी कषाय की मन्दतापूर्वक मरण को प्राप्त हुए, वहाँ से चयकर तुम्हारे यहाँ राजकुमार हुए हैं और इसी समय ये सभी 'हमें दीक्षा दीजिए' — ऐसा शब्द कहेंगे।

इस प्रकार भगवान की दिव्यध्वनि के तत्पश्चात् ही वर्धनकुमार आदि सभी पुत्रों ने भगवान से प्रार्थना की कि हे प्रभु! 'हमे दीक्षा दीजिए' — ऐसा कहकर भगवान के समक्ष दीक्षा धारण की, मुनिपना अङ्गीकार किया और बाह्य-अभ्यन्तर निर्ग्रन्थ दशा प्रगट करके अल्पकाल में केवलज्ञान प्राप्त किया तथा शीघ्र ही मोक्षदशा भी प्राप्त कर ली।

देखो, परिणामों की विचित्रता! अनादि निगोद से निकले, इन्द्रगोप होकर राजकुमार हुए तथा उसी भव से मोक्षदशा प्राप्त की ।

इनके अलावा भरत के ही बत्तीस हजार पुत्र पिछले भव में निगोद में थे। वहाँ कषाय की मन्दतारूप परिणामों में मरकर राजकुमार हुए और उसी भव में मुनिपना धारण करके केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष गये। अहाहा! ये सभी दृष्टान्त अपने परिणामों की स्वतन्त्रता बताते हैं। उसका कारण परपदार्थ नहीं है। परिणामों का प्रवाह क्रमशः चलता ही जाता है। परिणाम तो क्रम में ही हुआ है; परन्तु जो परिणाम पर या राग में अटकता है, उसे अब त्रिकाली शुद्ध आत्मा के आश्रय से एकाग्र करके परिपूर्णदशा प्रगट की।

इस प्रकार यहाँ पर संसार-भावना का वर्णन चलता है। ज्ञानी संसार-भावना का विचार करते हैं कि संसार की पर्याय क्षणिक है (अर्थात् संसार, पर्यायरूप होने से क्षणिक है), वह मेरा त्रिकाली शुद्ध आत्मा नहीं है। इस जीव ने अनन्तभव धारण किये, उसमें नये-नये पुत्र, पुत्री, मकान इत्यादि का संयोग हुआ, जिससे नये-नये विकारीभावों को भी किया; परन्तु वे सभी पदार्थ संयोग हैं और अपने विकारीभाव क्षणिक हैं, मैं तो असंयोगी, नित्य, ज्ञानस्वभावी पदार्थ हूँ — ऐसी भावना करने से अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त होती है

इस प्रकार तीसरी संसार-भावना का स्वरूप पूर्ण हुआ।

(४) एकत्वभावना — निश्चयरत्नत्रय ही जिसका एक लक्षण है, ऐसी एकत्वभावना से परिणमित इस जीव को निश्चयनय से —

(१) सहजानन्द सुखादि अनन्तगुण के आधारभूत केवलज्ञान ही एक सहज शरीर है; शरीर अर्थात् क्या ? स्वरूप; सात धातुमय औदारिकशरीर नहीं।

(२) उसी प्रकार आर्त और रौद्ररूप दुर्ध्यान से विलक्षण परमसामायिक जिसका

लक्षण है, ऐसी एकत्वभावना से परिणमित निजात्मतत्त्व ही एक, सदा शाश्वत, परम हितकारी, परमबन्धु है; विनश्वर और अहितकारी पुत्र, स्त्री आदि नहीं।

आर्त और रौद्ररूप कुध्यानों से विलक्षण परमसामायिकरूप एकत्वभावना है। सभी परपदार्थ संयोगी और नाशवान हैं; आत्मा अकेला ध्रुव, अविनाशी है और वही हितकारी है — ऐसा चिन्तवन करना एकत्वभावना है। इसको समझे बिना अर्थात् ऐसी भावना हुए बिना वैराग्य आ जावे तथा दीक्षा लेवे तो भी व्यर्थ है। पुत्र, मित्र, स्त्री, कुटुम्ब, शरीर, हीरा, माणिक, हाथी, घोड़ा आदि किञ्चित् भी हित करनेवाले नहीं हैं; एकमात्र अपना शुद्ध आत्मा ही हितकारी है।

(३) उसी प्रकार परम-उपेक्षा संयम जिसका लक्षण है — ऐसी एकत्वभावनासहित स्वशुद्धात्म पदार्थ एक ही अविनाशी और हितकारी परम-अर्थ है, सुवर्ण आदि अर्थ नहीं।

उपरोक्त परम-उपेक्षा संयमरूप एकत्वभावना से सहित शुद्ध आत्मा ही एक, अविनाशी और हितकारी परमपदार्थ है, परमधन है। इसके अतिरिक्त सोना, चाँदी, रुपया आदि सभी वस्तुएँ परम-अर्थ नहीं हैं। शुद्ध आत्मा के अलावा अन्य सभी वस्तुएँ उपेक्षा करने योग्य हैं। अपना शुद्ध आत्मा ही स्वधन है; अन्य नहीं।

(४) उसी प्रकार निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न निर्विकार परमानन्द जिसका लक्षण है — ऐसे अनाकुल स्वभावयुक्त आत्मसुख ही एक सुख है, आकुलता का उत्पादक इन्द्रियसुख, सुख नहीं है।

यहाँ अनादि के संस्कारवश कोई जीव शंका करे कि (१) शरीर, (२) बन्धुजन, (३) सुवर्णादि अर्थ और (४) इन्द्रियसुख आदि जीव के निश्चय से सुख के कारण नहीं हैं — ऐसा कैसे कहा ?

आचार्य समाधान करते हैं कि उक्त पर-पदार्थ जीव के नहीं हैं तथा सुख के कारण भी नहीं हैं, क्योंकि मरण के समय जीव अकेला ही दूसरी गति में जाता है, शरीर आदि जीव के साथ नहीं जाते हैं तथा जीव जब रोगों से घिर जाता है, तब भी विषय-कषायादि दुर्ध्यान से रहित निज शुद्धात्मा ही सहायक होता है। ऐसी भावना भाते-भाते ज्ञानी जीव चैतन्य की तरफ चले जाते हैं — यह ही संवर है।

यहाँ एकत्वभावना का वर्णन चलता है। एक जीव एक गति में से दूसरी गति में

जाए तो शरीर आदि उसके साथ नहीं जाते; परन्तु यहीं के यहीं रह जाते हैं, इसलिए सिद्ध होता है कि वास्तव में शरीर आदि पर-पदार्थ जीव के नहीं हैं तथा ये समस्त पदार्थ सुख के कारण भी नहीं हैं। यह समझाने के लिए आचार्य भगवान ने सभी के जीवन में आनेवाला सरल उदाहरण दिया है कि जब यह जीव आकुलता उत्पन्न करनेवाले रोग आदि से घिर जाता है तो उस समय शरीर, बन्धुजन, सुवर्णादि अर्थ और पञ्चेन्द्रियों को अच्छे लगनेवाले समस्त पदार्थ तथा उनसे उत्पन्न इन्द्रियसुख आदि सभी दुःख दूर करने में अथवा सुख की प्राप्ति में बिल्कुल भी सहायक नहीं होते। इन सभी से सुख उत्पन्न होता है — यह बात तो दूर रही; परन्तु ये तो सुख-प्राप्ति में सहायक भी नहीं हैं।

शंका — यदि ऐसा है तो सुख-प्राप्ति में सहायक कौन है ?

समाधान — रोग, विषय-कषायादिरूप दुर्ध्यान से रहित अकेले निजशुद्धात्मा की एकाग्रता ही सुख-प्राप्ति में सहायक है।

यहाँ तो शरीर में रोग होने के समय का दृष्टान्त दिया है; परन्तु निरोगी शरीर भी सुख-प्राप्ति में सहायक नहीं है। रोगी हो या निरोगी, शरीरादि बाह्य पदार्थों में रञ्चमात्र भी सुख नहीं है तथा वे सुख प्राप्ति में सहायक भी नहीं हैं, मात्र शुद्ध आत्मा ही सहायक है।

शिष्य पुनः पूछता है कि वह किसप्रकार सहायक होता है ?

आचार्य समाधान करते हैं - यदि जीव का यह अन्तिम शरीर हो तो वह (शुद्धात्मा की एकाग्रतासहित तप) केवलज्ञानादि की प्रगटतारूप मोक्ष में ले जाता है और यदि अन्तिम शरीर न हो तो वह संसार की स्थिति घटाकर, देवेन्द्रादि सम्बन्धी पुण्य का सुख देकर परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति कराता है। कहा है कि — 'तप करने से तो सब कोई स्वर्ग प्राप्त करते हैं; परन्तु जो ध्यान के योग से स्वर्ग प्राप्त करता है, वह आगामी भव में अक्षयसुख प्राप्त करता है।' इस प्रकार एकत्वभावना का फल जानकर निरन्तर निज शुद्धात्मा के एकत्व की भावना करना चाहिए।

यहाँ यह बताया गया है कि निज शुद्धात्मा की एकत्वभावना सुख की प्राप्ति में किस प्रकार सहायक है तथा निज शुद्धात्मा की महिमा कैसी है, यह भी बताया है।

आत्मा के भान बिना बहुत जीव तप करते हैं और उससे स्वर्ग भी प्राप्त करते हैं;

परन्तु वे जीव उस तप से परम्परा-मोक्ष प्राप्त नहीं करते तथा जिनको आत्मा का भान है और एकत्व की भावना भाते हैं, उनके अगर शुभराग बाकी रह जाए तो वे जीव देवादि का भव प्राप्त कर, मनुष्य होकर भव का ही अभाव करके नियम से मोक्ष में जाते हैं। यदि राग न रहे तो सीधे मोक्ष प्राप्त करते हैं। इस प्रकार एकत्वभावना का फल जानकर निजशुद्धात्मा ही एक सुखस्वरूप तथा सुख की प्राप्ति में सहायक है - ऐसी भावना करते रहना चाहिए। इस प्रकार एकत्वभावना नाम की चौथी भावना पूर्ण हुई।

(५) अन्यत्वभावना — अब पाँचवीं अन्यत्वभावना कहते हैं। पूर्वोक्त देह, बन्धुजन, सुवर्णादि अर्थ और इन्द्रियसुखादि कर्मों के आधीन होने से विनश्वर और हेय भी हैं। निश्चयनय से वे सब, टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एकत्वभावपने के कारण नित्य और सब प्रकार से उपोदयभूत निर्विकार परमचैतन्यरूप निज परमात्मपदार्थ से अन्य हैं, आत्मा भी उनसे अन्य-भिन्न है। यहाँ भाव (आशय) यह है कि एकत्व-अनुप्रेक्षा में 'मैं एक हूँ' — इत्यादि प्रकार से विधिरूप व्याख्यान है और अन्यत्व-अनुप्रेक्षा में 'देहादि पदार्थ मेरे से भिन्न हैं, मेरे नहीं हैं' — इस प्रकार निषेधरूप से व्याख्यान है। इस रीति से एकत्व और अन्यत्व — इन दोनों अनुप्रेक्षाओं में विधि और निषेधरूप ही अन्तर है; फिर भी दोनों का तात्पर्य एक ही है।

वहाँ एकत्वभावना में विधि अर्थात् अस्तिरूप कथन था और यहाँ अन्यत्वभावना में 'यह मैं नहीं', यह मैं नहीं' — इस प्रकार निषेधात्मक कथन है। पहले एकत्वभावना में कहा था कि देह, बन्धुजन, सुवर्ण आदि पदार्थ तथा इन्द्रियसुख आदि सभी कर्मों के आधीन हैं, अत: ये सभी विनाशीक स्वभाववाले हैं। देव-शास्त्र-गुरु तथा राग-द्वेष, काम-क्रोधादि विकार तथा सांसारिक सुख सभी विनाशीक हैं, इसलिए त्यागने योग्य ही हैं। चैतन्यमूर्ति ज्ञायक एकरूप आत्मा स्वभाव से नित्य है, उसमें प्रमत्त और अप्रमत्त-दशा के भेद नहीं हैं तथा उस शुद्धात्मस्वरूप की भावना से विकार का विनाश होकर परमात्मपद प्रगट होता है। अत: एक आत्मा ही उपादेय है।

अहाहा! विकार से रहित परम चैतन्य-चमत्कार स्वभाव के धारक निज परमात्मा से शरीर, कर्म इत्यादि निश्चयनय से अर्थात् वास्तव में भिन्न हैं। भगवान आत्मा से जो केवलज्ञान प्रगट हुआ है, वह उसका चैतन्य-चमत्कार है। परपदार्थों में कोई सार नहीं है तथा वे परपदार्थ आत्मा के नहीं हैं। अरे! बन्धुजन तो प्रत्यक्ष भिन्न हैं ही; परन्तु यहाँ

तो ऐसा कहते हैं कि संसार-अवस्था भी आत्मा के त्रिकाली-स्वभाव से अन्य अर्थात् अलग ही है। इस प्रकार अन्यत्वभावना का विचार करने पर स्वभाव में श्रद्धा, ज्ञान और वीतरागता प्रगट होती है, वह धर्म है और वह ही संवर है।

भावार्थ यह है कि एकत्वभावना में 'मैं एक हूँ' — इत्यादि प्रकार से विधिरूप व्याख्यान किया है। करोड़पति खूब ठाट-बाट में मस्त रहते हैं; परन्तु उन्हें भी कोई शरण नहीं है, देह स्थिर नहीं है, चिदानन्द आत्मा अकेला रहता है। दया, दान, व्रत, पूजा आदि के भाव भी आत्मा के त्रिकाली स्वरूप नहीं हैं, अतः वे भी शरणभूत नहीं हैं अर्थात् सुख-प्राप्ति में सहायक नहीं हैं। समस्त विकारभाव अनेकतास्वरूप हैं तथा मात्र शुद्ध आत्मा ही अकेला है — ऐसा एकत्वभावना का विधिरूप व्याख्यान है और अन्यत्वभावना में 'देह आदि परपदार्थ मेरे से भिन्न हैं, मेरे नहीं हैं' — इस प्रकार निषेधरूप व्याख्यान है।

अरे भाई! यहाँ तो यह कहते हैं कि देव-शास्त्र-गुरु आत्मा से भिन्न हैं — यह बात तो ठीक है; परन्तु आत्मा की पर्याय में हुए शुभाशुभभाव भी पर हैं और व्यवहाररत्नत्रय के परिणाम भी पर हैं, तो नौकर, घर, पुत्र, कुटुम्ब, पैसा आदि तो पर हैं ही। देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का विकल्प, बारह व्रत या महाव्रत के विकल्प भी कल्याण के कारण नहीं हैं। मात्र अखण्ड आत्मा की शरण लेना ही कल्याण का कारण है। एकत्व और अन्यत्वभावना में विधि और निषेध का भेद होते हुए भी दोनों का एक तात्पर्य है। 'मैं एक हूँ' — ऐसी अस्ति तथा 'पर मुझसे भिन्न हैं' — ऐसी नास्ति, इसप्रकार अस्ति-नास्ति से कथन किया है।

आचार्य धर्म प्रारम्भ करने की प्रक्रिया एवं महिमा बताते हुए कहते हैं कि भाई! प्रथम तो यथार्थदृष्टि अर्थात् दर्शनशुद्धि करना चाहिए। दानादि का विकल्प उठता है, वह शुभराग है; उससे आत्मतत्त्व भिन्न है — ऐसा श्रद्धा-ज्ञान करना प्रथम धर्म है। ऐसी श्रद्धा बिना, करोड़ों रुपया खर्च करने से भी धर्म नहीं होता। अभक्ष्य पदार्थ को छोड़कर भक्ष्य पदार्थ खाने-पीने में या दानादि में पैसा खर्च करने में धर्म नहीं है। धर्म, धर्मी अर्थात् आत्मा में रहता है। ज्ञान-दर्शनमय शक्तिवान का आधार धर्म है, ऐसे धर्म का ज्ञान जिसको प्रगट हुआ, वह जीव बारहभावना भाता है; क्योंकि जो पुण्य से धर्म माने, निमित्त से लाभ माने, उसे सच्ची भावना नहीं हो सकती है। सम्यग्दृष्टि ही सच्ची भावना भाता है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है कि भावना भव्य जीव को आनन्द उत्पन्न करनेवाली है। व्यवहार-रत्नत्रय का उत्साह बन्ध का कारण है, उससे रहित 'मैं ज्ञाता हूँ' — इसमें श्रद्धा-ज्ञान और रमणतारूप परिणाम भावसंवर है। वह संवर सम्यग्दृष्टि को होता है। निमित्त या राग से लाभ माने, उसको संवर नहीं हो सकता; इसलिए उसे सच्ची भावना भी नहीं होती। पुण्य-पाप से रहित आत्मा की भावना भाना ही संवर है।

इस प्रकार अन्यत्व-अनुप्रेक्षा समाप्त हुई।

(६) अशुचि-अनुप्रेक्षा — सर्व प्रकार से अशुचि (अपवित्र) यह शरीर रज और वीर्य से उत्पन्न होने के कारण अथवा **'वसासृग्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः'** अर्थात् वसा, रुधिर, मांस, मेद, हड्डी, मज्जा और शुक्र — इन सप्तधातुमय होने के कारण और मूत्र, विष्टा आदि अशुचि मलों की उत्पत्ति का स्थान होने के कारण अत्यन्त अशुचि है। मात्र अशुचि का कारण होने से ही अशुचि नहीं है; परन्तु स्वरूप से ही अशुचिता को उत्पन्न करनेवाला होने से वह अशुचि है। सुगन्धित माला, वस्त्र आदि शुचिपदार्थों में अशुचिपना उत्पन्न करने के कारण भी देह अशुचि है।

शरीर को अशुचि कहना व्यवहार है। वास्तव में तो वह आत्मा का ज्ञेय है और आत्मा उसका ज्ञाता है। जिस जीव की ऐसी पवित्र दृष्टि हुई हो, उसे यदि विकल्प उठे तो वह विचार करता है कि 'अहो! यह शरीर तो पिता के वीर्य और माता के रुधिर से उत्पन्न हुआ है, यह मेरी चीज नहीं है; मैं तो ज्ञानमात्र आत्मा हूँ, मैं किसी से उत्पन्न नहीं हुआ हूँ, यह शरीर सप्तधातुमय होने से अशुचि (अपवित्र) है।'

अज्ञानी तो शरीर को रूपवान तथा उत्तम इन्द्रियोंवाला देखकर मोहित हो जाता है। मृतक शरीर में उसका अमृतस्वभावी आत्मा मूर्छित हो गया है, इसलिए उसको शरीर से भिन्न आत्मा की भावना नहीं होती है।

इस पुरुष शरीर में नव छिद्र — नाक, कान, आँख आदि हैं और इनके द्वारा विष्टा, पेशाब आदि निकलते हैं। उनका झरना हमेशा बहता ही रहता है, इसलिए शरीर साक्षात् अशुचिमय है। पुरुष मुनि हो सकता है; परन्तु स्त्री मुनिदीक्षा धारण नहीं कर सकती, इसलिए पुरुष के शरीर की बात की है। पुरुष के शरीर में नव छिद्र होते हैं तथा स्त्री के शरीर में बारह छिद्र होते हैं; परन्तु यहाँ उसकी बात नहीं की जा रही है। स्त्री साधु

हो ही नहीं सकती है, इसलिए मल्लिनाथ तीर्थङ्कर स्त्री नहीं हो सकते हैं। स्त्री को पञ्चम गुणस्थान से ऊपर की दशा हो ही नहीं सकती।

यहाँ तो मुनि भावना भाते हैं कि शरीर के नव छिद्र द्वारा जो मल झरता है, वह जड़ है; परन्तु चिदानन्द आत्मा में रमणता होने पर तो ज्ञान-दर्शन की पवित्रता का झरना झरता है। यहाँ मुख्यपने मुनि की प्रधानता से कथन है। ज्ञानी गृहस्थ भी ऐसी भावना भाते हैं, तीर्थङ्कर भी गृहस्थ-अवस्था में ऐसी ही भावना भाते हैं; परन्तु मुनियों की भावना विशेष प्रकार की होती है। पेशाब, विष्टा आदि अशुचि पदार्थों का स्थान होने से देह अशुचि है। आत्मा के भान बिना मात्र शरीर को अपवित्र कहना और ऐसा मलिन शरीर मिला है — इस प्रकार द्वेष करना — सच्ची भावना नहीं है। आत्मा शरीर से भिन्न है, ज्ञानानन्द है — ऐसे भाववाला ज्ञानी विचार करता है कि यह शरीर अशुचि है। यह अशुचिभावना है तथा संवर का भेद है।

शरीर अपवित्रता उत्पन्न करता है, इसलिए शरीर अशुचि है — ऐसी बात नहीं है; परन्तु शरीर तो स्वरूप से ही अपवित्र है और अपवित्र मल आदि को उत्पन्न करनेवाला होने से महान अपवित्र है। शरीर की अपवित्रता का विवेकपूर्वक विचार करके ज्ञानसहित वैराग्य आवे तो ही भावना सम्यक् होती है तथा आत्मा पवित्र है — इसके भान बिना शरीर की अपवित्रता का यथार्थ भान नहीं होता है, मात्र शरीर के प्रति द्वेष हो जाता है; अतः वह सच्ची भावना नहीं है।

अब शुचित्व का कथन किया जाता है। सहज शुद्ध केवलज्ञानादि गुणों का आधारभूत होने से और स्वतः शुचि होने से परमात्मा ही शुचि है।

जीवो बह्मा जीवम्हि चेव चरिया हविज्ज जो जदिणो।
तं जाण बह्मचेरं विमुक्कपरदेहभत्तीए॥

जीव ब्रह्म है और उस जीव में ही यतियों की जो चर्या होती है, उसे परस्वरूप देह की सेवा से रहित ब्रह्मचर्य जानना।

इस गाथा में कथित निर्मल ब्रह्मचर्य निज परमात्मा में स्थित जीवों को ही होता है। इसी प्रकार **'ब्रह्मचारी सदा शुचि'** — ब्रह्मचारी सदा शुचि (पवित्र) होता है — इस वचन से भी उपरोक्त ब्रह्मचर्य पालन करनेवाले ब्रह्मचारियों को ही शुचिपना है, काम-क्रोधादि में रत रहनेवालों को जलस्नान आदि से शुद्धि करने पर भी शुचिपना नहीं है।

जन्मना जायते शूद्रः क्रियया द्विज उच्यते।
श्रुतेन श्रोत्रियो ज्ञेयो ब्रह्मचर्येण ब्राह्मणः॥

जन्म से शूद्र होता है, क्रिया से द्विज कहलाता है, श्रुत से श्रोत्रिय और ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण जानना चाहिए।

इस वचन से भी निज परमात्मा में स्थित जीव ही निश्चय शुद्ध (वास्तविक शुद्ध) ब्राह्मण हैं।

इसी प्रकार नारायण ने युधिष्ठिर से कहा है कि विशुद्ध आत्मारूपी नदी में स्नान करना ही परम-शुचिता का कारण है, लौकिक गङ्गा आदि तीर्थों में स्नानादि शुचिता का कारण नहीं है।

आत्मा नदी संयमतोयपूर्णा सत्यावहा शीलतटा दयोर्मिः।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र ! न वारिणा शुद्धयति चान्तरात्मा॥

संयमरूपी जल से परिपूर्ण, सत्यरूपी प्रवाहवाली, शीलरूपी किनारोंवाली और दयारूपी तरङ्गों वाली जो आत्मा-नदी है, उसमें हे पाण्डुपुत्र ! स्नान करो, अन्तरात्मा जल से शुद्ध नहीं होता है।

यहाँ पवित्रता का कथन किया जा रहा है। क्या है आत्मा की पवित्रता ? भगवान आत्मा कैसा है ? शिष्य द्वारा ऐसा प्रश्न पूछने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि आत्मा सहज शुद्ध ज्ञान-दर्शन आदि गुणों का आधारभूत है तथा निश्चय से अपने में ही रहने से यह परमात्मरूप आत्मा पवित्र ही है।

यहाँ जिज्ञासापूर्वक शिष्य प्रश्न करता है कि हे प्रभो ! मुनिपना किसको होता है?

आचार्य अन्दर के वेदनपूर्वक समाधान करते हैं कि ब्रह्मचर्य पालन करनेवाले को मुनिपना होता है। खुलासा इस प्रकार है कि 'आत्मा ब्रह्मस्वरूप है, उसमें जो प्रवृत्ति करता है और देह की सेवा छोड़कर चैतन्य में लीन होता है, उसको बह्मचर्य होता है' — ऐसे ब्रह्मचर्य को धारण करनेवाला मुनि होता है। २८ मूलगुणों के पालन करने का भाव तो राग है, निर्दोष आहार करने का भाव भी राग है; मुनिपना नहीं — इन सबसे रहित शुद्ध ब्रह्मस्वरूप आत्मा में लीनता ही मुनि की प्रवृत्ति है।

इस गाथा में जो निर्मल ब्रह्मचर्य कहा है, वह परम आत्मा में स्थित जीवों के होता है अन्य जीवों के नहीं होता। देह की क्रिया से अथवा स्त्री छोड़ने से ब्रह्मचर्य नहीं होता। इस प्रकार **'ब्रह्मचारी सदा पवित्र है'** — इस वचन से मुनियों की आत्माश्रित पवित्रता बताई गयी है। मुनियों के आत्मा की मस्ती अटूट होती है तथा उसमें से आनन्द का झरना झरता है। उस आनन्द की मस्ती में शरीर का स्नान नहीं होता, दन्त-धोवन नहीं होता। अत: राग तथा देह की क्रिया की उपेक्षा और चिदानन्द आत्मा की अपेक्षा होती है।

ब्रह्मानन्दरूप आत्मा की चढ़ती हुई मस्ती में रहनेवाले मुनि विकल्प में और जड़ की क्रिया में मुनिपना नहीं मानते, अधिक आयु होने पर लाखों वर्षों तक मुनिपना पालते हुए भी शरीर का स्नान नहीं करते। बाह्य में शरीर गन्दा होने पर भी अन्तर में ज्ञान जाज्वल्यमान रहता है, इसलिए मुनि सदा पवित्र हैं। आत्मा के भानपूर्वक उग्र आनन्द का वेदन करनेवाले होने से वे सदा पवित्र हैं।

जो काम, क्रोध, विषय-भोग, कपट आदि में तत्पर रहते हैं, वे जीव बाह्य से जल-स्नान करते हैं, शरीर को साफ रखने के लिए सुगन्धित तेल-साबुन आदि लगाते हैं, फिर भी वह पवित्र नहीं होता है। आत्मा की पवित्रता के भान बिना अपवित्रता ही अपवित्रता है।

देखे! ज्ञानी अशुचिभावना को किस रीति से भाते हैं! आत्मा स्वभाव से ही पवित्र है, स्नानादि से पवित्र नहीं हुआ, क्योंकि जो काम-क्रोधादि विकारों में मग्न हैं, उनकी मलिनता स्नान करने पर भी दूर नहीं होती। अहाहा! 'मैं ज्ञायक हूँ' — ऐसी अन्तर्दृष्टि ही वास्तव में पवित्रता है।

जिस प्रकार जन्म से शूद्र, क्रिया से द्विज, श्रुत से श्रोत्रिय तथा ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण कहलाता है; उसी प्रकार आत्मा स्वभाव से निर्विकारी परमपवित्र तत्त्व होने से शुचि है।

इसका खुलासा इस प्रकार है — शूद्र जन्म से ही होता है। पाप करने से किसी ने शूद्र बनाया हो — ऐसा नहीं है तथा क्रिया से जीव द्विज कहलाता है। उसका द्विज नाम दो जन्मों की वजह से है। एक तो माता के उदर से लिया हुआ जन्म है। दूसरा उपनयन-संस्कार से सुसंस्कृत अर्थात् आत्मा की ज्ञान-क्रिया के द्वारा धर्म का संस्कार पाना — वह दूसरा जन्म है। उपनयन-संस्कार कहो या आत्मा के ज्ञान का और स्वभाव की दृष्टि (नयन) का प्रगट होना कहो — एक ही बात है। ऐसी ज्ञान तथा दृष्टिवाला ही द्विज

कहलाता है। इसी प्रकार सच्चे शास्त्र के ज्ञान से ज्ञानी और जो ब्रह्मचर्य अर्थात् आनन्दस्वरूप में रमणता करनेवाला ब्राह्मण कहलाता है। इस प्रकार जो चिदानन्द शुद्ध आत्मा में सावधान है, वही ब्राह्मण है।

पुराणों में एक बात आती है कि श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर को यात्रा के समय एक तूम्बड़ी दी। वे सभी स्थलों पर स्नान करने के पश्चात् उस तूम्बड़ी को भी स्नान कराते थे तथा यात्रा के समाप्त होने पर श्रीकृष्ण ने तूम्बड़ी का एक टुकड़ा निकाल कर युधिष्ठिर को बताया कि इस तूम्बड़ी ने कितने स्थानों पर स्नान किया; फिर भी यह वैसी की वैसी कड़वी ही रही, उसकी कड़वाहट किञ्चित्मात्र भी नहीं गई। उसी प्रकार बाहर में कितना ही स्नान करें; परन्तु अन्दर का विकार नष्ट न हो तो कोई लाभ नहीं है। इसलिए हे पाण्डुपुत्र! लौकिक गङ्गा आदि तीर्थो में स्नान करना, वह पवित्रता का कारण नहीं है। इन्द्रियों का लक्ष्य छोड़कर संयमरूपी जलवाली, सत्य को धारण करनेवाली, शीलरूपी किनारोंवाली तथा दयामय तरङ्गों को धारण करनेवाली — ऐसी आत्मारूपी नदी में स्नान कर! ब्रह्मचर्यरूपी अखण्ड स्वभावभाव में तथा राग से रहित अहिंसामय तरङ्गवाले आत्मा में डुबकी मार! तथा उसकी रुचि करके उसमें निमग्न हो! क्योंकि अन्तरात्मा बाह्य जल से शुद्ध नहीं होता है। मछली सारे दिन जल में ही रहती है, फिर भी शुद्ध नहीं होती। अतः पवित्र आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान करना ही पवित्रता का कारण है, अन्य कोई कारण नहीं है। इस प्रकार धर्मी जीव पवित्रता की भावना भाते हैं तथा अपवित्रता की भावना छोड़ते हैं।

(७) आस्रव-अनुप्रेक्षा — 'समुद्र में छिद्रयुक्त नाव की भाँति यह जीव इन्द्रियादि आस्रवों से संसाररूपी संसार में पड़ता है'-यह वार्तिक है। अतीन्द्रिय स्वशुद्धात्मसंवेदन से विलक्षण स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण — ये पाँच इन्द्रियाँ है। परम उपशममूर्ति परमात्मस्वभाव को क्षोभ उत्पन्न करनेवाले क्रोध, मान, माया और लोभ — ये चार कषायें हैं। रागादि विकल्पों की निवृत्तिरूप शुद्धात्मानुभूति से प्रतिकूल हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह में प्रवृत्तिरूप पाँच अव्रत हैं। निष्क्रिय, निर्विकार, आत्मतत्त्व से विपरीत — ऐसी मन-वचन-काया के व्यापाररूप परमागम में कथित सम्यक्त्व क्रिया, मिथ्यात्व क्रिया आदि पच्चीस क्रियाएँ हैं। इस प्रकार इन्द्रिय, कषाय, अव्रत और क्रिया रूप आस्रवों का स्वरूप जानना चाहिए।

जिस प्रकार समुद्र में अनेक रत्नोंरूपी माल से भरा हुआ छिद्रयुक्त जहाज जल प्रवेश

करने पर डूब जाता है अर्थात् समुद्र के किनारे पर बसे नगर में नहीं पहुँच सकता; उसी प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप अमूल्य रत्नोंरूपी माल से भरा हुआ जीवरूपी जहाज, पूर्वोक्त आस्रवरूपी द्वार से कर्मरूपी जल प्रवेश करने पर संसाररूपी समुद्र में डूब जाता है अर्थात् केवलज्ञान, अव्याबाध सुख आदि अनन्त गुणरूप रत्नों से पूर्ण — ऐसे मुक्तिरूपी समुद्र के किनारे पर बसे नगर में नहीं पहुँच सकता है — इस प्रकार आस्रवगत दोषों का चिन्तन करने को आस्रव-अनुप्रेक्षा जानना चाहिए।

तत्त्व के बारे में धर्मात्मा अनेक प्रकार से विचार करते हैं। यहाँ अनेक प्रकार से विचार करते हैं, इसलिए बन्ध होता है — ऐसा नहीं है; परन्तु विचार करने से तो ज्ञान की निर्मलता ही होती है। ज्ञानी तो यह विचार करते हैं कि कर्म के आने का कारण क्या है? जिस प्रकार छिद्रवाली नौका समुद्र में डूब जाती है; उसी प्रकार इन्द्रियों के माध्यम से की गई कषायों से जीव भवसागर में डूबता है तथा अतीन्द्रिय आत्मस्वभाव के आश्रय से पार होता है। पाँच इन्द्रियों से निजशुद्धात्मा का ज्ञान नही होता; अपितु आस्रव ही होता है।

भाई! भाषा सादी है; परन्तु भाव सूक्ष्म है। बात कठोर तो अवश्य लगेगी, क्योंकि ऐसा कभी सुना ही नहीं हैं; परन्तु सत्य को कभी नकारा नहीं जा सकता। अगर कल्याण करना हो तो सत्य को स्वीकार करना ही पड़ेगा। संसार के अशुभभाव तो आस्रव के कारण हैं ही; परन्तु आँख से जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करना, जीभ से भगवान के गुण गाना, कान से भगवान की दिव्यध्वनि सुनना, जो कि शुभभाव हैं; वे सभी आस्रव के कारण हैं, दु:ख के कारण हैं, संसार के कारण हैं। जैनधर्म का यह कठोर; किन्तु गजब का सत्य है।

परमात्मस्वरूप इस आत्मा का स्वभाव, मात्र अकषायी, पुण्य-पापरहित उपशम स्वरूप का धारण करनेवाला है। उसमें क्रोध, मान, माया और लोभ आदि के परिणाम क्षोभ अथवा अस्थिरता उत्पन्न करते हैं, अत: क्रोध, मान, माया और लोभ को आस्रव कहा जाता है तथा आस्रव से संसार में डूबते हैं।

पुण्य-पाप के सङ्कल्प-विकल्प से रहित शुद्ध आत्मा के अनुभव से विपरीत हिंसादि पाँच पाप अव्रत कहलाते हैं, ये पाँचों अव्रत आस्रव के कारण हैं।

आत्मतत्त्व पुण्य-पाप की क्रिया से रहित तथा मन-वचन-काय की क्रिया से रहित

है तथा उससे विपरीत अर्थात् आत्मतत्त्व से विपरीत मन-वचन-काय के निमित्त से हुआ व्यापार आस्रव का कारण है और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति भक्ति का राग व कुदेवादि की मान्यतारूप भाव इत्यादि पच्चीस क्रियाएँ आस्रव के कारण हैं।

यहाँ सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा के राग को सम्यक् क्रिया कहा है और वह भी आस्रव का कारण है। प्रथम ऐसा विवेक तो जाग्रत होना ही चाहिए कि ऐसा शुभराग आता है; परन्तु वह आस्रव का कारण ही है। भगवान की प्रतिमा की वन्दना-भक्ति आदि का राग मर्यादित बहिर्मुखवृत्ति है और कुदेवादि का राग अमर्यादित बहिर्मुखवृत्ति है। अमर्यादित परिणाम टलने के पश्चात् ही मर्यादित परिणाम टलते हैं। सम्यग्दृष्टि को मर्यादित परिणाम होते हैं; परन्तु वे भी चारित्र का दोष होने से आस्रव ही है, बहिर्मुख परिणाम ही हैं, अन्तर्मुख परिणाम नहीं है, इसलिए आत्मा को भवसागर में डुबानेवाले ही हैं।

इस प्रकार मन-वचन-काय के व्यापाररूप पच्चीस क्रियाएँ आस्रव के कारण हैं। इसी प्रकार पूर्व में जो इन्द्रिय, कषाय, अव्रत तथा क्रिया के आस्रव कहे थे, उनका स्वरूप भी जानना चाहिए।

इस प्रकार धर्मी जीव विचार करते हैं कि आस्रव से विकार होता है। आस्रवभावना अर्थात् आस्रव करना चाहिए — ऐसा अर्थ नहीं हैं; परन्तु आस्रव से दोष उत्पन्न होता है — इसका विचार करना आस्रवभावना है। धर्मी जीव तो सदा स्वभाव में रमना चाहते हैं; परन्तु सदा स्वभाव में स्थिर न हो पाने के कारण शुभभाव आता है, तब ऐसा विचार करते हैं कि यह शुभभाव भवसागर में डुबानेवाला है। मात्र शुद्धात्म-भावना ही भवसागर से पार करानेवाली है-मोक्षनगरी में प्रवेश करानेवाली है; इसलिए आत्मा का आश्रय ही त्रिकाल उपादेय है।

शङ्का — समयसार में तो ऐसा कहा है कि धर्मी जीव को आस्रव ही नहीं होता, फिर यहाँ धर्मी जीव आस्रवभावना क्यों भाते हैं ?

समाधान — भाई ! समयसार में तो दृष्टिप्रधान कथन है। साधक जीव को विकार अर्थात् आस्रव होने पर भी, दृष्टि में विकार की गौणता एवं शुद्ध आत्मा की प्रमुखता वर्तती है — इस अपेक्षा से 'साधक जीव को आस्रव नहीं होते' — ऐसा कहा है; परन्तु उसी समय जितना आस्रव बाकी है, उसे भी सम्यग्ज्ञानी यथार्थ रीति से जानता है।

अमृतचन्द्राचार्य ने तत्त्वार्थसार में सम्यग्दृष्टि को 'ईषत्सिद्ध' कहा है। अखण्ड-दृष्टि में सिद्ध जैसा सम्पूर्ण आत्मा ख्याल में आ गया होने से सिद्ध कहा है तथा चारित्र की अपूर्णता होने से ईषत् अर्थात् कथञ्चित् सिद्ध कहा है।

धर्मी जीव जानते हैं कि पञ्चमहाव्रतादि का परिणाम आता तो अवश्य है, परन्तु बन्ध का ही कारण है अर्थात् जितनी बहिर्मुखदशा है, वह बन्ध का कारण है। सम्पूर्ण अन्तर्मुखदशा सिद्ध अवस्था में ही होती है। चौदहवें गुणस्थान में जितनी अशुद्धता अर्थात् संसारदशा है, उसका कर्ता जीव स्वयं है। अनादि संसाररूप कार्य अपना है तथा अपने से हुआ है — इसका विवेक रखकर सम्यग्दृष्टि शुद्ध आत्मा को ख्याल में लेते हैं।

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी कहा है कि आत्मा को दृष्टि अपेक्षा से सिद्ध समान कहा है, परन्तु पर्याय अवस्था से संसारी पामर ही हैं। कहाँ केवलज्ञानी प्रभु और कहाँ मुनि अवस्था ? जिन मुनि के वस्त्र नहीं होते, जंगल में विचरण करते हैं, उनकी पर्याय में पामरता है। दृष्टि अपेक्षा से पूर्ण होने पर भी जब तक पर्याय में पूर्णता नहीं है, तब तक पामरता का भान भी साधक को रहता है।

आचार्य की बात सुनकर शिष्य दुविधा में पड़ जाता है और विनम्र होकर आचार्य से प्रश्न करता है कि प्रभो! जब सम्पूर्ण आत्मा दृष्टि में ख्याल में आ गया तो फिर पुरुषार्थ की कमी कैसे रह जाती है ? क्या कर्म का जोर होने से पुरुषार्थहीनता है।

आचार्य सहज एवं शान्तभाव से समधान करते हैं कि पुरुषार्थहीनता कर्म के जोर के कारण नहीं है, अपितु अपने ही कारण है। सहज स्वभावसन्मुख होने पर ही पुरुषार्थ होता है, हठ से पुरुषार्थ नहीं होता। शास्त्र में भी ऐसा आता है कि 'शक्ति अनुसार तप-त्याग होते हैं, हठ से नहीं होते।' धर्मी जीव पहले अपने परिणामों की परख करता है तथा पर्याय की शक्ति को देखता है, इसके बाद व्रतादिक की प्रतिज्ञा करता है, जबर्दस्ती उसके पीछे नहीं पड़ता। जिस प्रकार गरीब आदमी राजा तथा सेठ आदि की नकल न करता हुआ अपनी हैसियत के अनुसार सादा-खान-पान करता है; उसी प्रकार धर्मी जीव को दृष्टि में प्रभुता इष्ट है, परन्तु पर्याय में शक्ति अनुसार ही कार्य करता है, उतावली नहीं करता। वर्तमान में जितनी अस्थिरता है, उतना आस्रव है। मुक्तिरूपी केवलज्ञान के लिए अनन्त स्थिरता चाहिए — इत्यादि प्रकार से मलिन परिणाम से दोष

का विचार करना आस्रव अनुप्रेक्षा है तथा इसमें जितनी ज्ञान की एकाग्रता होती है, वही संवर भावना है।

संवर-अनुप्रेक्षा — जिस प्रकार वही जहाज छिद्र बन्द हो जाने से , उसमें पानी का प्रवेश न होने के कारण निर्विघ्नरूप से समुद्र किनारे के नगर में पहुँच जाता है; उसी प्रकार जीवरूपी जहाज निजशुद्धात्मा की संवित्ति के बल से इन्द्रियादि आस्रवोंरूपी छिद्र के बन्द होने पर, उसमें कर्मरूपी जल के प्रवेश न होने के कारण निर्विघ्नरूप से केवलज्ञानादि अनन्त गुणरत्नों से पूर्ण मुक्तिरूपी समुद्रकिनारे के नगर में पहुँच जाता है।

जिस प्रकार जहाज का स्वभाव पार होने का है; उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव भी भवसागर से पार होने का है। जो आस्रव के कारण इन्द्रिय, कषाय, अव्रत तथा योग थे, उनको शुद्ध आत्मा के ज्ञान के बल से ढँक दिया अर्थात् आस्रव को उत्पन्न ही नहीं होने दिया; अत: कर्म का आना रुक गया। कर्मों का अभाव होने पर केवलज्ञानादि अनन्त गुणों से परिपूर्ण जो मुक्तिरूपी नगरी है, उसे निर्विघ्नरूप से प्राप्त किया।

इस प्रकार संवरगत गुणों के चिंतवनरूप संवर-अनुप्रेक्षा जानना चाहिए।

निर्जरा-अनुप्रेक्षा — जिस प्रकार किसी मनुष्य को अजीर्ण दोष के कारण मलसञ्चय हो जाने पर वह मनुष्य आहार का त्याग करके मल को पकानेवाली और जठराग्नि बढ़ाने वाली ऐसी हरड़ आदि दवा लेता है और उससे मल पक जाने से, गल जाने व खिर जाने पर वह सुखी होता है; उसी प्रकार यह भव्य जीव भी अजीर्ण उत्पन्न करनेवाले आहार के समान मिथ्यात्व-रागादि अज्ञानभाव से कर्मरूपी मल का सञ्चय होने पर मिथ्यात्व-रागादि छोड़कर, परम औषधि समान ऐसी जो जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुख आदि में समभाव का प्रतिपादन करनेवाली, कर्मरूपी मल को पकानेवाली, शुद्ध ध्यानरूपी अग्नि को प्रज्वलित करनेवाली जिनवचनरूपी औषधि का सेवन करता है, वह कर्मरूपी मल के गलकर निर्जरित हो जाने पर सुखी होता है।

देखो, यहाँ जिनवचन को औषधि कहा है। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी यही कहा है कि —

आत्मभ्रान्ति सम रोग नहीं, सद्गुरु वैद्य सुजान।
गुरु आज्ञा सम पथ्य नहीं, औषध विचार ध्यान॥

अर्थात् आत्मस्वभाव में भ्रान्ति के समान इस जगत में कोई दूसरा बुरा रोग नहीं

है और आत्मज्ञानी गुरु के अलावा रोग को मिटानेवाला अच्छा और सच्चा अन्य गुरु नहीं है। इसी प्रकार गुरु की आज्ञा के समान अन्य पथ्य नहीं है तथा वीतराग के वचन के अलावा दूसरी औषधि नहीं है। जिनवचन का विचार और एकाग्रता जन्म-मरण टालने की रामबाण औषधि है। अहाहा! वीतराग के वचन क्या कहते हैं, इसे जानना चाहिए। जीवन हो, चाहे देह छूटने का समय हो, परन्तु साम्यभाव धारण करना चाहिए; क्योंकि देह को रखना या त्यागना — इस जीव के अधिकार की बात नहीं है। गृहस्थों को पैसे का लाभ हो या हानि — सभी समान है। अनुकूलता हो या प्रतिकूलता, यश:कीर्ति नामकर्म का उदय हो या अपयश नामकर्म का उदय हो — इन सभी परिस्थितियों में साम्यभाव धारण करना चाहिए। भाई! आत्मा तो जानन-देखन स्वभावी है — ऐसा जिनवचन कहते हैं।

कैसी भी परिस्थितियाँ हों, वीतराग के वचन समताभाव को उत्पन्न करते हैं, कर्मरूपी मल को पकाते हैं एवं शुद्ध ध्यानरूपी अग्नि को प्रदीप्त करते हैं। वीतरागवाणी का सेवन करना अर्थात् उसके भाव का सेवन करना चाहिए, क्योंकि इस वाणी के भाव का सेवन करने से कर्मरूपी मल का नाश होता है तथा कर्मों की निर्जरा होती है। अपने आत्मा में श्रद्धा-ज्ञान-रमणता से मलिनता का नाश होता है तथा परमसुख की प्राप्ति होती है।

विशेष बात यह है कि जिस प्रकार कोई बुद्धिमान मनुष्य अजीर्ण के समय स्वयं को जो दु:ख था, उसे अजीर्ण के मिट जाने पर भी नहीं भूलता है और अजीर्ण उत्पन्न करनेवाले आहार का त्याग करता है और उससे वह सदा सुखी रहता है; उसी प्रकार विवेकी जीव भी 'आर्ता: नरा: धर्मपरा: भवन्ति' अर्थात् 'दुखी मनुष्य धर्म में तत्पर होते हैं' — इस वचन के अनुसार दु:ख उत्पन्न होने के समय जो धर्म का परिणाम उत्पन्न होता है, उसे दु:ख चला जाने पर भी भूलता नहीं है और इसलिए निज परमात्मा के अनुभव के बल से निर्जरा के लिए दृष्ट-श्रुत-अनुभूत भोगाकांक्षादिरूप विभाव-परिणाम के परित्यागरूप संवेग-वैराग्य परिणामों में वर्तता है।

भाई! क्या गजब बात है ? संवर अधिकार में निर्जरा अनुप्रेक्षा की बात चलती है, क्योंकि निर्जरा की भावना से संवर होता है। मिथ्या मान्यता के वशीभूत होकर, उल्टा आचरण करके जिन कर्मों को बाँधा था; वे कर्म, आत्मा के भानपूर्वक रमणता करने

पर खिर जाते हैं — इसको निर्जरा कहते हैं। कर्म अपनी स्थिति पूर्ण करके खिर जाते हैं, उसे सविपाक निर्जरा कहते हैं — इसकी मोक्षमार्ग में महत्ता नहीं है तथा जब जीव ज्ञानानन्दस्वभाव के भानपूर्वक कर्मों की तरफ वलण-झुकाव नहीं करता, मात्र स्वभाव की एकाग्रता से कर्म फल दिये बिना खिर जाते हैं, उसे अविपाक अर्थात् वास्तविक निर्जरा कहते हैं, क्योंकि यही निर्जरा संसार को काटनेवाली है।

यहाँ पर ज्ञानी निर्जराभावना के बारे में विचार करते हैं। 'दुःखी मनुष्य धर्म में तत्पर हैं' — ऐसा कहना व्यवहार का कथन है। कोई जीव दुःख के संयोगों के समय में तत्त्वविचार करता है और धर्म प्राप्त करता है — इस अपेक्षा से उपरोक्त कथन किया है। जिस जीव को नरक का संयोग प्राप्त है, अगर उस समय वह जीव यह विचार करे कि ऐसी महाभयंकर वेदना का कहीं अभाव है या नहीं ? और फिर इसी विचार से कोई जीव तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लेता है; क्योंकि सम्यग्दर्शन में प्रतिमा, शास्त्रश्रवण, जातिस्मरण इत्यादि निमित्त कहे हैं, उनमें वेदना को भी निमित्तकारण कहा है।

यह लोकप्रसिद्ध बात है कि भले जीव दुःख के संयोगों के पश्चात् पुण्य का संयोग प्राप्त होने पर भी दुःख के दिनों को नहीं भूलते हैं, ख्याल रहता है। सातवें नरक की वेदना को या तो वेदन करनेवाला ही जान सकता है या केवलज्ञानी ही जानते हैं; इतनी असह्य वेदना वहाँ होती है कि जिसका अनुमान करना भी संभव नहीं है। वहाँ नारकी जीव परस्पर में लड़ते-लड़ते थक जाते हैं, एक-दूसरे को परस्पर में काट डालते हैं — ऐसा घोर दुःख जीव सातवें नरक में असंख्य वर्ष तक भोगते हैं। 'अहो! ऐसे दुःख में कौन शरण है ? मात्र आत्मा की शरण में जाने से ही दुःखों का नाश होता है' — इस प्रकार बारम्बार उस दुःख को याद करके धर्मी जीव वैराग्यभाव में निमग्न रहते हैं तथा वीतरागता में वृद्धि करते हैं।

ज्ञानी जीव अपने परम आत्मा के अनुभव के बल से ही वैराग्य-परिणाम लाते हैं। पूर्व में जो भोग-वाञ्छादि परिणाम जाने थे, सुने थे तथा अनुभव किये थे - उनका त्याग करके वैराग्य-परिणाम लाते हैं एवं ऐसा निश्चित जानते हैं कि मात्र आत्मा में ही आनन्द और सुख है; बाहर में सुख नहीं है।

अब, संवेग तथा वैराग्य का लक्षण कहते हैं —

धम्मे य धम्मफलह्मि दंसणे य हरिसो य हुंति संवेगो।
संसारदेहभोगेसु विरत्तभावो य वैरग्गं॥

धर्म में, धर्म के फल में और दर्शन में जो हर्ष होता है — वह संवेग है और संसार, देह तथा भोगों में जो विरक्तभाव है — वह वैराग्य है।

आत्मस्वभाव की श्रद्धापूर्वक अर्थात् सम्यग्दर्शनपूर्वक वीतरागतारूपी धर्म में, धर्म के फल में, केवलज्ञान में तथा दर्शन में जो हर्ष होता है, उसको संवेग कहते हैं तथा संसार, देह और भोगों से, पाँच इन्द्रियों के विषयों से विराम लेना-विरक्त होना, वैराग्य है। आत्मा में आनन्द प्रगट करना — यह अस्ति से कथन है तथा संसारादि से विरक्त होना — यह नास्ति से कथन है। उपरोक्त भावना भाना निर्जराभावना है। ऐसी भावना वाले को यह शंका नहीं होती कि धर्म करने से मेरे पूर्व कर्म खिरेंगे या नहीं ? अरे! स्वयं अपने स्वभाव में स्थिरता करने के लायक हुआ तो कर्म खिरने की लायकात वाला होता ही है।

अब, चार प्रकार की निर्जरा की परिभाषा कहते हैं —

१. सविपाकनिर्जरा — पूर्व में बद्ध कर्मों का उदय में आकर खिर जाना।

२. अविपाकनिर्जरा — स्वभाव-सन्मुख होकर कर्मों को फल देने के पूर्व ही खिरा देना।

३. अकामनिर्जरा — कषाय की मन्दतापूर्वक निर्जरा होना। इसमें स्वभाव का पुरुषार्थ नहीं होता, इसलिए अकाम कहा है।

४. सकामनिर्जरा - स्वभाव के उग्र पुरुषार्थपूर्वक कर्मों का खिर जाना। यहाँ स्वभाव का पुरुषार्थ बताने के लिए सकाम कहा है।

अविपाकनिर्जरा में भी कर्मों के लिए खिरने का समय तो आ ही गया था। वे कर्म खिरनेवाले तो थे नहीं, फिर भी पहले खिर गये — ऐसी बात नहीं है, परन्तु आत्मा के अनुभव की तरफ ढलने का विशेष पुरुषार्थ बताने के लिए ही अविपाक कहा है। ज्ञानी को चारों ही प्रकार की निर्जराएँ होती हैं।

लोक-अनुप्रेक्षा — शिष्य आचार्य से प्रश्न करता है कि हे प्रभो! जहाँ सीमन्धर भगवान विराजते हैं, उस क्षेत्र का नाम 'विदेह क्षेत्र' क्यों पड़ा ?

आचार्य समझाते हुये कहते हैं कि —

शरीर के ममत्व के कारणरूप मिथ्यात्व और रागादि विभावों से रहित और केवलज्ञान, केवलदर्शन, सुखादि अनन्तगुणों सहित निज परमात्मद्रव्य में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भावना करके प्रचुररूप से (अधिक संख्या में) मुनि वहाँ से विगतदेह अर्थात् देहरहित होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं; इसलिए उसे विदेहक्षेत्र कहते हैं।

अब आचार्य यह बताते हैं कि चक्रवर्ती सूर्यविमान में विराजमान जिनबिम्ब को नमस्कार करते हैं।

अढ़ाई द्वीप में चन्द्र और सूर्य की संख्या का कथन आता है। वहाँ जम्बूद्वीप में कर्कट संक्रान्ति के दिवस, दक्षिणायन के प्रारम्भ में, निषध पर्वत पर प्रथम मार्ग में सूर्य का प्रथम उदय होता है। तब सूर्य विमान में स्थित निर्दोष परमात्म-जिनेश्वर के अकृत्रिम बिम्ब को प्रत्यक्ष देखकर अयोध्यानगरी में स्थित भरत चक्रवर्ती निर्मल सम्यक्त्व के अनुराग से पुष्पाञ्जलि देकर अर्घ्य देता है।

लोक में जो सूर्य को ही नमस्कार किया जाता है, वह अज्ञान है। सूर्य विमान तो जड़ है, उसको नमस्कार करना व्यर्थ है, परन्तु यहाँ धर्मी जीव तो आत्मा के भानपूर्वक अकृत्रिम जिनप्रतिमा को वन्दन करता है।

लोकभावना के अन्त में लोक के विस्तृत वर्णन से परेशान शिष्य आचार्य से पूछता है कि हे भगवान्! आपने लोकभावना में अधोलोक, मध्यलोक एवं ऊर्ध्वलोक का वर्णन बहुत विस्तार से किया है तथा इस सभी का स्मरण रहना सम्भव नहीं दिखता, अतः कृपा करके यह बताइये कि इन सबका सार क्या है तथा वास्तविक लोक क्या है ?

आचार्यदेव शिष्य के अभिप्राय को जानकर गम्भीरता से समाधान करते हैं कि —

आदि-मध्य अन्तरहित, शुद्ध-बुद्ध एकस्वभाव परमात्मा में सकल निर्मल केवलज्ञानरूप नेत्र द्वारा दर्पण में प्रतिबिम्बों के समान, शुद्धात्मा आदि पदार्थ आलोकित होते हैं-दिखलाई देते हैं-ज्ञात होते हैं-परिच्छिन्न होते हैं; अतः वही (शुद्धात्मा ही) निश्चयलोक है अथवा उस निश्चयलोक नामक अपने शुद्ध परमात्मा में अवलोकन वह निश्चयलोक है।

श्रीपञ्चास्तिकाय गाथा १४० में भी आता है कि —

सण्णाओ य तिलेस्सा इंदियवसदाय अत्तरुद्दाणि।
णाणं च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदा होंति॥

संज्ञा, तीन लेश्या, इन्द्रियों के वश में होना, आर्त और रौद्रध्यान, दुष्प्रयुक्त (खोटे कार्य में जुड़ा हुआ) ज्ञान और मोह — ये सब पाप देनेवाले हैं।

इस गाथा में कथित विभाव परिणाम से प्रारम्भ करके समस्त शुभाशुभ सङ्कल्प-विकल्प त्यागकर, निज शुद्धात्मभावना से उत्पन्न परम आह्लादरूप एक सुखामृत के रसास्वाद के अनुभव से जो भावना हो, वही निश्चय-लोकानुप्रेक्षा है, शेष व्यवहार से है।

भाई! यह सत्य है कि शास्त्रों में लोक का वर्णन अतिविस्तार से है, परन्तु उस सब में सार एक आत्मा ही है; क्योंकि आत्मा आदि, मध्य तथा अन्त से रहित है, निर्मल ज्ञान तथा एकरूप स्वभाव का धारक है। उसमें पूर्णरूप से स्वच्छ केवलज्ञान नाम का नेत्र है, जिसके द्वारा दर्पण के प्रतिबिम्ब की तरह शुद्धात्मा आदि समस्त पदार्थ दिखाई देते हैं। प्रत्येक पदार्थ के द्रव्य-गुण-पर्याय भिन्न-भिन्न जानने में आते हैं। आत्मा में समस्त लोक को जानने की शक्ति है, इसलिए शुद्धात्मा ही निश्चयलोक है अथवा निश्चयलोक के धारक निज शुद्ध परमात्मा को देखना ही निश्चयलोक है।

आहार, मैथुन वगैरह चार प्रकार की संज्ञाएँ, कृष्ण, नील, कापोतरूप अशुभ लेश्याओं के परिणाम, पाँच इन्द्रियों की अशुभ में प्रवृत्ति, आर्त और रौद्रध्यान, मिथ्याज्ञान तथा मोह के परिणाम पाप को लाते हैं। इन सभी विकारी परिणामों से लेकर सम्पूर्ण शुभ तथा अशुभभावरूप सङ्कल्प-विकल्पों का त्याग करके, निजशुद्धात्मा में श्रद्धा-ज्ञान तथा रमणता से उत्पन्न हुई परमानन्दामृत के आस्वादनरूपी भावना को निश्चय से लोकभावना कहा है। इसके अतिरिक्त पूर्व में कथित लोक* का विचार करना — व्यवहार से लोकभावना है, वह पुण्यबन्ध का कारण है। इस प्रकार लोकभावना का वर्णन पूरा हुआ।

बोधिदुर्लभ-अनुप्रेक्षा - एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, संज्ञी पर्याप्त, मनुष्य, उत्तम देश, उत्तम कुल, सुन्दर रूप, इन्द्रियों की पूर्णता, निरोगपना, लम्बी आयु, उत्तमबुद्धि, सत्धर्म का श्रवण-ग्रहण-धारण, श्रद्धान, संयम, विषयसुख से विरक्ति और क्रोधादि कषायों की निवृत्ति — ये सब उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं। कदाचित् काकतालीय न्यायानुसार ये सब प्राप्त होने पर भी उनकी प्राप्तिरूप 'बोधि' के

---

* वृहद्द्रव्यसंग्रह में त्रिलोक का विस्तृत वर्णन किया है, अतः विस्तृत वर्णन जानने के लिए मूल ग्रन्थ को देखें। - **सम्पादक**

फलभूत ऐसे स्वशुद्धात्मा के सम्वेदनात्मक निर्मल धर्मध्यान-शुक्लध्यानरूप परमसमाधि दुर्लभ है

यहाँ बोधिदुर्लभभावना का स्वरूप बताया गया है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की दशा प्राप्त करना दुर्लभ है — धर्मी जीव इसका विचार करते हैं।

जीव अनादिकाल से एकेन्द्रिय पर्याय में भटका। वहाँ पर अनेक प्रकार की वनस्पतियों में तथा पृथ्वीकायादि में गया। वहाँ से बहुत काल बाद दो-इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय में गया। बहुत पुण्य के उदय से पाँच इन्द्रियाँ प्राप्त कीं; परन्तु असंज्ञी होने से हिताहित का विचार करने का अवसर नहीं मिला। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय और पर्याप्त मनुष्यपना मिलना तो बहुत ही दुर्लभ है और उसमें भी आर्यक्षेत्र एवं उत्तम कुल मिलना तो अतिदुर्लभ है; क्योंकि अगर किसी जीव का जन्म अनार्य देश एवं मुसलमानादि कुल में होवे, तब उसे वहाँ सच्ची बात सुनने को भी नहीं मिल सकती।

अच्छा रूप तथा पाँचों इन्द्रियों की पूर्णता मिलना भी दुर्लभ है। अगर आँख न मिले, कान न मिले, पैर न मिले तो जिनेन्द्रदेव की सच्ची वाणी सुगमता से कैसे मिले? उसमें भी इन्द्रियों की कार्य करने की पूर्ण क्षमता मिलना कठिन है। इसमें भी शरीर का निरोगपना, लम्बी आयु मिलना बहुत मुश्किल है; क्योंकि कोई जन्म से ही रोगी, अन्धे-काने आदि होते हैं एवं जन्मते ही मर जाते हैं; अतः निरोग शरीर एवं लम्बी आयु मिलना बहुत सौभाग्य की बात है। इतना होने पर भी हिताहित का विचार करने लायक बुद्धि का मिलना सबसे महान बात है। भाग्यवश ऐसा भी हो जाये; परन्तु कई लोगों को धर्म की सच्ची बात सुनने को नहीं मिलती; क्योंकि पञ्चमकाल में कुगुरुओं का विस्तार ज्यादा है तथा चमत्कार की चमक में उनका ही अधिकांशतः संयोग रहता है; परन्तु सच्चे धर्म की बात कहनेवाले गुरुओं का संयोग मिलना काकतालीय न्याय के समान दुर्लभ है; अतः जिनेन्द्र भगवान की वाणी का श्रवण अति कठिन संयोग है।

इतना संयोग हो जाये तो भी कई ऐसा कहते हैं कि क्या आत्मा-आत्मा कहते हो, आत्मा पकड़ में तो आता नहीं है। तत्त्व की बात सुनकर लोगों का दिमाग चकरा जाता है। कदाचित् संयोगवश ऐसी बात कान में पड़ भी जाये; परन्तु उसको धारण करना, विचार करना तथा निर्णय करना कोई महान पुरुषार्थ की बात है, अलौकिक पुरुषार्थ की बात है। वस्तु के प्रति बहुमान आये बिना इस बात का धारण-विचार-निर्धारण नहीं

हो सकता। जिसे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति विनय, बहुमान नहीं आता; उसे यथार्थ ज्ञान प्रकट नहीं हो सकता।

अहो! अज्ञानी क्या कहता है एवं ज्ञानी क्या कहता है — दोनों की तुलना अवश्य करना चाहिए; इसकी तुलना किए बिना अथवा धारणा किये बिना सम्यक् श्रद्धा होना मुश्किल है। धारणा हो जाने पर ज्ञानस्वभावी आत्मा की सम्यक् रुचि करना दुर्लभ से दुर्लभ है। रुचि होने के पश्चात् भी पाँचों इन्द्रियों के विषयों को छोड़ना, कामक्रोधादि कषायों को दूर करना अर्थात् चारित्रदशा प्रगट करना महादुर्लभ है।

पेड़ से कोई फल गिरे और अकस्मात् वह फल उसी समय पेड़ से नीचे उड़ते हुए कौवे की चौंच में आ जावे — यह जिस प्रकार महादुर्लभ है, उसी प्रकार निर्मल धर्मध्यान तथा शुक्लध्यानरूप परमसमाधि महादुर्लभ है।

शङ्का - परमसमाधि दुर्लभ किस प्रकार है ?

समाधान - क्योंकि जीव में उस परमसमाधि को रोकनेवाले मिथ्यात्व, विषय-कषाय निदानबन्ध आदि विभाव परिणामों की बहुलता है; अतः वह परमसमाधि ही निरन्तर भाने योग्य है, उस भावना से रहित जीवों को पुनः-पुनः संसार में पतन होता है। कहा है —

''जो मनुष्य अत्यन्त दुर्लभबोधि को प्राप्त कर प्रमादी होता है, वह बेचारा संसाररूपी भयंकर वन में लम्बे समय तक भ्रमण करता है।''

तथा मनुष्यभव की दुर्लभता के विषय में कहा है —

''अशुभ परिणामों की बहुलता, संसार की विशालता, योनियों की अत्यन्त विपुलता — यह सब मनुष्य योनि को बहुदुर्लभ करते हैं।''

यहाँ कोई प्रश्न करे कि परमसमाधि को दुर्लभ कैसे कहा ? तो आचार्य भगवान समाधान करते हैं कि 'पर से सुख होता है' — ऐसी उल्टी मान्यतारूप मिथ्यात्वभाव, पाँच इन्द्रियों के विषय, क्रोध-मान-माया-लोभरूप कषाय, स्वर्ग की तथा अन्य संयोग की इच्छारूप निदानबन्ध इत्यादि परिणाम परमसमाधि में बाधक हैं, जबकि अधिकांशतः जीवों में ऐसे ही परिणामों की प्रबलता पायी जाती है।

मानसिक विकल्प आधि है, शरीर में रोग की उत्पत्ति व्याधि है, संयोगों की प्रतिकूलता उपाधि है तथा इन तीनों से रहित शुद्धात्मा के भानपूर्वक मृत्यु के समय शरीर का शान्ति से छूटना अर्थात् मरणकाल में शुद्धात्मा की ओर दृष्टि रहना-शरीर की तरफ लक्ष्य न जाना, समाधि है।

पहले बोधि को अर्थात् सम्यग्ज्ञान को दुर्लभ कहा था; परन्तु अब यहाँ 'उस सम्यग्ज्ञान को सारी जिन्दगी स्थिर रखकर मृत्यु के समय आत्मा के भानपूर्वक शान्तभाव में देह का छूटना समाधि है और वह समाधि दुर्लभ है' — यह कहते हैं। धर्मी जीव समाधि का इस प्रकार विचार करते हैं कि मैं आराधक हूँ और आराधकभाव से ही देह का त्याग करूँगा।

इसलिए परमसमाधि की दुर्लभता की भावना निरन्तर करना चाहिए; क्योंकि अगर जीव परमसमाधि की भावना नहीं करे तो आत्मा के भानपूर्वक देह नहीं छूटेगी अर्थात् विराधकभाव से ही देह छूटेगी और फिर से संसार में ही भ्रमण करना होगा। इसलिए शास्त्र में आता है कि जो मनुष्य अत्यन्त दुर्लभ सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करके भी प्रमादी होवे और मरणकाल में विराधकभावरूप से मरण करे तो चिरकाल तक संसार में भ्रमण करता है।

यहाँ आचार्य भगवान ने भरे-पूरे कुटुम्ब का मिलना, पैसे का मिलना, यश का मिलना दुर्लभ नहीं कहा; परन्तु सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करना और उसको स्थिर रखकर आराधकभाव से देह छोड़नेरूप समाधि को दुर्लभ कहा है।

यहाँ संवर अधिकार की बात चलती है। यहाँ आत्मा से श्रद्धान, ज्ञान और आचरण को कल्याण का कारण बताया गया है। अहाहा! अनन्तकाल से भ्रमण करते हुए जीव को सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का समागम दुर्लभ है और सहज संयोग से भाग्यवश यह सब मिल जाए तो आत्मा की सच्ची बात कान में पड़ना तथा ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा की रुचि होना महादुर्लभ है। अगर किसी को अत्यन्त दुर्लभरूप बोधि की प्राप्ति हो जाए और प्रमादी होकर स्वरूप की सावधानी नहीं करे तो बिचारा वह जीव संसाररूपी वन में चिरकाल तक भ्रमण करता है।

जीव ने बहुत समय तो एकेन्द्रिय पर्याय में बिताया है। उसमें से निकलकर दो इन्द्रियादि हुआ, परन्तु मनुष्यभव की प्राप्ति दुर्लभ है। इस जगत में अशुभभाव करनेवाले तथा मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान से विषय-कषाय का परिणाम करनेवालों की संख्या अधिक है।

जिस शुभभाव से मनुष्यभव मिलता है, उस भाव को करनेवाले संख्यात जीव ही होते हैं। जिस प्रकार हीरे को खरीदनेवाले कम होते हैं, उसी प्रकार मनुष्यभव पानेवाले भी बहुत थोड़े हैं। तीनों काल मनुष्य संख्यात ही होते हैं।

ऐसा दुर्लभ मनुष्यभव भी अनन्तबार धारण किया; तथापि सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का योग मिलना तथा उनकी श्रद्धा करना दुर्लभ है। आत्मा अखण्ड चिदानन्दमूर्ति है — इसकी पूर्वापरविरोधरहित बात कान में पड़ना दुर्लभ है। ऐसा सुनने को ही न मिला हो तो ज्ञान कहाँ से हो ? बात सुनने को मिली तो अपनी आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण दुर्लभ है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा/व्यवहारश्रद्धा तो अनन्तबार की है; तथापि रागरहित आत्मा की प्रतीति, स्वसंवेदनज्ञान और वीतरागता — इन तीन की एकतारूप बोधि की प्राप्ति होना बहुत दुर्लभ है। जिस प्रकार बालक के पास जेवर हो तो वह पेड़ा (मिठाई) की लालसा से जेवर छोड़ देता है; उसी प्रकार अज्ञानी जीव शुभभावरूपी व्यवहार की लालसा में अथवा बाह्य अनुकूलताओं की लालसा में चैतन्यहीरे को खो बैठता है और अन्तर्श्रद्धा नहीं करता है; इसलिए बोधिदुर्लभ है।

अब कहते हैं कि ऐसे सम्यग्ज्ञानरूपी बोधि को सारी जिन्दगी टिकाये रखना और अप्रतिहतभाव से दूसरे भव में साथ ले जाना तो और भी दुर्लभ है। अतिचाररहितपने आराधक होकर अन्यभव में बोधिपना साथ में ले जाना समाधि है और वह दुर्लभ है। जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता हुई, उसे साथ ले जाना दुर्लभ है। देवगति में चारित्र छूट जाए तो भी सम्यग्दर्शन और ज्ञान तो साथ लेकर जाता है और उसके बाद दूसरे भव में चारित्र धारण कर पूर्णदशा को प्राप्त करता है।

पहले नहीं प्राप्त किये — ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का मिलना बोधि है और सम्यग्दर्शन-ज्ञानादि को निर्विघ्नतापूर्वक दूसरे भव में साथ ले जाना समाधि है और ये दुर्लभ हैं। देह छूटने का समय हो, व्याधि का पार न हो — ऐसे समय में भी आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द है, उसमें निर्विकल्पक बने रहना समाधि है। शुभाशुभभाव से रहित आत्मा शुद्ध चिदानन्दमूर्ति है — ऐसे आराधकभाव से देह छूटना समाधिमरण है — ऐसा विचार करनेवाले जीव को ही राग की उत्पत्ति नहीं होना तथा स्वभाव की जाग्रति रहना बोधिदुर्लभभावना है और वह संवर का भेद है।

इस प्रकार बोधिदुर्लभभावना पूर्ण हुई।

धर्म-अनुप्रेक्षा - अब, अन्तिम अनुप्रेक्षा कहते हैं। जो परिणाम जीव को संसार परिभ्रमण से निकालकर स्वभाव में धरे-रखे, उसे धर्म कहते हैं। जिस जीव को धर्मदशा प्रगट हुई, उसी जीव के एक-दो भव बाकी हों तो वह स्वर्ग में उत्पन्न होकर फिर वहाँ से मनुष्य होकर मोक्ष जाता है अथवा कोई सीधा मोक्ष जाता है।

धर्म, संसार में से उठाकर, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती, देव, इन्द्रों से पूज्य ऐसे तीर्थङ्कर पद को प्राप्त कराता है अथवा बाधारहित अनन्तसुखादि अनन्तगुणरूप लक्षण के धारक मोक्षपद में पहुँचाता है, उस धर्म कहते हैं। अहिंसालक्षणयुक्त, गृहस्थ और मुनिरूप लक्षणयुक्त, उत्तमक्षमादिलक्षणयुक्त, निश्चय-व्यवहार रत्नत्रयात्मक अथवा शुद्धात्मा के सम्वेदनरूप मोह-क्षोभरहित आत्मा का परिणाम धर्म है। इस धर्म की प्राप्ति नहीं होने से अनन्त भूतकाल में चौरासी लाख योनियों में परम स्वास्थ्यभावना से उत्पन्न निर्व्याकुल पारमार्थिक सुख से विपरीत पञ्चेन्द्रिय सुख की अभिलाषा से उत्पन्न व्याकुलता को उत्पन्न करनेवाले दुःखों को सहन करने हुए इस जीव ने भ्रमण किया है।

आराधक जीव धरणेन्द्ररूप उत्पन्न नहीं होता; क्योंकि वह तो असुरकुमार इन्द्र की पदवी है; परन्तु कोई सम्यग्दर्शन प्राप्त करके बाद में विराधक हो जावे तो धरणेन्द्र हो सकता है। धर्मी जीव को विकल्प रह जावे तो देवादि में उत्पन्न हो और बाद में मोक्ष जाए अथवा उसी भव में संपूर्ण निर्विकल्पदशा प्राप्त करे तो मोक्ष में जाए। इस प्रकार जो स्वभाव में स्थिर करे, उसे धर्म कहते हैं। अब धर्म के भेद कहते हैं —

(१) अहिंसारूप लक्षण का धारक धर्म है। दया, दान, भक्ति वगैरह से रहित ज्ञानानन्द स्वभाव में स्थिर होना और राग की वृत्ति उत्पन्न न होना अहिंसा है। पर की दया पालना अहिंसा नहीं है। पर जीव को कोई बचा नहीं सकता, उसकी स्थिति उसकी आयु के अनुसार है। शुभाशुभभावरहित ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा के आश्रय से रागादि की उत्पत्ति न होना, अहिंसाधर्म है। ऐसी निश्चय-अहिंसावाले धर्मी के शुभभाव को व्यवहारधर्म कहा जाता है; परन्तु वह शुभभाव वास्तव में तो हिंसा है। रागादि की अनुत्पत्ति ही अहिंसा है। धर्म लक्ष्य है और अहिंसा उसका लक्षण है।

(२) गृहस्थ व मुनि — ऐसे दो भेदवाला धर्म है। आत्मा के भानपूर्वक रागांश का

त्याग गृहस्थधर्म है और विशेष राग का त्याग मुनिधर्म है। राग की अनुत्पत्ति में दोनों धर्म आ जाते हैं।

(३) उत्तमक्षमा-मार्दव-आर्जव आदि लक्षणवाला धर्म दश प्रकार का है। स्वभाव की अरुचि, खेद या चञ्चलता न होने देना और क्षमास्वभाव में रहना उत्तमक्षमा धर्म है। इसी प्रकार मार्दवादि धर्म भी समझना चाहिए।

(४) निश्चय अथवा व्यवहाररत्नत्रयरूप धर्म है। आत्मा की प्रतीति, स्वसम्वेदन ज्ञान और रमणता निश्चयरत्नत्रय है। स्वभाव में न ठहर सके, तब अशुभ से बचने के लिए आनेवाला शुभ परिणाम, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, आगम का व्यवहारज्ञान और पञ्चमहाव्रत अथवा अणुव्रत का परिणाम व्यवहाररत्नत्रय है, जो आस्रव-बन्ध का कारण है। अतः धर्मी जीव को उसका निषेध वर्तता है; तथापि अधूरीदशा में वह आता अवश्य है, इसलिए उसको व्यवहारधर्म कहते हैं। देव-शास्त्र-गुरु ऐसा कहते हैं कि तू परमात्मा होने के मार्ग में जा! तू अन्तर में ठहर! तू चिदानन्दस्वरूप है, उसकी प्रतीति और रमणता कर! यदि उसमें ठहर न सके तो ऐसा व्यवहार जान। दूसरा कोई कल्याण कर दे — ऐसा नहीं है।

(५) शुद्धात्मा के मोह-राग-द्वेषरहित ज्ञानस्वरूप परिणाम को धर्म कहते हैं।

धर्म तो एक प्रकार का है, पर उसे भिन्न-भिन्न प्रकार से कहा है। शुद्ध आत्मा के परिणाम को अहिंसा कहते हैं, उसी को निश्चयधर्म कहते हैं, उसी को गृहस्थों और मुनियों का धर्म कहते हैं; उसे ही क्षमादिधर्म कहते हैं — इस प्रकार एक धर्म में सभी धर्म आ जाते हैं।

धर्म आत्मा की रागरहित पर्याय है। शरीर की क्रिया अथवा पुण्यपरिणाम में धर्म नहीं है। इस धर्म की प्राप्ति हुए बिना पूर्व में अनन्तकाल तक जीव चौरासी लाख योनियों में जन्मा। नित्यनिगोद वनस्पति में सात लाख, इतर निगोद वनस्पति में सात लाख, पृथ्वीकाय में सात लाख, जलकाय में सात लाख, तेजकाय में सात लाख, वायुकाय में सात लाख, प्रत्येक वनस्पति में दस लाख, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय में दो-दो लाख, देव-नारकी और तिर्यञ्च में चार-चार लाख तथा मनुष्य में चौदह लाख योनियाँ होती हैं — इस प्रकार चौरासी लाख योनियों (उत्पत्ति स्थानों) में जीव ने जन्म धारण किया है।

अपना आत्मा निरोगी है, परम स्वास्थ्यवाला है, मिथ्यात्व, काम, क्रोध ही रोग है। श्रीमद् कहते हैं कि — 'आत्मभ्रान्ति के समान दूसरा रोग नहीं है।' भगवान चिदानन्द आत्मा शुद्ध है। शरीर तथा विकार आत्मा से भिन्न हैं — ऐसा भान न होना भयानक रोग है। पुण्य और विकारभाव से सुख मानना भावरोग है।

ऐसे परमस्वास्थ्यरूपी आत्मा की भावना से आकुलतारहित आनन्ददशा उत्पन्न होती है, वह सांसारिक सुख से विलक्षण है। पञ्चेन्द्रियों के विषय की अभिलाषा से उत्पन्न होनेवाला सुख आकुलता उत्पन्न करनेवाला होने से दुःख ही है। ऐसे दुःख सहन करता हुआ जीव चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करता है। इन्द्रियों के प्रति रुचि हो, देव-शास्त्र-गुरु के प्रति रुचि हो अथवा शुभ परिणाम हो; सभी आकुलतारूप परिणाम हैं- दुःख को उत्पन्न करनेवाले हैं। ऐसे दुःख सहन करता हुआ जीव अनन्तबार संसार में भटका है।

जब जीव को इस प्रकार के विशिष्ट गुणवाले धर्म की प्राप्ति होती है, तब वह राजाधिराज अर्धमाण्डलिक, महामाण्डलिक, बलदेव, वासुदेव, कामदेव, चक्रवर्ती, देवेन्द्र, गणधरदेव और तीर्थङ्कर तथा प्रथम तीन कल्याणकों (गर्भ, जन्म और तप) तक के भी विविध प्रकार के वैभव के सुख प्राप्त करके अभेद-रत्नत्रय की भावना के बल से अक्षय अनन्तसुखादि गुणों के स्थानभूत अरहन्तपद और सिद्धपद को प्राप्त करता है।

जब जीव को पूर्वकथित धर्म की प्राप्ति होती है, तब यदि वह उस भव में पूर्णदशा प्राप्त न करे तो देवादि गति प्राप्त करता है। पूर्ण शान्ति की आराधना करने पर भी यदि थोड़ा-बहुत राग शेष रह जावे तो राजाधिराज, महाराज, अधर्ममण्डलेश्वर, महामण्डलेश्वर, बलदेव, नारायण, कामदेव, चक्रवर्ती, देवेन्द्र गणधरदेव या तीर्थङ्कर पद को प्राप्त करता है। राम बलदेव थे, लक्ष्मण वासुदेव थे, प्रद्युम्न और हनुमान कामदेव थे, बहुत सुन्दर थे। यह सब पुण्य का फल है। यहाँ पुण्य की बात करते हैं, तथापि पुण्य आदरणीय नहीं है। जिस प्रकार अनाज पकाने पर किसान को घास का ढेर मुफ्त में ही मिल जाता है; उसी प्रकार धर्मी जीव को शुभराग से घासरूपी पुण्य सहज बँध जाता है और ऐसी पदवियाँ मिल जाती हैं।

गणधरदेव तीर्थङ्कर भगवान के वजीर हैं। वे उत्तमकुल में जन्म लेते हैं। श्वेताम्बर

कल्पसूत्र में कहते हैं कि गणधर की माता एक और पिता दो होते हैं; परन्तु वह बात काल्पनिक है। धर्म के आराधक जीव नीचकुल में जन्म नहीं लेते, अपितु ऊँचे कुल में ही जन्म लेते हैं।

किसी धर्मी जीव को साधकदशा में 'सब जीवों को धर्म की रुचि हो' — ऐसा भाव आवे और उसके फल में तीर्थङ्कर नामकर्म बँध जावे; तथापि उस भाव का और उस तीर्थङ्कर प्रकृति का उस धर्मी जीव को आदर नहीं होता है।

तीर्थङ्करों को गर्भ, जन्म तथा तपकल्याणक तक अनेक प्रकार के अभ्युदय और सुख की प्राप्ति होती है। यहाँ पाँचों कल्याणकवाले तीर्थङ्कर को ग्रहण किया है। जिनके दीक्षा, केवल और निर्वाण — ये तीन अथवा केवल और निर्वाण — ये दो ही कल्याणक होते हैं, उनका यहाँ ग्रहण नहीं किया गया है। जो चौबीस तीर्थङ्कर होते हैं, वे तो पाँचों कल्याणक वाले ही होते हैं। जब तीर्थङ्कर माता के उदर में आते हैं, उसके छह महीने पूर्व देव रत्नों की वृष्टि करते हैं और माता से कहते हैं कि हे माता! तुम्हें धन्य है, आज से छह महीने बाद तीन लोक का नाथ तुम्हारी कोख में आनेवाला है। छह महीने पहले देवियाँ माता की सेवा करती हैं, गर्भ में आने पर गर्भकल्याणक मनाती हैं; जन्म होने पर जन्मकल्याणक मनाती हैं और जब वे दीक्षा लेते हैं, तब इन्द्र वगैरह महोत्सव करते हैं। इन्द्रादि धर्मी जीव को ऐसा भान है कि आत्मा तो चिदानन्दस्वरूपी राग से रहित है; फिर भी जब वे स्वभाव में नहीं ठहर सकते हैं, तब ऐसा कल्याणक आदि मनाने का राग होता है।

पश्चात् वह धर्मी जीव राग छोड़कर अपने स्वरूप में अभेद-रत्नत्रय की भावना के बल से अक्षय और अनन्त गुणों के स्थानभूत अरहन्त और सिद्धपद को प्राप्त करता है। आत्मा की आराधना करने पर यदि थोड़ा राग शेष रह जाता है तो उपरोक्त उन पदवियों को प्राप्त करता है और राग का अभाव होने पर अरहन्त और सिद्धपद की प्राप्ति करता है।

इस कारण धर्म ही परमरस का रसायन, निधियों का निधान, कल्पवृक्ष, कामधेनु और चिन्तामणि है। धर्म आत्मा के आश्रय से ही होता है, अन्य कोई शरण नहीं है। विशेष क्या कहें ? जिनेश्वर भगवान के द्वारा कथित धर्म प्राप्त करके जो सम्यग्दृष्टि-दृढ़बुद्धि का धारक होता है, वह धन्य है।

धर्म, परमरस का रसायन है। यहाँ लौकिक रसायन की बात नहीं है, वह तो जड़ धूल है, वह शरणभूत नहीं है। शुद्ध चिदानन्द के आश्रय से प्रगट हुई निर्विकारी धर्मदशा परमरसरूप रसायन है। धर्म महानिधि का भण्डार है, महालक्ष्मी है, कल्पवृक्ष है। अन्तर-एकाग्र होने पर जो माँगे, वह मिलता है। धर्म कामधेनु है, धर्म चिन्तामणि रत्न है। लौकिक रत्न शरण नहीं है। आत्मा की दृष्टिपूर्वक अन्तरङ्ग-रमणतारूप चिन्तामणि रत्न शरण है।

यह संवरतत्त्व का अधिकार चल रहा है। जिन भावों से मोह-राग-द्वेष होते हैं, उन भावों को पुण्य-पाप से रहित भाव द्वारा पुष्ट करना ही धर्म-रसायन है। लौकिक-औषधि आदि में होने वाले रसायन तो जड़ हैं, उनमें कुछ दम नहीं है। आत्मा की पहिचान करना ही सच्चा रसायन है।

धर्मभावना की चर्चा करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि धर्म परमरस का रसायन है। आत्मा को पुण्य-पाप से रहित भाव द्वारा पुष्ट करना ही धर्म-रसायन है। लौकिक औषधि आदि में होनेवाले रसायन तो जड़ है, उनमें कुछ दम नहीं है। आत्मा की पहिचान करना ही सच्चा रसायन है।

इसी प्रकार आत्मा की पहिचान करके अन्तरङ्ग भण्डार को प्राप्त करना ही धर्म है, वही सच्ची निधि का निधान है, पुण्य व्यवहार-निधान है, लौकिक निधि तो फोक है।

कल्पवृक्ष इच्छानुसार पदार्थ देते हैं। भोगभूमि में जन्मने पर उनका संयोग भी अनन्त बार मिला है, परन्तु अरे! वे तो जड़-धूल हैं, इसलिए देह, शरीर और वाणी से भिन्न चैतन्यस्वभाव में रमणता करनेरूप धर्म ही कल्पवृक्ष है।

अन्तरङ्ग लीनतारूप धर्म कामधेनु है। जिस प्रकार कामधेनु गाय जितना चाहो, उतना दूध देती है, उसी प्रकार आत्मा के भानरूप धर्म से सबकुछ मिलता है, इसलिए धर्म कामधेनु है।

शरीर और सोने की डली आदि जड़ है, मेरी चीज नहीं है, पुण्य-पाप के भाव भी विकार हैं और मैं विकाररहित शुद्ध आत्मा हूँ — ऐसी दृष्टि करना ही सच्चा रसायन है।

लोग मैसूरपाक इत्यादि खाते हैं, तथापि शरीर का वियोग हो जाता है; क्योंकि शरीर का टिकना मैसूरपाक इत्यादि के अधीन नहीं है। संयोगी पदार्थ तो वियोग लेकर ही आते हैं। आत्मा इन संयोगी पदार्थों से भिन्न है — ऐसा भान करना ही धर्म है।

शरीरादि जड़ की क्रिया जड़ से होती है, जड़ की है, पुण्यभाव भी विकार है तथा आत्मा इन सबसे रहित शुद्ध चैतन्यधातु है - ऐसा जानना ही जीवन को उज्ज्वल बनाने का उपाय है।

हे जीव, तू सच्ची पहचान कर! पैसा तो जड़ है और तू मैंने इतना पैदा किया अथवा मैंने इतना खर्च किया — इस प्रकार जड़ का स्वामी बनकर मूर्खता का सेवन करता है। शरीरादि की क्रिया व पुण्य-पाप भी धर्म नहीं, विकार है, शुद्धात्मा का श्रद्धान-ज्ञान ही धर्म है।

वैद्य अच्छी से अच्छी रसायन देवे तो भी यदि आयु शेष नहीं होवे तो रोगी बचता नहीं है, इसलिए उस रसायन में कुछ दम नहीं है।

आत्मा के श्रद्धान-ज्ञानरूप धर्म तो परमरसायन है, क्योंकि उनमें रागी की वृत्ति को अवकाश नहीं है। मैं पर की मदद लूँ या दूँ — ऐसा अवकाश ही नहीं है।

शरीर और पुण्य-पाप शरणभूत नहीं हैं। जिस भाव से तीर्थङ्कर प्रकृति बँधे, वह भाव भी विकार है। सिद्ध में विकार नहीं है, वे मात्र जाननेवाले हैं और इसी प्रकार आत्मा भी जाननेवाला है। एक समय में तीन काल तीन लोक को जाननेवाले केवली भगवान हैं और जिसको ऐसी ज्ञानशक्ति प्रगट करना हो, वह ऐसा ही मैं हूँ — शरीर और उपाधि से रहित ज्ञान का भण्डार हूँ — ऐसा भान करे, यही धर्म है और निधि का निधान है।

तीर्थङ्कर देवाधिदेव ने तीनों लोकों को देखा है, उसमें आत्मा को शुद्ध देखा है। शरीर व कर्म पर हैं, विकार उपाधि है और आत्मा इनसे रहित है। जो उस आत्मा की पहचान करता है, उसे केवलज्ञान का भण्डार मिलता है।

सर्वप्रथम तो राग-द्वेषरहित आत्मा की श्रद्धा करना चाहिए, क्योंकि पहले जिसकी श्रद्धा ही विपरीत हो, उसे क्या फल मिलेगा ? केवलज्ञान सच्चा निधान है और वह आत्मा की प्रतीति करने से मिलता है। सर्वज्ञदेव कहते है कि तेरी कामधेनु तो आत्मा है। आत्मा की श्रद्धा करने से अभिलाषित सच्चा सुख मिलता है, इसलिए धर्म कामधेनु है।

मात्र दानादिक से धर्म नहीं होता है, पर और पर की व्यवस्था से धर्म नहीं होता है। ज्ञानमूर्ति आत्मा की पिछान (पहचान) करना ही धर्म है। अज्ञानी को ऐसा धर्म पता नहीं लगता है, क्योंकि उसने कभी विचार किया ही नहीं, आत्मा का भरोसा किया ही नहीं।

पैसा पुण्यवाले को मिलता है और पुण्यपरिणाम मर्यादित है, परन्तु मेरा स्वरूप तो त्रिकाल अमर्यादित ध्रुव है — ऐसे ज्ञान से रहित जीव को पुण्य के संयोग भी छूट जाते है, धर्म का लाभ भी नहीं होता है।

कुछ लोगों को ऐसा लगता है कि किसी धर्मस्थान में पाँच लाख रुपये खर्च करो तो जब तक वह मकान (धर्मस्थान) रहता है, तब तक पुण्य चला आता है; परन्तु यह बात एकदम झूठ है। जितनी राग की मन्दता करे, उतना ही पुण्य है और पुण्य भी पाप की ही भाँति बन्ध का कारण है, पुण्य-पाप दोनों से भिन्न आत्मा की पिछान करना ही धर्म है।

कुछ लोग कहते हैं कि जो पञ्चकल्याणक करावे और जिनमन्दिर बनावे, उसे धर्म प्राप्त होकर आठ भव में मोक्ष प्राप्त होता है; परन्तु वह बात झूठी है। यदि उस प्रकार के कार्य में कषाय की मन्दता हो तो वह पुण्यभाव है, धर्म तो है ही नहीं; क्योंकि यदि धन से धर्म होता है तो निर्धन को रोना पड़े अर्थात् वह धर्म कर ही नहीं सके।

अज्ञानी जीव पैसे के दान में धर्म मानता है; परन्तु पैसा तो जड़तत्त्व है, उसका परिणमन जड़ के आधीन है, आत्मा उसका स्वामी नहीं है। निचलीदशा में अशुभ से बचने के लिए करुणा, कोमलता, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति इत्यादि शुभभाव आते हैं; परन्तु वे पुण्यबन्ध के कारण हैं।

आत्मा ज्ञान और आनन्द से भरा हुआ है। उसमें से ज्ञान और सुख प्रगट होता है; परन्तु जो उसका अनादर करता है, उसे आस्रव होता है। धर्म जैसी अपूर्व चीज सच्चे समागम के बिना नहीं मिलती है, धर्म समझने के लिए निवृत्ति लेना चाहिए, समय निकालना चाहिए। अहो, देखो तो सही! यह जीव पैसा कमाने के लिए कितना समय निकालता है और कितना इधर-उधर भटकता है; परन्तु धर्म समझने के लिए निवृत्ति नहीं लेता।

धर्म चिन्तामणि रत्न है। जिस रत्न को हाथ में लेकर जो चिन्तवन करे, वही मिल जावे; उसे चिन्तामणि रत्न कहते हैं। वह दैवाधिष्ठित है, पूर्वपुण्य के कारण मिलता है। वह धूल है, जड़ है और अपना आत्मा उससे भिन्न है; अतः वह रत्न मेरी चीज नहीं है, मेरी चीज तो ज्ञान-आनन्द आदि हैं, उनका चिंतवन करना ही धर्म है और वही चिन्तामणि रत्न है।

धर्म कहाँ होता है — सर्वप्रथम यह अवश्य जानना चाहिए। अज्ञानी जीव बाह्य में दया आदि करने में धर्म मान लेते हैं, परन्तु दया आदि से क्या तू तेरे शरीर के रोग को भी मिटा सकता है? यदि बेटा बीमार हो तो क्या दया आदि से उसे बचाया जा सकता है ? जब तेरी दया तेरे शरीर और बेटे आदि में ही काम नहीं आती है, तो तेरी दया से दूसरे जीव बच जायेंगे — ऐसा कैसे बन सकता है ?

विशेष क्या कहना ? जो जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित धर्म को प्राप्त कर दृढ़ श्रद्धावान हुए हैं, वे ही धन्य है। कहा भी है —

धन्या ये प्रतिबुद्धा धर्मे खलु जिनवरैः समुपदिष्टे।
ये प्रतिपन्ना धर्मं स्वभावनोपस्थितमनीषाः॥

जिनवरों द्वारा सम्यक् प्रकार से उपदेशित धर्म से जिन्होंने प्रतिबोध प्राप्त किया है, वे वास्तव में धन्य हैं और जिन्होंने स्वभावना में अपनी बुद्धि लगाकर धर्म प्राप्त किया है, वे धन्य हैं।

विशेष क्या कहें ? जिसे जिनेश्वर भगवान महावीर कह गये और वर्तमान में सीमन्धर भगवान कह रहे हैं, वही धर्म है। वे पहले संसारी थे, परन्तु उन्होंने अपनी अज्ञान और विकारीदशा का नाश करके सर्वज्ञ वीतरागीदशा को प्राप्त किया।

पद्मनन्दि आचार्य ने पद्मनन्दि पञ्चविन्शति नामक ग्रन्थ में दृष्टान्त दिया है कि जिस प्रकार कोई अन्धा आदमी ऐसा कहे कि मैंने सौ बगुलों को आकाश में उड़ते हुए देखा है तो वह झूठा है, उसी प्रकार अज्ञानी जीव शुभराग से धर्म होता है — ऐसा कहते हैं, किन्तु उनका यह कथन मिथ्या है।

श्रीमद् राजचन्द्र ने पद्मनन्दि पञ्चविन्शति को वनशास्त्र कहा है, इन्द्रियनिग्रहपूर्वक मनन करनेयोग्य कहा है। जिनके असंख्यातप्रदेशी आत्मा में केवलज्ञान खिला हुआ है, उन भगवान ने ऐसा कहा है कि जो ऐसे धर्म की प्रतीति करके सम्यग्दृष्टि हुए हैं, वे धन्य हैं।

अज्ञानीजन स्वयं को पैसे से राग होने के कारण पैसेवालों के गाने गाते हैं और पैसेवाला समझता है कि मेरे गाने गाये जा रहे हैं; परन्तु पैसे में क्या रखा है ? जिसे पैसे का राग नहीं होता, वह पैसेवाले के गाने नहीं गाता है। जो जीव वीतरागी धर्म

प्राप्त करके दृढ़बुद्धि के धारक सम्यग्दृष्टि होते हैं, वे धन्य हैं। जिनके अनन्त जन्म-मरण का अन्त आया, वे ही धन्य हैं।

इस शरीर में पाँच-पच्चीस वर्ष के लिए रोग आ जावे — आज तो इतना भी पसन्द नहीं है; परन्तु ऐसी ही भयङ्कर प्रतिकूलता वाले अनन्तभव धारण करके अनेकों शरीर धारण करने में अज्ञानी की रुचि है। प्रतिकूलता तो नहीं चाहिए, पर प्रतिकूलता टालने का उपाय नहीं करता तो जन्म-मरण का अन्त कैसे आयेगा ?

अहो! जिसने जिनवरकथित आत्मा के धर्म को जाना है, रुचिपूर्वक अन्तर में अवधारण किया है, वे धन्य हैं, उन सबका हम अभिनन्दन करते हैं। अज्ञानी नये वर्ष को मुबारक कहते हैं; परन्तु उन्हें अपनी स्वयं की ही जानकारी नहीं है तो मुबारक कैसे हो ? जो आत्मा को जानता है, मुबारक तो सचमुच उसे ही होती है।

जो पुण्य में-यशकीर्ति आदि में तत्पर हैं, वे धन्य नहीं हैं। जो आत्मज्ञान में तत्पर हैं तथा जिन्होंने मैं त्रिकाल रहनेवाला हूँ ज्ञान और आनन्द मेरा स्वरूप है — ऐसी अन्तर्बुद्धि की है, वे ही धन्य हैं।

अज्ञानी शालिभद्र की ऋद्धि तथा वैभवादि चाहता है, परन्तु भाई! वे सब तुझे शरणभूत नहीं हैं, सर्वज्ञभगवान द्वारा कथित वस्तुतत्त्व अपूर्व अचिन्त्य है, उसकी महिमा कर! उसी की आराधना कर!! वही तुझे शरणरूप है, उसके बिना तेरा हाथ पकड़नेवाला कोई नहीं है। निर्विकार आत्मतत्त्व की पहिचान करना ही धर्म है और वही शरणभूत है — ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं।

कोई **कहे** कि आत्मज्ञान के अभाव में दुख तो दिखाई देता नहीं है ?

समाधान — अज्ञानी को मूढ़ता और अज्ञानता का दुःख नहीं लगता तो क्या वह दुःख नहीं है ? अवश्य है, परन्तु अज्ञानी को यह बात समझ में ही नहीं आती। व्यापारादि करने के परिणाम तथा दया-दानादि के परिणाम भी दुःखदायी हैं। यदि अज्ञानी को दुःखदायी न लगें तो क्या वे परिणाम सुखदायी हो जावेंगे ? नहीं। जितनी भी वृत्तियाँ उठती हैं, वे सब दुःखदायी हैं। अज्ञानी दुःख के ढेर पर चलता जाता है; तथापि उसे दुःख नहीं लगता, परन्तु क्या इससे दुःख, सुख हो जावेगा? नहीं भाई! शुभ-अशुभ दोनों परिणाम दुःखदायक ही हैं।

दुनिया किसी को धन्य कह दे, इसलिए उसकी कोई कीमत नहीं है; अपितु आत्मा रागरहित शुद्ध है — ऐसी प्रतीति करे, वह धन्य है, वही सुखी है। इस प्रकार विचार करते हुए अपने शुद्धस्वरूप का ज्ञान कर लेना धर्म है और वही जीव धन्य है। धर्मी जीव ऐसा विचार करते हैं — यही धर्मानुप्रेक्षा है।

यह संवरतत्त्व का अधिकार है। ज्ञानान्दस्वरूपी आत्मा की अरुचि, आस्रव है। आस्रवादि मलिन परिणामों से रहित आत्मस्वरूप की श्रद्धा करने पर प्रगट होनेवाली आंशिक वीतरागता ही संवर है। यहाँ इस संवर के भेदों की बात चल रही है। अन्तर्मुख दृष्टि करने पर ज्ञान, आत्मा में ठहरे और राग की उत्पत्ति न होकर स्वभाव की उत्पत्ति हो — यही संवर है और धर्म है। व्रत-समिति आदि भेदों का वर्णन तो पहले ही हो चुका, अब तो यहाँ अनुप्रेक्षा का वर्णन चल रहा है।

सच्चिदानन्द आत्मा ध्रुव है — ऐसी दृष्टि में राग अनित्य है — ऐसा विचार करना, **अध्रुवभावना** है।

ज्ञान और आनन्द शरणभूत हैं, पुण्य-पाप शरणभूत नहीं हैं — ऐसा बार-बार विचार करना, **अशरणभावना** है।

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव और भावरूप संसार में जीव भटकता है। भटकने की दशा पर्याय में होती है — ऐसा विचार करते-करते रागभाव का टूट जाना, **संसारभावना** है।

'मैं अकेला हूँ, विकार का और मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है' — ऐसी दृष्टिपूर्वक अन्तर में स्थिर हो जाना, **एकत्वभावना** है।

शरीर, कर्म वगैरह मुझसे जुदा हैं-अन्य हैं, राग व पुण्यादि भी अन्य हैं, मेरी चीज नहीं है — ऐसा विचार करना, **अन्यत्वभावना** है।

मैं शुचि हूँ और पुण्य-पाप शरीरादि अपवित्र हैं — ऐसी स्वभावसन्मुख भावना करना, **अशुचिभावना** है।

पुण्य-पाप, आस्रवभाव हैं और आत्मा आस्रवों से रहित है — ऐसा विचार करने पर निर्मलता का प्रगट होना, **आस्रवभावना** है।

शुभ और अशुभभाव दोनों हिंसा हैं और मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ — इस प्रकार के ज्ञान द्वारा राग की उत्पत्ति न होना, **संवरभावना** है।

आत्मा के आश्रय से शुद्धि की वृद्धि निर्जरा है — ऐसा विचारना, **निर्जराभावना** है।

स्वभावसन्मुख रहकर लोक के स्वरूप का विचार करना ही **लोकभावना** है।

आत्मा का सम्यग्ज्ञान ही दुर्लभ है, बाकी तो सब सुलभ है। एकेन्द्रिय से त्रसपना इत्यादि उत्तरोत्तर दुर्लभ बताये गये हैं, पश्चात् आत्मस्वभाव को समझने में निमित्त को दुर्लभ बताया है, पश्चात् रागरहित आत्मा का ज्ञान करना अर्थात् सम्यक्-बोधि की प्राप्ति होना दुर्लभ है — ऐसा विचार करना, **बोधिदुर्लभभावना** है।

अपने स्वरूप को समझे बिना अधर्म के कारण जीव भटकता है, अपने स्वरूप को समझना ही धर्म है — ऐसे धर्म का विचार करना, **धर्मभावना** है।

रागादि की वृत्ति का लक्ष्य छोड़कर रागरहित आत्मा में एकाग्र होना, संवर है। इसमें सामायिक वगैरह सब आ जाते हैं। अन्तर-अवलम्बन से अशुद्धता का रुकना और शुद्धता का होना सो संवर है।

ये बारह भावनाएँ संवर के कारणरूप हैं। इस प्रकार अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्मतत्त्व के चिन्तनरूप संज्ञावाली आस्रवरहित शुद्धात्मतत्त्व में परिणतिरूप संवर के कारणभूत बारह अनुप्रेक्षाएँ समाप्त हुईं।

अब, संवर का छठवाँ भेद परीषहजय कहते हैं —

(१) क्षुधा-परीषहजय — शरीर जड़ है, क्षुधा जड़ की पर्याय है और मैं उसका जाननेवाला हूँ। क्षुधा जड़ को होती है; जीव को नहीं। क्षुधा लगते समय जो द्वेषभाव होता है, वह पापभाव है। शुद्ध चिदानन्द के अवलम्बन से द्वेषभाव नहीं होने देना और स्वभाव की एकाग्रता करना सो क्षुधा-परीषहजय है।

(२) तृषा-परीषहजय — तृषा जड़ की पर्याय है; मेरी नहीं। मैं ज्ञानानन्द आत्मा हूँ — ऐसे भानपूर्वक तृषाकाल में द्वेष की उत्पत्ति न होने देना ही तृषा-परीषहजय है।

प्रश्न — स्तम्भ को तो तृषा लगती नहीं है, आत्मा को ही तृषा लगती दीखती है?

उत्तर — आत्मा को तृषा नहीं लगती, शरीर को लगती है; उसे आत्मा जानता है। तृषाकाल में तृषा का दुःख तो पाप है, शुभराग द्वारा उसका समाधान करना पुण्य है

और स्वभाव के अवलम्बन से तृषा की ओर का विकल्प भी न होने देना, तृषा-परीषहजय है

(३) शीत-परीषहजय — शीत जड़ की अवस्था है; वह आत्मा को नहीं लगती। एक पण्डितजी कहते थे कि प्रतिकूलता का आना परीषह है और पश्चात् उस परीषह को टालना सो परीषहजय है; परन्तु वह बात झूठी है। स्वभाव के अवलम्बन से प्रतिकूलता के निमित्त की तरफ झुकाव नहीं होने देना और शुद्धता प्रगटाना ही परीषहजय है। जब विकल्प हो ही गया तो टाले कैसे ? अत: आत्मज्ञान होने के उपरान्त वृत्ति को स्वभावसन्मुख स्थिर रखना और विकल्प नहीं होने देना, सो परीषहजय है। प्रतिकूलता के निमित्त दु:ख उत्पन्न नहीं करते हैं, अपने कारण से ही दुख उत्पन्न होता है; इसलिए जिस जीव को 'शान्ति मेरा स्वरूप है' — ऐसा ज्ञान हुआ हो और 'सिद्ध की जाति ही मेरी जाति है' — ऐसी अन्तर्मुख दृष्टि द्वारा स्थिरता हुई हो, वही परीषहजय कर सकता है, शान्ति प्राप्त कर सकता है।

(४) उष्ण-परीषहजय — अनुकूलता के रागवाला जीव ऐसा मानता है कि गर्मी बहुत लगती है, परन्तु अरे भाई! प्रत्येक जीव ने नरक की असह्य गर्मी सहन की है। यदि तुझसे थोड़ी-सी प्रतिकूलता भी सहन नहीं होती, तो फिर जब बहुत सारी प्रतिकूलता आवेगी, तब क्या करेगा ? मुनिराज गर्मी के अवसर में आत्मा के भानपूर्वक गर्मी के प्रति द्वेष न करके, अन्तर्स्थिरता करते हैं — यही उष्ण-परीषहजय है।

(५) दंशमशक-परीषहजय — सर्प, माँकड़, मच्छर वगैरह काटते हैं; परन्तु वे आत्मा को तो काटते ही नहीं, शरीर को भी छूते नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता है। मच्छर शरीर को काटता है — यह निमित्त का कथन है। मच्छर के काटनेरूप निमित्त के समय चैतन्यस्वभाव के सन्मुख होना दंशमशक-परिषहजय है। आत्मा का निर्णय तो कर रखा है; परन्तु पश्चात् ऐसे अवसर में भी शान्ति रखना और स्वभाव में स्थिरता करना, सो परीषहजय है।

(६) नग्नता-परीषहजय — मुनि नग्न होते हैं। आत्मा के भानपूर्वक वीतरागदशा होने पर शरीर की नग्नदशा हो जाती है। २८ मूलगुणों में भी नग्नता नाम का एक मूलगुण है; परन्तु यहाँ उसकी बात नहीं है, यहाँ तो नग्नता-परीषहजय की बात है। ज्ञानानन्दस्वभावी

आत्मा का ज्ञान रखनेवाले मुनि को छठवें गुणस्थान से नग्नदशा होती है। मैं नग्न होऊँ — ऐसा विकल्प पुण्य है; नग्नदशा के समय खेद न होने देना और स्वभाव की एकाग्रता करके तत्सम्बन्धी विकल्प भी न होने देना, नग्नता-परीषहजय है।

(७) अरति-परीषहजय — अरति अर्थात् दु:ख। प्रतिकूल संयोगों में या अकेला होने पर आत्मभान के बल से खेद उत्पन्न न होने देना, अरति-परीषहजय है। आत्मा अनादिकाल से अकेला ही है। शरीरादि परद्रव्य हैं। राग भी एक जैसा नहीं रहता; कभी किसी जाति का, कभी किसी जाति का — इस प्रकार निरन्तर बदलता रहता है और जब राग की ही यह स्थिति है, तो परपदार्थों का क्या कहना ? इस प्रकार स्वभाव का भान करके खेदखिन्न नहीं होना, अरति-परीषहजय है।

(८) स्त्री परीषहजय — मुनिपना पुरुष को ही होता है, स्त्री को नहीं; इसलिए मुनिराज को स्त्री-परीषह कहा है। कोई अप्सरा या अन्य स्त्री, मुनि को डिगाने के लिए हाव-भाव करे तो भी आत्मा के आनन्द में रहते हुए स्त्री के प्रति रागभाव न होने देना, स्त्री-परीषहजय है।

(९) चर्या-परीषहजय — मुनिराज को विहार करने से थकान होने पर भी वे उस तरफ लक्ष्य नहीं करते; क्योकि वे जानते हैं कि थकान शरीर को लगती है, मुझे नहीं तथा ऐसा भान होने से उन्हें थकान का दुख नहीं लगता, शान्ति रहती है — यही चर्या या गमन-परीषहजय है।

(१०) निषद्या-परीषहजय — मुनिराज एक आसन से बैठते हैं। खड़े-खड़े पाणिपात्र में आहार लेते हैं। एक आसन से बैठने पर भी वे दु:खी नहीं होते; क्योंकि अन्तर में आत्मा को स्थिर करते हैं, अपने में शुद्धता बढ़ाते हैं — यह निषद्या-परीषहजय है।

(११) शय्या-परीषहजय — कङ्करवाले स्थान में एक करवट से निद्रा लेना तथा अनेक उपसर्ग आने पर भी शरीर को चलायमान न करना और अन्तर में स्थिरता बढ़ाना, शय्या-परीषहजय है।

(१२) आक्रोश-परीषहजय — कोई व्यक्ति मुनि का अनादर करे, काँटे जैसे चुभनेवाले निन्दा के वचन कहे, तो मुनिराज विचार करते हैं कि मैं ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा हूँ, गाली आदि कटुवचन मुझे छूते भी नहीं हैं, हम तो मात्र जाननेवाले हैं। प्रशंसा

या निन्दा करनेवाला अपने भावों का कर्ता है, वह हमें गाली नहीं देता — इस प्रकार आत्मभानपूर्वक निन्दा के वचनों के प्रति द्वेष न होने देना, आक्रोश-परीषहजय है।

(१३) वध-परीषहजय — कोई मुनिराज के शरीर को जलाये अथवा काटे, उस समय भी वे आत्मा को शरीर से भिन्न जानते हैं। गजकुमार मुनिराज के मस्तक पर अग्नि जलाई गयी, तो भी उन्हें आत्मा का भान और वीतरागता वर्तती थी। कोई वध करे तो भी उसके प्रति द्वेष नहीं होता; बल्कि आत्मा में स्थिरता से शुद्धि की वृद्धि होती जाती है — यही वध-परीषहजय है।

(१४) याचना-परीषहजय — मुनिराज आहार की याचना नहीं करते, मौन रहकर भिक्षा लेने जाते हैं। उनके रोम-रोम में वैराग्य होता है। निर्दोष आहार सहज मिले तो लेते हैं, सामनेवाले से याचना नहीं करते। क्षुधा लगने पर जङ्गल में से गाँव में आकर जैसा निर्दोष आहार मिलता है, उसे लेकर चले जाते हैं। बारह माह का उपवास हो तो भी निर्दोष आहार मिलने पर ही लेते हैं; परन्तु याचना नहीं करते — यही याचना-परीषहजय है।

(१५) अलाभ-परीषहजय — मुनिराज को आहार-पानी का लाभ न मिले, शिष्यादि का लाभ न मिले, तो उसका खेद नहीं करते; अन्तर में वीतरागता बढ़ाते हैं — यही अलाभ-परिषहजय है।

(१६) रोग-परीषहजय — मुनिराज रोग के परिषह को जीतते हैं। उन्हें शरीर के रोग का खेद नहीं होता। रोग तो शरीर की पर्याय है। दस्त लगना, उल्टी होना — यह सब देह की स्थिति है। आत्मा में रोग नहीं होता। मुनिराज ने आत्मभ्रान्तिरूपी रोग को दूर कर दिया है। उन्हें आत्मा का भान और वीतरागता वर्तती है। रोग के प्रति द्वेष न होने देना तथा स्वभाव के बल से शुद्धि की वृद्धि होना, रोग-परीषहजय है।

(१७) तृणस्पर्श-परीषहजय — मुनिराज को जङ्गल में विहार करते समय कङ्कड़, तृण, लकड़ी आदि गड़ती है; परन्तु वे उससे दुखी नहीं होते। वे नङ्गे पैर जङ्गल में विहार करते हैं। गोबर, कङ्कर, काँटे आदि गड़ते हैं, तो भी वे उसे सहन करते हैं अर्थात् उनके निमित्त से द्वेष नहीं होने देते, वीतरागता बढ़ाते हैं — यही तृणस्पर्श-परीषहजय है।

(१८) मल-परीषहजय — दीक्षा लेने के बाद मुनिराज स्नान नहीं करते। जेठ माह की कड़ी धूप में पसीने से शरीर पर मैल जम गया हो, तो भी मुनिराज आनन्द में मस्त रहते हैं। वे समझते हैं कि शरीर मल से भरा हुआ है, हम तो निर्मल आत्मा हैं। मुनिराज शरीर के मैल से दुखी नहीं होते। कोई राजकुमार दिन में तीन बार स्नान करता हो, परन्तु वह मुनि होने के बाद स्नान नहीं करता; आनन्दकन्द आत्मा में झूलता है। निर्मल स्वभाव का प्रेम होने पर मल के प्रति द्वेष नहीं होना, मल-परीषहजय है।

(१९) सत्कारपुरस्कार-परीषहजय — कोई व्यक्ति मुनि को आगे बैठने के लिए नहीं कहे अथवा आदर नहीं करे तो भी मुनिराज खेद नहीं करते हैं और आत्मा के ज्ञानानन्दस्वरूप में रमते हैं। कोई मुनि बड़े ज्ञानी-ध्यानी हों, द्वादशाङ्ग के ज्ञाता हों; फिर भी यदि कोई उन्हें अग्रगण्य न माने तो वे दु:खी नहीं होते हैं और ऐसा समझते हैं कि चिदानन्द आत्मा में तो हम अग्रसर हैं ही। कोई सत्कार न करे और ऊँचे आसन पर न बिठावे तो भी मुनि को 'मैं तो मोक्ष की ओर अग्रसरपने जा ही रहा हूँ' — ऐसे भानपूर्वक स्थिरता होने से खेद नहीं होता — यही सत्कारपुरस्कार-परीषहजय है।

(२०) प्रज्ञा-परीषहजय — बहुत ज्ञान होने पर भी मुनि गर्व नहीं करते हैं और सोचते हैं कि कहाँ तो धर्मवीर चार ज्ञान के धारी गणधरदेव और कहाँ मैं ? अपना क्षयोपशम बहुत हो तो भी केवलज्ञान के सामने मेरे ज्ञान की क्या गिनती है ? ऐसा समझकर गर्व नहीं करते और शान्ति रखते हैं — यही प्रज्ञा-परीषहजय है।

(२१) अज्ञान-परीषहजय — यहाँ अज्ञान अर्थात् विपरीत ज्ञान नहीं, अपितु अल्प ज्ञान समझना। किसी मुनि को विशेष क्षयोपशम न हो तो भी वे शान्ति रखते हैं, इतना चारित्र पालने पर भी मुझे अधिक ज्ञान क्यों नहीं होता है ? — ऐसा विचार नहीं करते हैं। उन्हें प्रयोजनभूत ज्ञान तो होता ही है। शिवभूति मुनि को 'माष-तुष' शब्द भी याद नहीं रहे; परन्तु 'चिदानन्द आत्मा विकार से रहित है' — ऐसा जानकर स्थिरता की और केवलज्ञान पा लिया। इस प्रकार ज्ञान की हीनता का खेद नहीं होने देना और वीतरागता बढ़ाना ही अज्ञान-परीषहजय है।

(२२) अदर्शन-परीषहजय — प्रतिकूलता के कारण वे मुनिराज अपनी श्रद्धा में परिवर्तन नहीं होने देते हैं। सब कुछ है, इहलोक परलोक है, जीव है इत्यादि ज्यों का

त्यों श्रद्धान करते हैं; अश्रद्धा का भाव नहीं होने देते हैं तथा अन्तर में वीतरागता बढ़ाते हैं — यही अदर्शन-परीषहजय है।

इस प्रकार बाईस प्रकार के परीषहजय का स्वरूप जानना। ये संवर के भेद हैं।

उन क्षुधादि वेदनाओं का तीव्र उदय होने पर भी सुख-दुःख, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, निन्दा-प्रशंसा आदि में समतारूप परमसामायिक, जो कि नये शुभाशुभ कर्मों का संवर करने में और पूर्व शुभाशुभ कर्मों की निर्जरा करने में समर्थ है; उसके द्वारा निज परमात्मभावना से उत्पन्न निर्विकार, नित्यानन्दलक्षण, सुखामृत के अनुभव में से चलित न होना, परीषहजय है।

यहाँ संवर के भेद परीषहजय का वर्णन चल रहा है। संवर आत्मा का धर्म है। परीषहजय में समता है। जब तक यह जीव पुण्य भला और पाप बुरा — ऐसा मानता है, तब तक धर्म नहीं होता है। शरीर की क्रिया से धर्म होता है अथवा इन्द्रियाँ ठीक हों तो ही धर्म होता है — ऐसी मान्यता विषमभाव है। इसके रहते समभावरूप सामायिक, प्रतिक्रमण, संवर अथवा सच्ची तपश्चर्या नहीं होती है। शरीर अनुकूल हो तो धर्म होता है — ऐसा माननेवाले को पुण्य की रुचि है और वह मिथ्यात्व की भावना है; अतः ऐसे जीव को शुद्धभाव की सच्ची जानकारी नहीं होती है।

अनुकूलता-प्रतिकूलता में इष्ट-अनिष्टपना नहीं मानना तथा 'शुभाशुभ, दोनों भाव विकार हैं और मैं उनका जाननेवाला हूँ' — ऐसा जानना ही सामायिक है। जो अनुकूलता में राग और प्रतिकूलता में द्वेष नहीं करता है; अपितु समताभाव धारण किये रहता है; उसे ही सामायिक होती है।

यदि देह का जीवन सौ-पचास वर्ष का हो तो हर्ष नहीं और अभी मरणकाल हो तो द्वेष नहीं। देह तो संयोगी चीज है, वह मेरा स्वरूप नहीं है। मेरा स्वरूप तो ज्ञानानन्द है — ऐसे भानपूर्वक समताभाव रखना ही सामायिक है। दुनिया में यश हो अथवा अपयश हो; परन्तु वह मेरी चीज नहीं है, जड़ की दशा है, मैं तो उसका जाननेवाला हूँ — ऐसा समझ कर अन्तर में एकाग्र होना ही सामायिक है।

जिसे अभी सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की ही खबर नहीं है, उसे सामायिक नहीं होती

है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की पहिचान करने के बाद पुण्य-पाप के भाव में समान बुद्धि रखकर ज्ञान में एकाग्र होने को सामायिक कहते हैं।

शुद्धस्वभाव में एकाग्र होना लाभ है और शुभाशुभभाव का ध्यान करना अलाभ है — ऐसा माने बिना अन्तर में प्रवेश ही नहीं किया जा सकता है। आत्मा ज्ञानानन्दस्वभावी है — ऐसी दृष्टि होने के पश्चात् ही समताभाव आता है, जो कि शुभाशुभ कर्मों को रोकता है तथा पुराने कर्मों की निर्जरा करता है।

मैं पर-पदार्थों का ज्ञाता हूँ और परपदार्थ ज्ञेय हैं। कोई भी हितकारी या अहितकारी नहीं है। साँप का काटना अनिष्ट नहीं है और चन्दन का लेप करना इष्ट नहीं है — इस प्रकार समताभाव रखना ही सामायिक है।

निज परमात्मा के श्रद्धान, ज्ञान व एकाग्रता से उत्पन्न होनेवाला विकाररहित नित्यानन्दस्वरूपी सुधामृत के ज्ञान से चलायमान नहीं होना ही परीषहजय है।

भूख लगती रहने पर भोजन नहीं करना परीषहजय नहीं है, अपितु नित्यानन्दस्वभाव में स्थित रहकर निराकुल आनन्द से नहीं खिसकना और वीतरागदशा बनी रहना ही परीषहजय है।

यहाँ मुख्यपने मुनि की बात है। इसमे गर्भितपने चौथे-पाँचवें गुणस्थानवर्ती की भी बात आ जाती है।

इस प्रकार व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा एवं परीषहजय का वर्णन हो चुका।

अब, चारित्र का वर्णन करते हैं —

''शुद्धोपयोगलक्षण निश्चयरत्नत्रयमयी परिणतिरूप निजशुद्धात्मस्वरूप में जो चरना-स्थिति करना, वह चारित्र है।''

'यह तारतम्य भेद से पाँच प्रकार का है। वह इस प्रकार — सर्वजीव केवलज्ञानमय हैं — ऐसी भावना से उत्पन्न समतारूप परिणाम सामायिक है अथवा परमस्वास्थ्य के बल से युगपत् समस्त शुभाशुभ सङ्कल्प-विकल्प के त्यागरूपी समाधि जिसका लक्षण है, वह सामायिक है अथवा निर्विकार स्वसम्वेदन के बल से राग-द्वेष के परिहाररूप सामायिक है अथवा निज शुद्धात्मा के अनुभव के बल

से आर्त और रौद्रध्यान के परित्यागरूप सामायिक है अथवा समस्त सुख-दुःखादि में मध्यस्थभावरूप सामायिक है।'

मौन रहे, सादा कपड़े पहने अथवा कम भोजन करे — इसे ही जगत चारित्र कहता है; परन्तु यह चारित्र नहीं है। आत्मवस्तु स्वभाव से परमानन्दमय है, इसका श्रद्धान, ज्ञान व रमणता शुद्धोपयोगस्वरूप निश्चयरत्नत्रय है, उसरूप परिणमित निज शुद्धात्मा के चरण को चारित्र कहते हैं। चारित्र तो संवर है; संवर, धर्म है और धर्म, मुक्ति का कारण है।

इस प्रकार चारित्र का सामान्य स्वरूप बताकर अब उसकी तारतम्यता के प्रकार बताते हैं। चारित्र के पाँच भेदों में से प्रथम सामायिक की बात करते हैं।

सामायिक का स्वरूप भी पाँच प्रकार से बताते हैं —

सभी आत्माएँ केवलज्ञान के कन्द हैं। संसारी, सिद्ध, निगोद, एकेन्द्रिय सभी ज्ञानमय हैं। संसारी जीव की वर्तमान पर्याय में विकार है; परन्तु धर्मी जीव ने अपने विकार को गौण करके अपनी त्रिकाल शक्ति को मुख्य किया है; अतः वह उस दृष्टि से ही सबको देखता है। दुश्मन आवे तो भी वह उसे केवलज्ञान का कन्द देखता है। जीव अपनी वर्तमानदशा में भूल कर रहा है — यह बात देखनेयोग्य नहीं है। धर्मी जीव तो एक समय के विकार से रहित त्रिकालीस्वभाव को देखता है; इसलिए वह पर-पदार्थों को भला-बुरा नहीं मानता है। यह जीव मुझे मारता है, इसलिए बुरा है और यह मुझसे बहुत राग करता है; इसलिए भला है — ऐसा नहीं मानता है। सभी जीव ज्ञानमय हैं और मैं स्वयं भी ज्ञानमय हूँ — ऐसा निर्णय सामायिक करने से पूर्व अवश्य ही होना चाहिए।

जो देव-शास्त्र-गुरु के राग से अथवा माला फेरने से धर्म मनवाते हैं, पुण्य से लाभ मनवाते हैं; वे सच्चे नहीं हैं — ऐसा कहनेवाले शास्त्र, शास्त्र ही नहीं हैं।

केवली भगवान ने अपने उपदेश में कहा है कि तुम ज्ञानमय हो तथा गुरुओं के उपदेश में भी ऐसा ही आता है। कोई ऐसा कहे कि तुम पर की दया पाल सकते हो अथवा शरीर की अवस्था के कर्ता हो तो उसने आत्मा को ज्ञानमय नहीं जाना है। जगत के पदार्थ दृश्य हैं और आत्मा दृष्टा है; परन्तु जो इससे विपरीत मनवाता है, वह गुरु नहीं है।

सभी आत्मा ज्ञानमय हैं, विकारमय नहीं हैं — ऐसा कहकर उनका स्वभाव बताया है। एक समय का संसार त्रिकाली में नहीं है। आत्मा तो मात्र ज्ञानमय चिदानन्द प्रज्ञा स्वभावी है। जिसे ऐसी समता आती है, उसे ही सामायिक होता है।

यहाँ सामायिक चारित्र की बात चल रही है। आत्मा ज्ञानमय है — ऐसी भावना करनेवाला केवलज्ञानी नहीं है; क्योंकि यदि राग बिल्कुल ही नहीं हो, तो भावना ही न हो; अतः पर्याय में राग-द्वेष हैं। 'सर्व जीव' — ऐसा कहा है अर्थात् सब मिलाकर एक जीव नहीं है; अपितु जीव अनन्त हैं, उनका प्रत्येक का स्वभाव ज्ञानमय है।

अहो ! मैं ज्ञानमय हूँ, विकार क्षणिक हैं, वह मेरा स्वरूप नहीं हैं। पुण्य हुआ तो भला, पाप हुआ तो बुरा अथवा कोई मदद करे तो ठीक इत्यादि प्रकार की बुद्धि में समता नहीं रहती। जिसे अपने में समताभाव प्रगट हुआ हो, वह सबको ज्ञानमय जानता है, उसे केवलज्ञान प्रगट होता है। ज्ञानमय कहो अर्थात् गुण-गुणी, एक ही है; परन्तु विकार और आत्मा एक नहीं है। गुणी और द्रव्य एक है अर्थात् ज्ञान से भरपूर द्रव्य स्वयं है — ऐसा ज्ञानी जानते हैं।

'मैं तो देह से भिन्न चैतन्यस्वभावी आत्मा हूँ। राग की वृत्ति उत्पन्न होती है; परन्तु वह मैं नहीं हूँ। दूसरे जीव भी ज्ञानमय ही हैं। उन्हें रागादि होते हैं; परन्तु वे भी वैसे रागादिरूप नहीं होते हैं अर्थात् स्वभावतः रागी नहीं होते। जिसे ऐसा निर्णय होता है, उसे ही सामायिक होती है।''

अभी तक राग में या पर्याय में अटकनेवाली पर्याय का, अब स्वभाव की तरफ ढलकर गुण-गुणी की एकता हो जाना ही सामायिक है। विकार होने पर भी मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ — ऐसी प्रतीति सामायिक है। अभव्य जीव भी द्रव्यदृष्टि से केवलज्ञान का कन्द है, उसके भी स्वभाव में विकार नहीं है — ऐसा समझनेवाले जीव को व्यापारादि बाह्यक्रियाओं में रुचि नहीं रहती है। जगत की व्यापारादि क्रियाओं के समय भी जीव ज्ञान कर सकता है।

जिसे जिसकी मिठास होती है, वह उसी की भावना करता है।

राग-द्वेष चिदानन्दस्वभाव में प्रवेश नहीं करते हैं — ऐसा ज्ञान किये बिना समताभाव उत्पन्न नहीं होता है। धर्मी जीव पुण्य-पाप और उनके फल को अपनी चीज नहीं मानता है। मैं ज्ञानमय हूँ और अन्य सभी आत्माएँ भी ऐसे ही हैं — ऐसा मानता है।

जो परजीव की दया में धर्म बतावे, वह मूढ़ है; क्योंकि दया राग है और राग से धर्म मानना मिथ्या है। जो व्यवहारनय को धर्म प्ररूपित करें, वे सच्चे देव नहीं हैं। जब तक पूर्णता नहीं होती है, तब तक यद्यपि रागादि होते हैं; तथापि आत्मा उनमय होता नहीं है, आत्मा को तो ज्ञानस्वभाव के साथ ही एकता है; रागादि के साथ नहीं।

देखो! यह सामायिक की बात चल रही है। लोग दो घड़ी बैठकर पाठादि बोल लेने को सामायिक मानते हैं, परन्तु वह सच्ची सामायिक नहीं है; क्योंकि जिसने आत्मा को ज्ञानमय स्वीकृत किया है, वह जड़ की क्रिया का कर्ता नहीं बनता है।

प्रथम तो सर्वज्ञ कैसे होते हैं, यह समझना चाहिए। सर्वज्ञदेव कभी भी ऐसा नहीं कहते हैं कि आत्मा रागमय है।

जीव अनन्त हैं और वे रागमय नहीं हैं। एक समयवर्ती संसार है; परन्तु स्वभाव में संसार नहीं है — इस प्रकार द्रव्य और पर्याय का सच्चा ज्ञान करने पर जो समताभाव होता है, वही संवर है।

प्रश्न — ऐसी सामायिक दिखाई तो देती ही नहीं ?

उत्तर — किसे दिखे ? आत्मा को या आँख को ? दिखता किसे है ? दिखाई ज्ञान को देता है और वह ज्ञान, आत्मा से अभिन्न है; क्योंकि यदि वह ज्ञान आत्मा से भिन्न हो तो आत्मा जड़ हो जावे। गुण और गुणी सर्वथा भिन्न नहीं हैं। जीव और ज्ञान नामादि लक्षण से भिन्न-भिन्न होने पर भी प्रदेश अपेक्षा से अभेद हैं। ज्ञानगुण की पर्याय पर में और राग में अटके बिना स्वभावसन्मुख हो जावे और गुण-गुणी की एकता हो जावे — वही सामयिक है।

द्वेष के होने पर भी आत्मा द्वेषमय नहीं होता है। आत्मा तो मात्र ज्ञायक है। 'आत्मा तो जड़ एवं दया-दानादि के राग का मात्र जाननेवाला है' — ऐसा जाननेवाले जीव की, पर्याय में रुचि छूटकर स्वभाव की रुचि होने पर जो समताभाव का अंश प्रगट होता है, वही सामायिक है।

''मेरा स्वरूप परमस्वस्थ है, पुण्य-पाप तो रोग हैं, शरीर का रोग मुझमें नहीं होता, कर्म का रोग भी मुझमें नहीं है। अरे! इतना ही नहीं, परन्तु विकार का रोग भी मुझमें

नहीं हैं; मैं तो परमस्वस्थ हूँ, परमनिरोगी हूँ — इस प्रकार अपने निरोगी आत्मा के बल से शुभाशुभभावों की दृष्टि छोड़कर आत्मा में स्थिरता करना ही सामायिक है।

देह की क्रिया या रागादि का विकार का होना सामायिक नहीं है। जिस भाव से आहारकशरीर मिलता है, तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध होता है; वह भाव भी सामायिक नहीं है।

यहाँ पर आचार्यदेव ने ''सम्पूर्ण'' शब्द का प्रयोग किया है। उसका अर्थ यह है कि कोई भी विकल्प सामायिक नहीं है। मैं निर्विकल्प हूँ — ऐसा राग भी सामायिक नहीं है।

यह संवरतत्त्व की गाथा चल रही है। यहाँ इसमें चारित्र के प्रकरण में सामायिक की बात चल रही है। समस्त लोक कहता है कि सामायिक करो, परन्तु जिसे कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरु आदि की श्रद्धा का ही त्याग नहीं है, उसे सामायिक नहीं होती। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा हो जाने पर भी आत्मा के भान बिना सामायिक नहीं होती है।

जिसे गृहीत मिथ्यात्व है, उसे तो सामायिक हो ही नहीं सकती है।

इस प्रकार सामायिक के दो बोलों का वर्णन हो चुका, अब तीसरा बोल कहते हैं। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की प्रतीति तो सर्वप्रथम होना ही चाहिए। 'जो देवादिक के प्रति शुभराग है, वह भी आस्रव है' — ऐसा जानकर उससे भिन्न शुद्ध आत्मा कारणपरमात्मा की अन्तर्प्रतीतिपूर्वक आनन्दभाव के बल द्वारा विकाररहित स्थिरता का होना ही सामायिक है।

ज्ञानी को ऐसी प्रतीति होती है कि पूर्ण दशा को प्राप्त देव हैं, पूर्ण दशा को साधने-वाले गुरु हैं, उनके प्रति उठनेवाला विकल्प राग है; अतः वह आत्मज्ञान के बल से उस राग का नाश करता है। स्वभाव की एकाग्रता और राग-द्वेष की अनुत्पत्ति ही सामायिक है।

व्यवहारशास्त्र में तो अनेक प्रकार की बातें आती हैं। दया के प्रकरण में भी दया की और ब्रह्मचर्य के प्रकरण में भी ब्रह्मचर्य की बात आती है। जो मन्दिर बनाता है, वह निहाल हो जाता है; सत्य बोलने के समान कोई धर्म नहीं है; मुनि को देखकर चलना चाहिए; निर्दोष आहार-जल लेना चाहिए; उपवास से कर्म की निर्जरा होती है; प्रतिक्रमण

के समान अन्य कोई धर्म नहीं है — इस प्रकार हर एक व्यवहारधर्म को मुख्य करके शास्त्रों में इनका खूब वर्णन किया जाता है; अत: 'इनमें से अब हम क्या करें' — ऐसा सोचकर लोग असमंजस में रहते हैं।

भाई! आत्मा के भान बिना ये सारे शुभभाव व्यर्थ हैं। रागरहित आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान करनेमात्र से ही इन सबका काम हो जावेगा, असमंजस में मत पड़।

कुदेवादि को माननेवालों को आत्मतत्त्व प्राप्त हो जाए— ऐसा कभी नहीं हो सकता है।

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु तो ऐसा कहते हैं कि शरीर-मन-वाणी से आत्मा की लाभ-हानि नहीं है। आत्मा की पर्याय में संसार है; तथापि स्वभाव में संसार नहीं है, वस्तुस्वभाव में औदयिकभाव, अस्थिरभाव और असिद्धभाव नहीं है — ऐसी प्रतीतिपूर्वक राग-द्वेष का नाश होकर वीतरागता उत्पन्न होना ही सामायिक चारित्र है।

जो ऐसा मानता है कि राग से कल्याण होता है अथवा पर के आश्रय से स्वभाव व्यक्त हो जाता है, उसको कभी भी सामायिक नहीं हो सकता है।

तीसरे बोल में आत्मज्ञान के बल की चर्चा की थी, अब चौथा बोल कहते हैं।

आत्मज्ञान के बल बिना अनुभव नहीं होता है। आत्मा आनन्दकन्द है, विकाररहित है; सर्व संकल्प-विकल्परूप उपाधियों से रहित है — ऐसे अनुभव के बल से जो शुक्लध्यान होता है, उसे सामायिक कहा जाता है। इससे आर्तध्यान, रौद्रध्यान का अभाव हो जाता है।

जो सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का आदर करते हुए किसी बात से डरता है, उसे निडर आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती है। जो अपना मुनि नाम धराकर वस्त्र रखता है और लक्ष्मी का उपयोग करता, कराता या उसकी अनुमोदना करता है, वह निगोद में जाता है।

अहो! मार्ग का यथार्थ स्वरूप ऐसा ही है। केवलज्ञान प्राप्त करने की तैयारी करनेवाले मुनिराज के स्वरूप को जो विपरीत प्ररूपित करते हैं, वे निगोद में जाते हैं।

निर्ग्रन्थ मुनिराज का यदि विकल्प आता है तो २८ मूलगुणों का ही आता है; उन्हें अन्य कोई विकल्प नहीं आता है। उनके तो रोम-रोम में वैराग्य होता है।

यहाँ पर 'मुनि को शुद्ध आत्मा के बल द्वारा सामायिक प्रकट होता है' — ऐसा कहा

है। शरीर, निमित्त, संहनन या पूर्व पर्याय के बल द्वारा सामायिक प्रगट होता है — ऐसा नहीं कहा है। शुद्ध आत्मा के अनुभव के बल से ही आर्तध्यान व रौद्रध्यान का अभाव होता है और शुक्लध्यानरूपी सामायिक प्रगट होती है।

अब, पाँचवाँ बोल कहते हैं। समस्त सुख और दुःख के संयोग में मध्यस्थ रहना ही सामायिक है। प्रतिकूल संयोग हो अथवा अनुकूल, वे सब मेरे ज्ञान के ज्ञेय हैं, मैं अपने ज्ञान से समताभाव रख सकता हूँ — ऐसे भानपूर्वक आत्मा के आनन्द में लीन होने पर सुख-दुःख की कल्पना का न होना, संयोग के ऊपर लक्ष्य न जाना ही सामायिक चारित्र है।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेव ने भी कहा है कि यदि शक्ति हो तो चारित्र लेना, अन्यथा ऐसे चारित्र की प्रतीति रखना। यहाँ सम्यग्दर्शनपूर्वक चारित्र की बात है। पाँचवें गुणस्थान में आंशिक चारित्र होता है और छठवें में विशेष होता है। यहाँ पर मुनिपने की प्रधानता से सामायिक चारित्र का स्वरूप कहा है।

चारित्र के पाँच भेद हैं — सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात। इनमें चारित्र के प्रथम भेद सामायिक चारित्र की बात हो चुकी है।

अब, छेदोपस्थापना का कथन करते हैं —

जब एक साथ समस्त विकल्पों के त्यागरूप परमसामायिक में स्थित होने में यह जीव अशक्त होता है, तब 'समस्त हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह से विरति, सो व्रत है' — इस प्रकार इस पाँच प्रकार के विकल्पभेद द्वारा, व्रतरूप छेद द्वारा-रागादि विकल्परूप सावद्यों से अपने को निवृत्त करके निजशुद्धात्मा में स्वयं को स्थापित करता है, वह छेदोपस्थापन है अथवा छेद अर्थात् व्रत के भङ्ग होने पर निर्विकार स्वसम्वेदनरूप निश्चयप्रायश्चित से अथवा उसके साधक बहिरङ्ग व्यवहारप्रायश्चित से अपने आत्मा में स्थित होना, वह छेदोपस्थापन है।

यहाँ दो प्रकार से इस चारित्र की व्याख्या की गयी है —

मुनिराज अभी अल्पज्ञ हैं। जब वे सम्पूर्ण विकल्प के त्यागरूप परमसामायिक में नहीं रह पाते हैं, तब उन्हें हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह के त्यागरूप पञ्च महाव्रत के परिणाम होते हैं। यद्यपि पाप के परिणाम से बचने के लिए शुभभाव आये

बिना रहता नहीं है; तथापि यह शुभराग चारित्र नहीं है। **विकल्पादि का उठना छेद है और स्वभाव के अवलम्बन से स्थिरता करना छेदोपस्थापनाचारित्र है।**

मुनिराज के अट्ठाईस मुलगुणों का पालन होता है। उनके पालन में दोष लग जाता है। यद्यपि वह दोष कालक्रम में ही होता है, कोई ऐढ़ा-टेढ़ा नहीं होता; तथापि वह मुनि की भूमिका के योग्य नहीं होता है; अतः उस दोष का लगना छेद है और निर्विकार आत्मा के बल से-निश्चयप्रायश्चित से उसे नष्ट करना अथवा गुरु के समक्ष व्यवहारप्रायश्चित लेकर आत्मा में स्थिरता करना छेदोपस्थापनाचारित्र है। यहाँ निश्चय और व्यवहार दोनों की बात साथ-साथ की है।

अब, परिहारविशुद्धि का कथन करते हैं —

तीसं वासो जम्मे वासपुहत्तं खु तित्थयरमूले।
पच्चक्खाणं पढिदो संज्झूण दुगाउ य विहारो॥

अर्थ — जो जन्म से तीस वर्ष सुख में व्यतीत करके, वर्ष-पृथक्त्व (आठ वर्ष) तक तीर्थङ्कर के चरणों में प्रत्याख्यान नामक नवम् पूर्व पढ़कर संध्याकाल के अतिरिक्त तीनों समय में प्रतिदिन दो कोस गमन करता है।

उक्त गाथा में कथित क्रमानुसार मिथ्यात्व, राग आदि विकल्पमलों के प्रत्याख्यान से अर्थात् परिहार से अपने आत्मा की जो विशेषरूप से शुद्धि अर्थात् निर्मलता है, वह परिहारविशुद्धि चारित्र है।

चारित्र की एक दशा ऐसी भी होती है। जन्म से लेकर तीस वर्ष तक सुखों में रहकर पश्चात् तीर्थङ्कर के पास दीक्षा ग्रहण करे और तीर्थङ्कर भगवान के पादमूल में आठ वर्ष तक प्रत्याख्यान नामक पूर्व का अध्ययन करे, दो कोस विहार करता हो — ऐसे मुनिराज को ही यह चारित्र होता है। जिसके रागादि विकल्पमल का त्याग-विशेष त्याग-परिहार वर्तता हो, उन मुनिराज के ही यह परिहारविशुद्धिचारित्र होता है। स्वरूप में चरने का नाम चारित्र है। नित्यानन्द के अवलम्बन से जिसे अन्य मुनि की अपेक्षा विशेष शुद्धदशा वर्तती है, उसे परिहारविशुद्धि नामक चारित्र होता है।

इस चारित्र के धारक मुनिराज अग्नि, पानी या वनस्पति के ऊपर से भी चले जाते हैं; परन्तु उनके निमित्त से जीव मरते नहीं हैं। देखो! जब उनकी आत्मा की निर्मलता

के बल से और शरीर की योग्यता के कारण से ही जीव नहीं मरते हैं तो फिर केवली के शरीर के निमित्त से जीव मरें — ऐसा कैसे हो सकता है ? केवलज्ञान होने के बाद भगवान पाँच हजार धनुष ऊपर विचरण करते हैं, नीचे नहीं; भगवान यक्ष के मन्दिर में भी नहीं उतरते हैं। केवली नीचे विहार करते हैं — ऐसा माननेवाले को केवली के शरीर की भी खबर नहीं है तो फिर उनके आत्मा की खबर कहाँ से हो सकती है?

'अब, सूक्ष्मसाम्परायचारित्र का कथन करते हैं — सूक्ष्म अतीन्द्रिय निजशुद्धात्मसम्वेदन के बल से सूक्ष्मलोभ नामक साम्पराय का-कषाय का जहाँ पूर्णरूप से उपशम अथवा क्षय होता है, वह सूक्ष्मसाम्परायचारित्र है।'

आत्मा कैसा है ? इन्द्रिय, शरीर, मन आदिरूप द्रव्येन्द्रियाँ जड़ हैं, उनसे आत्मा नहीं जाना जा सकता है। इसी प्रकार खण्ड-खण्डरूप भावेन्द्रियों से भी आत्मा नहीं जाना जा सकता है। आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानगम्य है। ऐसे अपने आत्मा के बल से चारित्र प्रगट होता है — ऐसा ज्ञान तो प्रथम होना ही चाहिए।

सूक्ष्मसाम्पराय का अर्थ यह है कि लोभकषाय रही है, उसके अतिरिक्त बहुत-सी कषायों का उपशम अथवा क्षय कर दिया है, अब उस लोभ का भी अन्तर्मुहूर्त पश्चात् क्षय या उपशम होगा। इस प्रकार के चारित्र को सूक्ष्मसाम्पराय कहते हैं। यह दशवें गुणस्थान में होता है।

अब, यथाख्यातचारित्र का कथन करते हैं — 'यथा' अर्थात् जैसा, सहज शुद्धस्वभावपने के कारण, निष्कम्पपने के कारण, निष्कषाय (कषायरहित) आत्मा का स्वरूप है; वैसा ही जो 'आख्यात' अर्थात् कहा गया है, वह यथाख्यातचारित्र है।

आत्मा का स्वरूप जैसा हो, वैसा ही श्रद्धान करना चाहिए। आत्मा का स्वरूप निष्कम्प है। शरीर, वाणी, मन या इन्द्रियाँ आत्मा नहीं हैं। त्रिकाली स्वभाव में संसार नहीं है, वह त्रिकाल आनन्दकन्द है। **सिद्ध समान सदा पद मेरो** — ऐसे आत्मा का स्वभाव त्रिकाल प्रसिद्ध है, यथाख्यात है। जैसा स्वरूप है, वैसी ही उत्कृष्ट दशा प्रकट होना, सो यथाख्यातचारित्र है।

अब, सामायिकादि पाँच प्रकार के चारित्र का गुणस्थानस्वामित्व कहते हैं — प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामक चार गुणस्थानों में सामायिकचारित्र और

छेदोपस्थापनाचारित्र होता है। परिहारविशुद्धिचारित्र, प्रमत्त और अप्रमत्त — इन दो गुणस्थानों में होता है। सूक्ष्मसाम्परायचारित्र, एक सूक्ष्मसाम्पराय (दसवें) गुणस्थान में ही होता है। यथाख्यातचारित्र-उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगीजिन और अयोगीजिन नामक चार गुणस्थानों में होता है।

सामायिकचारित्र मिथ्यादृष्टि को नहीं होता है, क्योंकि आत्मा के भान बिना चारित्र नहीं होता। जिन्हें ज्ञानानन्दस्वभाव के ज्ञान होने के बाद वीतरागता बढ़ती है — ऐसे बाह्य में नग्न मुनिराज को छठवें, सातवें, आठवें और नववें गुणस्थान में सामायिकचारित्र होता है। गृहस्थ को आंशिक चारित्र होता है, उसे यहाँ गिना नहीं है। छेदोपस्थापनाचारित्र भी छठवें, सातवें, आठवें और नववें — इन चार गुणस्थानों में ही होता है। यहाँ आठवें और नववें गुणस्थान में भी छेदोपस्थापनाचारित्र कहा, उसका अर्थ यह है कि वे राग का छेद करके आगे बढ़ते हैं। परिहारविशुद्धिचारित्र प्रमत्त, नामक छठवें और अप्रमत्त नामक सातवें — इन दो गुणस्थानों में होता है। सूक्ष्मसाम्परायचारित्र, दशवें गुणस्थान में होता है तथा यथाख्यातचारित्र, ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में होता है।

अब, संयम के प्रतिपक्ष का कथन करते हैं। दार्शनिक आदि ग्यारह प्रतिमाओं के भेदयुक्त, संयमासंयम नामक देशचारित्र पाँचवें गुणस्थान में ही जानना। मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र और अविरत सम्यग्दृष्टि नामक चार गुणस्थानों में असंयम होता है।

यहाँ संयम के प्रतिपक्षी संयमासंयम और असंयम के गुणस्थान बताये हैं। संयमासंयम, पाँचवें गुणस्थानवर्ती आत्मज्ञानी भावश्रावक को होता है। उसके सम्यग्दर्शनपूर्वक दो कषायों का अभाव हुआ है, ग्यारह प्रतिमाएँ होती हैं, जिनमें पहली प्रतिमा दार्शनिक प्रतिमा है। आत्मज्ञानपूर्वक विशेष लीनता का नाम दार्शनिक प्रतिमा है। असंयम मिथ्यादृष्टि आदि प्रथम चार गुणस्थानों में होता है।

इस प्रकार चारित्र सम्बन्धी व्याख्यान पूर्ण हुआ।

'इस प्रकार व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्ररूप भावसंवर के कारणों का जो व्याख्यान किया; उसमें निश्चयरत्नत्रय के साधक व्यवहार-रत्नत्रयरूप शुभोपयोग के प्रतिपादन करनेवाले जो वाक्य हैं, उन्हें पापास्रव के संवर के कारण जानना और जो व्यवहाररत्नत्रय से साध्य शुद्धोपयोग लक्षणवाले निश्चयरत्नत्रय का प्रतिपादन करनेवाले वाक्य हैं, उन्हें पुण्य-पाप दोनों के संवर के कारण जानना।'

अब तक संवर के सात भेद व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र का वर्णन किया है। आत्मा में निर्दोष अवस्था का होना, आत्मा के अवलम्बन से रागरहित दशा का होना ही संवर है। अखण्ड ज्ञान-दर्शन की मूर्ति आत्मा के अवलम्बन से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होता है, उसे निश्चयरत्नत्रय कहते हैं; व्यवहाररत्नत्रय उसमें निमित्तरूप है। विकल्प निमित्त होता है, उसे साधन भी कहा जाता है; परन्तु व्यवहार से निश्चय नहीं होता है।

गुरु बताते हैं कि तू आत्मा ज्ञानानन्दमय है, तेरे आश्रय से ही मोक्षमार्ग प्रगट होगा, इससे विरुद्ध प्ररूपण मोक्षमार्ग नहीं है।

आत्मा वीतरागस्वरूपी है, ज्ञानमय शान्तरसवाला है। जीव को पूर्ण होना है, रागरहित होना है, सर्वज्ञता प्रगट करना है और उसका साधन ज्ञानस्वभाव है। ज्ञानस्वभाव की रुचि, ज्ञान और रमणता — यह एक ही मोक्षमार्ग है। इस निश्चयरत्नत्रय को साधनेवाला व्यवहाररत्नत्रय है — ऐसा गुरु ने कहा है और शिष्य ने भी ऐसा ही सुना है; परन्तु वह ऐसा समझता है कि शुभभाव हेय है, 'व्यवहाररत्नत्रय उस निश्चयरत्नत्रय को साधनेवाला है' — इसका अर्थ मात्र इतना है कि वैसा राग होता है।

सर्वज्ञदेव, सर्वज्ञपने को साधनेवाला गुरु और अनेकान्त को बतानेवाला शास्त्र 'तेरा स्वभाव ज्ञान है, अल्पज्ञता और राग तेरा स्वभाव नहीं है' — इस प्रकार अस्ति-नास्ति दोनों तरफ से अपनी बात बताते हैं। इसे शिष्य सुनता है, ऐसा ही समझता है और जानता है कि अन्तर्मुख होने से ही मोक्षमार्ग प्रगट होता है तथा जो इस प्रकार से मोक्षमार्ग को प्रगट करता है, उसके व्यवहार को निश्चय का साधक कहा जाता है।

आत्मा के आश्रय से जो वीतरागता प्रगट होती है, निश्चय से वह संवर है।

प्रश्न — व्यवहाररत्नत्रय को संवर क्यों कहा जाता है ?

उत्तर — उसमें कुदेवादि की श्रद्धारूपी पापास्रव रुका और सत्श्रवण का योग बना — इस प्रकार पापास्रव रुकता है; अतः उसे संवर कहा जाता है।

निश्चयरत्नत्रय में पुण्यास्रव व पापास्रव — दोनों रुकते हैं; अतः उसे निश्चयसंवर कहा जाता है। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि व्यवहाररत्नत्रयरूप संवर उसे ही होता है, जिसने विकल्प में उपर्युक्त यथार्थ निर्णय किया है, जो स्वभाव सन्मुख हुआ है।

स्वभाव के अवलम्बन के अतिरिक्त अन्य प्रकार से धर्म मानना अथवा पुण्य-पाप करते-करते धर्म होगा — ऐसा मानना मिथ्यात्व है और यह सात व्यसन से भी बड़ा पाप है।

आत्मा में एक सर्वज्ञ नाम की शक्ति है, उसमें से सर्वज्ञता प्रगट करना है। राग करते-करते सर्वज्ञता प्रगट नहीं होती है। सर्वज्ञता होती है तो वीतरागता होती ही है, अनन्त आनन्द, अनन्तवीर्य और अनन्तशान्ति भी होती ही है। इसका कारण क्या है ? क्या राग, अल्पज्ञता अथवा निमित्त इसका कारण है ? नहीं; अपना ज्ञानस्वभाव एक ही कारण है।

ऐसे इस ज्ञानस्वभाव को यथार्थ बतानेवाले सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा के राग को व्यवहार से संवर कहा जाता है; परन्तु उस जीव को ही, जो कि अन्तर में वीतरागता प्रगट करता है।

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु ने कहा है कि तेरी प्रभुता तुझमें पड़ी है। यदि अन्दर में प्रभुता न हो तो बाहर में प्रभुता कैसे प्रगटेगी ? अन्दर में प्रभुता हो नहीं और प्रगट हो जावे —ऐसा नहीं होता है। प्राप्त की प्राप्ति होती है। जैसे बबूल में आम नहीं पकता है। इसी प्रकार राग के आश्रय में सर्वज्ञता प्रगट नहीं होती है। ध्रुवस्वभाव के अवलम्बन से ही कल्याण हो सकता है।

इस प्रकार का जो पहले विचार आता है, उस व्यवहार को निश्चयरत्नत्रय का साधक कहा है। इन विकल्पों द्वारा ज्ञान में ऐसा जाना है कि अन्तर में ढलने से ही शुद्धदशा प्रगट होगी। व्यवहाररत्नत्रय शुभोपयोग है और आत्मा के आश्रय से होनेवाला निश्चयरत्नत्रय शुद्धोपयोग है। यद्यपि शुभ से शुद्ध प्रगट नहीं होता है तथापि 'व्यवहाररत्नत्रय से निश्चयरत्नत्रय प्रगट होता है' — ऐसा कथन व्यवहार से किया जाता है; परन्तु जिसका वीर्य, पर और राग में अटकता है, उसका वीर्य स्वभावसन्मुख काम नहीं कर सकता।

तुझे प्रभु होना है ? परमात्मदशा प्रगट करना है ? तो होगी उसमें से आयेगी न ? क्या कोयले में से हीरा आवेगा ? नहीं; पुण्य-पापरूप विकार अथवा ज्ञान के प्रगट अल्प अंश की दशा में पूरा दशावान आता ही नहीं है। यदि इतने में ही पूरा आत्मा आ जावे तो विशेष दशा प्रगट नहीं हो सकती। प्रभुत्वशक्ति से भरे हुए भगवान आत्मा में से प्रभुता प्रगट होती है; इसलिए वह एक ही कारण है।

तू तेरे सन्मुख देख — ऐसा कहनेवाले सच्चे देव-गुरु हैं। उन्होंने स्वतन्त्रता का ढिंढोरा पीटा है कि तू प्रभु है, अनन्तशक्ति से पूर्ण है; वर्तमान की अल्पज्ञदशा तू नहीं

है, तेरे ध्रुवस्वभाव में से सर्वज्ञदशा होती है — ऐसा सुनते समय शुभभाव होकर अशुभभाव का रुकना, व्यवहारसंवर है और पुण्य-पापरहित आत्मा के आश्रय से शुद्धोपयोग का होना, सो निश्चयसंवर है।

हे जीव! तू अपने त्रिकालीस्वभाव की महिमा ला! पर की महिमा से तेरी शक्ति प्रगट नहीं होगी। अरे रे! अज्ञानी को स्वभाव की महिमा नहीं आती है।

सम्यक्प्रतीति के बिना धर्म नहीं होता है। आत्मा के सत्धर्म के साधन बिना जीव ने कभी धर्म प्राप्त नहीं किया। श्रीमद् राजचन्द्र एक पत्र में लिखते हैं — असत् देव और असत् गुरु आत्मा के साक्षात् घातक हैं, क्योंकि उन्हें वस्तु की जानकारी नहीं है। जीव ने शुभराग तो अनन्तबार किया है; परन्तु उससे कल्याण नहीं हुआ। आत्मा ज्ञानस्वभावी है — ऐसा यदि विकल्प में भी निर्णय नहीं करे, तो अन्तर्मुख नहीं हो सकता है। आत्मा में ध्रुव शक्ति पड़ी हुई है, उसके आधार से संसार का नाश और मुक्ति का उत्पाद होता है। किसी के आशीर्वाद से मुक्ति हो जाये और श्राप से मुक्ति रुक जाये — ऐसा नहीं होता है, क्योंकि तत्त्व ऐसा पराधीन नहीं है। जगत् के पदार्थ स्वयंसिद्ध हैं, आदि-अन्तरहित हैं। पदार्थ है और रहेगा, उसका कोई कर्ता नहीं है। वस्तु अनित्य नहीं होती, वस्तु नित्य है और नित्य के आधार से पलटना होता है। स्वभाव के आधार से संसार पलटकर मोक्षमार्ग होता है।

प्रश्न — इस वाणी से समझ में आता है न ?

समाधान — नहीं; यदि वाणी से समझ में आता हो तो सबको एक जैसा समझ में आना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता है। समझनेवाला अपनी योग्यता से समझता है; तब वाणी को निमित्त कहा जाता है। वाणी जड़ है, उससे ज्ञान नहीं होता है। ज्ञान और वाणी दोनों पृथक्-पृथक् कार्य कर रहे हैं, फिर भी सम्यग्ज्ञान होने के काल में वैसा ही निमित्त होता है, वैसा ही विकल्प और वैसा ही क्षेत्र होता है; अन्य नहीं होता है। सब व्यवस्थित है।

आत्मा ज्ञानानन्दस्वभावी पूर्ण न हो तो अशान्ति कायम रहे, सुख कहाँ से आवे? आत्मा प्रभुत्वशक्ति से भरा हुआ है। उसके अवलम्बन से मोक्षमार्ग व मोक्ष प्रगट होता है।

भाई ! तू एक बार शान्ति से सुन! पैसे कमाने की बात चलती हो तो अज्ञानी होश

से सुनता है; जबकि उसमें कुछ दम नही है, पुण्य हो तो पैसा मिलता है। रागी जीव को पैसा मिलने पर हर्ष होता है; परन्तु पैसा पर है, वह शान्ति का कारण नहीं है। पर के कारण से शान्ति नहीं है, आत्मा के आश्रय से शान्ति है। यहाँ यह कहा है कि स्वाधीन आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र प्रगट करना निश्चयमोक्षमार्ग है।

यहाँ सोम नामक राजश्रेष्ठी कहता है कि हे भगवान्! इन व्रतादि संवर के कारणों में संवर-अनुप्रेक्षा ही सारभूत है, वही संवर करेगी तो फिर विशेष विस्तार से क्या लाभ? भगवान नेमिचन्द्र आचार्य कहते हैं कि त्रिगुप्तिलक्षणयुक्त निर्विकार समाधि में स्थिर मुनियों को उससे ही (संवर-अनुप्रक्षा से ही) संवर हो जाता है, परन्तु उसमें असमर्थ जीवों को अनेक प्रकार से संवर का प्रतिपक्षी ऐसा मोह उत्पन्न होता है, इस कारण आचार्य व्रतादि का विस्तार-कथन करते हैं।

इस द्रव्यसंग्रह के कर्ता श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती हैं। उन्होंने इसे षट्खण्डागम के आधार पर बनाया है। तत्कालीन नगरसेठ सोमराज आचार्य से पूछते हैं कि हे भगवान! बारह भावनाओं में जो संवरभावना कही थी, वही सारभूत है; उसी से संवर हो जायेगा, तो फिर व्रत-समिति आदि संवर के भेदों को कहने की क्या आवश्यकता है ? व्रतादि के बदले एक संवरभावना ही कहना चाहिए न? त्रिकालस्वभाव के आश्रय से पुण्य और पाप दोनों का संवर होता है तथा शुभ से अशुभ का संवर होता है, मात्र इतना ही कहना चाहिए; परन्तु आपने इतने सारे भेद किसलिए कहे हैं ?

उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि निर्विकल्प समाधि में गुप्त मुनिराज को संवर-अनुप्रेक्षा से ही संवर हो जाता है। मुनिराज की मन-वचन-काय की वृत्ति छूट गयी है, वे असङ्गस्वभावी भगवान आत्मा का घोलन करते हुए निर्विकल्प समाधि में गुप्त रहते हैं। भेदज्ञानपूर्वक आत्मा में लीन होनेवाले मुनिराज को संवर होता है।

जिस प्रकार नारियल के अन्दर की सफेद गिरी, ऊपर की नरेटी आदि से भिन्न होती है, उसी प्रकार चिदानन्दस्वरूपी आत्मा भी पुण्य-पाप के भाव और शरीर से भिन्न है, उसमें पुण्य-पाप के विकार नहीं होते हैं। शरीर-वाणी-मन तो मूर्तिक हैं, स्पर्शादि के धरनहारे हैं; किन्तु आत्मा ज्ञान-आनन्द का धरनहारा है, जो उसमें स्थिर होता है, उसे गुप्तिरूप संवर ही पर्याप्त है।

शिष्य ने पूछा था कि एक संवरभावना ही संवर करेगी, तो फिर विशेष विस्तार

से क्या? गुरु ने उसका उत्तर दिया है कि सातवें गुणस्थान में निर्विकल्प अवस्था में गुप्तिरूप संवर एक ही काफी है; परन्तु अप्रमत्तदशा में नहीं रह सकने वाले छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज को विकल्प उठता है और उन्हें अनेक प्रकार के व्रत, समिति, अनुप्रेक्षा आदि के विचार आते हैं, इसलिए उक्त कथन किया गया है।

यह संवर की गाथा चल रही है। अब जिनके संवर नहीं होता — ऐसे मिथ्यादृष्टियों की बात करते है, ३६३ पाखण्डी मतों की चर्चा करते हैं —

क्रियावादियों के एक सौ अस्सी, अक्रियावादियों के चौरासी, अज्ञानियों के सड़सठ और वैनयिकों के बत्तीस-इस प्रकार पाखण्डियों के कुल तीन सौ तिरेसठ भेद हैं।

योग से प्रकृति और प्रदेश तथा कषाय से स्थिति और अनुभागबन्ध होता है। जिनको कषाय का उदय नहीं है तथा कषायों का क्षय हुआ है, उनको (उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगीकेवली को) तत्कालबन्ध (एक समय का बन्ध) स्थिति का कारण नहीं है।

(१) राग से तथा भक्ति से कल्याण होगा — ऐसा माननेवाले क्रियावादी हैं। स्वभाव से राग की जाति भिन्न है, राग तो कुजात है, राग में से स्वभाव प्रगट नहीं होता। राग से धर्म मानवानेवाले क्रियावादी संसारी हैं। जिनकी दृष्टि विपरीत है और जो मात्र दया-दानादि के राग से धर्म मानते हैं, वे क्रियावादी हैं। उन्हें आस्रव होता है, संवर नहीं होता। ज्ञाता-दृष्टा आत्मा की रुचि छोड़कर अकेली क्रिया से धर्म माननेवाले को मिथ्यात्व का आस्रव होता है। इन क्रियावादियों के १८० भेद हैं।

(२) आत्मा को कूटस्थ माननेवाले अक्रियावादी हैं, वे भी मिथ्यादृष्टि हैं; क्योंकि आत्मा कायम रहकर पलटता है। एकान्त एकरूपता में कार्य नहीं होता। वस्तु कायम रहकर पलटती है। जो जगत में मात्र सामान्य ध्रुव को माननेवाले हैं, वे परिणमन को नहीं मानते। जो लोग संसार की क्रिया, मोक्षमार्ग की क्रिया और मोक्ष की क्रिया नहीं मानते हैं, वे अक्रियावादी, मिथ्यादृष्टि हैं। इनके ८४ भेद हैं।

(३) हम तो कुछ नहीं जानते, अन्धे की गाय का अल्ला रखवाला — ऐसा जो मानते हैं; आत्मा ज्ञानस्वरूप है, शरीरादि और विकार से रहित है — ऐसा ज्ञान करते नहीं हैं; पशु हिंसा में धर्म मानते हैं, आत्मा की बात याद नहीं रहती — ऐसा मानते

हैं; अधिक जानने से मतभेद होते हैं — ऐसा मानकर आत्मा का ज्ञान नहीं करते हैं, वे पाखण्डी हैं; उन्हें आस्रव होता है। उनके ६७ भेद हैं।

(४) गुरु की कृपा से कल्याण होगा, माँ-बाप की भक्ति करना धर्म है, नमनेवाला परमेश्वर को अच्छा लगता है — ऐसा मानकर जो सबके चरण छूते हैं, वे वैनयिक मिथ्यादृष्टि हैं। जो देव-शास्त्र-गुरु सच्चे नहीं हैं, उनका विनय करना और उससे मुक्ति होगी — ऐसा मानना वैनयिक मिथ्यात्व है। इनके ३२ भेद हैं।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, शुक्लध्यान, मोक्षमार्ग, मोक्ष इत्यादि दशाएँ आत्मा में प्रगट होनेवाली वीतरागी अवस्थाएँ हैं, वे किसी की कृपा से नहीं होती हैं। पर का विनय पुण्य है, वह आस्रव और बन्ध का कारण है। अज्ञानी इस विनय से संवर होगा — ऐसा मानता है; इसलिए यहाँ यह बात की गयी है।

इस प्रकार यहाँ संवर के सात भेदों का वर्णन किया। साथ ही क्रिया से धर्म माननेवाले, आत्मा में परिणमन नहीं माननेवाले, आत्मा का ज्ञान नहीं करनेवाले और जिस-तिस का विनय करनेवाले—ऐसे पाखण्डियों का वर्णन किया कि इनको संवर, निर्जरा, धर्म नहीं होता है।

जगत में एक मत ऐसा भी है कि उसके माननेवाले जिसे देखें, उसी के चरण छूते हैं; परन्तु धर्म का मार्ग ऐसा नहीं होता है।

बारह प्रकार के तपों में एक विनय नाम का तप है और यह सच्चा विनय आत्मज्ञानी को ही होता है। उसे ही राग घटकर संवर होता है। जिस-तिस के पैर छूने से आस्रव होता है। गुरु, राजा अथवा माँ-बाप के पैर छूने से धर्म नहीं होता है, वह तो विकार है; संवर का कारण नहीं है। सम्यग्दर्शन वस्तुस्वभाव के अवलम्बन से ही प्रगट होता है; वह निमित्त से, पर से या राग से प्रगट नहीं होता — ऐसा समझे बिना सच्चा विनय नहीं होता है, धर्म नहीं होता है।

प्रश्न — धर्म का मूल विनय कहा गया है न ?

उत्तर — आत्मा ज्ञानानन्द है, पर्याय में होनेवाला विकार एक समय का है, आत्मा विकाररहित शुद्ध है — ऐसा जानना ही सच्चा विनय है। ऐसा जाननेवाला जीव सच्चे

देव-शास्त्र-गुरु का विनय करता है — यह व्यवहारविनय है। मूलाचार में विनय धर्म का मूल है — ऐसा कहा गया है, उसकी व्याख्या यह है कि विनय दो प्रकार का है १. ज्ञाता-दृष्टा आत्मा की रुचि होना निश्चयविनय है, २. और उस निश्चयविनय पूर्वक सच्चे देव-गुरु का बहुमान करना सो व्यवहारविनय है। पण्डित टोडरमलजी भी कहते हैं कि जिस-तिस को नमना विनय नहीं है। ऐसे जीव को अपने स्वभाव का आदर नहीं है। जिस भाव से कोई भी कर्मप्रकृति बँधे, वह सब औदयिकभाव-संसार है। विकार का आदर करनेवाले को निर्विकारी स्वभाव का आदर नहीं है; अतः वह मिथ्यादृष्टि है।

पर से ज्ञान होगा — ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। ज्ञानपर्याय, ज्ञानगुण में से आवेगी या पूर्वपर्याय, निमित्त अथवा राग में से आवेगी ? पूर्वपर्याय, निमित्त व राग में से ज्ञानपर्याय नहीं आती है। ज्ञाता-दृष्टास्वभाव की दृष्टि करने से अज्ञानपर्यायरूप पूर्व अवस्था का व्यय होता है और नवीन अवस्था का उत्पाद होता है और ज्ञानगुण ध्रुव रहता है।

ज्ञानपर्यायरूप विशेष, सामान्य के अवलम्बन से होता है। सामान्य, विशेषरहित नहीं होता है। गुरु से ज्ञान होना माननेवाला पर से विशेष होता है — ऐसा मानता है; सामान्य में से विशेष होता है — ऐसा नहीं मानता है; अतः उसका अगृहीत मिथ्यात्व दृढ़ होता है, उसका गृहीत मिथ्यात्व भी टला नहीं है। गुरु से कल्याण माननेवाला गृहीत मिथ्यादृष्टि है। भगवान आत्मा ज्ञान, दर्शन और आनन्दस्वभावी है। द्रव्य-गुण तो त्रिकाल (सामान्य) है और पर्याय विशेष है। 'गुण के कारण पर्याय होती है' — ऐसा नहीं मानकर, पर के कारण ज्ञानपर्याय होती है — ऐसा जो मानता है, वह गृहीत मिथ्यादृष्टि है। सच्चा समझनेवाले को सच्चे देव-गुरु-शास्त्र ही निमित्त होते हैं; परन्तु ज्ञान निमित्त से नहीं होता है।

इन ३६३ पाखण्डियों को संवर नहीं होता। जैनकुल में जन्म हो जाने पर भी यदि दृष्टि विपरीत हो तो वह भी पाखण्डी है। व्रत, समिति आदि का जो विकल्प उठता है, वह व्यवहार है और आत्मा के आश्रय से जो वीतरागता प्रकट होती है, वह निश्चय है — ऐसा निश्चय-व्यवहार मिथ्यादृष्टि को नहीं होता है — यह बताने के लिए

यहाँ ३६३ पाखण्डियों का वर्णन किया गया है। यह अधिकार गोम्मटसार में से लिया गया है।

किसी गुरु की कृपा से कोई तिरता नहीं है। निमित्त से उपादान में कुछ नहीं होता है। उपादान तैयार हुआ, इसलिए निमित्त को आना पड़े — ऐसा भी नहीं है और उपादान तैयार हो, तब निमित्त स्वयं अपने कारण से नहीं होवे — ऐसा भी नहीं होता है।

जो पर से ज्ञान मानता है, राग से और गुरु से ज्ञान मानता है, वह अपना विशेष पर के कारण मानता है। वह भले ही बाहर में जैन साधु हो तो भी उसे संवर-निर्जरा नहीं होते।

इस प्रकार कुल ३६३ पाखण्डियों के मत हैं, उनको संवर नहीं होता है।

भाई! वस्तुस्वरूप ही ऐसा है। किसी व्यक्ति के प्रति कोई द्वेष नहीं है, अनादर नहीं है; परन्तु सत्यमार्ग यह है सो इसे बतलाते हैं।

अब, आस्रव की विशेष बात करते हैं —

मन-वचन-काय जड़ हैं। आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्दन होना सो योग है। योग का निमित्त पाकर कर्मों का आस्रव होता है, उसके निमित्त से प्रकृति और प्रदेश बन्ध होता है। कर्म की प्रकृतिरूप होने की योग्यता तथा संख्यारूप में आने की योग्यता दोनों स्वतन्त्र हैं और जीव में होनेवाला योग का कम्पन भी स्वतन्त्र है; परन्तु दोनों का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाते हैं।

विपरीत अभिप्राय सो मिथ्यात्व है और वही मूल कषाय है। मिथ्यात्व, पुण्य, पाप, विकार — सब कषायें हैं। इनके द्वारा स्थिति और अनुभागबन्ध होता है तथा योग से प्रकृति और प्रदेशबन्ध होता है।

मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग — ये पाँचों अरूपीभाव बन्ध के कारण हैं। यह भावबन्ध जीव की पर्याय का स्वतत्त्व है और बन्धन का कारण है। उनमें मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद और कषाय — इन चारों से कर्मों में स्थिति और अनुभाग पड़ता है। ये कोई भी एक-दूसरे के आधीन नहीं है। कर्म की ऐसी ही नैमित्तिक योग्यता है और जीव का कषायभाव निमित्त है।

उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें और क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान में वीतरागदशा होती है; इसलिए उनमें स्थिति और अनुभागबन्ध नहीं हैं। संयोगकेवली नामक तेरहवें गुणस्थान में नवीन बन्ध नहीं होता है।

मिथ्यादृष्टि को संवर नहीं है, निर्जरा भी नहीं है। सम्यग्दृष्टि को निमित्त की रुचि छूट गई है, राग तथा अल्प पर्याय का अवलम्बन छूट गया है, स्वभाव का अवलम्बन हुआ है, इसलिए उसे निर्जरा होती है। धर्मी जीव को मिथ्यात्व प्रधान १६ और अनन्तानुबन्धी प्रधान २५ — इस प्रकार ४१ कर्मप्रकृतियाँ भी नहीं बँधती हैं।

कर्म और विकार मुझसे भिन्न हैं — ऐसा विवेक जिसे है, उसी के कर्म खिरते हैं। अन्य किसी के यथार्थ निर्जरा नहीं होती है।

इस प्रकार ३४वीं और ३५वीं गाथा द्वारा संवरतत्त्व का व्याख्यान पूर्ण हुआ।

❖❖❖

मुनिदशा अर्थात् प्रगट परमेश्वर पद

प्रश्न - यह तो मुनि की बात है, इससे हमें क्या?

उत्तर - भाई! मुनिदशा कैसी होती है, उसका ज्ञान तो करना पड़ेगा न? पञ्च परमेष्ठी में अरहन्त और सिद्ध परमेष्ठी देव हैं और आचार्य, उपाध्याय तथा साधु परमेष्ठी - यह तीन गुरु हैं। गुरु का यथार्थ स्वरूप कैसा है, वह जाने बिना अन्तर साधना का स्वरूप कैसे समझ में आयेगा? इसलिए साधकदशा - मुनिपना और श्रावकपना क्या वस्तु है, वह समझना पड़ेगा। भावलिङ्गी सच्चे सन्त को अन्तर में बहुत निर्मलता बढ़ गई है, उन्हें तो उपदेश देते-देते भी उपयोग अन्तर स्वरूप में चला जाता है।

जिस प्रकार ज्ञायकस्वभाव में शक्तिरूप परमेश्वरता है; उसी प्रकार व्यक्तिरूप परमेश्वरपद मुनिराज को प्रगट हुआ है, क्योंकि वे परमेष्ठी हैं न? उन्हें भूमिकानुसार महाव्रतादि के विकल्प आते हैं, परन्तु उपयोग तत्काल अन्तर आनन्द के नाथ में शीघ्रता से चला जाता है। *(- वचनामृत प्रवचन, २/२२२)*

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-३६

अब, सम्यग्दृष्टि जीव को संवरपूर्वक निर्जरातत्त्व कहते हैं —

जह कालेण तवेण य भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण।
भावेण सडदि णेया तस्सडणं चेदि णिज्जरा दुविहा॥३६॥

यथाकालेन तपसा च भुक्तरसं कर्म्मपुद्गलं येन।
भावेन सडति ज्ञेया तत्सडनं चेति निर्जरा द्विविधा॥३६॥

द्रवनिर्जरा है कर्म झरना और उसके हेतु जो।
तपरूप निर्मल भाव वे ही भावनिर्जर जानिये॥३६॥

गाथार्थ :- (आत्मा के) जिस भाव से यथासमय अथवा तप द्वारा फल देकर कर्म पुद्गल नष्ट होते हैं, उसे निर्जरा (भावनिर्जरा) जानना तथा कर्म पुद्गलों का नष्ट होना, उसे निर्जरा (द्रव्यनिर्जरा) जानना। इस प्रकार निर्जरा दो प्रकार की है।

टीका :— '**णेया**' आदि सूत्र का व्याख्यान करते हैं : '**णेया**' - जानना। क्या? '**णिज्जरा**'-भावनिर्जरा। वह कौन-सी? निर्विकार परम चैतन्यरूप चित्चमत्कार के अनुभव से उत्पन्न सहजानन्द जिसका स्वभाव है — ऐसे सुखामृत रस के आस्वादरूप भाव, वह भावनिर्जरा है। '**जेण भावेण**' जिस भाव से-जीव के परिणाम से। क्या होता है ? '**सडदि**' जीर्ण होता है-गिर जाता है-गल जाता है-नष्ट होता है। कौन (नष्ट होता है)? '**कम्मपुग्गलं**' कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट करनेवाले अपने शुद्धात्मा से विपरीत कर्मरूपी पुद्गलद्रव्य। कैसा होकर? '**भुत्तरसं**' अपने उदय का काल प्राप्त होने पर जीव को सांसारिक सुख अथवा दु:खरूप फल देकर। किस कारण से गलता है? '**जहकालेण**' अपने समय पर पकनेवाले आम की भाँति सविपाक निर्जरा की अपेक्षा से अन्तरङ्ग में निज शुद्धात्मा के अनुभवरूप परिणाम के बहिरङ्ग सहकारी कारणभूत काललब्धिरूप यथासमय पर (निर्जरित होता है)। मात्र यथासमय पर ही नहीं निर्जरित होता, किन्तु '**तवेण य**' अकाल में पकनेवाले आम की भाँति अविपाक निर्जरा की अपेक्षा से तप से भी निर्जरित होता है-कि जो तप समस्त परद्रव्यों की इच्छा के निरोधरूप अभ्यन्तर होता है और अन्त:तत्त्व के, सम्वेदन के साधनभूत अनशन आदि बारह प्रकार का बहिरङ्ग होता है। '**तस्सडणं**' कर्म का जो गलना वह द्रव्यनिर्जरा है।

शंका — पहले जो '**सडदि**' कहा था, उसी से द्रव्यनिर्जरा का कथन हो गया तो फिर पुनः '**सडणं**' शब्द किसलिये कहा है ?

समाधान — पहले जो '**सडदि**' शब्द कहा था, उसके द्वारा निर्मल आत्मा के अनुभव का ग्रहण करनेवाले भावनिर्जरा नामक परिणाम के सामर्थ्य का कथन किया था, द्रव्यनिर्जरा का नहीं। '**इदि दुविहा**' इस प्रकार द्रव्य और भावरूप निर्जरा दो प्रकार है।

यहाँ शिष्य पूछता है-सविपाकनिर्जरा नरकादि गतियों में अज्ञानियों को भी देखी जाती है। वह सम्यग्ज्ञानियों को ही हो, ऐसा नियम नहीं है। उसका उत्तर - यहाँ जो संवरपूर्वक की मोक्ष के कारणरूप निर्जरा है, वही ग्रहण करना। जो अज्ञानियों की निर्जरा है, वह तो गजस्नानवत् निष्फल है; क्योंकि अल्प कर्म खिरता है और वह बहुत अधिक बाँधता है; इस कारण वह ग्रहण करनेयोग्य नहीं है। सराग सम्यग्दृष्टियों की जो निर्जरा है, वह यद्यपि अशुभकर्मों का विनाश करती है तो भी संसार की स्थिति घटाती है, उस भव में तीर्थङ्कर प्रकृति आदि विशिष्ट प्रकार के पुण्यबन्ध का कारण होती है और परम्परा से मोक्ष का कारण होती है। वीतराग सम्यग्दृष्टियों के पुण्य और पाप दोनों का नाश होने पर, उस भव में भी मुक्ति का कारण होती है। श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेव ने वही कहा है 'अज्ञानी जो कर्म लाखों करोड़ों भवों में नाश करता है, वे कर्म, ज्ञानी त्रिगुप्ति में गुप्त होकर उच्छ्वासमात्र में नाश करता है।'

कोई कहता है कि सम्यग्दृष्टियों को 'वीतराग' विशेषण का क्या प्रयोजन है ? 'रागादि हेय हैं, ये भाव मेरे नहीं हैं' इस प्रकार भेदविज्ञान होने पर, उनको राग का अनुभव होने पर भी, ज्ञानमात्र से मोक्ष हो जाता है। (तो फिर 'वीतराग' विशेषण का क्या प्रयोजन है ?)

समाधान — अन्धकार में दो मनुष्य हैं, एक के हाथ में दीपक है और दूसरा दीपक-रहित है, उस (दीपकरहित) मनुष्य को कुँए में गिरने अथवा सर्पादि का ज्ञान नहीं है; अतः उसका विनाश हो तो उसमें उसका दोष नहीं है; परन्तु जिसके हाथ में दीपक है, वह कुँए में गिरने आदि से विनाश को प्राप्त हो तो उसे दीपक का फल प्राप्त नहीं हुआ। जो कुँए में गिरने आदि से बचता है, उसे दीपक रखने का फल है। उसी प्रकार कोई भी जीव 'रागादि हेय हैं, मेरे भाव नहीं हैं' इस प्रकार भेदविज्ञान नहीं जानता है, तब तक तो वह कर्म से बँधता है और अन्य कोई जीव रागादि से भेदविज्ञान होने पर भी

जितने अंश में रागादि का अनुभव करता है, उतने अंश में वह भी बंधता ही है, उसे भी रागादि के भेदविज्ञान का फल नहीं है। जो रागादि से भेदविज्ञान होने पर रागादि का त्याग करता है, उसे भेदविज्ञान का फल है — ऐसा जानना। वही कहा है — 'चक्षु से देखने का फल सर्पादि दोष का त्याग है, देखने पर भी सर्प के बिल में पड़नेवाले के नेत्र निरर्थक हैं।'

इस प्रकार निर्जरातत्त्व के व्याख्यान में एक सूत्र से चौथा स्थल पूर्ण हुआ॥३६॥

गाथा ३६ पर प्रवचन

यहाँ नौ तत्त्वों में से निर्जरातत्त्व की बात कहते हैं। स्वभाव के अवलम्बन से पर्याय में होनेवाली शुद्धता की वृद्धि, अशुद्धता के व्यय को भावनिर्जरा कहते हैं तथा द्रव्यकर्मों के खिरने को द्रव्यनिर्जरा कहते हैं।

(आत्मा के) जिस भाव से यथासमय अथवा तप द्वारा फल देकर कर्मपुद्गल नष्ट होते हैं, उसे निर्जरा (भावनिर्जरा) जानना तथा कर्मपुद्गलों का नष्ट होना, उसे निर्जरा (द्रव्यनिर्जरा) जानना — इस प्रकार निर्जरा दो प्रकार की है। जिन आत्मपरिणामरूप भावों से कर्मपुद्गल नष्ट होते हैं, वह भावनिर्जरा है। यथाकाल अर्थात् काललब्धिरूप काल में कर्मों का नष्ट होना सविपाक द्रव्यनिर्जरा है तथा तप द्वारा कर्मपुद्गलों का नाश होना अविपाकनिर्जरा है।

आत्मा के परिणाम से-शुद्धभाव से कर्मपुद्गलों का नाश होता है। कर्म, आत्मा को फल नहीं देता। कर्म सत्ता में से निकलकर उदय में आकर खिर गया, इसलिए कर्म ने फल दिया — ऐसा कहा जाता है। कर्म और आत्मा के बीच अत्यन्त अभाव है, इसलिए कर्म, जीव को फल दे अथवा जीव, कर्म को करे — ऐसा नहीं बनता। कर्म सत्ता में था, वह उदय में आकर खिर गया, इसी को फल दिया — ऐसा कहा जाता है।

मैं ज्ञाता हूँ, देहादिक तथा रागादिक का भी जाननेवाला हूँ — ऐसा ज्ञान होने पर कर्मों के खिर जाने को निर्जरा कहते हैं। कारणपरमात्मा के अवलम्बन से जो वीतरागी दशा होती है, वह भावनिर्जरा है, वह अरूपी है।

कर्म क्रमबद्ध आते हैं और जाते हैं। जिस द्रव्य की जो पर्याय होना होती है, वही होती है। स्वभाव के भानपूर्वक अविपाकनिर्जरा होती है और कर्मों का अपने काल में

स्वयं खिर जाना सविपाकनिर्जरा है। कर्म की अवस्था भी कोई आगे-पीछे नहीं होती, कर्म स्वयं उनके अपने काल में खिरते हैं। स्वभाव के आश्रय से निर्जरा हुई, इसलिए उसे अविपाकनिर्जरा कहते हैं और कर्म स्वयं अपने काल में खिर गये — यह सविपाक-निर्जरा है।

आत्मस्वभाव के अवलम्बन में इच्छा का नहीं होना, गुणों की पर्याय का निर्मल होना, वह तप है। वह शुद्धि आत्मा के अवलम्बन से होती है और कर्मों की निर्जरा पुद्गल से होती है। विकाररहित चित्चमत्काररूप आत्मा के अनुभव से उत्पन्न अनाकुल अनुभव के स्वाद को भावनिर्जरा कहते हैं, वह धर्मात्मा को होती है। यद्यपि धर्मी को पर्याय में विकार होता है; परन्तु उसको विकार की दृष्टि छूट गयी है।

मैं जाननेवाला हूँ, मेरा ज्ञानस्वभाव राग को प्रगट करे — ऐसा नहीं है — इस प्रकार ज्ञान के अनुभव से उत्पन्न सहजानन्द के अनुभव को भावनिर्जरा कहते हैं, धर्म अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग कहते हैं। संवरपूर्वक विशेष शुद्धि होना निर्जरा है।

तत्त्वार्थसूत्र में **'तपसा निर्जरा च'** कहा है। शरीर और कर्म तो आत्मा में हैं ही नहीं, विकार भी पर्याय में है; त्रिकाली स्वभाव में नहीं। जिसे पर्यायबुद्धि छूट गयी है, उसे निर्जरा होती है। आत्मा एकमात्र चैतन्य और आनन्द से भरा हुआ है, उसका अनुसरण करने से ही आनन्द होता है; राग के अनुसरण करने से नहीं। राग का अनुसरण करनेवालों को संसार होता है। पर की भक्ति बन्ध का कारण है, आस्रव है और चैतन्यस्वभाव का अनुसरण निश्चयभक्ति है, संवर-निर्जरा है। कर्म और आत्मा के बीच तो अत्यन्त-अभाव है ही, मेरे अपराध से हुए राग और स्वभाव के बीच भी अभाव है, एक समय की पर्याय में त्रिकाली द्रव्य का अभाव है। पञ्च महाव्रतादिक का परिणाम एक समय का है; पर्यायबुद्धि छूटकर ज्ञानपिण्ड चैतन्य के अनुसरणपूर्वक जो स्वाभाविक आनन्द-पर्याय प्रगट होती है, उसे भावनिर्जरा कहते हैं। यह सम्यग्दृष्टि के होती है, मिथ्यादृष्टि के नहीं होती।

अज्ञानी कहता है कि उपवास करो, व्यवहार करो; परन्तु भाई! स्वभाव के भान बिना तो यह व्यवहार भी नहीं है। लोग कहते हैं कि बहुत परीषह आने पर उनको सहन करना निर्जरा है; परन्तु हे भाई! उस समय खेद होना तो पाप है और शुभभाव रखे तो पुण्य है; परन्तु निर्जरा नहीं है। स्वभाव के अवलम्बनपूर्वक जो वीतरागता होती है, वही संवर-

निर्जरा है। व्यवहार तो शुभराग है, वह उदयभाव है। उदयभाव करते-करते क्षयोपशमभाव अथवा क्षायिकभाव नहीं होता है। विकारीभाव अथवा उदयभाव का निषेध तथा स्वभाव की अस्तिरूप विधि — ऐसे विधि-निषेध के भान बिना निर्जरा नहीं होती।

आत्मा परद्रव्य से जुदा है, शरीर, मन अथवा कोई भी द्रव्य स्वचतुष्टय से है। अपने गुण-पर्यायों का पिण्ड द्रव्य है, असंख्यप्रदेशी उसका क्षेत्र है, एक समय की पर्याय उसका काल है और ज्ञानादि गुण उसका भाव है — आत्मा ऐसे अपने स्वचतुष्टय में है तथा पर, पर के चतुष्टय में है — ऐसा प्रथम निर्णय करना चाहिए। पश्चात् ऐसा निर्णय करना करना चाहिए कि रागादि पर्याय में है, परन्तु स्वभाव में नहीं; स्वभाव तो ज्ञानानन्द से भरा हुआ है — ऐसी प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है और ऐसा निर्णय करनेवालों को भावनिर्जरा होती है।

आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, परमपारिणामिकभाव है, उसे निमित्त के सद्भाव अभाव की अपेक्षा नहीं है। शुद्धस्वभाव के अवलम्बन से जो शुद्धता प्रगट होती है, वह भावनिर्जरा है, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग है। चारित्र में संवर-निर्जरा दोनों आ जाते हैं।

स्वभाव आनन्दस्वरूप है — ऐसे भानपूर्वक आनन्द की उत्पत्ति होना भावनिर्जरा है और जड़कर्म का खिरना द्रव्यनिर्जरा है।

प्रश्न — यह बात तो पहले ही आ गयी है कि शुद्धभावों से कर्म खिर जाते हैं, तब फिर यहाँ उसी बात को दुबारा क्यों कहा जा रहा है?

उत्तर — पहले 'सडदि' शब्द द्वारा ज्ञानानन्दस्वभावी निर्मल आत्मा के आश्रय से होनेवाले शुद्ध परिणामों की सामर्थ्य बतायी थी और यहाँ 'सडण' शब्द द्वारा द्रव्यनिर्जरा की बात कही गयी है।

प्रश्न — ज्ञानी को सविपाकनिर्जरा होती है — ऐसा आपने कहा; परन्तु अज्ञानी को भी तो सविपाकनिर्जरा होती है, जैसे अज्ञानी क्रोध करता है, तब उसके क्रोध के परमाणु-चारित्रमोह के परमाणु खिर जाते हैं। माया-लोभ के परिणाम करता है तो उस काल में माया-लोभ के परमाणु खिरते हैं — इस प्रकार अज्ञानी के भी सविपाकनिर्जरा होती है, तब फिर सम्यग्दृष्टि के ही सविपाकनिर्जरा क्यों कही है ?

उत्तर — यहाँ ज्ञानी की ही बात है, अज्ञानी की नहीं। मिथ्यादृष्टि के पूर्वकर्म उदय

में आकर खिर जाते हैं, देह छूटते ही आयु के परमाणु खिर जाते हैं, अभव्य के भी खिरते हैं, पर यह बात यहाँ नही लेना। यहाँ तो जो स्वभाव के भानपूर्वक एकाग्रता करके मिथ्यात्व तथा रागादि की उत्पत्ति नहीं करता है — ऐसे ज्ञानी जीव की बात है। कर्म, कर्म के कारण खिरते हैं, उसमें जीव की योग्यता निमित्त है। यहाँ संवरपूर्वक निर्जरा की बात है, इस कारण सविपाकनिर्जरा मोक्ष का करण है। जिस प्रकार वृक्ष से पका हुआ फल टूटने के बाद पुनः नहीं जुड़ता, उसी प्रकार ज्ञानी के सविपाकनिर्जरा होती है, नवीन बन्ध नहीं होता ।

समयसार में जयसेनाचार्यदेव कहते हैं कि ज्ञानी को अविपाकनिर्जरा, सविपाकनिर्जरा, अकामनिर्जरा और सकामनिर्जरा चारों ही प्रकार की निर्जरा होती है।

अज्ञानी की सविपाकनिर्जरा गजस्नानवत् निष्फल है। हाथी स्नान करके अपने शरीर पर धूल डालता है, इसलिए उसका स्नान व्यर्थ है। अज्ञानी नवीन कर्म बाँधता है, इसलिए उसकी निर्जरा गजस्नानवत् है। जिसे कुदेवादिक की श्रद्धा हो वह भले ही तपश्चर्या करे, पर उसे आत्मलाभ नहीं होता। जिसे सच्चे देवादिक की श्रद्धा हो, लेकिन आत्मा की श्रद्धा न हो, वह तप भी करे, मुनिव्रत धारण करे, छह-छह मास का उपवास करे, पर उसे आत्मलाभ नहीं होता, एक भी भव कम नहीं होता। जिसे उपादान और निमित्त की भिन्नता का भान नहीं, उसे राग और आत्मा की भिन्नता का भान नहीं हो सकता। ऐसा अज्ञानी नवीन कर्म बाँधता है। उसकी सविपाकनिर्जरा की बात यहाँ नहीं ली है।

निर्जरा दो प्रकार की है। ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा के भानपूर्वक अशुद्धता का अंशरूप से नाश होकर शुद्धता का बढ़ना भावनिर्जरा है और कर्मों का खिरना द्रव्यनिर्जरा है। अज्ञानी को प्रत्येक समय उदय में आनेवाला कर्म खिरता ही है; परन्तु वह गजस्नानवत् पुनः कर्म बाँधता है। अज्ञानी शुभभाव भी करता है, लेकिन उसका पुण्य संसार वृद्धि का ही कारण है, किसी भी हालत में मोक्ष का कारण नहीं। अज्ञानी मंद कषाय से व्रत-तप करता है; फिर भी आत्मा का भान न होने से अकामनिर्जरा होती है, आत्मलाभ नहीं होता।

ज्ञानानन्द का भान होने से अन्तर में सहजशान्ति प्रगट होती है। जिन्हें स्वाश्रय से शुद्धि होती है, उसे सच्ची निर्जरा होती है, आत्मा एक रजकण की भी क्रिया नहीं कर

सकता तथा जो दया-दान, व्रत-पूजा की क्रिया का शुभराग होता है, उसका मात्र जाननेवाला ही है — ज्ञानी ऐसा मानते हैं। वे राग से लाभ नहीं मानते। ज्ञानी को भी भूमिकानुसार राग होता है, गृहस्थदशा में अशुभराग भी होता है, पर उसे सराग अवस्था में भी स्वद्रव्य के अवलम्बन से निर्जरा तो होती है; परन्तु पहले अशुभकर्म की निर्जरा होती है। उसे गृहस्थदशा के राग के साथ नित्यानन्द-स्वरूप आत्मा का भान होता है और अशुभ से बचने के लिए दया-दान, व्रत-भक्ति का शुभराग भी होता है। वीतराग-दृष्टि की निरन्तर मुख्यता होने से संसार की स्थिति को अल्प करता है। इस कारण उसके परिभ्रमण को घटानेवाली निर्जरा होती है। आत्मा का भान होते हुए भी संयोग का राग टाला नहीं जा सकता। वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र का तथा व्रतादि वगैरह का राग रहता है। पुरुषार्थ की कमजोरी के करण राग का सर्वथा नाश नहीं कर सकता, इसलिए गृहस्थदशा में रहता है। फिर भी पर से निरन्तर उदास रहता है। पर वस्तु मेरी नहीं है, देहादि संयोग तो छूटेगा ही — ऐसा भान ज्ञानी के निरन्तर वर्तता है, इसलिए उसकी ममता नहीं करता। ज्ञानी को अन्तर्मुखदृष्टि की मुख्यता है, संयोग की थोड़ी भी रुचि नहीं है — ऐसी दृष्टि होते हुए भी जब तक पूर्ण वीतराग नहीं होता, तब तक शुभ-अशुभ राग होता है।

सम्यग्दृष्टि को शुभराग के कारण तीर्थङ्कर नामकर्म की प्रकृति भी बँध जाती है, यश:कीर्ति, शुभनाम, उच्चगोत्र, सर्वार्थसिद्धि की देवायु भी बँध जाती है। चैतन्य जिन प्रतिमा (अक्रिय विम्ब) अर्थात् मात्र ज्ञातास्वभाव में स्थिर हो जाऊँ — ऐसी भावना है। जिस प्रकार जिन प्रतिमा के समीप से कोई चाँदी की वस्तु उठाकर ले जाए तो क्या प्रतिमा को द्वेष होता है ? नहीं होता (क्योंकि वह वीतरागी प्रतिमा है); उसी प्रकार गृहस्थ दशा में ज्ञानीजीव दृष्टि-अपेक्षा तो वीतराग है, वीतराग स्वरूप का आदर है, किसी भी प्रकार का राग नहीं करना चाहता; फिर भी छठवें गुणस्थान तक चारित्र की कमजोरी का राग होता है। वहाँ निर्जरा और बन्ध दोनों हैं।

अज्ञानी जीव व्रत, तप करता है, पर उसे मिथ्यात्वादि कर्म बँधता है, अत: वह शुभपरिणामी मिथ्यादृष्टि है। यहाँ उसकी बात नहीं है, यहाँ तो शुभपरिणामी सम्यग्दृष्टि की बात है। सम्यग्दृष्टि को अशुभपरिणाम के समय आयुकर्म नहीं बँधता है। चतुर्थ गुणस्थान से ही ४१ पाप प्रकृतियाँ तो कभी भी नहीं बँधती; अपितु कोई विशिष्ट प्रकार

का पुण्य बँधता है, तीर्थङ्कर नामकर्म ज्ञानी को ही बँधता है। जो जीव किसी भी प्रकार के राग को आदरणीय मानता है, उसे तीर्थङ्कर आदि पुण्यकर्म नहीं बँधता है।

धर्मी को देव-शास्त्र-गुरु के प्रति इस प्रकार का आदर, उल्लास, प्रमोद आता है कि अहो! जिनके निमित्त से आत्मा का भान हुआ, उन्हें त्रिकाल नमस्कार हो! नमस्कार हो!! अनन्त भव के अन्त का उपाय सन्त बिना प्राप्त नहीं होता। जिनके द्वारा आत्मस्वभाव समझा है, उनका अनन्त उपकार है।

समयसार के रचयिता कुन्दकुन्दाचार्यदेव तो पहले से ही ऐसा मानकर चले हैं कि इस शास्त्र के श्रोता कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को छोड़कर भली प्रकार से केवल सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को ही मानते हैं, इनमें शास्त्र सुनने की पात्रता पक चुकी है। ऐसा जीव ही समयसार समझने का पात्र है। वैसे तो अनन्त बार सुना, ग्यारह अङ्ग, नौ पूर्व भी पढ़ा; परन्तु सब कुछ बहिर्लक्ष्य से किया, इसलिए सचमुच तो उसने सत् सुना ही नहीं है।

आत्मा तो ज्ञानमात्र है और संसार एक समय का है, अनित्य है — इसे गौण कर और त्रिकाली स्वभाव को मुख्य कर अनादिकालीन मोह को अब तो छोड़! दृष्टि पलट! पुण्य-पाप व देहादि से ममता छोड़कर त्रिकाली ज्ञायकमात्र में एकताबुद्धि कर! स्वसन्मुख हो — ऐसा सुनने के लिए जो जीव तैयार रहता है और असत् का आदर नहीं करता है; वही समयसार सुनने का पात्र है।

ज्ञानी को अशुभ की निर्जरा में उत्कृष्ट पुण्य बँधता है, जबकि वह ऐसा मानता है कि पुण्य बिल्कुल उपादेय नहीं है। ऐसा विशिष्ट प्रकार का पुण्य अज्ञानी जीव को कभी नहीं बँधता।

सम्यग्दृष्टि ने दृष्टि-अपेक्षा तो पूर्ण वीतराग-स्वरूप को ही ध्येय बनाया है तथा यदि चारित्र में भी वीतरागी-स्थिरता करे तो उसी भव में मोक्ष हो जावे। वह अभी अशुभ को टालता है, द्रव्यस्वभाव के बल से शुभ को भी क्रमशः टाल कर आनन्दामृतपूर चिदानन्द में ठहर कर मोक्ष पावेगा; क्योंकि दृष्टि में वीतरागता का ही जोर है। जो कर्म खिर गये हैं, उस जाति के कर्म अब इसे फिर से नहीं बँधेंगे।

अज्ञानी के व्रत-उपवास-यात्रा आदि से थोड़ा भी धर्म नहीं होता, निर्जरा नहीं होती है। जिस प्रकार हाथी पानी में स्नान करके धूल में लोटता है और फिर से सारी धूल

लपेट लेता है; उसी प्रकार अज्ञानी मन्द कषाय करे तो भी मिथ्यात्व का जोर होने से निर्जरा नहीं होती है। राग मन्द करे तो पापानुबन्धी पुण्य बाँध ले; परन्तु 'देह की क्रिया मैं कर सकता हूँ, पुण्य से धर्म होगा' — इत्यादि मिथ्यामान्यता से वह संसार को ही बढ़ाता है। मोक्ष की कारणभूत निर्जरा ज्ञानी को ही होती है।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि धर्म की दृष्टि से सम्पूर्ण आत्मा को धारण किये बिना निर्जरा नहीं होती। अज्ञानी जिन कर्मों को लाखों-करोड़ों वर्षों में हठपूर्वक हैरान होकर नष्ट करता है, उन सब कर्मों को ज्ञानी जीव त्रिगुप्ति से एक श्वासमात्र काल में नष्ट कर देता है।

कोई कहता है कि सम्यग्दृष्टियों को 'वीतराग' विशेषण का क्या प्रयोजन है ? 'रागादि हेय है', ये भाव मेरे नहीं हैं — इसप्रकार भेदविज्ञान होने पर, उनको राग का अनुभव होने पर भी, ज्ञानमात्र से मोक्ष हो जाता है। (तो फिर 'वीतराग' विशेषण का क्या प्रयोजन है ?) दया-दान-व्रतादि का राग मेरी अवस्था में होता है; परन्तु वह भी पुण्य है, धर्म नहीं। इस प्रकार वह उसे करने लायक नहीं मानता है। शुभ-अशुभ विकल्प उपाधिभाव है, उससे भी उसे भेदज्ञान है। ऐसा वह ज्ञानी भले ही राग को जानने में अटके तो भी ज्ञानमात्र से उसे मोक्ष हो जावेगा — ऐसा मानने में क्या दोष है ?

समाधान — अन्धकार में दो मनुष्य हैं, एक के हाथ में दीपक है और दूसरा दीपक रहित है, उस (दीपकरहित) मनुष्य को कुएँ में गिरने अथवा सर्पादि का ज्ञान नहीं है। अतः उसका विनाश हो तो उसमें उसका दोष नहीं है; परन्तु जिसके हाथ में दीपक है, वह कुएँ में गिरने आदि से विनाश को प्राप्त हो तो उसे दीपक का फल प्राप्त नहीं हुआ, जो कुएँ में गिरने आदि से बचता है, उसे दीपक रखने का फल है। उसी प्रकार कोई भी जीव 'रागादि हेय हैं', मेरे भाव नहीं हैं — इसप्रकार भेदविज्ञान नहीं जानता है, तब तक तो वह कर्म से बँधता है और अन्य कोई जीव रागादि से भेदविज्ञान होने पर भी जितने अंश में रागादि का अनुभव करता है, उतने अंश में वह भी बँधता ही है, उसे भी रागादि के भेदविज्ञान का फल नहीं है। जो रागादि से भेदविज्ञान होने पर रागादि का त्याग करता है, उसे भेदविज्ञान का फल है — ऐसा जानना। वही कहा है — ''चक्षु से देखने का फल सर्पादि दोष का त्याग है, देखने पर भी सर्प के बिल में पड़नेवाले के नेत्र निरर्थक हैं।''

यहाँ ज्ञान प्रधान और द्रव्यदृष्टि की मुख्यता से निर्जरा कही गयी है, वास्तव में तो राग-द्वेष, पुण्य-पाप के भाव उठना दोष ही है और उससे बन्ध भी है। यद्यपि भेदज्ञान हो गया है तो भी जितना राग है, उतना बन्ध है ही। पर्याय में जैसा है, वैसा जाने तो ही सम्यग्ज्ञान है।

द्रव्यदृष्टि की मुख्यता से ज्ञानी का शुभभाव भी निर्जरा के खाते में कहा जाता है, परन्तु मोक्ष की साक्षात् कारणभूत निर्जरा वीतरागचारित्र के बिना नहीं होती है।

शुभ-अशुभभाव कलङ्क है, शरण नहीं है; ऐसा माने और उससे बन्धन न माने — ऐसा कैसे बन सकता है ? राग मेरी चीज नहीं है — ऐसा ज्ञानी जानता है इसलिए वह उस राग को दूर करना चाहता है।

अरे भाई! शरीर में रोग आ जाता है, युवावस्था में ही आयु पूरी हो जाती है और कुटुम्ब को छोड़कर अकेला चला जाता है। जहाँ तेरा कुछ वश नहीं चलता है, वह चीज तेरी नहीं है। प्रथम ऐसा निश्चय करके त्रिकाली ज्ञायक को शरण मान, उसमें तेरा वश चलेगा। रागादि अनित्य है, यदि कोई ऐसा का ऐसा ही राग पुनः करना चाहे तो कर नहीं सकता है, इसलिए रागादि अशरण हैं — ऐसा जानकर नित्य शरणरूप चिदानन्द में ठहर! भेदविज्ञान का फल तो निरन्तर वीतरागतारूप में ही आना चाहिए। इतना राग हो तो ठीक है, राग होने पर भी सर्वथा निर्जरा ही होती है — ऐसा मानकर स्वच्छन्द नहीं होना चाहिए।

यह निर्जरा का अधिकार है। आत्मा में शुद्धि की वृद्धि होना और कर्म का खिरना— इसे निर्जरा कहते हैं। एक मनुष्य अन्धकार में हो और उसके हाथ में दीपक हो, फिर भी यदि वह कुएँ में गिर जावे और सर्पादि का ख्याल न रखे तो उसे दीपक का कोई फल (फायदा) नहीं है, उसी प्रकार 'शरीरादि' की क्रिया से व पुण्य-पाप से आत्मा का स्वरूप पृथक् है' — जिसे ऐसा भेदज्ञानपूर्वक संवर हुआ है, वह भी यदि राग-द्वेष को नहीं छोड़ता है तो उसे संवर का फल निर्जरा नहीं है, भेदविज्ञान का फल वीतरागता नहीं है। 'सिद्धभगवान जैसे पर्याय में निर्मल है, वैसा ही मैं भी शक्तिरूप में हूँ' — ऐसा जानना धर्म का प्रारम्भ है; परन्तु पुण्य-पाप का निजरूप अनुभव करे तो उसे भेदविज्ञान का फल वीतरागता नहीं है।

यह निर्जरा की गाथा है। आत्मा का ज्ञान होना — यह तो अनन्तकाल में कभी नहीं

हुआ — ऐसा अपूर्व काम है। 'मैं सारी दुनियाँ का ज्ञाता हूँ, राग-द्वेष से आनन्द माननेवाला मैं नहीं हूँ' — ऐसा ज्ञान होने पर भी जितने अंश में विकार का अनुभव करता है, उतने अंश में बन्धन होता है।

समयसार में तो जिसे आत्मज्ञान हुआ, उसे मुक्ति कह दी है, वस्तुतः समयसार का यह दृष्टिप्रधान कथन है, पर्याय में मुक्ति नहीं है — यह बात वहाँ गौण है, किन्तु यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है। इस प्रकार कथन पद्धति को समझना चाहिए। ज्ञानी जितना राग में युक्त होता है, उसे उतना बन्धन होता है — ऐसा यहाँ बताते हैं। 'सुख का सागर आत्मा है' — ऐसा भान हो जाने पर भी जो राग में युक्त होता है, उसे भेदविज्ञान का विशेष फल नहीं आता है। इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि ज्ञान होने पर शीघ्र ही जङ्गल में चला जाता है अथवा वीतरागता हो जाती है; परन्तु वीतरागता अपने पुरुषार्थ के अनुसार आती है। 'रागादि से आत्मा भिन्न है' — ऐसा जिसे भेदविज्ञान है, वह पश्चात् रागादि से युक्त नहीं होता अर्थात् स्वभाव में स्थिर रहता है, उसे वीतरागता प्रगट होती है और वह भेदविज्ञान का फल है — ऐसा जानना चाहिए।

आत्मा का सच्चा श्रद्धान-ज्ञान करके अन्तर में ठहरना ही क्रिया है — ऐसी सच्ची क्रिया का अज्ञानी तो उत्थापन करता है और ज्ञानी स्थापन करता है। इस गाथा में भेदविज्ञान और निर्जरा दोनों की बात आ गयी। ज्ञान तथा क्रिया दोनों की बात आ गयी। 'दया-दान से भी आत्मा भिन्न है' — ऐसा जानना भेदज्ञान है तथा विकाररहित अन्तर में स्थिरता करना वह निर्जरा है, जिस भाव से तीर्थङ्कर नामकर्म बँधता है, वह भाव भी आस्रव है; उस भाव में एकाग्रता करने पर भेदविज्ञान का फल प्राप्त नहीं होता। अन्तर में ठहरना ही फल है और यही क्रिया है।

तीनों काल के ज्योतिषी केवलज्ञानी ने ऐसा देखा है कि तेरा माहात्म्य तेरे ज्ञानस्वभाव से है। पैसा इत्यादि परपदार्थ और पुण्य-पाप भाव के साथ सम्बन्ध नहीं करना और स्वभाव के साथ सम्बन्ध करना — इसमें तेरा माहात्म्य है।

❖❖❖

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-३७

अब, मोक्षतत्त्व का कथन करते हैं —

सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू अप्पणो हु परिणामो।
णेयो स भावमुक्खो दव्वविमुक्खो य कम्मपुहभावो॥३७॥

सर्वस्य कर्मणः यः क्षयहेतुः आत्मनः हि परिणामः।
ज्ञेयः सः भावमोक्षः द्रव्यविमोक्षः च कर्मपृथग्भावः॥३७॥

भावमुक्ती कर्मक्षय के हेतु निर्मलभाव हैं।
अर द्रव्यमुक्ती कर्मरज से मुक्त होना जानिये॥३७॥

गाथार्थ :— जो सर्व कर्मों के नाश का कारण है — ऐसा आत्मा का परिणाम, उसे भावमोक्ष जानना; कर्मों का आत्मा से सर्वथा पृथक् होना, वह द्रव्यमोक्ष है।

टीका :— यद्यपि सामान्यरूप से सम्पूर्ण कर्ममल-कलङ्करहित, शरीररहित आत्मा की आत्यन्तिक, स्वाभाविक, अचिन्त्य, अद्‌भुत, अनुपम, सम्पूर्ण-निर्मल केवलज्ञानादि अनन्त गुणों के स्थानरूप जो अवस्थान्तर (ऐसी जो विशिष्ट अवस्था), वही मोक्ष कहलाती है तो भी विशेषरूप से भाव और द्रव्य के भेद से वह (मोक्ष) दो प्रकार का है —ऐसा वार्तिक है। वह इस प्रकार है — **'णेयो स भावमुक्खो'** उसे भावमोक्ष जानना। वह कौन-सा ? **'अप्पणो हु परिणामो'** निश्चय रत्नत्रयात्मक कारण समयसाररूप **'हु'** प्रगट आत्मा के परिणाम। कैसा परिणाम ? **'सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू'** - सर्व द्रव्य-भावरूप मोहनीय आदि चार घातिकर्मों के नाश का जो कारण है, वह।

द्रव्यमोक्ष का कथन करते हैं : **'दव्व विमुक्खो'** अयोगी गुणस्थान के अन्तिम समय में द्रव्यमोक्ष है। वह (द्रव्यमोक्ष) कैसा है ? **'कम्मपुहभावो'** टंकोत्कीर्ण शुद्ध-बुद्ध जिसका एक स्वभाव है — ऐसे परमात्मा से, आयु आदि शेष चार अघातिकर्मों का भी अत्यन्तरूप से पृथक् होना-भिन्न होना-छूट जाना, वह द्रव्यमोक्ष है।

उस मुक्तात्मा के सुख का वर्णन किया जाता है — 'आत्मा के उपादान से सिद्ध, स्वयं अतिशयतायुक्त, बाधारहित, विशाल, वृद्धि और ह्रास से रहित, विषयों से रहित,

प्रतिपक्षभावरहित, अन्य द्रव्यों से निरपेक्ष, निरुपम, अपार, शाश्वत, सर्वदा उत्कृष्ट तथा अनन्त-सारभूत परमसुख सिद्धों को होता है।'

शङ्का :- इन्द्रियसुख ही सुख है, सिद्ध जीवों को इन्द्रिय और शरीर का अभाव होने से पूर्वोक्त अतीन्द्रिय सुख किस प्रकार हो सकता है ? उसका उत्तर दिया जाता है :- सांसारिक सुख तो स्त्री सेवनादि पाँच इन्द्रियों के विषयों से ही उत्पन्न होता है; परन्तु पाँच इन्द्रियों के विषयों के व्यापाररहित, अव्याकुल चित्तवाले मनुष्यों को जो सुख है, वह अतीन्द्रिय सुख है, वह यहाँ भी देखा जाता है। पाँच इन्द्रिय और मन से उत्पन्न हुए विकल्पों के जालरहित, निर्विकल्प समाधि में स्थित परम योगियों को रागादि का अभाव होने से जो स्वसम्वेद्य आत्मसुख है, वह विशेषरूप से अतीन्द्रिय सुख है और जो भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्मरहित, आत्मा के सर्वप्रदेशों में आह्लादरूप ऐसे एक पारमार्थिक परमानन्द परिणत मुक्त जीवों को जो अतीन्द्रिय सुख है, वह अत्यन्त विशेषरूप से अतीन्द्रिय सुख जानना।

यहाँ शिष्य कहता है - संसारी जीवों को निरन्तर कर्मों का बन्ध होता है, उसी प्रकार कर्मों का उदय भी होता है, शुद्धात्मभावना का प्रसङ्ग नहीं है तो मोक्ष किस प्रकार हो ? उसका उत्तर :- जिस प्रकार कोई बुद्धिमान मनुष्य शत्रु की निर्बल अवस्था देखकर विचार करता है कि 'यह मेरा मारने का अवसर है' तत्पश्चात् पुरुषार्थ करके शत्रु को नष्ट करता है; उसी प्रकार कर्मों की भी एकरूप अवस्था नहीं रहती है, जब कर्म की स्थिति और अनुभाग हीन होने पर वह लघु और क्षीण होता है, तब बुद्धिमान भव्यजीव आगमभाषा से **'खयउवसमियविसोही देसण पाउग्ग करणलद्धी य। चत्तारि वि सामण्णा करणं पुण होदि सम्मत्ते॥'** (**अर्थः**- क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करणलब्धि; इनमें से चार तो सामान्य हैं और करणलब्धि सम्यक्त्व होने के समय होती है।) - इस गाथा में कथित पाँच लब्धि नामक (निर्मलभावनाविशेषरूप खड्ग से) और अध्यात्मभाषा से निजशुद्धात्माभिमुख परिणाम नामक विशेष प्रकार की निर्मलभावनारूप खड्ग से पुरुषार्थ करके कर्मशत्रु को नष्ट करता है। अन्तःकोटाकोटी (सागर) प्रमाण कर्म की स्थितिरूप तथा लता और काष्ठस्थानीय अनुभागरूप कर्म का लघुत्व होने पर भी यह जीव आगमभाषा से अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामक और अध्यात्मभाषा से स्वशुद्धात्माभिमुख परिणतिरूप ऐसी कर्महननबुद्धि किसी भी काल में नहीं करे तो वह अभव्यत्वगुण का लक्षण जानना।

अन्य भी नौ दृष्टान्त मोक्ष के विषय में जानना। **'रयण दीव दिणयर दहिउ, दुद्धउ घीव पहाणु। सुण्णुरुप्पफलिहउ अगणि, णव दिट्ठंता जाणि॥** (**अर्थः**- रत्न, दीपक, सूर्य, दूध, दही, घी, पत्थर, सोना, चाँदी, स्फटिकमणि और अग्नि — इस प्रकार नौ दृष्टान्त जानना।)''

शङ्का — अनादिकाल से जीव मोक्ष प्राप्त करते हैं, अतः यह जगत कभी शून्य हो जायेगा ?

समाधान — जिस प्रकार भविष्यकाल के समय क्रम-क्रम से व्यतीत होने से यद्यपि भविष्यकाल की समयराशि में कमी होती है तो भी उसका कभी भी अन्त नहीं होता है; उसी प्रकार जीव मोक्ष में जाने पर यद्यपि जीवों की राशि में कमी होती है तो भी उसका अंत नहीं होता है। यदि जीव मोक्ष में जाने पर संसार में जीव की शून्यता होती हो तो भूतकाल में बहुत जीव मोक्ष गये हैं तो भी अभी जगत में जीवों की शून्यता क्यों नहीं दिखाई देती है ? तथा अभव्यजीवों और अभव्य समान भव्यजीवों का मोक्ष नहीं है तो फिर जगत में जीवों की शून्यता किस प्रकार होगी ?

इस प्रकार संक्षेप में मोक्षतत्त्व के व्याख्यानरूप एक सूत्र द्वारा पाँचवाँ स्थल समाप्त हुआ।

गाथा ३७ पर प्रवचन

जो सर्व कर्मों के नाश का कारण है — ऐसा आत्मा का परिणाम भावमोक्ष है और कर्मों का आत्मा से सर्वथा पृथक् हो जाना द्रव्यमोक्ष है।

सम्पूर्ण कर्मों के नाश का कारण आत्मा के परिणाम हैं। अष्ट कर्मों के छूटने में निमित्त केवलज्ञानादि परिणाम हैं। आत्मा के अवलम्बन से उत्पन्न केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य आत्मा के परिणाम हैं।

आत्मा द्रव्य है, ज्ञानादि गुण हैं और केवलज्ञान परिणति है। केवलदर्शन दर्शनगुण की अवस्था है, अनन्तसुख आनन्दगुण की अवस्था है, अनन्तवीर्य वीर्यगुण की अवस्था है। ये अवस्थाएँ ही भावमोक्ष हैं। जीव का अल्पज्ञता में अटकना भावबन्ध है। ज्ञान, दर्शन व वीर्य में अल्पता रहना तथा आंशिक आनन्द व आंशिक दुःख में अटकना भावबन्ध है, आत्मा की पूर्ण शुद्धदशा भावमोक्ष है। कर्मों का सर्वथा छूटना द्रव्यमोक्ष है।

भगवान को अनन्त गुण प्रगट हुए हैं, यहाँ गुण का अर्थ अवस्था समझना। आत्मा के अवलम्बन से जो अनन्तचतुष्टय प्रगट हुए, वे स्वाभाविक हैं, कभी नष्ट नहीं होंगे; कल्पना में आने योग्य नहीं हैं, विस्मयकारी हैं तथा उपमारहित हैं — इन केवलज्ञानादि परिणामों को ही मोक्ष कहते हैं। यह मोक्ष आत्मा की पर्याय में होता है, मोक्ष सिद्धशिला में नहीं होता। संसारदशा और साधकदशा से मोक्षदशा विलक्षण जाति की है, इसलिए उसे यहाँ अवस्थान्तर कहा है।

सामान्यरूप से व्याख्या यही है कि निर्मलदशा का अनुभव करे सो मोक्ष है, उसे दो प्रकार से समझाते हैं —

'मैं ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा हूँ' — ऐसी श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन है, उसका स्वसम्वेदन ज्ञान, सम्यग्ज्ञान है और उसमें रमणता करना, सम्यक्चारित्र है — यह निश्चयरत्नत्रय है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति होनेवाला राग, व्यवहाररत्नत्रय है, यह व्यवहाररत्नत्रय बन्धन का कारण है; मोक्ष का कारण नहीं। यहाँ निश्चयरत्नत्रय को कारणसमयसार कहा है और मोक्षदशा को कार्यसमयसार कहा है। मोक्षमार्ग मोक्षदशा का कारण है, इसलिए निश्चयरत्नत्रय को कारणसमयसार कहा है। स्वसन्मुख होने पर प्रगट होनेवाले स्वाभाविक सम्यग्दर्शनादि कारणसमयसार हैं। जिस परिणाम से द्रव्य-भावरूप मोहादि चार घातिकर्मों का नाश होता है, उस रूप परिणाम को भावमोक्ष कहते हैं।

चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में निश्चयरत्नत्रय की पूर्णदशा प्रगट होने पर जो टण्कोत्कीर्ण केवलज्ञानस्वरूपी हैं, शुद्ध, बुद्ध हैं, वीतरागी स्वभाववाले हैं — ऐसे परमात्मा का आयु आदि शेष चारकर्मों से छूटना द्रव्यमोक्ष है।

अब, मुक्तदशा में कैसा आनन्द है, उसकी बात करते हैं। जो आनन्द शक्तिरूप है, वही सिद्धदशा में व्यक्त हो जाता है। मुक्तदशा का वह आनन्द किसी संहनन अथवा मनुष्य शरीर से उत्पन्न नहीं होता है। वह अपने उपादानकारण से ही सिद्ध है। भले ही निमित्तकारण होवे, संहनन आदि होवे; परन्तु सिद्धदशा की प्राप्ति अपने उपादान कारण से ही होती है। मोक्षदशा प्राप्त करनेवाले जीव को वज्रकाय, मनुष्यदेह, पञ्चेन्द्रियपना वगैरह निमित्तरूप में होते हैं, उनसे सुख नहीं होता। सुख तो अपने आत्मा के आश्रय से ही उत्पन्न हुआ है। आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण ही सुख का वास्तविक कारण है, निमित्तकारण से सुख नहीं है।

धर्मीजीव ने प्रथम ही ऐसा निश्चय किया है कि जो अनन्त सिद्ध हुए हैं, वे सब अपने उपादानकारण से ही सुखी हुए हैं। वज्रवृषभनाराचसंहनन तो तन्दुलमच्छ को भी होता है; परन्तु उसे केवलज्ञान नहीं होता। जिस प्रकार धागा धागे के पिण्डे में से निकलता है, हाथ में से नहीं निकलता; उसी प्रकार आत्मा में से ज्ञान और सुखादि प्रगट होते हैं, शरीर-मन-वाणी में से ज्ञान और सुखादि प्रगट नहीं होते। ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा करके जितनी एकाग्रता करे, उतनी सुखदशा प्रगट होती है। पूर्ण एकाग्रता करे तो पूर्ण सुखदशा प्रगट होती है।

तेरी मुक्ति कहाँ से होगी ? स्वयं शान्तिरूप तो त्रिकाल है, पर वह कारण कब कहा जावे ? वह उपादानकारण है — ऐसी प्रतीति करके अन्तर में स्थिरता करे तो उसे कारण कहा जावे। उसमें से ही अनन्त आनन्द आता है। लाख निमित्त होवे, भले साक्षात् भगवान ही होवें, पर वे क्या करें ? सम्यग्ज्ञानदीपिका में कहा है कि जीव अनन्त बार समवसरण में गया, मणिदीपक से भगवान की आरती-पूजा की; परन्तु अपने भगवान आत्मा की पूजा नहीं की, स्वयं ने स्वयं को नहीं समझा। अपना आनन्द अपने से है; अन्य वस्तु के कारण नहीं।

वह स्वयं अतिशययुक्त है। पहले उपादानकारण की बात की, अब सुख को अतिशययुक्त कहते हैं। लोग कुटुम्ब में व स्त्री-पुत्रादि में सुख मानते हैं; परन्तु उस पुण्य की बात नहीं है। यहाँ तो सच्चे सुख की बात है, मोक्ष के सुख की बात है। आत्मा की पूर्ण शुद्धदशा होना मुक्ति है, मुक्ति में स्वयं आनन्द है। अज्ञानी ने पर में आनन्द माना है। अनुकूलता में राग करना और प्रतिकूलता में द्वेष करना — दोनों ही दुःखदायक हैं। कोई परवस्तु अनुकूल या प्रतिकूल नहीं है। मैं स्वयं सुखरूप हूँ — ऐसे ज्ञान से उत्पन्न हुआ पूर्ण सुख स्वयं अतिशययुक्त है तथा वह सुख बाधारहित है, उस सुख में विघ्न नहीं है। लौकिक सुख में तो बहुत विघ्न आते हैं। पुत्र-पुत्री मर जावे, व्यापार मन्दा हो जावे, नौकरी में परिवर्तन हो जावे इत्यादि बहुत सारे विघ्न लौकिक सुख में होते हैं; परन्तु आत्मा का सुख तो प्रगट होने के बाद कभी भी नाश को प्राप्त नहीं होता।

तथा वह सुख विशाल है, अमर्यादित है, संकोचवाला नहीं है। सांसारिक सुख संकोचवाले हैं। मुक्ति का सुख वृद्धि-हानि से रहित है, बढ़ने-घटने से रहित है। सांसारिक सुख वृद्धि-हानिवाला है। संसार में क्षणभर में बङ्गला, जेवर आदि ले ले और क्षणभर में ही उन्हे बेचना पड़े — इस प्रकार बढ़-घट सांसारिक सुख में हुआ करती है।

सिद्धों के आनन्द में वृद्धि-हानि नहीं होती, वह तो एकरूप ही रहता है। ऐसा सुख अपने आत्मा के उपादानकारण से प्रगट होता है — ऐसी प्रतीति जिसे होती है, उसे सिद्धदशा और ऐसा आनन्द प्रगट होता है।

यहाँ, मुक्तात्मा के सुख का अर्थात् सिद्धों के वैभव का वर्णन करते हैं —

आत्मोपादानसिद्धं स्वयमतिशयवद्वीतबाधं विशालं,
वृद्धिह्रासव्यपेतं विषयविरहितं निःप्रतिद्वन्द्वभावम।
अन्यद्रव्यानपेक्षं निरूपममममितं शाश्वतं सर्वकाल,
मुत्कृष्टानंतसारं परमसुखमतस्तस्य सिद्धस्य जातं॥

यह 'सिद्ध भक्ति' का श्लोक है।

इसमें कहा गया है कि संसार का सुख आकुलतासहित तथा सिद्ध का सुख आकुलतारहित है। वह सुख आत्मा के उपादानकारण से प्रकट होता है, उस समय निमित्त होता है, पर वह तो जानने के लिये है। आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द है, उसकी प्रतीति, ज्ञान और रमणता (चारित्र) ही उपादानकारण है। आत्मद्रव्य तो सदा विद्यमान है; परन्तु यहाँ दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि पर्यायों के साथ अभेद आत्मा कारणरूप से लिया गया है। उस आत्मा को मोक्षसुख प्रकट होता है, वह सुख स्वयं सातिशय तथा निराबाध है।

सांसारिक सुख परसापेक्ष होने से पराधीन है, बाधासहित है; परन्तु सिद्ध का सुख अपार है, वृद्धि-हानिरहित एकरूप है। संयोगाधीन होने से सांसारिक सुख क्षणिक है।

शरीर तथा इन्द्रियों में सुखबुद्धि होने से कारण अज्ञानी का सांसारिक सुख विषयाधीन है; परन्तु मोक्षसुख विषयाधीनता से रहित स्वाधीन है। मोक्षसुख प्रतिपक्षरहित है, जबकि सांसारिक सुख सप्रतिपक्ष है। अनेकानेक सुख-सुविधाओं के मध्य, भोजन-पान से निवृत्त हो, आराम से बैठा हो और उसी समय खबर मिले कि लड़की को साँप ने काट लिया है तो सब आराम भङ्ग हो जाता है। इस प्रकार सांसारिक सुख परद्रव्य सापेक्ष होने से सप्रतिपक्ष है तथा परद्रव्य निरपेक्ष होने से सिद्ध सुख प्रतिपक्षरहित (अप्रतिपक्ष) है। मोक्ष सुख अनुपमेय है, सिद्धों को अचिंत्य आनन्द है, सादि अनन्तकाल तक वे उसी दशा में रहते हैं, द्रव्य अन्तरहित अनन्त होने से सिद्धदशा भी अन्तरहित अनन्त है। अशुद्धदशा का अन्त आता है, पर सिद्ध सुख का अन्त नहीं आता, सिद्ध का सुख नित्य

है, यद्यपि वह नया-नया प्रकट होता है, तथापि सादि-अनन्तकाल तक वैसा का वैसा रहने के कारण नित्य कहा जाता है। सांसारिक सुख काल्पनिक तथा अनित्य है, सदैव स्थायी नहीं रहता।

आत्मा चिदानन्द शक्ति का पिण्ड है, उसमें से सिद्ध सुख प्रकट होता है। उसका कभी अन्त नहीं आता। जैसा स्वभाव है, वैसा पूर्ण प्रकट हो गया है, उसमें क्षीणता नहीं आती। संसार सुख में क्षीणता आती है। पैसेवाले का लड़का मर जाय तो वह विचार करता है कि मेरे सुख में कमी आ गयी; परन्तु ऐसी कमी सिद्ध के सुख में नहीं आती। सिद्ध का सुख आनन्दमय है। चक्रवर्ती के बहुत वैभव हो तो भी उसका सुख आनन्दमय नहीं है। ब्रह्मदत्त चकवर्ती के छह खण्ड की विभूति थी; फिर भी मरकर नरक गया, इसलिए संसार सुख निःसार है। सिद्धदशा सदैव शोभायमान होती है।

प्रश्न — हमें तो सुख इन्द्रियों से उत्पन्न होता दिखाई देता है, शब्द, रूप, रस, गन्ध आदि में सुख दिखाई देता है, खाने-पीने में सुख दिखाई देता है। सिद्धों के इन्द्रियाँ तथा शरीर तो हैं नहीं, तब फिर उन्हें सुख कैसे हो सकता है ?

उत्तर — सुनो! अज्ञानी पाँच इन्द्रियों के विषयों में कल्पना से सुख मानता है। आँख से रूप देखकर, कान से प्रशंसा सुनकर, नाक से गन्ध सूंघकर इत्यादि अनेक प्रकार से विषय सेवन कर सुख की कल्पना करता हैं; परन्तु वह तो आकुलता है। अतीन्द्रिय सुख पाँच इन्द्रिय के व्यापाररहित, निराकुल स्वभाववाला है। लोक में भी यह देखा जाता है। मुनिराज के ऐसा ही सुख होता है, उनके बाहर का कोई संयोग नहीं है, फिर भी वे आनन्दरस में निमग्न हैं। जब अन्तर्मुखदशा होती है, तब बाहर की खबर भी नहीं रहती। पाँच इन्द्रिय तथा राग का अवलम्बन छोड़कर निर्विकल्प ध्यान में लीन है, वहाँ राग से भिन्न अपने अनुभव से सुख प्रगट हुआ है, वह अतीन्द्रिय सुख है। एकान्त ध्यान में मुनि मग्न हैं; शरीर, मन, वाणी तथा राग से रहित हैं, बाहर की कुछ भी खबर नहीं है; फिर भी आत्मा का सुख है।

सांसारिक सुख बाधासहित है। शरीर सुन्दर होने पर भी रोग आ जाता है, इसलिए उसमें सुख नहीं है। शरीर हाड़-माँस से भरा हुआ है तथा भगवान आत्मा आनन्द से भरपूर है, आनन्दस्वरूप है। उपवास के कारण शरीर क्षीण हो गया हो, फिर भी मुनिराज अन्दर आनन्द में मग्न हैं, सुख के लिए बाह्य साधनों की आवश्यकता नहीं है।

अज्ञानी जीव बाह्य संयोगों में सुख मानता है, परन्तु सुख तो आत्मा में है। मुनिराज के अतीन्द्रिय सुख है — ऐसा बताकर सिद्धों के विशेषता से अतीन्द्रिय सुख है — यह बताया है। सर्वप्रदेशों में आल्हादरूप एक पारमार्थिक परमानन्द परिणत मुक्त जीवों के ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, पुण्य-पापादि भावकर्म और शरीरादि नोकर्म से रहित अतीन्द्रिय सुख है — ऐसे सुख में मुक्तजीव लीन हैं।

प्रश्न — आपने मोक्ष में अनन्त आनन्द अनन्त सुख बतलाया सो ठीक है, लेकिन जब कर्म रास्ता देवें, तब तो सिद्ध (मुक्त) हो सकूँ। संसारी जीव के निरन्तर कर्म का बन्धन होता है; उसी प्रकार सदा कर्मों का उदय भी रहता है तो फिर मोक्ष का अवसर कैसे प्राप्त हो ? कर्म छूटें तो आत्मा के पास जाना बने, कर्म से छूटे तो मोक्षमार्ग हो और तब मोक्ष हो ?

उत्तर — जैसे कोई चतुर पुरुष अपने शत्रु की क्षीण अवस्था को देखकर विचार करता है कि शत्रु को मारने का यह अवसर है — ऐसा विचार कर शत्रु को मारता है। इसी प्रकार जब कर्मों की स्थिति अनुभाग में मन्दता होती है अर्थात् अपने आत्मा के स्वभाव की ओर का पुरुषार्थ बढ़ता है, जब जीव स्वयं कर्मों का क्षयोपशम करता है, तब कर्म मन्द होते हैं। जब कर्म मन्द हों, तब मैं अन्दर जाऊँ — ऐसी राह देखने की बात ही नहीं है; परन्तु जब जीव स्वयं स्वभाव को समझने का पुरुषार्थ करता है, तब कर्म की स्थिति व अनुभाग घट जाता है; उस समय पाँच लब्धि प्राप्त कर कर्मशत्रु का नाश करता है।

जीव ने कषाय की मन्दता करके पुरुषार्थ द्वारा दर्शन-ज्ञान-वीर्य को प्राप्त किया; वही क्षयोपशमलब्धि है। कषाय का मन्द होना विशुद्धिलब्धि है। सच्चे देव-गुरु से स्वलक्ष्यपूर्वक उपदेश सुनना देशनालब्धि है। इतना तो सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के पूर्व का पुरुषार्थ है। कर्म की स्थिति अनुभाग घटना प्रायोग्यलब्धि है तथा सम्यग्दर्शन प्राप्ति के विशिष्ट परिणाम प्राप्त होना करणलब्धि है — इनमें से चार लब्धि तो जीव अनेक बार प्राप्त कर लेता है; परन्तु पाँचवीं करणलब्धि समकित तथा चारित्र के साथ ही होती है। वह अन्दर के परिणामों की बात है। सम्यग्दर्शन तो द्रव्य के आधार से प्रगट होता है; परन्तु यहाँ लब्धि से होता है — यह बात की है। आगमभाषा में कहें तो जीव पाँच लब्धियों से कर्म शत्रु का नाश करता है।

जीव ने पुरुषार्थ से कर्म का स्थिति, अनुभाग कम किया है, अतः विशेष पुरुषार्थ से कर्म का सर्वथा अभाव हो जाता है। सर्वप्रथम पुरुषार्थ से कषाय मन्द करके सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा करने से कर्म का स्थिति और अनुभाग कम हुआ है। ऐसे समय में जीव स्वभावसन्मुखता का पुरुषार्थ करने में समर्थ है। जीव के तीव्र कषायरूप परिणाम तथा कुदेवादि के प्रति बहुमान के समय स्वभावसन्मुख परिणाम नहीं हो सकते; परन्तु देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा करके, कषाय मन्द करके, पश्चात् कषाय का अभाव करता है — ऐसा क्रम बताया है। कषाय मंदता के कारण कर्म मन्द नहीं होते, बल्कि सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का बहुमान आते ही कर्म स्वयं मन्द हो जाते हैं। यहाँ यह बताया गया है कि कर्म के तीव्र स्थिति, अनुभाग के समय उनके विनाश का अवसर नहीं है; परन्तु अल्प स्थिति, अनुभाग के समय उनके विनाश का अवसर है। कर्म की सत्ता आत्मा का कुछ कर सके — ऐसा नहीं है। आत्मा की तीव्र परिणामवाली नैमित्तिकदशा के समय कर्म तीव्ररूप होता है तथा मन्द परिणामवाली नैमित्तिकदशा के समय कर्म भी मन्द होता है — मात्र इतना ज्ञान यहाँ अपेक्षित है।

जीव के क्षयोपशमभाव, कषाय मन्दतारूप भाव तथा देव-गुरु का उपदेश श्रवणरूप भाव के समय अकषायभाव प्रगट करने का अवसर है; कुदेवादि की श्रद्धा में तो उसे कर्मविनाश का अवसर ही नहीं है — ऐसा यहाँ बताया है; परन्तु ऐसा होने पर कषाय मन्दता से जीव को धर्म प्राप्त हो जाये, यह बात नहीं है। कषाय मन्द करके भी द्रव्यलिङ्गी मुनि अकषायीभाव प्रगट नहीं करता, अतः उसके प्रति 'अवसर की प्राप्ति' — ऐसा कथन नहीं होता। जो सम्यग्दर्शन प्रगट करता है, उसके प्रति कषायमन्दता आदि लब्धियाँ निमित्त कही जाती हैं।

जो जीव खाने-पीने, कमाने आदि अनेक कार्यों में पुरुषार्थ करता है और धर्म की बात में होनहार बताकर स्वभावसन्मुखता का पुरुषार्थ नहीं करता, वह तो स्वछन्दी है।

कषाय की मन्दतापूर्वक कर्म की स्थिति अन्तःकोड़ाकोड़ी प्रमाण रहकर, जब पत्थर, हड्डीरूप अनुभाग शक्ति को घटाकर लकड़ी और लतारूप रह जाती है, तब भी जो जीव अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणरूप परिणाम अथवा जिनसे कर्मों का नाश होता है — ऐसे निजशुद्धात्माभिमुख परिणाम प्रगट नहीं करता अथवा अकषायस्वभाव का लक्ष्य नहीं करता तो यह अभव्य का लक्षण है। चार लब्धि मिलने

पर भी आत्मस्वभाव सन्मुख परिणाम का नहीं होना, अभव्यता का ही लक्षण है। जो सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का बहुमान करता है; परन्तु स्वभाव का बहुमान नहीं करता, वह वर्तमान में मोक्षमार्ग प्रगट करने लायक नहीं है।

'प्रवचनसार' में कहा है कि 'केवली के अतीन्द्रियसुख है' — ऐसा जो नहीं मानता, वह अभव्य है, वर्तमान में मोक्ष के लायक नहीं है।

इसी प्रकार 'योगसार' कथित रत्नादि नवदृष्टान्त भी मोक्ष के विषय में जाननेयोग्य हैं।

यहाँ शिष्य शङ्का करता है कि सबका मोक्ष हो जाने पर संसार शून्य हो जायेगा, तब फिर क्या करना ? आत्मा की परमानन्ददशा प्राप्त करनेवाले छह महीना आठ समय में ६०८ जीव मोक्ष जाते हैं; अतः कभी यह जगत शून्य हो जायेगा।

समाधान - भाई! जैसे धन का लोभी मनुष्य धन की रुचि के कारण यह विचार नहीं करता कि सभी के पैसेवाले हो जाने पर काम करनेवाला मनुष्य-नौकर कौन रहेगा? उसी प्रकार मोक्ष का अभिलाषी ऐसी शङ्का नहीं करता।

यहाँ मोक्षतत्त्व का वर्णन चल रहा है। ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की रुचि एवं रमणता करने से जो पूर्णानन्ददशा की प्राप्ति हुई, वही मोक्ष है।

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि आत्मा को समझकर मोक्ष की प्राप्ति करनेवाले अनादिकाल से होते रहे हैं तो क्या जीव खतम हो जायेंगे। अनादिकाल से तो जीव जितने हैं, उतने ही हैं और उनमें से यदि अनन्त जीव मोक्ष प्राप्त कर लेंगे तो कोई संसारी नहीं रहेगा और न साधक ही रहेगा तो फिर बाद में सिद्ध भी नहीं होंगे। जैसे अनाज का बहुत बड़ा भण्डार हो और उसमें से थोड़ा-थोड़ा अनाज निकालें तो वह भण्डार पूरा खाली हो जायेगा, उसी प्रकार आत्मा का भान करके जीवों की मुक्ति होती ही रहे तो फिर बाद में यह जगत ही खाली हो जायेगा — ऐसा शिष्य का प्रश्न है।

समाधान — जैसे भविष्यकाल भूतकाल में परिवर्तित हो जाता है और उससे भविष्य काल की समय-राशि में न्यूनता तो आती है; लेकिन भविष्यकाल खतम हो जाये — ऐसा कभी नहीं होता; उसी प्रकार जीव मोक्ष में जाते हैं, उससे संसारी जीवों की संख्या में कमी आती है; लेकिन सर्वथा खाली हो जावे — ऐसा नहीं होता है।

जीवराशि का कभी अन्त नहीं आता है। अभी तक अनन्तजीव मोक्ष गये हैं तो भी अभी तक जगत शून्य नहीं हुआ। अभव्य तथा अभव्य समान भव्यजीवों को मोक्ष नहीं होता, इसलिए जगत शून्य नहीं हो सकता। मुक्ति की अपात्रतावाले अभव्य तथा क्रियाकाण्ड में धर्म मानने वाले बहुत हैं, वे मोक्ष नहीं पायेंगे और संसार में ही रखड़ेंगे। इसलिए जगत शून्य नहीं हो सकता है। मोक्ष की अभिलाषावाले को जगत शून्य हो जायेगा — ऐसी शङ्का नहीं होती। इस जगत में क्रियाकाण्ड की रुचिवाले अनन्तजीव हैं, स्वभाव से मोक्ष होता है — यह बात उन्हें समझ में नहीं आती। ऐसे अनन्तजीव हैं, इसलिए जगत शून्य नहीं होगा।

इस प्रकार संक्षेप में मोक्षतत्त्व के व्याख्यानरूप एक गाथा सूत्र से पञ्चम स्थल समाप्त हुआ।

❖❖❖

वैराग्य महल के शिखर के शिखामणि

मुनिराज का वैराग्य तो कोई और ही होता है। '**मुनिराज तो वैराग्यमहल के शिखर के शिखामणि हैं।**' वैराग्य का महल, उसका शिखर और उसके शिखामणि। अहाहा! अन्तर में वैराग्य एवं आनन्द की कैसी दशा!

नियमसार के टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव तो यहाँ तक कहते हैं कि मुनिराज अर्थात् स्ववश योगी को भूमिकानुसार किञ्चित् राग का मन्द अंश है, तथापि सर्वज्ञ-वीतराग में और उन स्ववश योगियों में कुछ भी भेद नहीं है; अरे रे! हम जड़ हैं कि उनमें भेद मानते हैं। सच्चे भावलिङ्गी सन्त की यह बात है। बाह्य द्रव्यलिङ्ग तो अनन्तबार धारण किया, नग्न हुआ, हजारों रानियाँ छोड़ीं - वह कोई वैराग्य नहीं है, वह कोई त्याग नहीं है।

भीतर पूर्णानन्दस्वभाव में जाने पर वहाँ स्वरूप की आसक्ति (लीनता) होती है और राग की आसक्ति छूट जाती है - ऐसा ज्ञान एवं वैराग्य ज्ञानी के अन्तर में वर्तता है। *(- वचनामृत प्रवचन, २/१९८)*

इसके पश्चात्, छट्ठे स्थल में 'गाथा के पूर्वार्ध से पुण्य-पापरूप दो पदार्थों का स्वरूप और उत्तरार्ध से पुण्य और पाप प्रकृतियों की संख्या मैं कहता हूँ' — ऐसा अभिप्राय मन में रखकर भगवान इस सूत्र का प्रतिपादन करते हैं।

सुहअसुहभावजुत्ता पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा।
सादं सुहाउ णामं गोदं पुण्णं पराणि पावं च॥३८॥

शुभाशुभभावयुक्ताः पुण्यं पापं भवन्ति खलु जीवाः।
सांत शुभायुः नाम गोत्रं पुण्यं पराणि पापं च॥३८॥

शुभाशुभपरिणामयुत जिय पुण-पाप सातावेदनी।
शुभ आयु नामरु गोत्र पुण अवशेष तो सब पाप हैं॥३८॥

गाथार्थ :— शुभ और अशुभ परिणामों से युक्त जीव वास्तव में पुण्य-पापरूप होते हैं; सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभनाम तथा उच्चगोत्र - ये पुण्य प्रकृतियाँ हैं, शेष सब पाप प्रकृतियाँ हैं।

टीका :— **'पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा'** चिदानन्द एक सहज शुद्ध-स्वभाव से जीव पुण्य, पाप, बन्ध, मोक्ष आदि पर्यायरूप विकल्पों से रहित होने पर भी परम्परा से आगत अनादि कर्मबंधरूप पर्याय से यथार्थ में स्पष्टरूप से पुण्य और पापरूप होते हैं। किस प्रकार के होते हुए ? **'सुहअसुहभावजुत्ता'' ''उद्गममिथ्यात्वविषं भावय दृष्टिं च कुरु परां भक्तिम्। भावनमस्काररतो ज्ञाने युक्तो भव सदापि।१। पञ्च महाव्रतरक्षां कोपचतुष्कस्य निग्रहं परमम्। दुर्दान्तेन्द्रियविजयं तपःसिद्धिविधौ कुरुद्योगम्॥** (अर्थात् मिथ्यात्वरूपी विष का वमन करो, सम्यग्दर्शन की भावना करो, उत्कृष्ट भक्ति करो और भावनमस्कार में तत्पर होकर सदा ज्ञान में युक्त रहो। पाँच महाव्रतों की रक्षा करो, क्रोधादि चार कषायों का पूर्ण निग्रह करो, प्रबल इन्द्रियों का विजय करो और तप को सिद्ध करने की विधि का उद्यम करो।) इस प्रकार ऊपर की दो आर्या में कथित लक्षणयुक्त शुभोपयोगरूप परिणाम से और उससे विपरीत अशुभोपयोगरूप परिणाम से युक्त-परिणत जीव पुण्य-पापरूप होते हैं। अब, पुण्य और पाप के भेद कहते हैं। **'सादं**

सुहाउ णामं गोदं पुण्णं' सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभनाम और उच्च गोत्र — ये कर्म तो पुण्यरूप हैं। **'पराणि पावं च'** उनसे अन्य कर्म पाप हैं। वे इस प्रकार हैं — सातावेदनीय एक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव — ये तीन आयुष्य, सुभग, यश:कीर्ति, तीर्थङ्करपना अदि नामकर्म की सैंतीस और उच्च गोत्र एक — इस प्रकार कुल ब्यालीस पुण्य प्रकृतियाँ जानना। शेष ब्यासी पाप प्रकृतियाँ हैं। 'दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता, शील और व्रतों में अतिचाररहित आचरण, निरन्तरज्ञानोपयोग, सम्वेग, शक्तिअनुसार त्याग, शक्तिअनुसार तप, साधुसमाधि, वैयावृत्य करना, अर्हन्तभक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, आवश्यकों में हानि न करना, मार्गप्रभावना और प्रवचनवात्सल्य — ये तीर्थङ्कर प्रकृति के बन्ध के कारण हैं।' इन उपरोक्त लक्षणयुक्त सोलह भावनाओं से उत्पन्न तीर्थङ्कर नामकर्म विशिष्ट पुण्य है। सोलह भावनाओं में परमागम की भाषा से **'मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट्। अष्टौ शंकादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः॥** (**अर्थः**- तीन मूढ़ता, आठ मद, छह अनायतन और आठ शङ्कादि दोष — ये पच्चीस सम्यग्दर्शन के दोष हैं।' इस श्लोक में कथित पच्चीस मलरहित (सम्यक्त्वभावना) और अध्यात्मभाषा से निजशुद्धात्मा उपादेय है — ऐसी रुचिरूप सम्यक्त्व की भावना ही मुख्य है — ऐसा जानना।

शङ्का — सम्यग्दृष्टि जीव को तो पुण्य-पाप दोनों हेय हैं तो वह पुण्य क्यों करता है?

वहाँ युक्तिसहित **समाधान** करते हैं :- जिस प्रकार कोई मनुष्य अन्य देश में स्थित (अपनी) मनोहर स्त्री के पास से आये हुए मनुष्यों को उसके लिये दान देता है और सम्मान आदि करता है; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भी उपादेयरूप से निज शुद्धात्मा की ही भावना करता है और जब चारित्रमोह के उदय से उसमें (शुद्धात्मा की भावना करने में) असमर्थ होता है, तब निर्दोष परमात्मस्वरूप अर्हन्त और सिद्धों की तथा उनके आराधक आचार्य, उपाध्याय और साधुओं की, परमात्मपद की प्राप्ति के लिये और विषय-कषायों से बचने के लिये, दान-पूजा आदि से अथवा गुणों की स्तुति से परमभक्ति करता है। उस भोगाकांक्षादि निदानरहित परिणाम से तथा नि:स्पृहवृत्ति से विशिष्ट पुण्य का आस्रव होता है। जिस प्रकार धान की खेती करते हुए किसान को घास, छिलका आदि मिलता ही है; उसीप्रकार उस पुण्य से जीव स्वर्ग में देवेन्द्र, लोकान्तिकदेव आदि की विभूति प्राप्तकर विमान, परिवार आदि सम्पदाओं को जीर्ण

तृणसमान गिनता हुआ पाँच महाविदेहों में जाकर देखता है। क्या देखता है ? 'वह यह समवसरण है, वह यह वीतराग सर्वज्ञ भगवान है, वे इस भेदाभेद रत्नत्रय के आराधक गणधरदेवादि हैं। जो पहले सुने थे, उन्हें आज प्रत्यक्ष देखा' — ऐसा समझकर धर्म में बुद्धि विशेष दृढ़ करके चौथे गुणस्थान के योग्य आत्मभावना को नहीं छोड़ता हुआ, भोग भोगता हुआ भी धर्मध्यान में काल बिताकर स्वर्ग में से आकर तीर्थङ्करादि पद को प्राप्त करता है तो भी पूर्वभव में भावित विशिष्ट भेदज्ञान की वासना के बल से मोह नहीं करता है। तत्पश्चात् जिनदीक्षा लेकर पुण्य और पाप से रहित निज परमात्मा के ध्यान द्वारा मोक्ष जाता है। मिथ्यादृष्टि तो तीव्र निदानबन्धवाले पुण्य से भोग प्राप्त करके फिर अर्ध चक्रवर्ती रावण आदि की भाँति नरक में जाता है।

इस प्रकार उपरोक्त लक्षणयुक्त पुण्य-पापरूप दो पदार्थों के साथ पूर्वोक्त सात तत्त्व ही नौ पदार्थ हैं — ऐसा जानना॥३८॥

इस प्रकार श्री नेमिचन्द्रसैद्धान्तिकदेव विरचित द्रव्यसंग्रह नामक ग्रन्थ में '**आसव बंधण**' आदि एक सूत्र गाथा, तत्पश्चात् दस गाथाओं द्वारा छह स्थल — इस प्रकार कुल ग्यारह सूत्रों द्वारा सात तत्त्व और नौ पदार्थों का प्रतिपादन करने वाला द्वितीय महाधिकार समाप्त हुआ॥२॥

गाथा ३८ पर प्रवचन

शुभ और अशुभ परिणामों से युक्त जीव वास्तव में पुण्य-पापरूप होते हैं, सातावेदनीय, शुभआयु, शुभनाम तथा उच्चगोत्र — ये पुण्य प्रकृतियाँ हैं, शेष सब पाप प्रकृतियाँ हैं।

यह पुण्य-पाप के स्वरूप का कथन है — आत्मा का स्वभाव चिदानन्द है, पुण्य-पाप विभाव है; वह आत्मा का वास्तविक स्वभाव नहीं है। आत्मा, पुण्य-पाप से रहित है और मोक्ष की एक समय की पर्यायमात्र भी आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा आदि-अन्त से रहित अनादि-अनन्त है।

पुण्य-पाप दोनों एक समय पुरता है, त्रिकाल नहीं है। मोक्ष भी एक समय की पर्याय है, पुण्य-पाप आदि सात तत्त्व पर्याय के भेद हैं। आत्मा का त्रिकाली स्वभाव तो प्रतिसमय की संसारदशा और संवरदशा आदि भेदों से रहित अनन्त गुणों का पिण्ड अभेदरूप है तो भी आत्मा में अनादि से कर्मबन्धन है; उसके निमित्त से पर्याय में पुण्य-पाप के परिणाम होते हैं। पर्याय अपेक्षा से, वे पुण्य-पाप जीव के हैं, जड़ के नहीं;

क्योंकि पर्याय अपेक्षा से उन्हें जीव स्वयं धारण करता है, इसलिए पुण्य-पाप के समय आत्मा शुभ-अशुभभावरूप है — ऐसा कहा जाता है। पुण्य-पाप का भाव क्षणिक है, पर्याय में है; द्रव्य में नहीं। यदि द्रव्य में हो तो कभी टले नहीं।

पहले वस्तु में भेद नहीं है — ऐसा बताया, फिर भी पर्यायदृष्टि से आत्मा अनादि से पुण्य-पापरूप परिणमित हुआ है — ऐसा बताया। पुण्य का क्या स्वरूप है ? कुदेवादि की मान्यता को छोड़ने का विकल्प पुण्य है — 'आत्मा ध्रुव शुद्ध है' — इत्यादि प्रकार से जो सच्चा तत्त्व है, उसके विरुद्ध कहनेवाले की श्रद्धा छोड़ो — ऐसा सुनकर कोई विचार करता है, उसे भी शुभभाव होता है, धर्म नहीं। धर्म तो आत्मा के अवलम्बन से होता है; लेकिन इससे पहले ऐसा विचार आता है कि कोई वास्तविक स्वरूप जाने बिना विपरीत स्वरूप कहता हो, पुण्य से धर्म बताता हो, उसकी श्रद्धा छोड़ना — ऐसा विकल्प, वह पुण्य है।

आत्मा ज्ञानादि अनन्तगुणों का पिण्ड है और शरीर ज्ञान से रहित पुद्गल का पिण्ड है। शरीर को अपना मानना मिथ्यात्व है; परन्तु शरीर से एकत्वबुद्धि छूटकर, ऐसा विकल्प उठे कि सहजानन्द आत्मा की श्रद्धा करना, वह सम्यग्दर्शन है। इस समय पर्याय में जो शुभभाव होता है, वह पुण्य है; परन्तु धर्म नहीं है। 'आत्मा ज्ञानानन्द है' — इस प्रकार सम्यग्दर्शन की भावना करना, वह पुण्य है, राग है। यहाँ निर्विकल्प भावना की बात नहीं है। यहाँ तो रागसहित भावना की बात है। सम्यग्दर्शन की भावना पुण्य है, राग है; वह मुक्ति का कारण नहीं है। अरहन्त, सिद्ध और निर्ग्रन्थ मुनिराज की भक्ति करना पुण्य है, पर धर्म नहीं। भावनमस्कारपूर्वक ज्ञान में लगूँ, ज्ञानस्वरूप में ही लगा रहूँ — ऐसा विकल्प राग है, पुण्य है; धर्म नहीं।

आनन्दामृत से तृप्त निर्ग्रन्थ मुनिराज को जो पञ्च महाव्रत का विकल्प उठता है; वह पुण्य है, धर्म नहीं।

क्रोधादि कषायों का निग्रह करूँ — ऐसा परिणाम शुभभाव है, पुण्य है; अकषायी हो जाऊँ — ऐसा परिणाम भी पर्याय पर लक्ष्य जाने से शुभभाव है, पुण्य है, धर्म नहीं; धर्म तो ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव के लक्ष्य से होता है।

जीव की प्रबल शत्रु भावेन्द्रियाँ हैं, उन्हें जीतने का एवं स्वभाव की तरफ ढलने का विकल्प; वह शुभराग है, पुण्य है। बारह प्रकार के तप करने का विकल्प पुण्य

परिणाम है। लोग तप में धर्म मानते हैं; परन्तु वह सब पुण्य परिणाम है। चिदानन्द आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-रमणता धर्म है।

इस प्रकार कहे अनुसार जो शुभभाव करता है, वह शुभरूप होता है। उसे पुण्य होता है, धर्म नहीं।

अब, अशुभभाव का स्वरूप बताते हैं —

मिथ्या देव-शास्त्र-गुरु को मानना, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा नहीं करना, हिंसा, झूठ, चोरी का भाव, क्रोधादि कषायरूप भाव, अपने उपयोग को इन्द्रिय विषयों में लगाना, खाने-पीने का विकल्प करना, पैसा रखने का, ब्याज लेने का भाव इत्यादि सभी परिणाम पापभाव हैं — इस प्रकार जीव पुण्य-पाप से युक्त है। यह परिणाम जीव की दशा में होता है, कर्म के कारण नहीं होता। यहाँ 'युक्त' शब्द का प्रयोग जीव की स्वतन्त्रता के लिए है।

अब, पुण्य-पाप प्रकृति की चर्चा करते हैं। पुण्य परिणाम से सातावेदनीय, देवायु, मनुष्यायु, तिर्यञ्चायु, शुभनाम तथा उच्चगोत्र का बन्ध होता है। यह पुण्य प्रकृतियाँ हैं। इनके अलावा असातावेदनीय, नीचगोत्र, अशुभनाम आदि तथा चार घातियाकर्म, ये पाप प्रकृतियाँ हैं।

जैसे परिणाम होते हैं, वैसी प्रकृति बँधती है। सातावेदनीय की एक प्रकृति, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव इस प्रकार आयु की तीन प्रकृति, सुभग, सुस्वर, यशस्कीर्ति, तीर्थङ्कर आदि नामकर्म की ३७ प्रकृति, उच्चगोत्र की एक प्रकृति — इस प्रकार ४२ पुण्यप्रकृति होती हैं, शेष सभी पापप्रकृति होती हैं।

अब, पुण्य प्रकृतियों में तीर्थङ्कर नामकर्म की प्रकृति अलग से बताते हैं। यह प्रकृति सम्यग्दृष्टि को होती है।

धर्मी जीव पुण्य-पाप में धर्म नहीं मानता, कुदेवादि का सत्कार नहीं करता तथा सुदेवादि का सत्कार करता है। ऐसे शुभ परिणाम तीर्थङ्कर प्रकृति बन्ध के कारण हैं। तथापि ज्ञानी को उस परिणाम एवं बन्ध का आदर नहीं है, इस प्रकृति का बन्ध सोलह कारणों से होता है।

दर्शनविशुद्धि — 'आत्मा अखण्डानन्द स्वरूप है' — ऐसी प्रतीति के बाद सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की सेवा, उपासना, पूजन, भक्ति का विकल्प उठता है; परन्तु साथ में

उसका निषेध वर्तता है। आत्मा की प्रतीति के कारण — ऐसा उत्कृष्ट शुभभाव आता है कि तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध हो जाता है।

विनयसम्पन्नता — शुद्धात्मा का विनय ही सच्चा विनय है। आत्मा की विनय के साथ-साथ सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का आदर बहुमान आना तीर्थङ्कर प्रकृति बन्ध का कारण है।

शील और व्रतों का अनतिचार पालन — जिन्हें आत्मा का भान हों — ऐसे कोई मुनिराज अथवा गृहस्थ को अतिचाररहित व्रत पालने का विकल्प उठता है, उसमें तीर्थङ्कर प्रकृति बँध जाती है। जो आत्मा के भान बिना व्रत पालता है — यह प्रकृति उसे नहीं बँधती। वह तो संसार में ही रखड़ता है। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, देहादि की क्रिया का स्वामी अथवा कर्ता नहीं है, जिन्हें ऐसा भान है, उन्हें ऐसा उत्कृष्ट शुभभाव आता है कि उन्हें तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध होता है।

अभीक्ष्णज्ञानोपयोग — धर्मात्मा जीव अन्तर ज्ञानस्वरूप आत्मा में ही रमण करते हैं, लेकिन फिर भी देव-शास्त्र-गुरु क्या कहते हैं — ऐसा विकल्प उठता है, वह शुभराग है; परन्तु उन्हें उसका आदर नहीं है और इसी में उन्हें तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध होता है।

संवेग — मोक्ष स्वभाव की प्रतीति का विकल्प उठना संवेग है और आत्मा में लीन हो तब मोक्ष हो — इस प्रकार ख्याल होने पर भी स्वभाव में उग्र होऊँ — ऐसी जो वृत्ति उठती है, उसे सम्वेग का शुभ परिणाम कहते हैं। उसी समय इस प्रकृति का बन्ध हो जाता है।

शक्ति अनुसार त्याग — सम्यग्दृष्टि ज्ञानी धर्मात्मा स्वयं के परिणाम को नापने के लिए भोगों का शक्तिपूर्वक त्याग करते हैं, भावुकता में सीधे मुनि नहीं बन जाते, अपना पुरुषार्थ देखते हैं, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव देखते हैं — इस प्रकार स्वशक्ति को देखकर त्याग करते हैं। उन्हें इस प्रकार का शुभराग आता है; लेकिन वे उसे अपना नहीं मानते — ऐसे शुभराग में तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध होता है।

शक्ति अनुसार तप — धर्मी जीव यथाशक्ति उपवास आदि करते हैं। स्वभाव की दृष्टिपूर्वक यथाशक्ति तपश्चरण का शुभभाव आता है, उससे तीर्थङ्कर प्रकृति बँध जाती है।

साधु समाधि — साधक जीव को साधक अर्थात् शान्ति उत्पन्न करने का भाव, यह शुभराग है। वीतराग सन्त मुनिराज को मृत्यु के समय अनुकूलता कैसे हो — ऐसा राग शुभराग है और वह तीर्थङ्कर प्रकृति का कारण है।

वैयावृत्य — धर्मात्मा जीव की सेवा करना, समाधिमरण के समय उनके पास रहकर सेवा करूँ — ऐसा वैयावृत्य का भाव शुभभाव है, वह व्यवस्थित राग होने से उसी समय आता है। वह तीर्थङ्कर प्रकृति का कारण है।

अर्हन्तभक्ति — जिसे अठारह दोषरहित सर्वज्ञदशा प्रगट हुई, वह सर्वज्ञ है। उनके प्रति भक्ति का भाव होना, शुभभाव है; उसमें धर्मी जीव को तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध होता है।

आचार्यभक्ति — जिन्हें आत्मभानपूर्वक बाहर में नग्नदशा प्रगट हुई है और आत्मा में विशेष लीनता रहती है, जो स्वयं पञ्चाचार का पालन करते हों, दीक्षा देते हों; वे आचार्य हैं, उनकी भक्ति करना आचार्यभक्ति है और ऐसे भक्ति के भाव होने से तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध होता है।

बहुश्रुतभक्ति — बहुश्रुतज्ञानी की भक्ति का भाव तीर्थङ्कर प्रकृति के बन्ध का कारण है।

प्रवचनभक्ति — श्री सर्वज्ञदेव के मुखारविन्द से दिव्यध्वनि में आये षटखण्डागम की एवं अन्य समस्त वीतरागता के पोषक शास्त्रों की भक्ति का विकल्प शुभराग है।

षट् आवश्यक — सम्यग्दृष्टि के देह की क्रिया का आदर नहीं होने पर भी, मैं सामायिक करूँ, चौबीस तीर्थङ्कर भगवन्तों का वन्दन करूँ, कायोत्सर्ग, प्रतिक्रमणादि करूँ — ऐसा जो शुभराग स्वयं की भूमिका में आता है। उसमें तीर्थङ्कर नामकर्म की प्रकृति बँध जाती है।

मार्गप्रभावना — धर्मी जीव को सच्चे मोक्षमार्ग की प्रभावना का राग आता है, ज्ञानी की भूमिका में ऐसा राग आता ही है।

प्रवचनवात्सल्य — द्रव्यश्रुत के प्रति आदर, बहुमान का भाव धर्मी के होता है। जिस प्रकार गाय को बछड़े के प्रति निःस्वार्थ भाव से प्रेम उमड़ता है, उसी प्रकार ज्ञानी जीव को प्रवचनादि का शुभभाव आता है। उसे प्रवचनवात्सल्यभावना कहते हैं।

इस प्रकार तीर्थङ्करप्रकृति बन्ध के सोलह कारण कहे; इनके लक्षण को धारण करनेवाली सोलह भावनाएँ हैं।

इससे जो तीर्थङ्कर नामकर्म बँधता है, वह एक विशिष्ट प्रकार का पुण्य है। जिसे शुभभाव का आदर नहीं है और शुद्धभाव का आदर है — ऐसे किसी सम्यग्दृष्टि जीव को यह प्रकृति बँधती है।

यहाँ नव तत्त्वों में पुण्य-पाप की बात चलती है। उनमें तीर्थङ्कर पुण्य-प्रकृति पुण्यरूप में सर्वोत्कृष्ट है। तीर्थङ्कर प्रकृति बन्ध में सम्यग्दर्शन, विनय और राग की मुख्यता है। जिसे शास्त्रानुकूल कहा हुआ शुद्ध सम्यग्दर्शन है, ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव के उत्कृष्ट शुभराग में पुण्य-प्रकृति का बन्ध होता है।

आगमभाषा में कहें तो जिसे पच्चीस दोषरहित सम्यग्दर्शन होता है, उसे ही तीर्थङ्कर प्रकृति बँधती है।

उसे त्रिमूढ़ता (देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता, लोकमूढ़ता) रहित होना चाहिए।

यह देव सच्चा है और वह देव भी सच्चा है — ऐसा मानना देवमूढ़ता है। जिसे सभी गुरु कहते हैं — ऐसे गुरु नामधारी सभी को गुरु मानना, गुरुमूढ़ता है। द्रोपदी के पाँच पति मानना, लोकमूढ़ता है। महासती द्रोपदी के एक अर्जुन ही पति था; पाँच नहीं।

लोक में लोक प्रचलन के कारण लोग ऐसा मानते हैं कि द्रोपदी के पाँच पति थे, कोई विचार नहीं करता; परन्तु सम्यग्दृष्टि को ऐसी मूढ़ता नहीं होती। सम्यग्दृष्टि को आठ मद नहीं होते। स्वभाव की दृढ़ता और प्रतीति होती है, उसे अपनी अल्प पर्याय का भी अभिमान नहीं तो फिर जाति, कुल, रूप, विद्या, अधिकार, तप आदि का मद कैसे हो सकता है ?

ज्ञायकस्वभाव के भान के कारण ज्ञानी को पर का अभिमान नहीं होता। जो धर्मस्थान नहीं हैं, उसे धर्मी छोड़ देता है। कुगुरु, कुदेव, कुधर्म तो धर्म में निमित्त भी नहीं हैं। सर्वज्ञ से विरुद्ध कहनेवाला कुस्थान धर्म के लिए उचित नहीं है तथा कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र और उनके सेवक, इस प्रकार छह अनायतन हैं, वे आदरणीय नहीं हैं, उपादेय नहीं हैं। शङ्का, कांक्षा इत्यादि आठ दोष धर्मी में नहीं होते।

❖❖❖

३
मोक्षमार्ग अधिकार

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-३९

इसके पश्चात् बीस गाथाओं तक मोक्षमार्ग का कथन करते हैं। वहाँ प्रारम्भ में **'सम्मद्दंसण'** इत्यादि आठ गाथाओं द्वारा निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग के प्रतिपादन की मुख्यता से प्रथम अन्तराधिकार है, तत्पश्चात् **'दुविहं पि मुक्खहेउं'** आदि बारह सूत्रों द्वारा ध्यान, ध्याता, ध्येय और ध्यानफल के कथन की मुख्यता से द्वितीय अन्तराधिकार है। इस प्रकार तीसरे अधिकार में समूहरूप से भूमिका है।

अब, प्रथम ही सूत्र के पूर्वार्ध से व्यवहारमोक्षमार्ग और उत्तरार्ध से निश्चयमोक्षमार्ग कहते हैं —

सम्मद्दंसणणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे।
ववहारा णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा॥३९॥

सम्यग्दर्शनं ज्ञानं चरणं मोक्षस्य कारणं जानीहि।
व्यवहारात् निश्चयतः तत्त्रिकमयः निजः आत्मा॥३९॥

सम्यग्दरशसद्ज्ञानचारित्र मुक्तिमग व्यवहार से।
इन तीन मय शुद्धात्मा है मुक्तिमग परमार्थ से॥३९॥

गाथार्थ :— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को व्यवहारनय से मोक्ष का कारण जानो। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमय निज आत्मा को निश्चय से मोक्ष का कारण जानो।

टीका :— **'सम्मद्दंसणणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे ववहारा'** - हे शिष्य! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र — इन तीनों को व्यवहारनय से मोक्ष का कारण जानो। **'णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा'** निश्चय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र — इन तीनों मय निजात्मा ही मोक्ष का कारण है। उसे समझाते हैं :-

वीतराग सर्वज्ञप्रणीत छह द्रव्य, पञ्चास्तिकाय, सात तत्त्व और नौ पदार्थों के सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान और व्रतादि के आचरण के विकल्परूप व्यवहारमोक्षमार्ग है; निज निरञ्जन शुद्धात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-आचरण की एकाग्रपरिणतिरूप निश्चयमोक्षमार्ग है अथवा स्वशुद्धात्मभावना का साधक, बाह्य पदार्थाश्रित व्यवहारमोक्षमार्ग है; मात्र स्वसम्वेदन से उत्पन्न, रागादि विकल्प की उपाधि से रहित — ऐसे सुख की अनुभूतिरूप निश्चयमोक्षमार्ग है अथवा धातुपाषाण में अग्निसमान साधक, वह व्यवहारमोक्षमार्ग है और सुवर्णसमान निर्विकार निजात्मा की उपलब्धिरूप साध्य, वह निश्चयमोक्षमार्ग है। इस प्रकार संक्षेप से व्यवहार और निश्चयमोक्षमार्ग का लक्षण जानना॥३९॥

गाथा ३९ पर प्रवचन

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को व्यवहारनय से मोक्ष का कारण जानो तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमय निज आत्मा को निश्चय से मोक्ष का कारण जानो।

देखो, इस गाथा में 'जाण' — ऐसा कहकर मोक्षमार्ग जानने का उपदेश दिया है। हे शिष्य! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, यह तीनों का जो अविरोधी समुदाय है, उसे तू व्यवहारनय से मोक्ष का कारण जान और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निज आत्मा को निश्चयनय से मोक्ष का कारण जान।

जिसे मोक्षमार्ग समझने की तीव्र अभिलाषा जाग्रत हुई है, उसे समझाते हैं; दूसरे को नहीं। जगत में कहते हैं कि परम पूज्य भगवान महावीरस्वामी कुम्हार के घर समझाने गये थे, परन्तु यह बात झूठ है; क्योंकि निर्ग्रन्थ मुनिराज तीन कषाय का अभाव होने से वीतरागी हुए हैं, वे भी कोई गृहस्थ के घर समझाने नहीं जाते तो तीर्थङ्कर भगवान तो इन्द्र द्वारा रचित समवसरण में ही विराजते हैं, सम्पूर्ण वीतराग और केवलज्ञानी हैं, वे कुम्हार के घर समझाने क्यों जायेंगे ?

मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि धर्म के लोभी जीव धर्म सुनने आये हों तो आचार्य धर्मोपदेश देते हैं — इसका अर्थ है कि जिसे धर्म की दरकार नहीं, उन्हें समझ में आ जाए — ऐसा नहीं है। जिसकी दुकान पर दुनिया माल लेने आये, उसकी महत्ता है तथा जो कपड़े की पोटली बाँधकर माल बेचने घर-घर जाये, उसकी क्या महत्ता ? उसी प्रकार मुनिराज हों अथवा गणधरदेव हों, वह गृहस्थ के घर समझाने जाते हों — ऐसा नहीं होता।

जो शिष्य सुनने आया है, उससे कहते हैं कि हे शिष्य! वीतरागसर्वज्ञकथित मार्ग में १८ दोषरहित सर्वज्ञदेव हैं, भावलिङ्गी मुनिराज गुरु और उनके द्वारा रचित शास्त्र वह आगम है, उन्हें यथार्थरूप से जानने से व्यवहारसम्यक्त्व होता है, पुण्य होता है; परन्तु धर्म नहीं।

सर्वज्ञ भगवान ने छह द्रव्य अनादि-अनन्त कहे हैं, उनमें से कालद्रव्य को एक सम्प्रदाय (मत विशेष) ने उपचारमात्र कहकर छोड़ दिया है अर्थात् उस मत में पाँच ही द्रव्य माने गये हैं। अत: उनके मत में देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप सर्वज्ञ के मार्ग से विपरीत है। व्यवहारश्रद्धा में छह द्रव्यों को भिन्न-भिन्न माने, किसी के कारण कोई है — ऐसा न माने तथा देव-शास्त्र-गुरु, नव तत्त्व, छह द्रव्य को यथार्थरूप माने, उसके तो अभी गृहीत मिथ्यात्व का नाश होता है तथा जिसने स्वतन्त्र द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप और असंख्यात कालद्रव्य त्रिकालवर्ती हैं — ऐसे कालद्रव्य का स्वरूप नहीं माना, वह तो गृहीत मिथ्यादृष्टि है, उसे तो धर्म की गन्ध भी नहीं है।

एक द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य के कारण होती है, कर्म के कारण जीव में विकारी-अविकारी दशा होती है — ऐसा माननेवाले ने द्रव्य की स्वतन्त्रता नहीं मानी। देहादि जड़ द्रव्य, जीव की इच्छा से पलटता है — ऐसा माननेवाले को छह द्रव्य की स्वतन्त्रता का भान नहीं है। व्यवहार से मैं पर का कर सकता हूँ — ऐसा माननेवाले ने वस्तु का स्वतन्त्र परिणामी स्वभाव नहीं माना। यह चश्मा नाक के सहारे स्थित नहीं है, यह स्वयं अपने सहारे स्थित है; क्योंकि यह भी अनन्त परमाणुओं का पिण्ड है और स्वयं के अस्तित्व से त्रिकाल रहता है तथा उसका रूपान्तर, क्षेत्रान्तर अपने कारण, अपनी योग्यता से होता है। कार्य के समय किस पदार्थ का संयोग था, यह ज्ञान कराने के लिए निमित्त की बात आती है।

प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव तो असंयोगी है, नित्य परिणामी है, निमित्ताधीन दृष्टिवाले को वास्तविक वस्तुस्थिति का ज्ञान नहीं होने से वह अपनी मान्यतानुसार उल्टा ही जानता है। जड़कर्म जीव को संसार में भ्रमाता है, जो ऐसा कहता है; उसने जिनेन्द्र प्रणीत तत्त्वों को यथार्थ नहीं जाना, भिन्न-भिन्न नहीं जाना।

समयसार में रागादि को कर्मकृत कहा है, वहाँ क्षणिक विकार त्रिकाली स्वद्रव्य में नहीं है — ऐसी द्रव्यदृष्टि कराने की मुख्यता से रागादि को कर्मकृत कहा है; वहाँ भी

जड़कर्म जीव को रागादि कराते हैं — ऐसा अर्थ नहीं है; क्योंकि राग निश्चय से मेरी योग्यता से मेरी भूल के कारण स्वतन्त्रपने मेरे में हुआ है।

पैसादि पुद्गल देना चाहें तो दे सकते हैं, जो ऐसा मानता है; उसने त्रिकाली पुद्गल द्रव्य का अस्तित्व नहीं माना; इसलिए उसकी व्यवहार श्रद्धा भी सच्ची नहीं है। जिसमें छह द्रव्यों को स्वतन्त्र मानने की सामर्थ्य नहीं है, उन्हें तो गृहीत मिथ्यात्व के त्यागरूप पुण्य की लायकात भी नहीं है।

प्रश्न — क्या जीव बिना भाषा के बोलता है ?

उत्तर — जीव की इच्छा और भाषा में त्रिकाल अभाव है, दोनों भिन्न हैं। तो भी संयोग और निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कहलाता है। वाणी, भाषावर्गणा के कारण होती है; इच्छा, इच्छा के कारण होती है; संयोग, संयोग के कारण होता है। किसी परद्रव्य के कारण किसी परद्रव्य का अस्तित्व हो — ऐसा नहीं है। जिस प्रकार जगतजन ईश्वर के कारण सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं; यदि उसी प्रकार कोई जैन नामधारी भी किसी के कारण किसी कार्य का होना मानता है तो ऐसा माननेवाला पर को कर्ता मानने के कारण मूढ़ है, अज्ञानी है।

प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील है। जिस प्रकार पानी में तरङ्गरूप परिणमने की योग्यता है; उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य में परिणमने का, टिकने का स्वतन्त्र धर्म है। छह द्रव्य के जानने पर देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप समझ में आ जाता है। जीवद्रव्य के यथार्थ जानने पर संसार, संसार का कारण है और मोक्ष, मोक्ष का कारण है — इत्यादि यथार्थ ज्ञान हो जाता है।

साधकदशारूप मोक्षमार्ग है, वह संवर, निर्जरारूप वीतरागभाव है, उसे धारण करनेवाले निर्ग्रन्थ नग्न दिगम्बर मुनिराज भावलिङ्गी संत; वे गुरु हैं तथा पूर्ण वीतरागी और सर्वज्ञ परमात्मा १८ दोषरहित अरहन्त और सिद्ध भगवान हैं, वे देव हैं।

जो पुण्य से, शरीर से (शरीर की क्रिया से) शुभरागरूप व्यवहार से मोक्षमार्ग मानता है; दया-दान-व्रत-पूजा-भक्ति इत्यादि भाव पुण्य परिणाम हैं, आस्रवतत्त्व बन्ध का कारण है और संवर, निर्जरा से विपरीत है, जो ऐसा नहीं मानता, उसे पुण्य-पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा तत्त्व की श्रद्धा नहीं है।

शुद्ध आहार-पानी मिले तो धर्म टिके, परिणाम सुधरें — जिसने ऐसा परद्रव्य को

कर्ता माना है, उसने छह द्रव्यों को स्वतन्त्र नहीं माना। उसकी व्यवहार श्रद्धा में भी भूल है। एक बार छह द्रव्य को पृथक् जानना कि प्रत्येक द्रव्य की पर्याय स्वतन्त्र अपनी योग्यता से होती है, किसी पर के कारण नहीं — ऐसा मानने के बाद ही स्वसन्मुखरूप निश्चय श्रद्धा और स्वानुभव हो सकता है; परन्तु जो पुण्य से, शुभरागरूप व्यवहार से, देह की क्रिया से धर्म मानता है, उसे तो अभी दो द्रव्यों की भिन्नता की श्रद्धा भी नहीं है तो स्वद्रव्याश्रयरूप वीतरागता की श्रद्धा कहाँ से हो सकती है ?

आहार-पानी देने का भाव, शुभभाव है, राग है, पुण्य है; धर्म नहीं। इसलिए इससे संसार का विनाश होकर मुक्ति मिले — ऐसा तीन काल में नहीं बनता। फिर वीतरागी देव, शास्त्र और गुरु के नाम पर कोई ऐसी मिथ्या बातें कहे अथवा लिखे तो भी उन्हें परीक्षावादी तो नहीं मानते। आत्मज्ञान बिना मिथ्यादृष्टि शुभभाव से संसार पार होना कहते हैं; लेकिन यह बात वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु की कही हुई है ही नहीं। यह भगवान के नाम पर मिथ्या कथन किया गया है।

सर्वज्ञदेव द्वारा कहे हुए छह द्रव्यों का स्वतन्त्र यथार्थ ज्ञान होने पर व्रतादिक का आचरण करना, सरागभावरूप व्यवहार मोक्षमार्ग है; परमार्थ मोक्षमार्ग तो आत्माश्रित वीतरागभावरूप श्रद्धा-ज्ञान की एकाग्रता करना है।

अनन्तकाल से यह आत्मा अपने स्वरूप को भूलकर पर को अपना मान रहा है, पर से लाभ-हानि मानता आ रहा है, उसकी यह भूल ही अनन्त दुःख का कारण है। इस दुःख से मुक्त होकर, अविनाशी सुखी होने का उपाय कौन बताता है ? तो कहते हैं कि जिन्होंने समस्त दोषों का अभाव करके सर्वज्ञ वीतरागदशा प्रगट की है — ऐसे वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु ही सच्चे सुख का उपाय बता सकते हैं; क्योंकि उन्होंने छह द्रव्यों को अपने ज्ञान से यथार्थ जानकर कहा है, उनमें जीवद्रव्य अनन्त हैं, पुद्गल परमाणु अनन्तानन्त हैं, धर्मद्रव्य एक है, अधर्मद्रव्य एक है, आकाशद्रव्य एक है और कालद्रव्य असंख्यात हैं। जो इन छह द्रव्यों को किसी का किया हुआ मानता है या कम-बढ़ मानता है, उसे सर्वज्ञ की और वस्तुस्वरूप की प्रतीति नहीं है।

ज्ञानस्वभावी आत्मा की ऐसी ताकत है कि छह द्रव्यों को भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र जाने। जो इस ज्ञानस्वभाव को स्वीकार नहीं करता, उसे तो मन्दरागरूप व्यवहारमार्ग की भी

खबर नहीं है तो फिर स्वभाव में निश्चयधर्म कैसे प्रगट कर सकता है। मेघकुमार के जीव ने हाथी के भव में दया पालकर संसार का अभाव किया — ऐसा कहना मिथ्या है और यह आस्रव, बन्ध, संवर तथा निर्जरातत्त्व की भूल है। सर्वज्ञ कथित नव तत्त्वों का स्वरूप भलीभाँति जैसा कहा है, वैसा ही भिन्न-भिन्न जानना चाहिए। दया-दान, पूजा-व्रतादिक के शुभराग से संवर-निर्जरा नहीं होती — ऐसा माननेवाले ने भगवान के द्वारा कहा गया व्यवहार जाना कहलाया और जो देव-शास्त्र-गुरु, दया-दान के भाव से संसार का नाश होता बताते हैं, उन्हें कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र जानना चाहिए; क्योंकि पुण्यास्रव से बन्धन ही होता है, इसमें कोई भी अपवाद नहीं है। व्यवहार सम्यक्त्व में नौ तत्त्वों को यथार्थतः पृथक्-पृथक् जानना चाहिए।

श्री वीतराग सर्वज्ञदेव ने जो छह द्रव्य कहे हैं, उनमें से पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं। बहुप्रदेशीपने को काय कहते हैं। प्रत्येक कालाणुद्रव्य त्रिकाल जुदा-जुदा है, बहुप्रदेशी नहीं है; इसलिए उसे मात्र अस्ति कहा, काय नहीं कहा।

श्वेताम्बर मत में कालद्रव्य को निश्चय नहीं माना, परन्तु व्यवहार से माना है अर्थात् कालद्रव्य को उपचार माना है; क्योंकि उनके मत में द्रव्यों की पर्याय को ही काल कहा गया है — ऐसा माननेवाले को तो सर्वज्ञ भगवान की तथा वस्तुस्वरूप की व्यवहार श्रद्धा भी नहीं है, यहाँ ऐसा कहा है।

प्रत्येक आत्मा अरूपी ज्ञानानन्दमय अनन्त गुणों से अभेद असंख्य प्रदेशी है। असंख्य प्रदेशी होने से असंख्य प्रदेश, वह स्वक्षेत्र है। वह कोई परक्षेत्र के आधार से नहीं है, इसलिए आत्मा को जीवास्तिकाय कहा गया है।

धर्मी जीव स्व-पर को हमेशा भिन्न मानता है कि अहो! मेरा हित-अहित मेरे से मेरे कारण होता है। मैं जैसा परिणमन करूँ, वैसा ही साधक-बाधकभाव मेरे असंख्यात प्रदेशरूप मेरी पर्याय में होता है।

सर्वज्ञकथित नव तत्त्व जैसे हैं, उन्हें वैसा ही मानना चाहिए। जिस शास्त्र में दया, दान, अनुकम्पा आदि रागभाव से संसार छूटता है — ऐसा कहा है, वह शास्त्र नहीं है; क्योंकि उसमें आस्रव तत्त्व और संवर-निर्जरा तत्त्व को एक माना, जबकि दोनों भिन्न-भिन्न हैं; क्योंकि अनुकम्पा आदि का भाव शुभास्रव है और उससे पुण्य बँधता है; परन्तु

जिस भाव से पुण्य बँधता है; उस भाव से संसार पार होगा — ऐसा कहनेवाला शास्त्र, कुशास्त्र है।

श्वेताम्बरों के भगवतीसूत्र नाम के ग्रन्थ में ऐसा कहा है कि साधु, आचार्य पदवी धारक हो तो तीसरे भव मोक्ष जाए। आचार्य संघ का रक्षण करते हैं, संघ का रक्षण करना शुभराग है और वह शुभराग मोक्ष का कारण है; परन्तु वह तो पुण्य है, संसार है, इसलिए यह बात खोटी है, मिथ्या है।

भव का अभाव तो स्वद्रव्य का दृढ़ आलम्बन लेने से ही होता है। संघ का रक्षण करने से अथवा उपदेश देने से तीसरे भव में मोक्ष जाता है — जो ऐसा कहे, उसे तो व्यवहार से भी वस्तुस्थिति की खबर नहीं है।

स्थानकवासी सम्पद्राय में दया-दानादि के भाव को भी पाप बतलाया गया है — यह असत्य है; क्योंकि दया-दान में जीव को बचाने का भाव, आहार-पानी देने का भाव शुभराग है, पुण्य है; पाप नहीं, धर्म भी नहीं। स्थानकवासी सम्प्रदाय में कहते हैं कि अपने द्वारा माने गये गुरु के अलावा किसी को भी आहार देना एकान्त पाप है, श्रावक को भी भोजनादि देना पाप है, कारण कि श्रावक अव्रत अवस्था में जितना पाप करेगा, उसकी अनुमोदना का पाप दातार को लगता है। यहाँ कहते हैं कि जो दया-दान-अनुकम्पा आदि से पाप मानता है, वह तो स्थूल मिथ्यादृष्टि है, वह तो लोक के भी विरुद्ध है। दया-दान-भक्ति-अनुकम्पा पुण्य है; पाप नहीं, धर्म भी नहीं।

पुण्य-पाप दोनों भिन्न तत्त्व हैं, पुण्य का निषेध नहीं किया; परन्तु उससे धर्म मानने का निषेध किया है।

निर्विकल्प अनुभव द्वारा सम्यग्दर्शन होने से पहले सात तत्त्व, नव पदार्थ, सुदेवादि की यथार्थ परीक्षा करके उन्हें माने, तो व्यवहार के श्रद्धारूप आङ्गन में आया कहलाये और निश्चय-श्रद्धा बिना जितना बने, उतना व्रत-तप-त्याग करे, उपवास करे तो भी अंशमात्र भी धर्म नहीं होता, धर्म के पास भी नहीं होता तथा जिनको निश्चय सम्यग्दर्शन है, उनके विशेष राग का अभाव होने पर व्रतादिक का शुभ विकल्प होता है; परन्तु वह उसमें धर्म नहीं मानता। जिससे उसके शुभरागरूप श्रद्धा-ज्ञान-व्रतादिक व्यवहारमोक्षमार्ग कहलाते हैं — ऐसे भान बिना व्रतादिक हों तो वह व्यवहाराभास होने से बालतप,

बालव्रतादि हैं — ऐसा भगवान ने कहा है। जिन्हें वीतरागभावरूप निश्चय श्रद्धा-ज्ञान और एकाग्रता का माल लेना है, उनके पास वीतराग सर्वथकथित नव तत्त्वों को तथा सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की यथार्थ श्रद्धारूप शुभभाव का बारदाना तो होना ही चाहिए। जबतक सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को न माने, तब तक व्यवहार में भी सत्य का आदर करने की पात्रता नहीं आती।

जो कोई अपने आत्मा को अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष और असंयुक्त परिपूर्ण शुद्ध निश्चय एकरूप स्वभावपने श्रद्धान करता है, वह समग्र जिनशासन को जानता है और जो ऐसे आत्मा को जानता है, वह साधक-बाधक तत्त्वों को बराबर यथार्थ जानता है अर्थात् वास्तविक भान होने पर समस्त व्यवहार भी यथार्थपने जाना जाता है।

अन्य मत में कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, अनाशक्ति वगैरह कहे जाते हैं; परन्तु वे मिथ्या हैं। सर्वज्ञकथित मार्ग में युक्ति, आगम, अनुभव से स्वतन्त्र छह द्रव्य, नव तत्त्व आदि को यथार्थ रीति से जो जानता है, वह अन्तर्मुख होकर आत्मा को जानते हुए सर्व जिनशासन को जानता है तथा जो यथार्थतः शुद्धात्मा को जानता है, उसे सर्वज्ञकथित नव तत्त्व, छह द्रव्य का सच्चा ज्ञान हो जाता है। कहाँ अकेली आत्माश्रित वीतराग दृष्टि ज्ञान और एकाग्रता है, वह निश्चय जिनशासन है और साधक-बाधक निमित्त-उपादान वगैरह को स्वतन्त्र जानना, वह व्यवहार जिनशासन है।

एक कार्य होने में दो कारण होते हैं। उपादान निजशक्तिरूप ही परिणमता है। जिस समय जो कार्य हुआ, उस समय उस कार्य में उपस्थित दूसरी वस्तु को निमित्त कहा जाता है।

निमित्त के आश्रय से जीव की पर्याय नहीं होती और जीव के आधीन निमित्त नहीं है, प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र है; इसलिए किसी के कोई भी कार्य में निमित्त की अपेक्षा रखने पर वस्तुस्वातन्त्र्य निरपेक्ष है — ऐसी श्रद्धा नहीं रहती। उपादान में निमित्त की आवश्यकता मानने वालों ने वस्तु की स्वतन्त्रता नहीं जानी है।

जिन्होंने पर से भिन्न अपनी पर्याय को और त्रिकाल परिपूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप वस्तु को स्वतन्त्रपने यथार्थ जाना है, उन्होंने समग्र जिनशासन को जाना तथा यह जानते ही व्यवहार-निमित्त और निश्चय-उपादान का स्वरूप भी बराबर जाना जाता है। अभी तो व्यवहार-निश्चय क्या है और महाव्रतादिक क्या हैं ? इसकी श्रद्धा का भी ठिकाना नहीं

है। वस्त्रादि परिग्रह रखनेवाला अपने को महाव्रतधारी साधु मानता है और मनवाता है; परन्तु तीन काल के सर्वज्ञ और वीतरागी सन्त तो निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग का ऐसा स्वरूप कहते हैं; इसलिए वस्तुस्वरूप को यथार्थ जानकर यथार्थ मोक्षमार्ग का स्वरूप जानना चाहिए।

प्रत्येक आत्मा शक्तिपने मोक्षस्वभावी है; परन्तु जो अपने मोक्षस्वरूप पद को भूलकर वर्तमानदशा में अज्ञानता तथा विकार को धारण करता है — 'मैं पर का कर सकता हूँ' — ऐसा मानता है और 'मेरे में स्वतन्त्र ताकत है अर्थात् मैं स्वतन्त्र हूँ' — ऐसा नहीं मानता, उसे भगवान ने रङ्क कहा है।

हित करना हो तो प्रथम अविनाशी हितरूप तत्त्व को जानकर उससे विरुद्ध अपनी वर्तमान अवस्था में अशुद्धतारूप भाव अर्थात् अहितरूप भाव हैं, उनका त्याग करना चाहिए।

संसार दुःखरूप भासित हो तो नित्यानन्द निर्भयस्वरूप कौन है और उसे बतानेवाले सच्चे देव-शास्त्र-गुरु कौन हैं, यथार्थ तत्त्व का अनुभव करनेवाला कौन है ? इत्यादि को बराबर जानकर अन्दर में स्वयं की स्वतन्त्रता का निर्णय करना चाहिए। निशङ्कपने आत्मरुचि हुए बिना दुःख नहीं मिटता।

गृहस्थदशा में भी ज्ञानी जीव को अंशरूप शान्ति निरन्तर वर्तती है। पर से-विकार से भिन्न पूर्णस्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान और एकाग्रता होने पर आत्मा की पूर्णदशा प्रगट होना मोक्ष है। आत्मद्रव्य त्रिकाल मोक्षस्वरूप है, उसमें संसार-मोक्ष का कोई भेद नहीं है तो भी संसार और मोक्षदशा की वर्तमान पर्याय जीव स्वयं धारण करता है, उसे कोई दूसरा नहीं कराता।

निश्चय वीतरागदृष्टिपूर्वक नव तत्त्व, छह द्रव्य, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, ज्ञान और व्रत आदि शुभभाव विकल्परूप होने से व्यवहारमोक्षमार्ग हैं और चिदानन्द पूर्ण स्वरूप के अवलम्बन से प्रगट हुए निर्विकल्प श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता, निश्चयमोक्षमार्ग है। व्यवहारमोक्षमार्ग उपचार से निश्चयमोक्षमार्ग का साधन कहा जाता है। जिस प्रकार स्वर्णपाषाण और अन्ध स्वर्णपाषाण — ऐसे दो प्रकार के स्वर्ण होते हैं। जो अन्धपाषाण का सोना है, उसमें भिन्न होने की लायकात नहीं है; इसलिए उसे अग्नि वगैरह निमित्त मिलने पर भी उसमें से स्वर्ण अलग नहीं होता। इसलिए वहाँ अग्नि को निमित्त नहीं कहा और जिस पत्थर से स्वर्ण जुदा होने की ताकत है, उस स्वर्ण को अग्नि निमित्त

साधनरूप कहलाती है; उसी प्रकार चिदानन्द निर्विकार आत्मा देहादि संयोग और क्षणिक विकाररहित त्रिकाल ज्ञायक है। इस प्रकार जो जीव भिन्नता की श्रद्धा-ज्ञान और एकाग्रता करता है, उसको व्यवहार वास्तविक निमित्त कहलाता है; परन्तु जो स्वतन्त्रता का मार्ग पाने लायक नहीं है, पराश्रयरूप व्यवहार की जिन्हें रुचि है, उन्हें यथार्थ निमित्त मिले और व्यवहारमोक्षमार्गरूप प्रवर्ते, शुभरागरूप पञ्चाचार पालें तो भी उन्हें ये कोई भी साधन मोक्षमार्ग के निमित्त नहीं हैं, मात्र संसार के ही साधन हैं; क्योंकि अकेले स्वयं व्यवहार में ऐसी ताकत नहीं है कि मोक्षमार्ग का साधन बन सके; परन्तु जो आत्मा में निश्चय सम्यक्त्व आदि प्रगट करें, उन्हें ही व्यवहारमोक्षमार्ग उपचार से साधन कहलाता है।

शङ्का — इतना सब समझने पर भी अभी तक सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का यथार्थ ख्याल क्यों नहीं आता ?

समाधान — अपने कुलधर्म में जो रूढ़ि बताई गई है, उसमें ही रुचिपूर्वक मग्न हो गया है; इसलिए जिन क्रिया-काण्डों को व्यवहार माना है, उसमें ही संतोष करके बैठ गया तथा अपूर्व तत्त्व की जिज्ञासा नहीं की। जिसे निमित्त और शुभरागरूप व्यवहार की रुचि है — ऐसे पर्यायबुद्धिवालों को तो सच्चे देव आदि भी निमित्तरूप नहीं कहलाते; परन्तु जिसे पराश्रय की रुचि-श्रद्धा नहीं है, उसे शुद्ध स्वर्ण की तरह निर्विकार निज आत्मा की पूर्ण शुद्धता की प्राप्ति साध्य है, क्योंकि वहाँ स्वद्रव्य के आश्रय से उत्पन्न वीतरागभावरूप निश्चयमोक्षमार्ग है और भूमिकानुसार व्यवहार श्रद्धा आदि का शुभविकल्प-रूप व्यवहारमोक्षमार्ग है।

साधक जीव को सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, विनय आदि होती है और मिथ्या देव-शास्त्र-गुरु की किञ्चित् भी विनय नहीं होती; परन्तु उसमें ही साधन मान ले और शुद्ध चिदानन्दस्वरूप आत्मा के सन्मुख न हो तो वह मिथ्यादृष्टि है।

जिस प्रकार बारदाने में माल रखे तो बारदाना निमित्त कहलाये; उसी प्रकार उपादान में निश्चय वीतरागभावरूपी माल हो तो व्यवहार उपचार से मोक्षमार्ग का साधन कहा जाए। उपादान में कार्य नहीं हो तो निमित्त किसका ? राग से भिन्न अन्दर वीतरागदृष्टि होने पर राग से भिन्न हो और स्वरूप प्राप्तिरूप स्वसन्मुख हो तो व्यवहार, निमित्त साधन कहलाता है।

भाई! यह तो अनन्त काल से प्राप्त नहीं हुई — ऐसी अपूर्व बात है। अनन्त बार धर्म के नाम पर दया-दान-व्रत आदि किये और उनके फल में देवपद पाया; परन्तु उससे आत्मा को क्या? निश्चय तत्त्वज्ञान हो और कुदेव आदि का व्यवहार हो — ऐसा नहीं हो सकता। लोग कहते हैं कि तत्त्व समझ लेना और बाहर में कैसा भी व्यवहार अथवा कुलिङ्ग का भेष हो, तो क्या बाधा ? वे सब अज्ञानी हैं और शास्त्र का उल्टा अर्थ करते हैं। सत्य देखना हो तो वीतराग सर्वज्ञदेव कथित सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप पहले जानना चाहिए। आत्मा ज्ञायक है, उसकी दृष्टि में धर्म होता है — इस प्रकार यथार्थ प्रतीति एवं स्वीकार होने पर, सनातन दिगम्बर जैन भावलिङ्गी मुनिराज, अठारह दोष-रहित सर्वज्ञदेव और उनके द्वारा कहे गए शास्त्र की प्रतीति और आदर हो; इनके अलावा दूसरों का किञ्चित् भी आदर न हो तो ज्ञायक आत्मा के आश्रय से निश्चय मोक्षमार्ग को यथार्थ जाना कहलाये।

कोई कहे कि व्यवहार को जानने का क्या काम, निश्चय को जानो। तो कहते हैं कि यह प्रयोजनभूत व्यवहार जानने योग्य है, आदरने योग्य नहीं है; क्योंकि देव-शास्त्र-गुरु जिनशासन के आदर्श हैं, उन्हें न माने और छुपावे, तो वह जिनशासन का बड़ा भारी चोर है।

शङ्का — स्वयं ज्ञान न हो, ज्ञानी के कहे अनुसार चलते रहें तो परम्परा से आत्मा का अनुभव हो जायेगा न ?

समाधान — दोनों पक्षों की परीक्षा किए बिना एक की भी सच्ची परीक्षा नहीं होती है। कुगुरु के भरोसे रूढ़ि अनुसार वर्तन से अनादि संसार का नाश नहीं होता। कोई कहता है कि हम तो अज्ञानी हैं, जहाँ से जो गुण मिलें, वहाँ से ग्रहण करना चाहिए न! तो कहते हैं कि जिस प्रकार बहुत दूध में थोड़ा भी जहर हो, तो दूध का गुण ग्रहण नहीं किया जाता; उसी प्रकार अज्ञानी कुगुरु तत्त्व की बात को अपने तरीके से कहते हैं, इसलिए उसमें मिथ्यात्वरूपी जहर ही होता है। अतः जिन्हें संसार का भय हो तो उन्हें धीरज से, शान्ति से परीक्षा करके मानना चाहिए। सनातन दिगम्बर जिनशासन में निश्चय-व्यवहार इस प्रकार है; अन्य प्रकार नहीं।

अनन्त-शक्तियुक्त ज्ञानमात्र आत्मा कैसा है और उसका यथार्थ प्रतीतिपूर्वक अनुभव कैसे होता है ? ऐसी आत्महित की बात कभी सुनी नहीं और कभी ऐसी तत्त्व की बात

कान में पड़ जाए और धारणा भी हो जाए, तो भी जब तक कुदेवादिक का आदर नहीं छूटा हो, तब तक व्यवहार से भी पात्र नहीं कहलाता तथा सच्चे देव-शास्त्र-गुरु, छह द्रव्यादि को माने, व्रतादिक का पालन करे और निश्चयश्रद्धा न करे तो उसका यह सब व्यवहार भी उसे मोक्षमार्ग का साधन नहीं है। यह जीव अनन्तबार नववें ग्रैवेयक गया, वहाँ सच्चे देवादि एवं छह द्रव्यों की स्वतन्त्रता वगैरह का सामान्य ज्ञान तो था, निश्चय एवं व्यवहार रत्नत्रय कैसा होता है तथा राग से-व्यवहार से धर्म नहीं होता — ऐसी सच्ची बात की धारणा तो थी; परन्तु अन्दर में स्वद्रव्य के आश्रय से जो निःसंदेह वीतरागदृष्टि और स्थिरता होना चाहिए, वह नहीं हुई; इसलिए मात्र पुण्यबन्ध ही होता है और यह सब व्यवहार निमित्त भी नहीं कहलाता, क्योंकि नैमित्तिक हो तो निमित्त कहलाये।

अभी तो वीतरागता-स्वतन्त्रता बताने वाले सच्चे देव-शास्त्र-गुरु कौन हैं, हेय-उपादेय का स्वरूप क्या है — इस बात में भी बहुत विरोध है। सत्य से उल्टी बात का पोषण करनेवाले उपदेशकों द्वारा सनातन जैनधर्म से विरुद्ध व्यवहार का स्थापन किया जा रहा है, जो अनन्त संसार का ही पोषक है।

❖❖❖

धर्म के स्तम्भ : आचार्यदेव

अहो! महान सन्त-मुनिवरों ने जङ्गल में रहकर आत्मस्वभाव का अमृत बहाया है। आचार्यदेव धर्म के स्तम्भ हैं, जिन्होंने पवित्र धर्म को टिकाए रखा है, गजब का काम किया है। साधकदशा में स्वरूप की शान्ति का वेदन करते हुए परिषहों को जीतकर परम सत् को जीवन्त रखा है।

आचार्यदेव के कथन में केवलज्ञान की झङ्कार आती है। महान शास्त्रों की रचना करके बहुत जीवों पर अमाप उपकार किया है। रचना तो देखो! पद -पद में कितना गम्भीर रहस्य भरा है! यह तो सत् की प्रसिद्धि है, इसकी समझ में तो मुक्तिरमा के वरण करने का श्रीफल है अर्थात् समझनेवाले को मोक्ष ही है।

(- दृष्टि ना निधान, बोल १२१)

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-४०

अब, अभेदरूप से सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र वे शुद्धात्मा ही हैं, इस कारण निश्चय से आत्मा ही निश्चय मोक्षमार्ग है — ऐसा कहते हैं अथवा पूर्वोक्त निश्चय मोक्षमार्ग दूसरे प्रकार से दृढ़ करते हैं —

रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुइत्तु अण्णदवियह्मि।
तह्मा तत्तियमइउ होदि हु मुक्खस्स कारणं आदा॥४०॥
रत्नत्रयं न वर्त्तते आत्मानं मुक्त्वा अन्यद्रव्ये।
तस्मात् तत्त्रिकमयः भवति खलु मोक्षस्य कारणं आत्मा॥४०॥
आतमा से भिन्न द्रव्यों में रहें न रतनत्रय।
बस इसलिए ही रतनत्रयमय आतमा ही मुक्तिमग॥४०॥

गाथार्थ :— आत्मा के अतिरिक्त अन्य द्रव्य में रत्नत्रय नहीं रहते हैं, इस कारण रत्नत्रयमयी आत्मा ही मोक्ष का कारण है।

टीका :— '**रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुइत्तु अण्णदवियह्मि**' निज शुद्धात्मा को छोड़कर अन्य अचेतन द्रव्य में रत्नत्रय नहीं वर्तते रहते हैं। '**तह्मा तत्तियमइउ होदि हु मुक्खस्स कारणं आदा**' अतः वह रत्नत्रयमय आत्मा ही निश्चय से मोक्ष का कारण होता है — ऐसा तू जान। अब विस्तार करते हैं — 'रागादि-विकल्प-उपाधिरहित, चित्वमत्कार की भावना से उत्पन्न मधुररस के आस्वादरूप सुख मैं हूँ' — ऐसी निश्चय रुचिरूप सम्यग्दर्शन है। उसी सुख को समस्त विभावों से स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा पृथक् जानना, वह सम्यग्ज्ञान है। उसी प्रकार दृष्ट-श्रुत-अनुभूत भोगों की आकाँक्षा आदि समस्त दुर्ध्यानरूप मनोरथ से उत्पन्न सङ्कल्प-विकल्प के जाल के त्याग द्वारा उसी सुख में लीन-संतुष्ट-तृप्त और एकाकार परम-समरसीभाव से भीगे हुए चित्त को पुनः-पुनः स्थिर करना, वह सम्यक्चारित्र है। इस प्रकार कथित लक्षण निश्चयरत्नत्रय शुद्धात्मा को छोड़कर अन्यत्र घट-पटादि बहिर्द्रव्यों में नहीं रहते हैं। इस कारण अभेदनय से अनेक द्रव्यमय एक पान के समान, वही सम्यग्दर्शन है, वही सम्यग्ज्ञान है, वही सम्यक्चारित्र है, वही स्वात्मतत्त्व है। इस प्रकार उक्त लक्षणवाले निज शुद्धात्मा को ही मुक्ति का कारण तुम जानो॥४०॥

गाथा ४० पर प्रवचन

अनन्तशक्तियुक्त ज्ञानमात्र आत्मा कैसा है और उसका यथार्थ प्रतीतिपूर्वक अनुभव कैसे होता है ? ऐसी आत्महित की बात कभी सुनी नहीं और कभी ऐसी तत्त्व की बात कान में पड़ जाए और धारणा भी हो जाए तो भी जब तक कुदेवादिक का आदर नहीं छूटा हो, तब तक व्यवहार से भी पात्र नहीं कहलाता तथा सच्चे देव-शास्त्र-गुरु, छह द्रव्यादि को माने, व्रतादिक का पालन करे और निश्चय श्रद्धा न करे तो उसका यह सब व्यवहार भी उसे मोक्षमार्ग का साधन नहीं है। यह जीव अनन्तबार नववें ग्रैवेयक गया, वहाँ सच्चे देवादि एवं छह द्रव्यों की स्वतन्त्रता वगैरह का सामान्य ज्ञान तो था, निश्चय एवं व्यवहाररत्नत्रय कैसा होता है तथा राग से-व्यवहार से धर्म नहीं होता — ऐसी सच्ची बात की धारणा तो थी; परन्तु अन्दर में स्वद्रव्य के आश्रय से जो निःसंदेह वीतरागदृष्टि और स्थिरता होना चाहिए, वह नहीं हुई; इसलिए मात्र पुण्यबन्ध ही होता है और यह सब व्यवहार, निमित्त भी नहीं कहलाता, क्योंकि नैमित्तिक हो तो निमित्त कहलाये।

अभी तो वीतरागता-स्वतन्त्रता बतानेवाले सच्चे देव-शास्त्र-गुरु कौन हैं, हेय-उपादेय का स्वरूप क्या है ? इस बात में भी बहुत विरोध है। सत्य से उल्टी बात का पोषण करनेवाले उपदेशकों द्वारा सनातन जैनधर्म से विरुद्ध व्यवहार का स्थापन किया जा रहा है, जो अनन्त संसार का ही पोषक है।

अब, अभेद से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, वह निज शुद्धात्मा ही है; इसलिए निश्चय से आत्मा ही मोक्षमार्ग है। शुभरागरूप व्यवहाररत्नत्रय है, वह अचेतन है, अजागृतिरूप है, पुण्यतत्त्व मोक्षमार्ग नहीं है — ऐसा कहते हैं।

आत्मा के अतिरिक्त अन्य द्रव्य में रत्नत्रय नहीं होता है, इस कारण रत्नत्रयमयी आत्मा ही मोक्ष का कारण है।

मन, वचन, काय में तथा मन, वचन, काय की क्रिया में तो मोक्षमार्ग है ही नहीं; लेकिन व्यवहारमोक्षमार्गरूप शुभविकल्प में भी वह मोक्षमार्ग नहीं है। धर्मी जीव को अशुभ से बचने के लिए शुभविकल्प होते हैं, परन्तु वह मोक्षमार्ग नहीं है; क्योंकि निज शुद्धात्मा को छोड़कर अन्य अचेतन द्रव्यों में (रागादिक-व्यवहार में) रत्नत्रय नहीं होता। जो आत्मा को परद्रव्य के बन्धनरहित, भेदरहित, पराश्रयरहित त्रिकाल ज्ञायकस्वरूप

जानता है, वह शुद्ध आत्मद्रव्य का अनुभव करता है और उसने ही सम्पूर्ण जिनशासन को जाना है और वही वीतरागी देवादिक को तथा छह द्रव्यों की स्वतन्त्रता को, निमित्त-उपादान को यथार्थ जानता है। कोई निमित्त से कार्य होना बताते हैं और कोई उपादान से — ऐसा बतानेवाले लोग व्यवहार जिनशासन को भी नहीं जानते; क्योंकि कार्य होते समय उपस्थिति दोनों की रहती है; परन्तु कार्य तो उपादान से ही होता है।

इस जीव ने अनन्त बार चौरासी लाख योनियों में जन्म लिया; परन्तु कभी वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु के कहे अनुसार निर्णय नहीं किया। जब तक अपूर्वदृष्टिपूर्वक निर्विकल्प निश्चयदृष्टि आत्मा में न करे, तब तक चतुर्थ गुणस्थान भी नहीं होता। चाहे वह जीव भले ही त्यागी, व्रती, पण्डित, उपदेशक हो, तो भी संसार की रुचि का ही पोषण करता है।

पर्याय और पर्यायवान् अभेद एकवस्तु है। आत्मा का निश्चय-व्यवहार आत्मा में ही होता है, बाहर में नहीं। त्रिकालवर्ती शुद्ध चैतन्यशक्ति से परिपूर्ण आत्मा क्षणिक पुण्य-पाप के विकल्प से भी जुदा है। यह जो रागरूप मलिनता अपनी पर्याय में होती है, वह अपने को भूलकर परावलम्बनरूप दोष है और एक समय का विकार होने से त्रिकाल अविकार स्वभाव के अवलम्बन से टल जाता है, इसलिए वह ध्रुव आत्मा का स्वरूप नहीं है।

त्रिकाली शुद्ध स्वभाववान पूर्ण ज्ञायक — ऐसे अभेद तत्त्व की श्रद्धा, ज्ञान, स्थिरता करे तो आत्मा ही निश्चय से मोक्ष का कारण है। निश्चयमोक्षमार्ग आत्माश्रित वीतरागभाव है और व्यवहारमोक्षमार्ग शुभरागरूप होने से अचेतन है, अन्य द्रव्य है; इसलिए उसमें मोक्षमार्ग नहीं है।

नियमसार में नव तत्त्व की श्रद्धा आदि शुभराग को अन्य द्रव्य कहा है। जो राग उत्पन्न होता है, वह पराश्रित है; इसलिए पर सम्बन्धवाला होने से वह परद्रव्य है। जीव ने अनन्त बार धर्म के नाम पर उत्कृष्ट से उत्कृष्ट शुभभाव किया है। मणिरत्नों की दीपक से और कल्पवृक्ष के पुष्पों से साक्षात् तीर्थङ्कर भगवान की पूजा की, पर पुण्य ही हुआ; धर्म नहीं। इनसे धर्म नहीं होता — ऐसा मानकर जिसे सच्चे देवादिक के प्रति विनय, भक्ति, उत्साह नहीं आता, वह तो तीव्र मिथ्यादृष्टि है। जहाँ प्रीति होती है, वहाँ राग हुए बिना नहीं रहता। शरीर, स्त्री, पुत्र, आबरू आदि के लिए कैसा उल्लासपूर्वक कार्य

करता है ? धर्मी जीव को पापभाव से बचने के लिए सच्चे देव-शास्त्र-गुरु में कपटरहित धर्मानुराग होता है। वह अपने अन्तरङ्ग में समझता तो ऐसा ही है कि मेरा ज्ञायकस्वभाव रागरहित है। उसमें जितने अंश में दृष्टिपूर्वक रागरहित होकर स्थिर हुआ जाता है, उतना धर्म है। वीतराग अभेददृष्टि में ही जिनशासन वर्तता है। राग में अथवा बाह्य व्रतादिक शुभव्यवहार में जिनशासन नहीं वर्तता।

कोई कहता है कि शुभराग में धर्म नहीं है तो क्या करें ? पर भाई करे कौन ? सच्ची रुचि हो, वहाँ राग की भूमिका में ज्ञानी को शुभराग आये बिना नहीं रहता। सच्चे देवादिक व धर्मस्थान आदि के लिए द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावानुसार, तन-मन-धन नहीं खर्चे, तो कुल्टा समान तीव्र गृहीतमिथ्यादृष्टि है। धर्मी जीव पुण्य-पाप दोनों को बन्धन मानता है। व्यवहाररत्नत्रय को पुण्य परिणामरूप रोग समझता है और अपने आत्मा को निरोगी ज्ञायक समझता है - ऐसा समझते हुए भी अधिक काल स्वरूप में स्थिर नहीं रह सकता, इसलिए व्यवहाररत्नत्रयरूप शुभकार्य में प्रवर्तता है और प्रवर्तते हुए भी उन्हें उपादेय नहीं मानता। यदि शुद्ध आत्माश्रित जीव को भी शुभविकल्प और व्यवहार हो तो वे सिद्धदशा में भी साथ रहना चाहिए। चैतन्य के अभेद अवलम्बन में रागादि विकल्प नहीं रहते, उनका अभाव हो जाता है; इसलिए वे अचेतन हैं, आत्मा नहीं। मैं रागादिक उपाधिरहित चैतन्य-चमत्कार की भावना से उत्पन्न मधुर अतीन्द्रिय अमृतानंदरस स्वरूप अविनाशी सुख का धारक हूँ — ऐसा यथार्थ स्वसन्मुखतारूप निश्चय सम्यग्दर्शन है, उसमें अंशरूप में वीतरागता है।

देखो! ज्ञानी के निरन्तर चित्चमत्कार की भावना होती है। उत्कृष्ट निमित्त मिले — ऐसे संयोग की भावना नहीं होती। जिससे तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध होता है — ऐसी सोलहकारणभावना भी आस्रव है। ज्ञानी को उनकी भावना भी नहीं होती। व्यवहार रत्नत्रय भी पुण्यास्रव है, वह उसकी भावना नहीं भाता। यही बात सत्य है — इस प्रकार प्रथम अच्छी तरह से निर्णय तो कर, पश्चात् ध्यान और व्रतादिक कैसे होते हैं ? उसका यथार्थ स्वरूप जानने में आयेगा। कोई कहता है कि ये सब होने के बाद तो व्रतादिक करने में आते हैं न? परन्तु ये आस्रवतत्त्व तो बन्ध का ही कारण है। पहले से उनकी भावना क्यों करना ? जो पुण्यास्रव को ही याद किया करे, उसे तो राग की ही रुचि है। जो ऐसा नहीं मानता कि व्यवहार का फल संसार है, उसे पुण्य की रुचि नहीं छूटती।

सर्वप्रथम पूर्वापर विरोधरहित सत्य का निर्णय होना चाहिए। छह द्रव्य, स्वद्रव्य, निश्चय-व्यवहार, निमित्त-उपादान की स्वतन्त्रता जानने के पश्चात् ही अन्दर स्वद्रव्य में एकाग्र परिणतिरूप धर्मध्यान होता है।

अनादि-अनन्त ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण आत्मा स्वतन्त्र है। उसकी पर्याय में भूलरूप संसार एवं शुद्धिरूप मोक्षमार्ग है।

स्वयं अपने ही कारण अवस्था बदलकर नित्य स्थाई रहें — ऐसे स्वतन्त्र छहद्रव्य सर्वज्ञ भगवान ने कहे हैं। वे छहों द्रव्य स्व से हैं, पर से नहीं।

संसार अर्थात् मोह-राग-द्वेषरूप विकार। यह विकार आत्मा की पर्याय में होता है, आत्मा से बाहर नहीं होता। स्त्री, धन, मकान आदि बाह्यपदार्थों में संसार नहीं है; परन्तु अपने विपरीत पुरुषार्थ से जीव स्वयं अपने को भूलकर देहादिक, रागादिक में ममत्व करता है। अपने अन्दर होनेवाला यह विपरीतभाव ही संसार है।

आत्मा नित्य परिणामी पदार्थ है। जो जीव निज चैतन्य को भूलकर परावलम्बन में रुक गया है, उसका यह पर में रुकना ही संसार है। पुण्य-पाप, दया-दान, व्रत-अव्रत आदि के सभी भाव विकारीभाव हैं तथा यह भाव एक समयमात्र के होने से क्षणिक हैं, विकारी होने से अशुद्ध हैं; त्रिकाली आत्मद्रव्य नहीं है, बल्कि त्रिकाली द्रव्य के ज्ञान-दर्शन आदि गुणों की विपरीतदशा है। परपदार्थ में सुख-दुःख, राग-द्वेष मानना, संसार है। सर्व विकल्पोपाधि से रहित मैं नित्य ज्ञानानन्दात्मा हूँ — ऐसा आत्मसन्मुख होने पर जो श्रद्धा की पर्याय उत्पन्न होती है, वह सम्यग्दर्शन है।

प्रश्न — रागादि उपाधि का अभाव कैसे हो ?

उत्तर — उल्टी मान्यता छोड़कर संयोग और विकार से रहित त्रिकाली निर्विकार ज्ञायकमात्र का अपूर्व भान करे तो स्वाश्रय की एकाग्रतापूर्वक विकार का अभाव हो। पराश्रयबुद्धि से राग उत्पन्न होता है और स्वाश्रयबुद्धि से उसका नाश होता है। स्वद्रव्य के अवलम्बन से रागादि उपाधि उत्पन्न ही नहीं होती। निर्मल ज्ञानानन्दस्वभाव शक्तिरूप है, उसकी एकाग्रता के अनुसार पर्याय में शुद्धता प्रगट होती है और उपाधि का अभाव होता है।

सम्यग्दर्शन अपूर्व चीज है। आत्मा में एकाग्र होने से रागरहित अतीन्द्रिय अनुपम

सहज आनन्द प्रगट होता है। इस अलौकिक परमानन्द का स्वाद चौथे गुणस्थान में ही आता है। जिस प्रकार के आनन्द का वेदन अशरीरी सिद्ध भगवान करते हैं; उसी प्रकार के आनन्द का आंशिक वेदन सम्यग्दृष्टि को होता है। इसलिए उसे इन्द्रादि देवों का पुण्य तथा इन्द्रियसुख सड़े हुए तृणसमान भासित होते हैं। जिस प्रकार स्वादिष्ट खीर का स्वाद लेनेवाले व्यक्ति को चावल के छिलके का स्वाद लेने की इच्छा नहीं होती, उसी प्रकार गृहस्थ अवस्था में रहनेवाले सम्यग्दृष्टि को भी त्रिकाली पूर्ण ज्ञानानन्दस्वभाव की निशङ्क रुचि होने के कारण स्त्री, धनादि पुण्य के संयोगों में सुखबुद्धि नहीं होती। क्षणिक कमजोरी से संयोगों की ओर लक्ष भले जाए; परन्तु दृष्टि में उनकी महिमा नहीं होती।

प्रश्न - लोगों को यह बात रुचती क्यों नहीं है ?

उत्तर - यह जीव पूर्वाग्रह छोड़कर आत्मा का परिचय नहीं करता, इसलिए इसे आत्मा की रुचि नहीं होती।

आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वभावी है; उसका कार्य ज्ञानानन्दरूप से परिणमित होना है; पर-पदार्थों में इष्ट-अनिष्टपना मानकर अटकना आत्मा का स्वभाव नहीं है, आत्मा का स्वरूप नहीं है। इस प्रकार आत्मा का परिचय करके उसकी रुचि करने से रागादि और इन्द्रिय विषयों में सुख भासित नहीं होता तथा स्वसम्वेदनमय अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट होता है।

प्रश्न — स्वसम्वेदन से क्या आशय है ?

उत्तर — कुदेवादि की श्रद्धा छोड़कर तथा राग की रुचि छोड़कर मैं पर से भिन्न ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ — ऐसा निर्णय करके स्वभाव में अभेद होने पर निर्विकल्प अनुभव होता है — इस प्रकार राग से भिन्न स्वसन्मुखता से उत्पन्न होनेवाला अतीन्द्रियज्ञान, स्वसम्वेदन ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

यह बात लोगों को कठिन लगती है; परन्तु भाई! यह तो अपना स्वरूप बताया जा रहा है। इसमें कठिनता की क्या बात है ? जो बाह्य संसार के कार्यों में बहुत रुचि दिखाता है। कहता है अभी तो मेरे बहुत उपाधि है, बहुत कार्य है; परन्तु उसमें रुचि है, इसलिए वह सरल लगता है। 'अतीन्द्रिय आत्मा का स्वभाव कठिन है' जो ऐसा कहता है, वह ज्ञान के प्रति अरुचि प्रगट करता है; क्योंकि उसे रागरहित अन्तर स्वभाव की महिमा ही नहीं है। यदि महिमा हो तो रुचि हो और रुचि हो तो यथार्थ समझ पूर्वक

रुचि से अभ्यास करे। सत्य को कहनेवाले का परिचय करके पूर्वापर विरोधरहित निर्णय करे। 'सत्य ही समझना है' — ऐसी रुचि हो, दरकार हो तो प्रथम सच्चे देव-शास्त्र-गुरु, नव तत्त्व और मोक्षमार्ग का स्वरूप यथार्थ जाने।

वीतराग सर्वज्ञ हमारे देव हैं, निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिराज हमारे गुरु हैं — ऐसा परम्परा से तो माने; लेकिन आत्महित के अर्थ उन्हें परीक्षा करके यथार्थ नहीं जाने तो उसे आत्मानन्द का लाभ प्राप्त नहीं होता।

राग घटाने से पुण्य होता है और पुण्य करते-करते आत्मलाभ प्राप्त होता है — यह बात सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि इससे पहले अनन्तबार पुण्य किया; परन्तु धर्म नहीं हुआ।

यथार्थ दृष्टिसहित शुद्धात्मा में विशेष एकाग्रता से राग का त्याग होने पर त्रिकाली चारित्रगुण की परमसमतारूप निर्मलदशा सहज प्रगट होती है। देखे हुए, सुने हुए और अनुभव किये हुए भोगों के चाहरूप आर्त-रौद्रध्यान संसार का कारण हैं। पञ्चमहाव्रत का परिणाम भी राग है। राग अचारित्र है, चारित्र नहीं। इसलिए संसार, शरीर, भोग इत्यादि सभी प्रकार के सङ्कल्प-विकल्परूप मनोरथ के त्यागरूप रागरहित वीतरागभाव-स्वरूप परम समताभाव में, स्वसम्वेदनमय निर्विकल्प निजसुखरस में सन्तुष्ट होकर चित्त को बारम्बार अचलपने स्थित करना, सम्यक्चारित्र है। बाह्य स्त्री, धनादि का त्याग चारित्र नहीं है तथा व्रत-तपादि का शुभभाव भी चारित्र नहीं है। चारित्र का स्वरूप ऐसा ही है, अन्य प्रकार नहीं।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को समझकर अङ्गीकार करे तो अनादिकाल से परभावों को अपने मानने, जाननेरूप मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का अभाव हो। यथार्थ वस्तुस्वरूप को जाने बिना सुख का मार्ग नहीं मिलता।

अतीन्द्रिय आनन्द में लीन मुनिराज को बाह्य उपसर्ग, परीषह का भी ख्याल नहीं रहता; क्योंकि वे तो बारम्बार अपने निजानन्द के झरने में बैठे निरन्तर शीतलता का अनुभव कर रहे हैं।

प्रश्न — आत्मा में विकार नहीं है तो आता कहाँ से है ?

उत्तर — विकार, कर्म के कारण नहीं हैं; परन्तु आत्मा में त्रिकाल रहनेवाले चारित्र-गुण की विकारी और निर्विकारी ऐसी दो अवस्थाओं में से विकारी अवस्था स्वयं

विकाररूप है। अत: यहाँ यह नहीं कहा कि कर्मादि के कारण विकार होता है। किसी भी प्रकार का शुभरागरूप व्यवहार, चारित्र नहीं; उपाधि है - ऐसी श्रद्धा बिना ज्ञान भी यथार्थ नहीं होता।

यहाँ सम्यग्दर्शनादि तीनों को सुखस्वरूप बताया गया है; क्योंकि यह जीव अनादि से सुख चाहता है और दु:ख से डरता है। जहाँ सुख की आशा होती है, वहाँ चाहे जितनी भी प्रतिकूलता हो, सब सहन करता है।

यह तो सब स्वीकार करते हैं कि सुख है, सुख की आवश्यकता भी है और सुख प्राप्ति का उपाय भी है।

अपमानादि से दु:खी जीव मरकर भी सुखी होना चाहता है; परन्तु सुख बाह्य इज्जत आबरू, स्त्री, पुत्रादिक या खानपानादि संयोगों में नहीं है। जिस प्रकार गुड़ स्वयं ही मीठा है, उसी प्रकार आत्मा स्वयं सुखस्वरूप है। सुख की खोज करनेवाला स्वयं सुखमय है; परन्तु अपने सुखस्वरूप को भूलकर देहादि संयोग में सुख खोजता है। उसे अन्य बाह्य पदार्थों की महिमा तो आती है; लेकिन देह, इन्द्रिय से रहित स्वयं अन्दर में ज्ञानानन्द से परिपूर्ण भगवान आत्मा विराजमान है, उसकी महिमा नहीं आती; क्योंकि उसकी सच्ची जिज्ञासा नहीं है।

जिसे क्रोध का रस चढ़ा हो, वह जहाँ देखता है; वहाँ प्रतिकूलता मानकर क्रोध ही करता है। मान की मुख्यता होने पर सर्वत्र मानकषाय की पुष्टि करके सुखी होना चाहता है। इसी प्रकार माया-लोभ कषाय के द्वारा सुखी होना चाहता है। यदि उसका चाहा हुआ नहीं होता है तो आत्मघात करता है — इस प्रकार अज्ञान के कारण पर-पदार्थों से सुखी होने की चेष्टा में मूर्च्छित रहता है।

जिस प्रकार कस्तूरीमृग की नाभि में कस्तूरी होती है, फिर भी वह अपने में मौजूद महान कीमती कस्तूरी का विश्वास नहीं करता; इसलिए उसे बाहर में ही खोजा करता है। उसी प्रकार जिसका बीड़ी-तम्बाखू के बिना नहीं चलता अथवा जो मान-सम्मान में कमी आने के कारण दु:खी रहता है; ऐसे विषय-कषाय में आसक्त संसारी जीव को यह समझ में ही नहीं आता कि मैं शरीर और रागरहित मात्र ज्ञायक भगवान हूँ, सुखादि अनन्तगुणों से परिपूर्ण हूँ।

जिस प्रकार मृग को ऐसा विश्वास नहीं होता कि कस्तूरी मेरे ही अन्दर है, उसी प्रकार अज्ञानी को भी ऐसा विश्वास नहीं होता कि मेरी आत्मा में ही अनन्त आनन्द है। मुझे किसी परवस्तु की अपेक्षा नहीं है।

अज्ञानी को क्षणिक राग-द्वेष पुण्यादि विकार की मुख्यता होने से त्रिकाल अनन्तज्ञान सुखमय अपना प्रभुत्व भासित नहीं होता। ज्ञानी को स्वप्न में भी पर में सुखबुद्धि तथा कर्ता-भोक्ता बुद्धि नहीं होती। वह तो बाह्य स्वर्गसुख को भी सड़े हुए तृण समान मानता है। जिस प्रकार अच्छे गुड़ के पिण्ड में से निकाला हुआ नमूना भी अच्छा ही निकलता है, उसी प्रकार भगवान आत्मा त्रिकाली पूर्ण ज्ञानानन्द का पिण्ड है, स्वाधीन है; सुखस्वरूप है। उसमें रुचि एवं एकाग्रता करने से सिद्धभगवान की जाति का अपूर्व अतीन्द्रिय आनन्द आता है। चिदानन्द सुखकन्द आत्मा की रुचि के जोर से सन्तों ने आत्मा में एकाग्रतापूर्वक केवलज्ञान प्रगट करके परमानन्दमय अविनाशी मोक्षसुख प्राप्त किया है। तीर्थङ्कर भगवन्तों ने और वीतरागी सन्तों ने जो भगवान आत्मा की दिव्यता की महिमा गायी है, वही शास्त्र में आया है, वही ज्ञानियों के अनुभव में आया है; उसे भव्यजीव आनन्द से सम्मत करते हैं।

परमपूज्य श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव! एक बार मिथ्या आग्रह को छोड़कर छह माह तक प्रीतिपूर्वक सत्य तत्त्व का अभ्यास कर! अब अवसर आ चुका है, इसलिए बाह्यपदार्थों की रुचि छोड़कर आत्मा की रुचि कर। व्रतादि पुण्यपरिणाम में भी हितबुद्धि की श्रद्धा छोड़कर चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा की रुचि कर।

प्रश्न — रुचि होती क्यों नहीं है ?

उत्तर — जिन्हें परीक्षापूर्वक सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की महिमा एवं भक्ति नहीं है, उन्हें अपने अतीन्द्रिय ज्ञानानन्दस्वरूप चैतन्यतत्त्व की भी महिमा नहीं होती। छह द्रव्यों की स्वतन्त्रता और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की पहिचान एवं विनय हो और कुदेवादि का विनय न हो, इस प्रकार ज्ञान में यथार्थ निर्णय हुआ हो, तब शुद्धि के आङ्गन में आया कहलाये और सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की पात्रता प्रगट हो। जिसके अभी सच्चे-झूठे का ही ठिकाना नहीं है, उसके तो यह बात ही समझ में नहीं आती कि मैं भी परमात्मा बन सकता हूँ।

ज्ञानी जीव को गृहस्थ अवस्था में घर के धन्धे आदि कार्यों में अशुभराग होता है, वर्तमान कमजोरी के कारण उसका उपयोग आत्मानन्द में अधिक समय तक निरन्तर स्थिर नहीं रह पाता, तो भी अतीन्द्रिय आनंद में लीन होने की शक्तिरूप ज्ञान तो निरन्तर लब्धिरूप वर्तता है, राग से भिन्न शुद्धात्मा का भान तो सदा रहता है; परन्तु उसका ज्ञानोपयोग सदा नहीं रह पाता। लड़ाई, व्यापार, खान-पान आदि घर के कार्यों में अशुभभाव होता है; परन्तु उस समय भी 'मैं पर से भिन्न हूँ ज्ञाता हूँ' — यह बात विस्मृत नहीं होती। 'मैं ज्ञाता हूँ' — यह याद करना पड़ता हो — ऐसा नहीं है, याद किए बिना ही अन्तरङ्ग में ज्ञायकपने की रुचि, दृढ़ता क्षणमात्र भी ढीली नहीं होती।

सम्यग्दृष्टि गृहस्थ के पुत्र मरने पर वह रुदन भी करे, तो भी उसके भेदज्ञान का अभाव नहीं होता, क्योंकि वह पर से, संयोग-वियोग से, राग-द्वेष, सुख-दुख नहीं मानता। अज्ञानी वर्तमान पुत्र के वियोग में तो शोक संतप्त होता रहता है; परन्तु यह विचार करके अविनाशी ज्ञायक आत्मा की दृष्टि और समता प्रगट नहीं करता कि मैं स्वयं अनन्त बार वनस्पति में गया, वहाँ अनन्त जीवों के साथ जन्म-मरण किया। ज्ञानी को पुत्रवियोग का दु:ख नहीं होता, मात्र अपनी वर्तमान कमजोरी के कारण दु:ख होता है, पर उसकी मुख्यता नहीं होती। उसे तो मोहरहित चैतन्यस्वरूप की महिमा ही मुख्य होती है। जिसे निश्चयस्वरूप आत्मा का भान नहीं है, वह कदाचित् साधु भी हो जाए, बहुत यश भी मिलता हो तो भी उसने जिनशासन का वास्तविक स्वरूप नहीं जाना।

प्रश्न — धर्म के संस्कार डालने के लिए बालपना अच्छा है या जवानी ?

उत्तर — जब पुरुषार्थ करे, तब वर्तमान पुरुषार्थ से ही अपने में धर्म को उतार सकता है। धर्म का शरीर की अवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं है, वर्तमान पुरुषार्थ ही कारण है। शास्त्र में प्रद्युम्नकुमार की बात आती है कि वे कामदेव थे और युवा अवस्था में समस्त रानियों को छोड़कर महावैराग्यवान होकर नग्नदिगम्बर जिनदीक्षा धारण करके चैतन्यविद्या साधने के लिए अन्दर आत्मा में चले गये। इससे सिद्ध होता है कि छोटी उम्र में भी पुरुषार्थ से वैराग्य (धर्म) धारण कर सकता है।

निर्विकल्प श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप निश्चयरत्नत्रय आत्मा में ही होता है। शुद्धात्मा से रहित शुभरागरूप व्यवहार रत्नत्रय में नहीं रहता। देह की क्रिया में या आहार-पानी की

शुद्धि में भी आत्मा का धर्म नहीं होता। जिस प्रकार शक्कर में मिठास एकमेक रहती है, उसी प्रकार आत्मा भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय है — ऐसा ही निजात्मतत्त्व है — इस प्रकार निजशुद्धात्मा को ही मुक्ति का कारण जानना चाहिए — ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने कहा है।

जो वस्त्रधारी को परमेष्ठी पद होना मानता है, स्त्री को साध्वीपना मानता है, मनवाता है; वह सनातन सत्य का विरोध करता है। स्त्री शरीरधारी जीव पञ्चमगुणस्थान तक ही जा सकता है। कर्मभूमि की स्त्री के वज्रवृषभनाराच संहनन नहीं होता। तिरेसठ शलाका महापुरुषों का पद नहीं होता। अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान, केवलज्ञान, अरहन्तपद द्वादशाङ्ग का अभ्यास, आहारकशरीर नहीं होता। सोलहवें स्वर्ग से ऊपर जाने लायक पुण्यभाव भी नहीं होता।

भाई! सम्यग्दर्शन अपूर्व चीज है, उसमें सबसे पहले सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की पहिचान यथार्थ होना चाहिए। उसमें थोड़ी भी शिथिलता स्वीकार नहीं की जा सकती है; क्योंकि वह शुद्ध श्रद्धा का विषय है, इसलिए उसमें किञ्चित् भी शिथिलता नहीं चलती। जिसकी व्यवहारश्रद्धा में विपरीतता है, उसकी निश्चय की कोई बात यथार्थ नहीं हो सकती।

❖❖❖

यह कोई आश्चर्य की बात नहीं

वीतरागी सन्तों को, मुनियों को अन्तरस्वरूप में रहना, स्थिर होना; यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि उनकी तो स्वभाव-परिणति की स्थिति ही ऐसी है। मुनिराज तो दिन में हजारों बार छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हैं। इस प्रकार एक दिन में हजारों बार अप्रमत्त दशा आती है। क्षण में सातवाँ गुणस्थान आने पर आनन्द में लीन हो जाते हैं और क्षण में फिर विकल्प उत्पन्न होने पर छठवाँ गुणस्थान आ जाता है, पुन: सातवाँ गुणस्थान आता है और फिर पुन: छठवाँ गुणस्थान आता है। देखो! यह मुनिदशा! जैनदर्शन / वास्तविक दर्शन के सन्त ऐसे होते हैं।

(- प्रवचन-रत्न चिन्तामणि, ३/५६)

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-४१

इस प्रकार प्रथम स्थल में दो गाथाओं द्वारा संक्षेप में निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग का स्वरूप कहकर उसके अनन्तर द्वितीय स्थल में छह गाथाओं में सम्यक्त्व आदि तीनों का क्रमपूर्वक वर्णन करते हैं। वहाँ प्रथम ही सम्यग्दर्शन का कथन करते हैं —

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु।
दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जह्मि॥४१॥

जीवादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं रूपं आत्मनः तत् तु।
दुरभिनिवेशविमुक्तं ज्ञानं सम्यक् खलु भवति सति यस्मिन्॥४१॥

जीवादि का श्रद्धान समकित जो कि आत्मस्वरूप है।
और दुरभिनिवेश विरहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान है॥४१॥

गाथार्थ :— जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना वह सम्यक्त्व है। वह सम्यक्त्व आत्मा का स्वरूप है। इस सम्यक्त्व के होने पर दुरभिनिवेशरहित सम्यग्ज्ञान होता है।

टीका :— '**जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं**' वीतराग-सर्वज्ञप्रणीत शुद्ध जीवादि तत्त्वों में चल, मल, अगाढ़ (दोष) रहित श्रद्धा-रुचि-निश्चय और 'यही है, इसी प्रकार है' ऐसी निश्चयबुद्धि, वह सम्यग्दर्शन है। '**रूवमप्पणो तं तु**' और वह सम्यग्दर्शन अभेदनय से स्वरूप है। किसका स्वरूप है ? आत्मा का; वह आत्मा का परिणाम है — ऐसा अर्थ है।

उसका (सम्यग्दर्शन का) सामर्थ्य और माहात्म्य दिखलाते हैं; '**दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जह्मि**' जिस सम्यक्त्व के होने पर ज्ञान प्रगटरूप से सम्यक् हो जाता है। कैसा सम्यक् हो जाता है ? '**दुरभिणिवेसविमुक्कं**' चलायमान संशयज्ञान (अर्थात् ऐसा होगा अथवा ऐसा, इसप्रकार का) संशय से, गमन करते हुए तृणस्पर्श होने पर 'किसका स्पर्श हुआ' उसके अनिश्चयरूप विभ्रम से और 'सीप के टुकड़े में चाँदी का ज्ञान हो' — ऐसे विमोह से — इन तीन दोषों से रहित ज्ञान, सम्यक् हो जाता है।

इसका विस्तार :— 'सम्यग्दर्शन होने पर ज्ञान सम्यक् होता है' इस प्रकार जो कहा है, उसका विवरण करते हैं :— पाँच सौ-पाँच सौ ब्राह्मणों को पढ़ानेवाले गौतम,

अग्निभूति और वायुभूति नामक ब्राह्मण चार वेद, ज्योतिष-व्याकरण आदि छह अङ्ग, मनुस्मृति आदि अठारह स्मृतिशास्त्र, महाभारतादि अठारह पुराण, मीमांसा, न्याय-विस्तार आदि समस्त लौकिक शास्त्र जानते थे तो भी उनका ज्ञान, सम्यक्त्व बिना मिथ्याज्ञान ही था। जब, प्रसिद्ध कथा के अनुसार, श्रीमहावीर वर्द्धमान तीर्थङ्कर परमदेव के समवसरण में मानस्तम्भ को देखनेमात्र से ही आगमभाषा अपेक्षा से दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्म के उपशम-क्षय नामक (कालादिलब्धि विशेष से) और अध्यात्मभाषा की अपेक्षा निज शुद्धात्माभिमुख परिणाम नामक कालादिलब्धि विशेष से मिथ्यात्व नष्ट हुआ, तब वही मिथ्याज्ञान, सम्यग्ज्ञान हुआ। तत्पश्चात् 'भगवान की जय हो' इत्यादि प्रकार से नमस्कार करके जिनदीक्षा लेकर केशलोंच करते ही चार ज्ञान (मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय) और सप्त ऋद्धिसम्पन्न होकर तीनों ही गणधरदेव हो गये। गौतमस्वामी ने भव्य जीवों के उपकार के लिये बारह अङ्गरूप श्रुत की रचना की। तत्पश्चात् उन तीनों ने ही निश्चयरत्नत्रय की भावना के बल से मोक्ष प्राप्त किया। शेष पन्द्रह सौ ब्राह्मणों ने जिनदीक्षा लेकर यथासंभव स्वर्ग या मोक्ष प्राप्त किया; परन्तु अभव्यसेन ग्यारह अङ्ग का पाठी होने पर भी सम्यक्त्व बिना मिथ्याज्ञानी रहा। इस प्रकार सम्यक्त्व के माहात्म्य से ज्ञान, तपश्चरण, व्रत, उपशम, ध्यान आदि मिथ्यारूप हो, वह भी सम्यक् हो जाता है और उसके (सम्यक्त्व के) बिना ये सब विषसहित दूध की भांति वृथा (व्यर्थ) हैं — ऐसा जानना।

और वह सम्यक्त्व पच्चीस दोषरहित होता है। वह इस प्रकार — देवमूढ़ता, लोकमूढ़ता और समयमूढ़ता — ये तीन मूढ़ता हैं।

क्षुधा आदि अठारह दोषरहित, अनन्तज्ञानादि, अनन्तगुणसहित, वीतराग सर्वज्ञदेव का स्वरूप नहीं जानते हुए जो जीव ख्याति, पूजा, लाभ, रूप, लावण्य, सौभाग्य, पुत्र, स्त्री, राज्य आदि वैभव के लिये, राग-द्वेष से आहत, आर्त और रौद्र परिणामवाले क्षेत्रपाल, चण्डिका आदि मिथ्यादेवों का आराधन करते हैं, उसे देवमूढ़ता कहते हैं। वे देव कुछ भी फल नहीं देते।

प्रश्न — (फल नहीं देते) वह किस प्रकार ?

उत्तर — रावण ने रामचन्द्र और लक्ष्मण का विनाश करने के लिए बहुरूपिणी विद्या सिद्ध की; कौरवों ने पाण्डवों का नाश करने के लिए कात्यायनी विद्या सिद्ध की; कंस

ने नारायण का (कृष्ण का) विनाश करने के लिए बहुत-सी विद्याएँ सिद्ध कीं; परन्तु उन विद्याओं द्वारा रामचन्द्र, पाण्डवों और कृष्ण नारायण का कुछ भी अनिष्ट नहीं हुआ। उन्होंने (राम आदि ने) यद्यपि मिथ्यादेवों की आराधना नहीं की तो भी निर्मल सम्यक्त्व से उपार्जित पहले किये हुए पुण्य से उनके सर्व विघ्न दूर हुए।

अब, लोकमूढ़ता का कथन करते हैं: 'गङ्गा आदि नदीरूप तीर्थों में स्नान, समुद्र में स्नान, प्रातःकाल में स्नान, जल में प्रवेश करके मरना, अग्नि में प्रवेश करके मरना, गाय की पूंछ पकड़ कर मरना, भूमि-अग्नि-वटवृक्ष की पूजा करना — ये सब पुण्य के कारण हैं' — ऐसा जो कहते हैं, उनको लोकमूढ़ता जानना। लौकिक-पारमार्थिक, हेय-उपादेय और स्व-परज्ञानरहित अज्ञानियों का प्रवाह से (कुल परम्परा से) चला आया अन्य भी जो कोई धर्माचरण है, वह भी लोकमूढ़ता है — ऐसा जानना।

अब, समयमूढ़ता कहते हैं:— अज्ञानियों के मन में चमत्कार (आश्चर्य) उत्पन्न करने वाले ज्योतिष, मन्त्रवाद आदि देखकर वीतराग-सर्वज्ञप्रणीत धर्म को छोड़कर कुदेव-शास्त्र और वेषधारियों को भय, आशा, स्नेह और लोभ से धर्म के लिये प्रणाम, विनय, पूजा, सत्कार आदि करना, वह समयमूढ़ता है।

ये उक्त लक्षणयुक्त तीनों मूढ़ता सरागसम्यग्दृष्टि की अवस्था में त्यागनेयोग्य हैं।

मन-वचन-काया की गुप्तिरूप अवस्था जिसका लक्षण है — ऐसे वीतराग सम्यक्त्व के अवसर में तो 'अपना निरञ्जन, निर्दोष परमात्मा ही देव है' — ऐसी निश्चयबुद्धि ही देवमूढ़ता से रहितपना है — ऐसा जानना तथा मिथ्यात्व-रागादि मूढ़भावों का त्याग कर जो अपने शुद्धात्मा में ही स्थित है, वह लोकमूढ़ता से रहितपना है — ऐसा जानना; उसी प्रकार समस्त शुभाशुभ सङ्कल्प-विकल्परूप परभाव का त्याग कर, निर्विकार तात्त्विक परमानन्द जिसका एक लक्षण है — ऐसे परम समरसीभाव से, उसी में (शुद्धात्मा में ही) सम्यक् प्रकार से अयन-गमन-परिणमन है, वह समयमूढ़ता से रहितपना है इस प्रकार जानना। इस प्रकार तीन मूढ़ताओं का व्याख्यान किया।

अब, आठ मदों का स्वरूप कहते हैं :— विज्ञान, ऐश्वर्य, ज्ञान, तप, कुल, बल, जाति और रूप — इन आठों मदों का त्याग सराग सम्यग्दृष्टियों के द्वारा किया जाना चाहिए। वीतराग सम्यग्दृष्टियों को तो मान-कषाय से उत्पन्न हुए मद, मात्सर्य (ईर्ष्या)

आदि समस्त विकल्पजाल के त्याग द्वारा, ममकार-अहंकाररहित निज शुद्धात्मा में भावना, वही आठ मदों का त्याग है। ममकार और अहंकार का लक्षण कहते हैं — कर्मजनित देह, पुत्र, स्त्री आदि में 'यह मेरा है' इस प्रकार की बुद्धि वह ममकार है और उसमें ही अभेदरूप से 'मैं गोरा, मोटा आदि शरीर हूँ, मैं राजा हूँ' यह अहंकार का लक्षण है।

अब, छह अनायतनों का कथन करते हैं :— सम्यग्दृष्टियों को मिथ्यादेव, मिथ्यादेवों के आराधक, मिथ्या तप, मिथ्या तपस्वी, मिथ्या आगम, मिथ्या शास्त्र के पण्डित — इन उपरोक्त लक्षणयुक्त छह अनायतनों का त्याग सम्यग्दृष्टि को करना चाहिए। वीतराग सम्यग्दृष्टियों को तो समस्त दोषों के स्थानभूत मिथ्यात्व-विषय-कषायरूप आयतनों के त्याग से केवलज्ञानादि अनन्तगुण के स्थानभूत स्वशुद्धात्मा में निवास करना, वही अनायतनों की सेवा का त्याग है। अनायतन शब्द का अर्थ कहा जाता है। सम्यक्त्वादि गुणों के आयतन-घर-आवास-आश्रय-आधार के निमित्त को 'आयतन' कहते हैं और उससे विपरीत वह 'अनायतन' है।

तत्पश्चात्, शङ्का आदि आठ दोषों के त्याग का कथन करते हैं:— निःशङ्कता आदि आठ गुणों का पालन करना, वही शङ्कादि आठ दोषों का त्याग कहलाता है। वह इस प्रकार है — रागादि दोष अथवा अज्ञान, असत्य वचन का कारण है और ये दोनों (रागादि और अज्ञान) वीतराग-सर्वज्ञदेव में नहीं हैं, इस कारण उनके द्वारा कहे हुए हेय-उपादेय तत्त्व में, मोक्ष में और मोक्षमार्ग में भव्यों को शङ्का-संशय-सन्देह करना योग्य नहीं है। वहाँ शङ्का आदि दोष के त्याग के सम्बन्ध में अञ्जनचोर की कथा प्रसिद्ध है। उस सम्बन्ध में ही विभीषण की कथा भी (प्रसिद्ध) है। वह इस प्रकार — सीता हरण प्रकरण में रावण के राम-लक्ष्मण के साथ युद्ध करने के प्रसङ्ग में विभीषण ने विचार किया कि राम तो आठवाँ बलदेव है और लक्ष्मण आठवाँ वासुदेव है तथा रावण आठवाँ प्रतिवासुदेव है। उस प्रतिवासुदेव का मरण वासुदेव के हाथ से होता है — ऐसा जैन आगम में कहा है, वह मिथ्या नहीं हो सकता है — इस प्रकार निःशङ्क होकर अपने बड़े भाई, तीनलोक के कण्टकरूप रावण को छोड़कर, (अपनी) तीस अक्षौहिणी चतुरङ्ग सेनासहित वह रामचन्द्र के पास चला गया। उसी प्रकार देवकी और वासुदेव — इन दोनों को भी निःशङ्क जानना। वह इस प्रकार — जब देवकी के पुत्र को मारने के लिए

कंस ने प्रार्थना की, तब उन दोनों ने (देवकी और वासुदेव ने) विचार किया कि मेरा पुत्र नवमा वासुदेव होगा और उसके हाथ से जरासिन्धु नामक नववें प्रतिवासुदेव का और कंस का भी मरण होगा — ऐसा जैन आगम में कहा है, उसी प्रकार अतिमुक्त भट्टारक ने भी कहा है; - इस प्रकार निश्चय करके कंस को अपना बालक दे दिया। उसी प्रकार अन्य भव्य जीवों को भी जिनागम में शङ्का नहीं करना चाहिए।

यह व्यवहारनय से नि:शङ्कित अङ्ग का व्याख्यान किया। निश्चय से तो, उसी व्यवहार-नि:शङ्कितगुण के सहकारीपने से इहलोकभय, परलोकभय, अरक्षाभय, अगुप्तिभय, मरणभय, व्याधि-वेदनाभय और अकस्मातभय — ये सात भय छोड़कर घोर उपसर्ग अथवा परीषह आने पर भी शुद्धोपयोगरूप निश्चयरत्नत्रय की भावना वही नि:शङ्कितगुण जानना ॥१ ॥

अब, नि:कांक्षितगुण का कथन करते हैं — इसलोक और परलोक की तृष्णारूप भोगाकांक्षानिदान के त्याग द्वारा केवलज्ञानादि अनन्त गुणों की प्रगटतारूप मोक्ष के लिये दान, पूजा, तपश्चरण आदि आचरण करना वह नि:कांक्षित गुण कहलाता है। इस गुण में अनन्तमती कन्या की कथा प्रसिद्ध है। दूसरी सीता महादेवी की कथा है। उसे कहते हैं — जब सीता लोगों की निन्दा दूर करने के लिये अग्निकुण्ड में प्रवेश कर शुद्ध (निर्दोष) हुई, तब रामचन्द्र द्वारा दिये गये पट्ट-महाराणी-विभूतिपद छोड़कर, सकलभूषण नामक केवलज्ञानी के पादमूल में, कृतान्तवक्र आदि राजाओं और बहुत-सी रानियों के साथ जिनदीक्षा लेकर, शशिप्रभा आदि आर्यिकाओं के समूह के साथ में ग्राम, पुर, खेटक आदि में विहार करती हुई, भेदाभेदरत्नत्रय भावना से बासठ वर्ष तक जैनमत की प्रभावना करके, अन्त समय में तैंतीस दिन तक निर्विकार परमात्मा की भावनासहित संन्यास करके (समाधिमरण करके) अच्युत नामक सोलहवें स्वर्ग में प्रतीन्द्र हुआ; तत्पश्चात् निर्मल सम्यक्त्व का फल देखकर धर्मानुराग से नरक में रावण और लक्ष्मण को सम्बोधन कर, अब स्वर्ग में है। भविष्य में स्वर्ग से आकर सीता का जीव सकल चक्रवर्ती होगा; रावण और लक्ष्मण के जीव उसके (सीता के जीव के) पुत्र होंगे। तत्पश्चात् तीर्थङ्करदेव के पादमूल में अपना पूर्वभव देखकर, परिवारसहित दोनों पुत्र तथा सीता का जीव जिनदीक्षा लेकर भेदाभेदरत्नत्रय की भावना से पञ्च अनुत्तर विमान में तीनों अहमिन्द्र होंगे। वहाँ से आकर रावण तीर्थङ्कर होगा और सीता (उसका) गणधर

होगी। लक्ष्मण धातकीखण्ड द्वीप में तीर्थङ्कर होगा। इस प्रकार व्यवहार निष्कांक्षित गुण जानना। निश्चय से तो, उसी व्यवहार नि:कांक्षितगुण के सहकारीपने से, दृष्ट, श्रुत और अनुभूत पंचेन्द्रिय भोगों का त्याग कर, निश्चयरत्नत्रय की भावना से उत्पन्न पारमार्थिक निजात्मजनित सुखामृत के रस में चित्त का संतोष वही नि:कांक्षित गुण है॥२॥

अब, निर्विचिकित्सागुण कहते हैं:— भेदाभेद रत्नत्रय के आराधक भव्य जीवों की दुर्गंध, खराब आकृति आदि देखकर धर्मबुद्धि से अथवा करुणाभाव से योग्यता प्रमाण ग्लानि छोड़ना उसे द्रव्य-निर्विचिकित्सा गुण कहते हैं। ''जैनमत में सब बातें अच्छी हैं; किन्तु मुनि को वस्त्र-रहितपना तथा वे जलस्नानादि नहीं करते वही दोष है'' — ऐसा कुत्सित भाव, विशिष्ट विवेकबल द्वारा छोड़ना वह भाव-निर्विचिकित्सा कहलाता है। इस व्यवहार-निर्विचिकित्सागुण के विषय में उद्दायन महाराजा की और रुक्मिणी महादेवी की कथा आगम प्रसिद्ध जानना। निश्चय से तो, उसी व्यवहार निर्विचिकित्सागुण के बल से समस्त द्वेषादि विकल्परूप तरंगों का त्याग कर निर्मल आत्मानुभूति जिसका लक्षण है — ऐसी निज शुद्धात्मा में स्थिति वही निर्विचिकित्सागुण है॥३॥

इसके पश्चात्, अमूढ़दृष्टिगुण का कथन करते हैं :— वीतराग-सर्वज्ञ-प्रणीत आगम के अर्थ से विपरीत कुदृष्टियों द्वारा रचित जो रसायनशास्त्र, खनिजविद्या, हरमेलखल, क्षुद्रविद्या, व्यन्तर-विकुर्वण आदि अज्ञानियों के चित्त में विस्मय उत्पन्न करनेवाले शास्त्र देखकर और सुनकर जो कोई जीव मूढ़ता से उनमें धर्मबुद्धि द्वारा रुचि अथवा भक्ति नहीं करता है, वही व्यवहार-अमूढदृष्टि कहलाता है। इस विषय में उत्तर-मथुरा में उदुरुलि भट्टारक, रेवती श्राविका तथा चन्द्रप्रभ नामक विद्याधर ब्रह्मचारी की कथाएँ प्रसिद्ध हैं। निश्चय से तो उसी व्यवहार-अमूढ़दृष्टि-गुण के प्रसाद से अन्त:तत्त्व और बहि:र्तत्त्व का निश्चय होने पर समस्त मिथ्यात्वरागादि शुभाशुभ सङ्कल्प-विकल्पों में इष्टबुद्धि-आत्मबुद्धि-उपादेयबुद्धि-हितबुद्धि-ममत्वभाव का त्याग कर त्रिगुप्तिरूप से विशुद्धज्ञान-दर्शनस्वभावी निजात्मा में जो निश्चल स्थिति करना, वही अमूढ़दृष्टिपना है। सङ्कल्प और विकल्प का लक्षण कहते हैं : पुत्र, स्त्री आदि बाह्यद्रव्यों में 'यह मेरा है' — ऐसी कल्पना, वह सङ्कल्प है, अन्तरङ्ग में 'मैं सुखी हूँ, मैं दु:खी हूँ' — ऐसा हर्ष-विषाद करना, वह विकल्प है अथवा वास्तविकरूप से सङ्कल्प का अर्थ क्या ? विकल्प। सङ्कल्प वही विकल्प, वह उसकी ही पर्याय है। (सङ्कल्प, विकल्प की ही पर्याय है।)॥४॥

अब, उपगूहनगुण कहते हैं :— भेदाभेद रत्नत्रय की भावनारूप मोक्षमार्ग स्वभाव से शुद्ध ही है। उसमें अज्ञानी मनुष्यों के निमित्त से तथा अशक्त मनुष्यों के निमित्त से धर्म की निन्दा-दोष-अपवाद अथवा अप्रभावना जब होती है, तब आगम के अविरोधरूप से शक्ति अनुसार धन से अथवा धर्मोपदेश से धर्म के लिये जो दोषों को ढँका जाता है अथवा दूर किया जाता है, वह व्यवहारनय से उपगूहन कहलाता है। इस विषय में मायाचार से ब्रह्मचारी ने पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा में जड़ित रत्न की चोरी की, तब जिनदत्त श्रेष्ठी ने उपगूहन किया, वह कथा प्रसिद्ध है अथवा रूद्र की ज्येष्ठा नामक माता की लोकनिन्दा हुई, तब उसका दोष ढँकनेवाली चेलिनी महाराणी की कथा प्रसिद्ध है। निश्चय से तो, उसी व्यवहार उपगूहनगुण के सहकारीपने से निज निरञ्जन निर्दोष परमात्मा के आच्छादक मिथ्यात्व-रागादि दोषों का, उसी परमात्मा के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप ध्यान द्वारा प्रच्छादन-नाश-गोपण करना-ढँकना वही उपगूहनगुण है ॥५॥

अब, स्थितिकरणगुण का कथन करते हैं :— भेदाभेद रत्नत्रय के धारक (मुनि, अर्जिका, श्रावक, श्राविकारूप) चार प्रकार के संघ में से कोई जब दर्शन और चारित्रमोह के उदय से दर्शन, ज्ञान अथवा चारित्र का त्याग करने की इच्छा करता है, तब आगम से अविरोधरूप से शक्ति प्रमाण धर्मश्रवण से, धन से, सामर्थ्य से अथवा किसी भी उपाय से उसे धर्म में स्थिर किया जाता है, वह व्यवहार से स्थितिकरण है। पुष्पडाल मुनि को धर्म में स्थिर करने के प्रसङ्ग में वारिषेणकुमार की कथा आगम प्रसिद्ध है। निश्चय से तो, उसी व्यवहार-स्थितिकरण गुण से धर्म में दृढ़ता होने पर दर्शन और चारित्रमोह के उदय से उत्पन्न समस्त मिथ्यात्व-रागादि विकल्पजाल का त्याग कर निज परमात्मस्वभाव की भावना से उत्पन्न परमानन्द जिसका एक लक्षण है — ऐसे सुखामृत के रसास्वाद द्वारा परमात्मा में तल्लीन-तन्मय परम समरसीभाव से चित्त को स्थिर करना, वही स्थितिकरण गुण है ॥६॥

अब, वात्सल्य नामक सातवाँ अङ्ग कहते हैं :— बाह्य और अभ्यन्तर रत्नत्रय के धारक ऐसे चतुर्विध संघ के प्रति, गाय को बछड़े के प्रति होता है, उसी प्रकार अथवा पाँच इन्द्रिय के विषय के निमित्तभूत पुत्र, स्त्री, सुवर्णादि के प्रति स्नेह होता है उसी प्रकार, जो स्वाभाविक स्नेह होना, उसे व्यवहार से वात्सल्यगुण कहते हैं। उस सम्बन्ध में हस्तिनागपुर के राजा पद्मराज के बलि नामक दुष्ट मन्त्री ने जब निश्चय-व्यवहार

रत्नत्रय के आराधक श्री अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनियों पर उपसर्ग किया, तब निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग के आराधक विष्णुकुमार नामक मुनि ने विक्रियाऋद्धि के प्रभाव से, वामनरूप धारण करके बलि नामक मंत्री के पास तीन डग भूमि माँगकर, एक पैर मेरुपर्वत के शिखर पर रखा, दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर रखा और तीसरा पग रखने का स्थान खाली नहीं है — ऐसा कहकर वचन के छल से मुनियों के वात्सल्य के निमित्त बलि नामक मन्त्री को बाँधा — ऐसी एक आगमप्रसिद्ध कथा है। दूसरी एक वात्सल्य कथा, दशपुर नगर के वज्रकर्ण नामक राजा की, रामायण में प्रसिद्ध है; उज्जयिनी के राजा सिंहोदर ने 'यह वज्रकर्ण जैन है और मुझे नमस्कार नहीं करता है' ऐसा जानकर दशरथपुरनगर को घेरा डालकर घोर उपसर्ग किया। तब भेदाभेदरत्नत्रय की भावना जिनको प्रिय थी, ऐसे रामचन्द्र ने वज्रकर्ण प्रति के वात्सल्य के निमित्त सिंहोदर को बाँधा। (यह वात्सल्य कथा रामायण में प्रसिद्ध है।) निश्चय वात्सल्य तो, उसी व्यवहार वात्सल्यगुण के सहकारीपने से धर्म में दृढ़ता होने पर, मिथ्यात्व-रागादि समस्त शुभाशुभ बहिर्भावों में प्रीति छोड़कर रागादि विकल्पोपाधिरहित, परम स्वास्थ्य के सम्वेदन से उत्पन्न सदानन्द (नित्य आनन्द) जिसका एक लक्षण है — ऐसे सुखामृत के रसास्वाद में प्रीति करना ही है। इस प्रकार सातवें अङ्ग का व्याख्यान किया॥७॥

अब, प्रभावनागुण नामक आठवें अङ्ग का कथन करते हैं:— श्रावक को दान-पूजा आदि द्वारा और मुनि को तप-श्रुत आदि से जैन शासन की प्रभावना करना, इसे व्यवहार से प्रभावनागुण जानना। इस विषय में उत्तर मथुरा में जिनसमय की प्रभावना करने के स्वभाववाली उर्विल्ला महादेवी को प्रभावना के निमित्त से उपसर्ग होने पर वज्रकुमार नामक विद्याधर श्रमण ने आकाश में जैनरथ भ्रमण कराकर प्रभावना की थी — यह एक आगमप्रसिद्ध कथा है तथा दूसरी कथा यह है :— तद्भव मोक्षगामी हरिषेण नामक दसवें चक्रवर्ती ने, जिन समय की प्रभावनाशील अपनी माता वप्रा महादेवी के निमित्त से और अपने धर्मानुराग से, जैनमत की प्रभावना के लिये ऊँचे तोरणवाले जिनमन्दिरों से समस्त पृथ्वी को विभूषित किया था, यह कथा रामायण में प्रसिद्ध है। निश्चय से तो, उसी व्यवहार प्रभावनागुण के बल से मिथ्यात्व-विषय-कषायादि समस्त विभाव परिणामरूप परसमयों का प्रभाव नष्ट करके शुद्धोपयोगलक्षण स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभावी निज शुद्धात्मा का प्रकाशन-अनुभवन करना, वही प्रभावना है॥८॥

इस प्रकार उक्त प्रकार से तीन मूढ़ता, आठ मद, छह अनायतन और शङ्का आदि आठ दोषरहित शुद्ध जीवादि तत्त्वार्थों का श्रद्धान जिसका लक्षण है — ऐसा सरागसम्यक्त्व नामक व्यवहारसम्यक्त्व जानना। उसी प्रकार उसी व्यवहार सम्यक्त्व से परम्परा से साध्य ऐसा, शुद्धोपयोगलक्षण निश्चयरत्नत्रय की भावना से उत्पन्न परमाह्लाद जिसका एक रूप है — ऐसे सुखामृतरस का आस्वाद ही उपादेय है और इन्द्रिय सुखादि हेय है —ऐसी रुचिरूप, वीतरागचारित्र का अविनाभावी वीतराग-सम्यक्त्व नामक निश्चयसम्यक्त्व जानना।

प्रश्न — यहाँ व्यवहारसम्यक्त्व के कथन में निश्चयसम्यक्त्व का कथन किसलिये किया ?

उत्तर — व्यवहारसम्यक्त्व से निश्चयसम्यक्त्व की सिद्धि होती है — ऐसा साध्य-साधकभाव का ज्ञान कराने के लिये कथन किया है।

अब, जिन जीवों को सम्यग्दर्शन ग्रहण होने से पहले आयुष्य का बन्ध न हुआ हो, उनको व्रत न हों तो भी निन्द्य नर-नारक आदि के स्थान में जन्म नहीं होता है — ऐसा कहते हैं : **'सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकातिर्यग्नपुंसकस्त्रीत्वानि। दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः॥ अर्थ :—** जिनको सम्यग्दर्शन शुद्ध है; परन्तु अव्रती है, वे भी नरकगति, तिर्यञ्चगति, नपुंसकपना, स्त्रीपना, नीचकुल, अङ्गहीन शरीर, अल्प आयु और दरिद्रपने को प्राप्त नहीं होते हैं।' अब, मनुष्यगति में उत्पन्न सम्यग्दृष्टि जीवों के प्रभाव का कथन करते हैं :— **'ओजस्तेजोविद्यावीर्ययशोवृद्धिविजयविभवसनाथाः। उत्तमकुला महार्था मानवतिलका भवन्तिदशनपूताः॥ अर्थ :—** जो दर्शन से पवित्र हैं वे उत्साह, तेज, विद्या, वीर्य, यश, वृद्धि, विजय और वैभवसहित, उत्तम कुलयुक्त, प्रचुर धनवान और मनुष्यों में शिरोमणि होते हैं।' तथा देवगति में प्रकीर्णक देव, वाहन देव, किल्विष देव और तीनों नीच देवों (व्यन्तर-भवनवासी-ज्योतिषी) के अतिरिक्त महाऋद्धिधारक देवों में सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होते हैं।

अब, सम्यक्त्व के ग्रहण के पूर्व जिन्होंने देव-आयुष्य बाँधी हो, उनके सम्बन्ध में सम्यक्त्व का माहात्म्य कहते हैं। **'हेट्ठिमछप्पुढवीयं जोइसवणभवणसव्वइत्थीणं। पुण्णिदरे ण हि सम्मो ण सासणो णारयापुण्णे॥ अर्थ :—** नीचे के छह नरकों में, ज्योतिषी, व्यन्तर और भवनवासी देवों में, सब स्त्रियों में, लब्ध्यपर्याप्तकों में सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होता है तथा सासादन सम्यग्दृष्टि अपर्याप्त नारकीरूप से उत्पन्न नहीं होता

है।' वही अर्थ दूसरे प्रकार से कहते हैं:— '**ज्योतिर्भावनभौमेषु षट्स्वधः श्वभ्रभूमिषु। तिर्यक्षु नृसुरस्त्रीषु सद्दृष्टिनैव जायते॥ अर्थः**— ज्योतिषी, भवनवासी और व्यन्तरदेवों में, नीचे की छह नरक की पृथ्वियों में, तिर्यञ्चों में, मनुष्य स्त्रियों में और देवाङ्गनाओं में सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होते हैं।'

औपशमिक, वेदक और क्षायिक नामक तीन सम्यक्त्वों में से किस गति में कौन-सा सम्यक्त्व सम्भव है, उसका कथन करते हैं :— 'सौधर्म आदि स्वर्गों में, असंख्य वर्ष के आयुष्यवाले, तिर्यञ्चों में, मनुष्यों में और रत्नप्रभा प्रथम नरक में तीनों सम्यक्त्व होते हैं॥२॥' जिन्होंने आयुष्य बाँधा हो अथवा न बाँधा हो, वैसे कर्मभूमि के मनुष्यों में तीनों सम्यक्त्व होते हैं; परन्तु अपर्याप्त अवस्था में औपशमिक सम्यक्त्व महर्द्धिक देवों में ही होता है। '**शेषेषु देवतिर्यक्षु षट्स्वधः श्वभ्रभूमिषु। द्वौ वेदकोपशमकौ स्यातां पर्याप्तदेहिनाम्॥ अर्थ :**— शेष देवों और तिर्यञ्चों में और नीचे की छह नरक भूमियों में पर्याप्त जीवों को वेदक और उपशम ये दो ही सम्यक्त्व होते हैं।'

इस प्रकार निश्चय-व्यवहार रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग जो कि अवयवी है, उसके प्रथम अवयवरूप सम्यक्त्व का व्याख्यान करनेवाली गाथा पूर्ण हुई॥४१॥

गाथा ४१ पर प्रवचन

वीतराग सर्वज्ञ भगवान द्वारा जो शुद्ध जीवादितत्त्व कहे गये हैं, उनकी स्वतन्त्रता जानते हुए, विपरीततारहित परीक्षापूर्वक यथार्थ श्रद्धान करना एवं मेरा स्वरूप भी इन्हीं की भांति स्वतन्त्र है — ऐसा दृढ़ निश्चयरूप स्वसम्वेदनसहित आत्मप्रतीति ही सम्यग्दर्शन है।

यहाँ कोई कहता है कि भगवान ने जैसा देखा है, वैसा होता है; तब पुरुषार्थ करने से मोक्ष होगा — यह बात ही कहाँ रहीं ?

उत्तर — जिसे सर्वज्ञपने का निश्चय होता है, उसकी समझ में यह सब आ जाता है। छह द्रव्य स्वयं से स्वतन्त्रपने स्थिर रहते हैं और पलटते हैं — ऐसा इनका स्वभाव है। स्वभाव अपने आधारभूत स्वभाववान वस्तु के बिना नहीं होता है। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक वस्तु में जो भी कार्य होता है, वह उसकी नित्य सामान्यशक्ति में से होता है; इसलिए उसका कार्य उससे ही स्वतन्त्रपने क्रमबद्ध होता है — ऐसा जाननेवाला जीव, मात्र अपने ज्ञायक स्वभाव में रुचिवान होकर कर्तापने के अहंकाररहित मात्र ज्ञाता रहता है — यही पुरुषार्थ है।

इस प्रकार यथार्थ निर्णय करने पर पर्याय में मिथ्याज्ञान का अभाव होकर सम्यग्ज्ञान प्रकट होता है।

प्रश्न — सम्यग्ज्ञान पूर्व पर्याय में तो था ही नहीं, तब वह कहाँ से आया ?

उत्तर — 'सबको एक साथ जाने' — इस प्रकार की शक्ति आत्मा के अन्दर पड़ी है, उसमें से सम्यग्ज्ञान की पर्याय प्रकट होती है। ज्ञानगुण की अल्प विकसित निर्मलपर्याय भी अपने पूर्ण स्वभाव के आश्रय से उत्पन्न होती है और पूर्ण विकास भी अन्तरङ्ग शक्ति से ही प्रकट होता है। जो दूसरे के आधार बिना, राग से भिन्न स्वरूप में मात्र ज्ञातापने एकाग्र होता है, उसे सम्यग्ज्ञान होता है और यही पुरुषार्थ है।

देखो, ऐसा जाननेवाले को सर्वज्ञता, वीतरागता, स्वतन्त्रता, क्रमबद्धपर्याय तथा स्वभाव आश्रित अपूर्व पुरुषार्थ का निर्णय होता है।

जिस प्रकार लेंडीपीपर में जिस समय तीखापन प्रकटपने कम है, उसी समय उसमें शक्ति अपेक्षा ६४ पहरी तिखाश विद्यमान है। वह तिखाश उसी के आधार से, उसी के कारण, उसमें से ही प्रकट होती है; पत्थर या हाथ से नहीं, परन्तु जब तिखाश प्रकट होती है, तब पत्थर और हाथ को निमित्त कहा जाता है। हाथ और पत्थर से पीपर सर्वथा भिन्न है; फिर भी अज्ञानी स्वतन्त्र स्वभाव को भूलकर संयोग को देखता है। 'संयोग' — ऐसा कहने पर ही दोनों की सत्ता भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र सिद्ध होती है। वे दोनों स्वतन्त्र अपना-अपना कार्य अपने आप ही करते हैं; क्योंकि यदि एक-दूसरे का काम करें तो उससे भिन्न निजस्वरूप न रहकर दूसरे रूप हो जाएँ अर्थात् दोनों एक हो जाएँ। इसलिए प्रत्येक का बदलना, स्थिर रहना, कार्यरूप परिणमना सब स्वतन्त्रपने स्वयं से होता है।

उसी प्रकार ज्ञान और शरीर तो भिन्न है ही, ज्ञान और राग भी भिन्न है; क्योंकि ज्ञान के स्वरूप में एकाग्र होने पर निर्मलता अधिक होती है, उससे राग में वृद्धि नहीं होती; इसलिए ज्ञान का कार्य भिन्न है, स्वतन्त्र है और राग का कार्य भिन्न है; क्योंकि राग में जानने की सामर्थ्य का अभाव है। दया-दान, व्रत-भक्ति का राग भी ज्ञान से भिन्न है; क्योंकि ज्ञान है, वह राग नहीं और राग है, वह ज्ञान नहीं। फिर भी निचली भूमिका में ज्ञानी को सच्चे देवादिक के प्रति विनय होती है; लेकिन वह शुभराग से ज्ञान की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि नहीं मानता। अन्दर में विराजमान पूर्ण ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान

और एकाग्रता के बलपूर्वक क्रम-क्रम से विकास करता हुआ आत्मा पूर्णता को प्राप्त होता है। पूर्णता का होना सर्वज्ञता है और सर्वज्ञता की श्रद्धा अन्तरङ्ग पुरुषार्थसहित होती है।

जिस प्रकार ज्ञान स्वतन्त्र है, उसी प्रकार जगत के सम्पूर्ण पदार्थ स्वतन्त्र हैं। ज्ञान का स्वभाव मात्र ज्ञातापने जानना है। अन्य वस्तु से कार्यसिद्धि मानने पर वस्तु स्वतन्त्र नहीं रहती और आत्मा के ज्ञातापने की श्रद्धा भी नहीं रहती।

सर्वज्ञ भगवान त्रिकालवर्ती सभी पदार्थों को जानते हैं। जितने तीनकाल के समय हैं, उतनी ही प्रत्येक द्रव्य की त्रिकालवर्ती पर्यायें हैं। उनमें कौन किसको करे ? प्रत्येक पर्याय अपने स्वकाल में अपने ही कारण प्रकट होती है, पर में अथवा पर के कारण नहीं — इस प्रकार स्वतन्त्र क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में ही वीतरागदृष्टि का सच्चा पुरुषार्थ आता।

प्रश्न — जाननेमात्र में पुरुषार्थ करना कहाँ आया ?

उत्तर — अल्पज्ञान होने पर भी जिसने अन्तर स्वभाव में एकाग्र होकर एक समय में सबको सम्पूर्णपने जानने वाले सर्वज्ञ का निर्णय किया है, उसने अपने सर्वज्ञ स्वभावी पूर्ण निर्मलानन्द आत्मा का विश्वास किया है। अल्पज्ञता, विकार और कर्तृत्व का निषेध करके अन्तरङ्ग निर्धारपूर्वक सर्वज्ञ की सत्ता का जो निर्णय हुआ, उस निर्णय में जो मात्र ज्ञातापने ही रहना हुआ — वही पुरुषार्थ है।

क्रमबद्ध परिणमन को फेर-बदल किये बिना सहज जानना ही पुरुषार्थ है। 'फेर-बदल करूँ' — ऐसा अधैर्य ज्ञानी को नहीं होता। अन्तर में आत्मगुणों की महिमा आये बिना एवं आत्मा में एकाग्रता हुए बिना सर्वज्ञस्वभावी गुणी आत्मा की महिमा नहीं आती है और पर में कर्ताबुद्धि, पर्यायबुद्धि भी नहीं छूटती।

आत्मस्वरूप जाने बिना कर्त्ताबुद्धि का अभाव होकर ज्ञातापने का पुरुषार्थ प्रकट नहीं होता। वस्तुस्वभाव की स्वीकृति ही धर्म है और यही पुरुषार्थ है।

सर्वज्ञता, स्वतन्त्रता और क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में संसार, संसार का कारण, मोक्ष, मोक्ष का कारण, नवतत्त्व और छह द्रव्य की स्वतन्त्रता का स्वरूप समझ में आ जाता है। ज्ञातापने रहने का पुरुषार्थ भी आ जाता है 'करूँ-करूँ' — यह तो इच्छा है, राग है, उल्टा पुरुषार्थ है।

स्वभाव की श्रद्धा एवं रुचि बिना किसी भी बात की श्रद्धा यथार्थ नहीं होती। सर्वज्ञ भगवान द्वारा कही हुई पुरुषार्थ की बात भी उसकी समझ में नहीं आती और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु तथा उनके द्वारा कहे हुए जीवादि तत्त्वों की श्रद्धा नहीं होती।

जैसा वस्तुस्वरूप सर्वज्ञ भगवान ने देखा है, वैसा ही स्वतन्त्रपने बदलता एवं स्थिर रहता है — ऐसा निर्णय करनेवाला ज्ञानी अपने पूर्ण ज्ञायक स्वभाव की श्रद्धा और अवलम्बन के जोर से उक्त सब बातों का निर्णय सम्यक् पुरुषार्थसहित करता है।

समयसार गाथा १५ में परमपूज्य कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि जिसने आत्मा को अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष, नियत और असंयुक्त अर्थात् पराश्रयरहित जाना है; उसने समस्त जिनशासन को जाना है। अपने अन्तरङ्ग में निःशङ्क ज्ञातापने अभेदबुद्धि से जमना ही वस्तुस्वरूप को जानना है; क्रमबद्धपर्याय का निर्णय, सर्वज्ञता का निर्णय, पुरुषार्थ का निर्णय और वस्तुस्वरूप का निर्णय सब एक ही बात है। निःशङ्क श्रद्धा में इन सबका यथार्थ निर्णय आ जाता है।

जिसने राग और निमित्त से रहित स्वतन्त्रपने अपने आत्मस्वभाव को जाना है, उसने समस्त जिनशासन को जाना है। 'निमित्त चाहिए' — ऐसी पराधीनता का अभाव होकर ज्ञातापने में जागृति होना ही सच्चा पुरुषार्थ है।

यह जीव अपने स्वभाव को भूलकर उल्टा मान तो सकता है; परन्तु पर का कुछ कर नहीं कर सकता। संयोगदृष्टि से देखनेवाले की बुद्धि स्वभाव को देखने में काम नहीं आती। त्रिकाल स्वतन्त्र वस्तुस्वरूप को स्वसन्मुख ज्ञानवाला ही जान सकता है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के द्वारा कहे हुए स्वतन्त्र वस्तुस्वरूप के विरुद्ध कहनेवाले को अपने ज्ञातास्वभाव की रुचि नहीं होती।

अल्पज्ञ होते हुए भी जिसे सर्वज्ञ की सत्ता स्वीकार है, वह अन्तर्मुख द्रव्यदृष्टि में ही वर्तता है, स्वतन्त्र ज्ञानस्वभाव में रुचिपूर्वक ज्ञातापने वर्तता है एवं सर्व समाधानरूप होकर निःशङ्कपने वर्तता है। आठ वर्ष का बालक भी स्वभाव की स्वतन्त्रता की श्रद्धा के जोर से स्वसन्मुख होकर अपने को पर से, विकार से भिन्न मात्र ज्ञानस्वभावी हूँ — ऐसी प्रतीति कर सकता है और उस प्रतीति में नव तत्त्व, क्रमबद्धपर्याय तथा सर्वज्ञता की प्रतीति आ जाती है। आत्मस्वभाव को जानते ही स्व-पर भेदविज्ञान होने पर, राग

से भिन्नता, स्वतन्त्रता, सर्वज्ञता आदि आत्महित में प्रयोजनभूत सभी बातों का यथार्थ ज्ञान हो जाता है।

यथार्थ ज्ञानवाले जीव को विवेक सहज होता है। अत: उसे अशुभ से बचने के लिए सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति बहुमान, धर्मप्रभावना आदि का राग आये बिना नहीं रहता तो भी वह दया, दान, भक्ति इत्यादि शुभराग को निश्चय जिनशासन नहीं मानता, शुभराग को वीतरागभाव में सहकारी नहीं मानता।

मैं पूर्ण सर्वज्ञस्वभावी आत्मा हूँ, अल्पज्ञता और रागमात्र मेरा स्वरूप नहीं है, परपदार्थ के कारण राग नहीं होता — ऐसी स्वतन्त्रता की प्रतीति शुद्ध जीवतत्त्व की प्रतीति होने पर होती है। नव तत्त्व में शुद्ध जीवतत्त्व ही उपादेय है, धर्म का कारण है — इस प्रकार की प्रतीति में ही स्वतन्त्र वस्तुस्वरूप बतानेवाले सर्वज्ञदेव और वीतरागभावरूप साधकदशा में वर्तने वाले भावलिङ्गी नग्न दिगम्बर गुरु की श्रद्धा हो जाती है तथा उनके द्वारा कहे हुए अविरोधी शास्त्र की श्रद्धा हो जाती है।

अनन्त सर्वज्ञ और वीतरागी संतों ने धर्म को जानने का यही मार्ग बताया है। स्वतन्त्रता और सर्वज्ञता का यथार्थ स्वरूप जाननेवाले की ही समझ में क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप समझ में आ सकता है और क्रमबद्धपर्याय के स्वरूप को जाननेवाला ही पर से उदासीन होकर अन्दर में उत्साहवान होता हुआ द्रव्यस्वभाव में लीन होता है। वह पर से उदासीन होकर, कर्तापने की आकुलता छोड़कर ज्ञातापने में ही सन्तोष धारण करता है। जिस जीव को ज्ञानस्वरूप आत्मा की महिमा होती है, उस जीव को कर्तापने की शल्य का अभाव हो जाता है और स्वसन्मुख ज्ञातारूप से, जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा जानना रह जाता है — इसी का नाम वीतरागदृष्टि और वीतरागचारित्र का पुरुषार्थ है।

परपदार्थ से भिन्न स्वतन्त्र ध्रुव ज्ञायक शुद्धात्मा का क्या स्वरूप है, उसे जानने की विधि क्या है ? अनादि से अज्ञानी जीव इस बात को भूला है, यह अज्ञान ही सबसे बड़ा पाप है। निमित्ताधीन दृष्टिवाला जीव संयोगदृष्टि से देखता है, उसे स्वतन्त्र स्वभाव की प्रतीति नहीं है; इसलिए वह कहता है कि निमित्त अथवा व्यवहार से धर्म होता है; परन्तु उसकी यह बात झूठी है।

जो सर्वज्ञ वीतरागदेव, नग्न दिगम्बर भावलिङ्गी मुनि तथा सत्शास्त्र की श्रद्धा/प्रतीति पूर्वक सत्य को स्वीकार करते हैं, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के अलावा अन्य को नहीं मानते, उन्हें ही वे निमित्तरूप होते हैं; परन्तु वे उस शुभरागरूप व्यवहार से धर्म नहीं मानते।

समयसार परमागम की बारहवीं गाथा में जो निश्चय-व्यवहार की बात कही है, वहाँ पुण्य से, व्यवहार से धर्म होता है — ऐसा अभिप्राय नहीं है। सम्यग्दर्शन होने से पूर्व कुदेवादि की मान्यतारूप गृहीतमिथ्यात्व का त्याग होता है और सम्यग्दर्शन के बाद भी शुभराग और अनेक प्रकार का शुभव्यवहार होता है और पूर्ण स्वभाव के आश्रय से क्रम-क्रम से वीतरागता होती है।

श्रावक को ग्यारह प्रतिमाओं का, मुनिराज को अट्ठाईस मूलगुणों के पालन का शुभभाव आता है; परन्तु उन्हें निश्चय से धर्म नहीं कहा है, पर उपचार से व्यवहार मोक्षमार्ग कहा है; क्योंकि मोक्षमार्ग दो नहीं हैं, बल्कि उसका कथन दो प्रकार से है।

भगवान के द्वारा कहे हुए व्यवहार का फल भी संसार है — ऐसा कहा है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र शुद्धात्मा में होते हैं, राग में नहीं।

तीर्थङ्कर भगवान महावीर के समय में ५०० शिष्यों के गुरु-इन्द्रभूति तीर्थङ्कर भगवान महावीर के समवसरण में आते हैं। मानस्तम्भ देखते ही उनका मान गल जाता है। मान गलते ही अन्तर में आत्मावलोकनपूर्वक आत्मज्ञान प्रगट होता है और गणधर बनने की पात्रता होने से उग्र पुरुषार्थपूर्वक गणधर बन जाते हैं।

मिथ्यादृष्टि जीव अपनी निमित्ताधीन दृष्टि से स्वतन्त्र स्वभाव का विरोध करते हैं और कहते हैं कि तुम निमित्त को नहीं मानते, शुभराग धर्म नहीं है — ऐसा कहकर व्यवहार को नहीं मानते; परन्तु भाई! शुभरागरूप व्यवहार और निमित्त होता है तो भी उससे कभी भी किसी को धर्म नहीं होता, यह त्रिकाल सत्य बात है। यदि निमित्त और राग से धर्म होता हो तो पूर्व में अनन्तबार व्यवहार तथा शुभभाव किया, तब धर्म क्यों नहीं होता ? एक निश्चय स्वभाव के ही आश्रय से धर्म होता है, राग अथवा निमित्त के आश्रय से नहीं।

निमित्त से तो धर्म नहीं होता, परन्तु शुभराग के सम्बन्ध में भी सम्यग्दर्शन नहीं होता और अपनी अनित्य पर्याय के आश्रय से भी नहीं होता। कुदेव-कुगुरु से तो धर्म होता

ही नहीं है, पर सुदेव-सुगुरु और भगवान की वाणी से भी धर्म नहीं होता, यदि इनसे होना होता तो अभी तक क्यों नहीं हुआ ? क्योंकि ये सब तो अनन्तबार मिले।

इन्द्रभूति गौतम अपनी योग्यता से सम्यक्त्व प्राप्त कर वीतरागदृष्टि और स्थिरता के जोर से गणधर हुए। उन्हें असंख्य चौबीसी के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को जाननेवाला परमावधिज्ञान हुआ, दूसरे के मन की बात जाननेवाला मनःपर्ययज्ञान भी हुआ। अन्तर्मुहूर्त में द्वादशाङ्ग की रचना की। ज्ञानानन्द का समुद्र उछलने लगा — ऐसी आत्मऋद्धि प्रगट कर वे तीनों (इन्द्रभूति, वायुभूति, अग्निभूति) गणधर हुए।

प्रश्न — यदि इन्द्रभूति नहीं आते तो वाणी खिरती या नहीं ?

उत्तर — सूर्योदय नहीं होता तो प्रकाश होता या नहीं ? यह प्रश्न भी ऐसा ही है। भाई, जिस समय जिसके होने की योग्यता होती है, वह उस समय होता ही है। निमित्त-नैमित्तिक का भी सहज मेल होता है।

अब, ज्ञान के तीन दोष कहे हैं —

संशय : निमित्त से कार्य होता है या उपादान से; व्यवहार से, लाभ होता है या निश्चय से ? जिसे ऐसा संशय है, वह सच्चे देवादि का निर्णय नहीं कर सकता — ऐसा संशय सम्यग्ज्ञानी को नहीं होता।

विपर्यय : आत्मा को शरीरवाला मानना; पुण्य से धर्म होता है — ऐसा मानना, आत्मा को पर का कर्ता-भोक्ता मानना — यह सब विपरीत ज्ञान है।

अनध्यवसाय : जो भी होगा सो होगा — हमें क्या करना है ? इस प्रकार निर्णय ही नहीं करना अनध्यवसायरूप अज्ञान है।

इस प्रकार ऊपर कहे हुए तीनों दोषों से रहित शुद्धात्मसन्मुख हुआ ज्ञान, सम्यग्ज्ञान है।

ज्ञातासूत्र में महासती द्रोपदी के पाँच पति बताएँ हैं; परन्तु यह तो लोक विरुद्ध बात है और यह सब वीतराग के नाम पर लिखा है तथा जिस शास्त्र में महावीर के दो पिता कहे हैं, वे शास्त्र और उन शास्त्रों को मानने वाले दोनों ही सही नहीं है। भाई! यदि पक्षपात को छोड़कर विचार करें तो सब समझ में आ सकता है।

वीतराग-सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए शुद्ध जीवादि तत्त्व इत्यादि जिस प्रकार हैं, उसी प्रकार

मानना चाहिए। दया-दान-व्रत-तप के शुभपरिणाम रागरूप हैं, इनसे पुण्य का बन्ध तो होता है, पर संवर-निर्जरारूप धर्म नहीं होता। इस प्रकार शान्ति से मध्यस्थ होकर निर्णय करना चाहिए। जीवदया का भाव, मुनि को आहार देने का भाव पुण्यतत्त्व है तथा रागादिरहित अन्तर्मुख एकाग्रता से हुआ शुद्धभाव ही संवर-निर्जरातत्त्व है।

जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा ही मानना, व्यवहारसम्यग्दर्शन है और सत्य-असत्य का निर्णय करके ज्ञान में दृढ़तापूर्वक राग को गौण करके राग के प्रति एकताबुद्धि छोड़कर अन्तर्मुख होकर शुद्धात्मपने का अनुभव करना निश्चयसम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन आत्मा की निर्मलदशा का नाम है, उसका आधारभूत आत्मा है। जो उस सम्यग्दर्शन के आधारभूत आत्मा को अभेदपने लक्ष्य में लेकर उसमें एकाग्र होता है, उसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। किसी को व्यवहार अथवा मन्दकषाय से सम्यग्दर्शन होता है, किसी को कुदेवादि के निमित्त से होता है — यह बात त्रिकाल असत्य है। सच्चे देवादिक निमित्त होने पर भी उनसे सत्य समझे — ऐसा पराधीनपना नहीं है।

भले किसी के ज्ञान का क्षयोपशम कम हो; परन्तु अपने स्वभाव की रुचिपूर्वक ज्ञानी के पास सत्य तत्त्व का श्रवण करके स्वसन्मुख होकर सम्यग्दर्शन प्रगट कर लेता है और अन्दर स्वभाव में एकाग्रतापूर्वक चारित्र प्रगट करके, क्रम-क्रम से विशेष एकाग्रता होने पर केवलज्ञान प्रगट होता है। शिवभूति मुनिराज को अति अल्पज्ञान होने पर भी स्वरूप एकाग्रता के बल से केवलज्ञान हुआ है।

आत्मा का निःशङ्कपने यथार्थ अनुभव होने पर नौ तत्त्वों का, सच्चे देवादिक का, स्व-पर का यथार्थ ज्ञान हो जाता है और आत्मज्ञान बिना ग्यारह अङ्ग जानने पर भी अभव्यसेन मुनि की तरह मिथ्यादृष्टि ही रहता है।

सम्यग्दर्शन का कारण अन्दर में विराजमान कारणपरमात्मा है, जो जीव अन्तर्मुख होकर स्वसम्वेदनपूर्वक एक ध्रुव ज्ञायक सामान्यस्वभाव निजकारणपरमात्मा को जानता है, उसमें ही अभेद होकर उसका अनुभव करता है, उसमें ही उपादेयबुद्धि रखता है, उसे ही सम्यग्दर्शन होता है; अन्य को नहीं। शास्त्र में निमित्त का कथन आता है; परन्तु उपादान में कार्य हो तो निमित्त को उपचार से कारण कहा जाता है। जो ऐसा जानता है, वही शास्त्रकार का अभिप्राय यथार्थ जानता है।

वस्तुस्वरूप का निर्णय कहो, क्रमबद्धपर्याय का निर्णय कहो, सर्वज्ञता का निर्णय कहो, सभी एक स्वभावसन्मुख होने पर होते हैं — ऐसी श्रद्धा के बाद भी चारित्रगत कमजोरी के कारण क्रमबद्ध में होने योग्य जो शुभ-अशुभराग होता है, ज्ञानी उसका भी ज्ञाता रहता है।

प्रश्न — जब द्रव्य और गुण में विकार नहीं है तो पर्याय में कहाँ से होता है ?

उत्तर — चारित्रगुण त्रिकालवर्ती है। उसका परिणमन संक्लेशरूप और विशुद्धरूप, दो प्रकार का होता है। चारित्रगुण की विभावपरिणति से शुभ-अशुभराग की उत्पत्ति होती है; अन्य से नहीं।

राग तथा निमित्त के अवलम्बन से लाभ होता है — ऐसी उल्टी श्रद्धा छूटे बिना और स्वाश्रयरूप ज्ञातापने की निःशङ्कता हुए बिना सम्यक्चारित्र नहीं हो सकता। वीतरागचारित्र पूज्य है, वह शुद्धात्मा में, निजात्मा में स्वसन्मुख होने पर प्रकट होता है। बाह्यक्रिया में तो नहीं, पर शुभविकल्प में भी सम्यक्चारित्र नहीं होता-वीतरागचारित्र नहीं होता।

पुष्पाञ्जलिव्रत, सुगन्धदशमीव्रत अर्थात् आत्मा में वीतरागदृष्टि और स्थिरता का पुष्प चढ़ाकर, शुद्धता की सुगन्ध प्रगट करना व्रत है। वहाँ शुभविकल्प को उपचार से व्रत कहा जाता है। क्रियाकाण्ड से व्रत-तप और धर्म होता है — यह मान्यता मिथ्या है। अकेले व्रत आदि की भावना भानेवाले को पुण्य की रुचि है।

जिसकी रुचि राग, निमित्त और पर्याय के ऊपर होती है, उसे असंयोगी ज्ञातापने की अरुचि होती है। निश्चय सम्यक्त्व बिना व्रत, तप, मन्दकषायरूप शुभभाव, ध्यान आदि विष मिले हुए दूध के समान व्यर्थ हैं — ऐसा जानना चाहिए। पच्चीस दोषरहित सम्यक्त्व होता है। उसमें देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूपसम्बन्ध में मूढ़ता होना दोष है। क्षुधा-तृषा आदि अठारह दोषोंरहित और अनन्तज्ञानादि निर्मल गुणोंसहित वीतराग सर्वज्ञदेव के स्वरूप को नहीं जाननेवाला, संसार-भोग-परिभ्रमण से मुक्त नहीं होता।

जिन्हें एक समय में एक साथ समस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को जानने-देखनेवाला ज्ञान प्रकट हुआ है, वे अरहन्त और सिद्ध परमात्मा हैं। उन्होंने जिस प्रकार वस्तु का स्वरूप जाना है, उसी प्रकार है — इस प्रकार जिसे अन्तरङ्ग स्वभाव सन्मुखतापूर्वक

निर्णय हुआ; स्वयं की क्रमबद्धपर्याय का आधार स्व है — जिसने ऐसा जाना, वह पर से उदासीन होकर उनका ज्ञाता ही रहता है — ऐसा निश्चय होने पर भी चारित्रगत कमजोरी के कारण जो राग होता है, उसे ज्ञानी परकृत नहीं मानते। मैं तो निःशङ्क ज्ञाता ही हूँ, जो होता है, उसे जाननेवाला ही हूँ — ऐसी निःशङ्कता ही पुरुषार्थ है। जिसने अन्दर में वीतराग दृष्टि का पुरुषार्थ प्रगट किया है, उसे देवमूढ़ता नहीं होती।

कोई कहता है कि केवलज्ञानी ने जैसा देखा होगा, वैसा पुरुषार्थ हो जायेगा; यदि उन्होंने निमित्त बिना कार्य नहीं होता — ऐसा देखा होगा तो ? उससे कहते हैं कि सर्वज्ञ भगवान ने जैसा देखा होगा, वैसा होगा, इसका तुझे निर्णय है ? भाई ! सर्वज्ञता का निर्णय करना ही सच्चा पुरुषार्थ है। केवलज्ञान का निःशङ्कपने निर्णय करनेवाले के अभिप्राय में अखण्ड ज्ञानस्वरूप आत्मा वर्तता है।

निःशङ्कतापने क्रमबद्ध का ज्ञाता ही हूँ — ज्ञानी ऐसा मानता है। वह पर्याय में वर्तते हुए राग, अल्पज्ञता को किञ्चित् भी उपादेय नहीं मानता। मेरे आत्मा में सर्वज्ञ परमात्मदशा प्रगट करने की योग्यता है — ऐसा मानता है।

जो सर्वज्ञ वीतरागदेव की परीक्षा नहीं करता; रूप, धन, वैभव, सम्पदा, स्त्री, पुत्र और राज्य पाने के लिए रागी-द्वेषी आर्त-रौद्रध्यान के धारक क्षेत्रपाल, चण्डिका, अम्बा, भवानी इत्यादि मिथ्यादृष्टि देवों की आराधना करता है, उसके लिए इससे कुछ फल तो मिलता नहीं है; बल्कि इस उल्टी मान्यता से स्वयं पुण्य भी पापरूप संक्रमित हो जाता है। जिस प्रकार रावण ने राम-लक्ष्मण को मारने के लिए विद्या सिद्ध की; लेकिन कुछ कार्यसिद्धि नहीं हुई। पुण्यवान को कोई विघ्न नहीं कर सकता और सम्यग्दृष्टि ऐसी विद्या साधने का उपाय नहीं करता तो भी विजय प्राप्त करता है। यदि बाह्य में पुण्य न भी हो तो अन्दर में परम शान्ति की विजय पाता है अर्थात् दुःखी नहीं रहता है।

पाँचों पाण्डव शत्रुञ्जय पर्वत पर आत्मध्यान में लीन थे, वहाँ दुर्योधन के भानजे ने अग्नि में जलते हुए लोहे के कड़े पहिना दिये; लेकिन उससे पाण्डवों का कुछ नहीं बिगड़ा। कौरवों ने कृष्ण तथा पाण्डवों का नाश करने के लिए विद्याएँ सिद्ध कीं; परन्तु उनका कुछ भी अनिष्ट नहीं कर पाये।

नदीरूप तीर्थस्थान, अग्नि प्रवेश, अग्नि, वटवृक्ष, पीपलवृक्ष, कुदेव तथा व्यापार सम्बन्धी बही खाते (कैशबुक लेजर) इत्यादि की पूजा करके धर्म मानना, लोकमूढ़ता है।

जो अज्ञानी आश्चर्यकारी ज्योतिष मन्त्रादिक का प्रभाव देखकर वीतरागकथित शास्त्रों की श्रद्धा छोड़कर, मिथ्यादृष्टि देव, कुशास्त्र और खोटा तप तपनेवाले को, वस्त्रादि परिग्रहधारी कुलिङ्गियों को भय, आशा, स्नेह और लोभ से धर्म के नाम पर प्रणाम-पूजा-विनय-सत्कार-अनुमोदन आदि करते हैं, वे सभी मूढ़ मिथ्यादृष्टि हैं।

केवली भगवान के स्वरूप को विपरीत मानना, देवमूढ़ता है। वीतरागी भावलिङ्गी सन्तों के अलावा अन्य भेषधारी को गुरु मानना गुरुमूढ़ता है। तीर्थस्थान आदि करके धर्म मानना, लोकमूढ़ता है।

सम्यग्दृष्टि को उक्त तीनों मूढ़ताएँ सविकल्पदशा में भी नहीं होतीं और जिन्हें शुभाशुभरागरहित वीतराग सम्यक्त्व होता है अर्थात् स्वसन्मुख ध्यान अवस्था में स्वयं शुद्ध निरञ्जन परमात्मा है, वही देव है — ऐसा निश्चय होता है, वही देवमूढ़तारहित जानना चाहिए।

जो सर्वज्ञ वीतरागी नहीं हैं — ऐसे कुदेव को देव मानना, देवमूढ़ता है। सुदेवादि की श्रद्धा व्यवहार से शुद्धता है। निश्चय से निरञ्जन निर्दोष शुद्ध चैतन्यमूर्ति स्वयं आत्मा ही देव है।

मिथ्यात्वादि मूढ़भावों को छोड़कर निर्विकल्प शान्त आनन्दस्वरूप निजात्मा में स्थिर होना, लोकमूढ़ता का अभाव है। सर्व प्रकार से शुभाशुभ सङ्कल्प-विकल्परूप परभावों के त्यागरूप निर्विकार परमानन्द लक्षणधारक परम समतारूप शुद्ध स्वभाव के अवलम्बन से निज शुद्धात्मा में ही सम्यक् प्रकार से आश्रय, अयन, परिणमन करना — यह निश्चय से समयमूढ़ता का अभाव है — ऐसी निश्चयलीनता-स्वसन्मुखता के बिना, मात्र व्यवहार मूढ़ता का त्याग कार्यकारी नहीं है। निश्चयश्रद्धा के समय व्यवहारमूढ़ता नहीं होती है। शुभविकल्परूप व्यवहाररत्नत्रय को शुद्धभाव मानना-धर्म मानना, लोकमूढ़ता है। ज्ञानी को चारित्र की कमजोरी के कारण राग होता है, पर ज्ञानी उसे धर्म का कारण नहीं मानता; पुण्यास्रव का कारण मानता है।

अब, आठ मदों का कथन करते हैं — ज्ञानी के ज्ञानमद अर्थात् कला, हुनर, चित्रकला, वकीलात, डॉक्टरी, मशीनरीकला इत्यादि में मद नहीं होता। ज्ञानमद अर्थात् वक्तापना होने पर, शास्त्रज्ञान होने पर भी ज्ञानी को ज्ञानमद नहीं होता; क्योंकि ज्ञानी जानता है कि यह ज्ञान तो केवलज्ञान के अनन्तवें भाग है, इसमें मद क्या करना ?

ऐश्वर्यमद अर्थात् प्रभुत्व/अधिकार का मद। इसी प्रकार तपमद, बलमद, कुलमद, जातिमद और रूपमद इत्यादि आठ प्रकार के मद ज्ञानी को नहीं होते। ज्ञानी को तो सदैव समतावन्त मानरहित स्वभाव की महिमा होती है।

ज्ञानी जीव के निःशङ्क ज्ञातापने की दृढ़ता है। वह जानता है कि इच्छा करना मेरा कर्तव्य (कार्य) नहीं है। मैं परद्रव्य का कुछ नहीं कर सकता, सब कुछ क्रमबद्ध होता है, मैं तो उसे जानता हूँ — इस प्रकार का सम्वेदन ज्ञानी को सदैव रहता है।

मान-कषाय से उत्पन्न मद-मात्सर्य इत्यादि सर्व प्रकार के विकल्पों के त्यागपूर्वक एवं देहादिक में अहङ्कार-ममकाररहित शुद्धात्मा में एकाग्रता होने पर वीतराग सम्यग्दृष्टि के आठ मदों का त्याग होता है।

अब, ममकार, अहङ्कार का लक्षण करते हैं - कर्मजनित देह, पुत्र, स्त्री आदि में 'यह मेरे हैं' — इस प्रकार की बुद्धि वह ममकार है और उसमें ही अभेदरूप से 'मैं गोरा हूँ, मोटा हूँ, शरीर हूँ, राजा हूँ' — ऐसी बुद्धि अहङ्कार का लक्षण है।

अब, छह अनायतनों का वर्णन किया जाता है — मिथ्यादेव-गुरु-शास्त्र तथा उनके सेवक — यह छह प्रकार के अनायतन सम्यग्दृष्टि ज्ञानी के नहीं होते। कुदेवादि को माननेवाले, पुण्य से, निमित्त से शरीर की क्रिया से धर्म माननेवाले तथा उन्हें मनवानेवाले सभी मिथ्यादृष्टि हैं। उनके सदैव स्वधर्म का त्याग रहता है। मात्र भोजन नहीं करे और तप माने, पुण्य में तथा व्रत-तप के विकल्परूप व्यवहार में धर्म माने, तो वह कुतप तपनेवाला मिथ्यादृष्टि है और उन्हें माननेवाला भी मिथ्यादृष्टि है। इसलिए ये छहों धर्म के लिए खोटे स्थान होने से अनायतन हैं। सम्यग्दृष्टि जीव इनकी प्रशन्सा, अनुमोदना नहीं करता।

सर्वज्ञ के नाम पर कल्पित शास्त्र बनाये हों, वे शास्त्र तथा उन शास्त्रों को माननेवाले, सम्यग्दृष्टि के लिए अनायतन हैं, अस्थान हैं। मिथ्याशास्त्र को जाननेवाला भले ही साधु नाम धराता हो तो भी खोटे निमित्त का स्थान जानकर धर्मीजीव उनसे धर्म नहीं मानता और न ही उसे मानने का किसी को उपदेश देता है। ज्ञानी को सच्ची श्रद्धा प्रकट होने से वह छह प्रकार के खोटे स्थानों को नहीं मानता। निश्चय से शुभाशुभविकल्परूप व्यवहाररत्नत्रय को भी हेय जानकर, वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव वीतरागरूप रहता है।

बुद्धिपूर्वक शुभराग में प्रवर्तते हुए ज्ञानी के कुदेवादि के प्रति राग का निषेध वर्तता है। निर्विकल्प उपयोग के समय व्यवहाररत्नत्रय के राग का निषेध वर्तता है। वीतराग सम्यग्दृष्टियों का तो समस्त दोषों के स्थानभूत मिथ्यात्व विषय-कषायरूप आयतनों के त्याग से केवलज्ञानादि अनन्तगुणों के स्थानभूत स्वशुद्धात्मा में निवास करना ही अनायतनों की सेवा का त्याग करना है।

सम्यक्त्वादि निर्मलगुणों के आयतन, घर, आवास, आश्रय आधार के निमित्तभूत जो सुदेवादिक हैं, उन्हें व्यवहार आयतन कहते हैं। इनसे विपरीत अनायतन होते हैं। निश्चय से अपना शुद्धात्मपद ही सम्यक्त्वादि का आधारभूत स्थान है। मिथ्यादृष्टियों को कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र तथा उनके माननेवाले ये छह मिथ्यात्वपने में रखने में निमित्त है।

चैतन्यस्वरूप में अरुचि करके पुण्य में रुचि करना और उससे पुण्य मानना, भ्रान्ति है — इसमें कुदेवादि निमित्त होते हैं। सम्यक्त्वादि होने में मात्र सच्चे देव-शास्त्र-गुरु ही निमित्त होते हैं; कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र नहीं।

जिसके निश्चय वीतरागदृष्टिरूप शुद्धता हुई है, उनके शङ्कादि आठ दोषों का त्याग एवं निःशङ्कादि आठ गुणों का पालन होता है। रागादि दोष तथा अज्ञान, असत्यवचन का कारण है और यह दोनों (रागादि और अज्ञान) वीतराग सर्वज्ञदेव में नहीं होते हैं; इसलिए श्री जिनेन्द्रपरमात्मा द्वारा कथित हेय-उपादेय तत्त्वों में, मोक्ष तथा मोक्षमार्ग में भव्यजीवों को सन्देह करना योग्य नहीं है। ज्ञायकस्वभाव के आश्रित हुए बिना, मात्र व्यवहार निःशङ्कता कार्यकारी नहीं होती।

यहाँ प्रथम शङ्का दोष का त्याग करने के लिए अञ्जन चोर का उदाहरण दिया है। निःशङ्कता के लिए विभीषण की बात भी आती है कि जब रावण तथा राम-लक्ष्मण के युद्ध का प्रसङ्ग आया, तब विभीषण को निःशङ्क प्रतीति थी कि श्रीरामचन्द्रजी आठवें बलदेव हैं, लक्ष्मणजी आठवें नारायण हैं और रावण प्रतिनारायण है। अतः रावण प्रतिनारायण होने से नारायण लक्ष्मण द्वारा ही मरण को प्राप्त होगा — ऐसा सर्वज्ञ का वचन है, यह मिथ्या नहीं हो सकता। विभीषण को ऐसी शङ्का नहीं हुई कि रावण के पास बहुत सेना है, इसलिए राम-लक्ष्मण हार जाएँगे।

दूसरा दृष्टान्त देवकी तथा वसुदेव का दिया है —

प्रतिवासुदेव ने कृष्ण को मारने का बहुत प्रयास किया, परन्तु उनके माता-पिता को अतिमुक्त स्वामी के वचनों की उत्कृष्ट श्रद्धा होने से शङ्का नहीं हुई और उन्होंने कंस को अपना बालक दे दिया। जिस प्रकार इन्होंने वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु की प्रमाणता में शङ्का नहीं की, उसी प्रकार भव्यजीवों को परीक्षाप्रधानी हो करके भी श्री जिनेन्द्रपरमात्मा के वचनों में शङ्का नहीं करना चाहिए।

आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है। वह ज्ञान के अतिरिक्त पर का कुछ नहीं करता, यह निश्चय नि:शङ्कता गुण है। जैनशास्त्रों का निश्चय करके उनमें शङ्का नहीं करना व्यवहार नि:शङ्कता है।

निश्चय और व्यवहार नि:शङ्कतादि गुणों के जोर से धर्मी जीव को इस लोक का भय, परलोक का भय, वेदना का भय, अरक्षा का भय, मरण का भय, अगुप्ति का भय और अकस्मात होने का भय — ये सात भय नहीं होते। मैं सदैव ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ — इस प्रकार नि:शङ्क स्वरूप की भावना में कोई संयोग-वियोग का भय नहीं होता है, मैं स्वयं शाश्वत शरणरूप स्वयं का रक्षक हूँ। अकस्मात, अनहोना कुछ नहीं होता है, जो क्रमबद्ध में होना होता है, वही होता है — इस प्रकार जानकर अखण्ड ज्ञान शान्ति में सदैव नि:शङ्क अर्थात् निर्भय रहता है।

इसके लिए शास्त्र में सती अनन्तमती का उदाहरण आता है। सती अनन्तमती घोर उपसर्ग होने पर भी ब्रह्मचर्य में दृढ़ रही। अनन्तमती के पिता ने अनन्तमती से आठ दिन ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा को कहा था; परन्तु आजीवन-पर्यन्त घोर सङ्कट आते हुए भी वह अपनी प्रतिज्ञा से विचलित न होकर नि:शङ्क रही।

लोकापवाद दूर करने के लिए श्रीरामचन्द्रजी ने सीताजी की अग्नि-परीक्षा करायी और सीताजी के निर्दोष सिद्ध होने पर श्रीरामचन्द्रजी ने उन्हें पटरानी पद दिया; लेकिन सीता ने उसे स्वीकार नहीं किया। सीता ज्ञानी थीं, उन्हें पहले से ही यह ज्ञान था कि मैं तो शुद्ध चिदानन्द हूँ, देहादि परपदार्थ कोई मेरे नहीं हैं तो भी स्वयं की कमजोरी के कारण जब तक राग था, तब तक गृहस्थदशा में रही। अब राग टूट कर वैराग्य होने पर दीक्षा लेने को तैयार होने पर श्रीरामचन्द्र समझाते हैं कि हे सीता! तुम्हारे सतीत्व के ऊपर हमें पूर्ण विश्वास था, तुम्हारे सतीत्व से हम भलीभाँति परिचित थे; परन्तु लोकापवाद के भय से तुम्हारी अग्नि-परीक्षा लेनी पड़ी।

अरे रे! धिक्कार है संसार के मोह को! — ऐसा कहकर सीताजी ने पट्ट महादेवी की सम्पदा छोड़ केवलज्ञानी श्री कुलभूषण के चरणों में अनेक रानियोंसहित अपनी स्त्रीपर्याय के योग्य दीक्षा ग्रहण करके आर्यिका के व्रत ग्रहण किये। आर्यिका का पञ्चम गुणस्थान होता है। स्त्री देहधारी को कभी भी छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान नहीं आता, इसलिए सर्वविरति साधुपद और वीतरागचारित्र पद वे कभी प्राप्त नहीं कर सकतीं। सीताजी के जीव ने अनेक आर्यिकाओंसहित रत्नत्रय की भावनापूर्वक ६२ वर्ष तक जैनधर्म की आराधना की।

अन्तिम ३३ दिवस तक निर्विकार शुद्ध चिदानन्द में एकाग्रतारूप ध्यानपूर्वक समाधिमरण करके सीताजी का जीव अच्युत नाम के सोलहवें स्वर्ग में प्रतीन्द्र सामानिक देव हुआ। सीताजी के जीव ने धर्मानुराग के कारण स्वर्ग से नरक में जाकर रावण तथा लक्ष्मण के जीव को सम्बोधित किया कि तुम्हारा आत्मा सिद्ध परमात्मा के समान है, तुमने उसका भान न करके राज्यलोभ में फँसकर पाप किया, धर्म की दरकार नहीं की; इसलिए तुम नारकी हुए हो। अब देहादि से भिन्न अपने ज्ञानस्वरूपी आत्मा को समझो इत्यादि उपदेश दिया। अभी सीताजी का जीव अच्युतस्वर्ग में है। वहाँ से निकलकर सकलचक्रवर्ती होगा तथा रावण एवं लक्ष्मण के जीव सकलचक्रवर्ती के पुत्र होंगे। इसके बाद तीर्थङ्कर के पादमूल में अपने पूर्वभवों को जानकर दोनों पुत्रसहित वह चक्रवर्ती (सीता का जीव) नग्न दिगम्बर भावलिङ्गी मुनि होगा। वहाँ से तीनों समाधिमरणपूर्वक देह त्याग कर अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र होंगे। वहाँ से निकलकर रावण का जीव तीर्थङ्कर होगा, सीता का जीव उनका गणधर होगा तथा लक्ष्मण का जीव धातकी-खण्डद्वीप में तीर्थङ्कर होगा।

देखो, पर्याय की विचित्रता! जो होना है, वह सभी सर्वज्ञ ने अपने ज्ञान में देखा है, जो सर्वज्ञ ने देखा है, वही होता है। धर्मीजीव ज्ञानानन्दस्वभाव की दृष्टि मुख्य करके पर्याय के आलम्बन को छोड़कर पर्याय में कर्तृत्व-ममत्व नहीं करता। सर्वज्ञ भगवान ने जो भाव देखा है, वह कभी नहीं पलटता — ऐसा सम्यग्ज्ञान में निर्णय करनेवाले धर्मीजीव को किसी भी बात में आश्चर्य तथा भय नहीं होता है। पर की आशा, अनुकूल संयोग की इच्छा नहीं होती। ज्ञानी को तो सदा शुद्ध-बुद्ध मुक्तानन्द की श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन की ही महिमा है। सम्यग्दृष्टि प्रतिकूलताओं में भी अपने ज्ञायक स्वभाव से

नहीं चूकता। भगवान की वाणी में अक्रम अर्थात् एक साथ बारह अङ्ग का उपदेश आता है। सुनने वाले भी अपनी-अपनी योग्यता अनुसार समझ लेते हैं।

अब, नि:काँक्षित अङ्ग का वर्णन करते हैं —

व्यवहार नि:काँक्षित अङ्ग शुभरागरूप है और जाने हुए, अनुभव किये हुए पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी विषय भोग के त्याग से तथा मात्र ज्ञानानन्दमय अतीन्द्रिय स्वात्माश्रित निश्चय रत्नत्रय की शुद्धभावना से उत्पन्न पारमार्थिक सुखरूप अमृत रस में ज्ञान का सन्तोषरूप स्थिर होना ही निश्चय से नि:कांक्षित अङ्ग है।

अब, निर्विचिकित्सा अङ्ग कहते हैं — निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय की आराधना करनेवाले भव्यात्मा को रोगी देखकर भी जो धर्मबुद्धि छोड़कर ग्लानि नहीं करता, उस जीव को व्यवहार निर्विचिकित्सा अङ्ग है। दिगम्बर मुनिदशा का स्वरूप त्रिकाल एक ही प्रकार का है। कोई अज्ञानी जीव कहता है कि जैनमत में सभी बातें अच्छी हैं; परन्तु नग्न मुनिदशा अस्नानता, मलिन शरीर, अदन्त धोवन — यह ठीक नहीं है। जो ऐसा मानता है, उसे निर्ग्रन्थ मुनिदशा का पवित्र स्वरूप मालूम नहीं है।

गृहस्थ हो, राजा हो, रूपवान हो, स्वच्छ शरीर हो; उससे कोई कहे कि आप ऐसे हो और आपके गुरु नग्न एवं मलिन हैं; इसका क्या कारण है ? — ऐसा सुनकर सम्यग्दृष्टि जीव को किञ्चित् भी ग्लानि नहीं होती।

परमपूज्य वादिराज मुनिराज को शरीर को गला देनेवाला भयंकर कोढ़ हो गया था। नगर सेठ मुनिराजश्री के दर्शन करने प्रतिदिन आता था, उन्हें आहारदान देता था। किसी ने यह बात राजा को बता दी कि यह सेठ अपने कोढ़ी गुरु के पास जाता है — यह बात ठीक नहीं है। राजा ने पूछा क्या तुम्हारा गुरु कोढ़ी है ? सेठ ने कहा, नहीं। मेरे गुरु कोढ़ी नहीं हैं, वे तो महातपस्वी हैं; जबकि उन्हें छद्मस्थदशा में असाताकर्म के उदय से कोढ़ था।

सेठ चिन्तित होकर मुनिराज के पास गया और कहा कि हे मुनि! मैंने भक्ति के वश होकर राजा से यह बात छुपायी है, वे प्रात: आपके दर्शन करने आवेंगे, तब क्या होगा? मुनिराज ने वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा की इस प्रकार की स्तुति की — हे नाथ! जिस नगर में आपका जन्म होता है, इन्द्र उस नगरी को सोने की बना देता है; तब क्या

तुम्हारी परमभक्ति करने से यह शरीर सोना जैसा नहीं हो सकता; आप जिस माता के उदर में आते हैं, उस उदर में मलिनता नहीं रहती, तब फिर मेरे हृदय में आपकी स्तुति का वास हो तो रोग कैसे रहेगा ? इस प्रकार वीतरागता की स्तुति करते हुए मुनिराज का एक अङ्गुली छोड़कर सारा शरीर नीरोग स्वर्ण समान हो गया। राजा ने मुनिराज के दर्शन किए और समस्त विवरण सुनकर जैनी हो गया।

सनातन वीतरागी जैनधर्म में मुनिराज का स्वरूप तीन कषायरहित नग्न दिगम्बर २८ मुलगुणोंसहित कहा है। पवित्र आत्मा की सुन्दरता को जानने वाले धर्मी आत्मा उल्टी आदि गन्दगी देखकर ग्लानि नहीं करते। असाताकर्म का उदय हो तो मुनिराज को भी रोग हो जाता है। सनतकुमार चक्रवर्ती को मुनि अवस्था में ७०० वर्ष तक कोढ़ रहा, उसे देखकर धर्मी धर्म की निन्दा नहीं करता और न ही शङ्का करता है।

श्रीकृष्ण की पटरानी रुक्मणी के पास प्रद्युम्नकुमार क्षुल्लक त्यागी होकर आते हैं, उन्हें आहार करते समय उल्टी हो गयी और घर की सम्पूर्ण रसोई खराब हो गई तो भी धर्मानुराग के कारण उन क्षुल्लकजी पर शङ्का न हुई। उद्धायन राजा की एक देव ने मुनिराज के वेश में परीक्षा करने के लिए आहार करके उन्हीं के ऊपर उल्टी कर दी, लेकिन उन्हें किञ्चित् भी ग्लानि नहीं हुई।

निश्चय से ज्ञान में पवित्रता भासित होने पर भी भूमिकानुसार राग की उत्पत्ति होती है; फिर भी ज्ञानी के तो एक शुद्धात्मा ही उपादेय है। उसके बल से समस्त रागादि विकल्प का त्याग करके निर्मल आत्मानुभव लक्षण अतीन्द्रिय सुख प्रगट होता है अर्थात् निज शुद्धात्मा में स्थिरता करना ही ग्लानिरहित उत्तम शौचधर्मरूप निर्विचिकित्सा अङ्ग है।

अब, सम्यग्दर्शन के चतुर्थ अमूढ़दृष्टि अङ्ग का वर्णन करते हैं —

आत्मा शुद्ध चिदानन्द अनन्तगुणों की मूर्ति है। त्रिकाली स्वभाव देहादि से तो भिन्न है ही, पर क्षणिक रागादि से भी भिन्न है, शुद्ध है। ऐसे त्रिकाली ज्ञानानन्दस्वभाव को ही उपादेय मानना, रुचि करना — ऐसी स्वसन्मुख अभेददृष्टि होना ही सम्यग्दर्शन है। यह मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी है।

एक समय में तीन काल, तीन लोक के समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों को युगपत् जानने वाले सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा कहे गये शास्त्र ही वीतरागता और स्वतन्त्रता का मार्ग बताने

वाले हैं — ऐसे उत्कृष्ट शास्त्रों को नहीं माननेवाले जो कुदृष्टि हैं, मिथ्यादृष्टि हैं, उनके द्वारा बनाये हुए मिथ्या शास्त्रों में रसायनशास्त्र, जादूकला, मन्त्रादिक विद्या, जगत के भोले मूर्खजनों के लिए आश्चर्य का कारण बनती है; परन्तु इनको देखकर ज्ञानी कभी आश्चर्य नहीं करते हैं, ऐसे ज्ञानियों के व्यवहार से अमूढ़दृष्टि अङ्ग है।

वीतरागमार्ग में प्रत्येक द्रव्य की पर्याय त्रिकाल स्वतन्त्र है, उस वीतरागमार्ग के नाम पर कोई पुरुष तत्त्वदृष्टि से विरुद्ध बात करे, देव-शास्त्र-गुरु, निश्चय-व्यवहार इत्यादि विषयों के बारे में कोई विपरीत बात करे तो भी सम्यग्दृष्टि विचलित नहीं होता अर्थात् मूढ़तापूर्वक उसे स्वीकार नहीं करता।

देव परीक्षा करने आये और देव यह कहे कि मैं तुझे इसी भव अर्थात् पञ्चमकाल में केवलज्ञान करवा देता है तो भी ज्ञानी इस बात को सत्य मानकर उनकी बात का विश्वास नहीं करते।

शास्त्र में निमित्त का, व्यवहार का कथन बहुत आने पर भी ज्ञानी इनसे आत्मा को लाभ मिलता है — ऐसा नहीं मानता। निश्चय स्वभाव के उग्र अवलम्बन का बल हो तो व्यवहारमोक्षमार्ग को उपचार से साधन कहा जाता है। व्रतादि का विकल्प शुभराग है, उस शुभराग को ज्ञानी हेय जानता है। वह व्रत-तप इत्यादि किसी को भी धर्म में मददगार हितकर नहीं मानता। कहीं-कहीं व्यवहार से व्रतादि पुण्यास्रव को धर्म बताया है, मोक्षमार्ग बताया है; परन्तु ज्ञानी उस कथन का अभिप्राय जान लेता है। उसे मोक्षमार्ग मानकर मूढ़ नहीं होता, वह तो एक वीतरागभाव को ही मोक्षमार्ग मानता है; पुण्य का विकल्प होता है; पर ज्ञानी उसमें प्रीति नहीं करते।

जगत के लोगों को बाह्य में आनन्द आता है, बाह्य कार्यों की महिमा आती है। कोई उपवास करे तो महिमा आती है; परन्तु उपवास कोई भोजन नहीं करने का नाम नहीं है; बल्कि भोजन के प्रति ममत्व परिणाम के छोड़ने का नाम है। जिसे पुण्य की रुचि है, भावना है, उसे अनन्त संसार की रुचि है। आहार-पानी का आत्मा ग्रहण-त्याग ही नहीं कर सकता, आहार-पानी तो अपनी योग्यता से आते-जाते हैं। अज्ञानी संयोग को देखता है, पर यह तो मूढ़ता है।

धर्मी जीव को कमजोरी के कारण शुभ-अशुभविकल्प उत्पन्न होते हैं, देहादि को

सम्हालने का विकल्प आता है, परन्तु ज्ञानी इनमें हितबुद्धि-ममत्वबुद्धि नहीं करता। इन सबको छोड़कर त्रिकाल पूर्ण ज्ञान-दर्शनस्वभावी आत्मा में निवास करता है, यही अमूढ़दृष्टिगुण है, जो ज्ञानियों के होता है।

जो जीव कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को अपना हितकर मानता है और देह सुखाने को तपस्या मानता है, वह ज्ञानानन्दस्वरूपी आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-लीनता के प्रति अनन्त क्रोध करता है। शरीर में प्रतिकूलता आने पर, उपवास करने पर खेद होना आर्तध्यान है, पाप है। मिथ्यात्वसहित व्रत उपवासादि में होता है खेद और मानता है निर्जरा; इसलिए उसके तीव्र मिथ्यात्व होता है।

जहाँ खेद होता है, वहाँ असातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है, जो देह की क्रिया में आत्मा का धर्म बताता है, वह धर्म को नहीं जानता और यही मूढ़ता है। शुद्धात्मा के श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता से शुद्धस्वभाव का लाभ होता है, उसमें पुण्य की आवश्यकता नहीं है, स्वयं ही साध्य है और स्वयं ही साधन है।

अब, उपगूहन अङ्ग का कथन करते हैं — भेद अर्थात् व्यवहार और अभेद अर्थात् निश्चयरत्नत्रय की भावनारूप जो मोक्षमार्ग है, वह त्रिकाल शुद्ध ही है — ऐसा सर्वज्ञ द्वारा कहा गया है। कुगुरु, कुदेव और कुशास्त्र को माननेवाले जो मिथ्यादृष्टि जीव कुयुक्ति द्वारा विपरीत बताकर इसे हीन बताते हैं, निन्दा करते हैं; उन्हें धर्मोपदेश देकर अथवा धनादिक देकर समझाये और धर्म की निन्दा करने से रोके। यदि कोई दोष करता हो तो उसके उस दोष को ढाँके अर्थात् उसका प्रचार न करे। कोई त्यागी होकर भी दीनतापूर्वक याचना करे तो उसे वास्तविक धर्म का स्वरूप बतावे, उसकी निन्दा न करे, यह व्यवहार उपगूहन अङ्ग है तथा अपने में स्वद्रव्य के अवलम्बन से निश्चयरत्नत्रय गुणों की शुद्धि करे और अशुद्धि का अभाव करे, यह निश्चय उपगूहन अथवा उपबृहण अङ्ग है।

प्रथम तो अपने चिदानन्दस्वभाव में जागृति रखे और यदि कोई भव्यजीव कमजोरी या अज्ञानता के कारण धर्म के विपरीत करने लग जाए तो उसे समझावे एवं उसके दोष को छुपावे; परन्तु किसी पापी जीव का बचाव न करे; क्योंकि यह तो विवेक का मार्ग है।

कोई कपटी जीव धर्म का वेश धारण कर धर्म के विरुद्ध कार्य करे और धर्म की

निन्दा होने लग जाए तो सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष उस दोष को छुपा कर, उसे समझावे और धर्म की महानता बतावे; यदि फिर भी न माने तो उससे दूर हो जावे।

एक सेठ के गृह चैत्यालय में रत्न की प्रतिमा थी, उसे चुराने का भाव करके एक चोर ब्रह्मचारी का वेश धारण कर सेठ के घर आया और कुछ धार्मिक क्रियाकाण्ड करके अपने को बड़ा धर्मात्मा बताकर सेठ को इस प्रकार का विश्वास कराके वहाँ रहने लगा कि मैं तो धर्मात्मा हूँ; परन्तु एक दिन एकान्त पाकर वह रत्न प्रतिमा लेकर जाने लगा, रास्ते में लोगों ने पकड़ लिया और सेठ के पास ले गये, तब सेठ ने 'वह प्रतिमा तो मैंने मंगाई थी' — ऐसा कहकर उसके दोष को छुपा लिया — यह देखकर चोर ने अपने द्वारा कृत पाप का पश्चाताप किया और सेठजी द्वारा दिये गये उपदेश को सुनकर धर्मी हो गया। यह व्यवहार उपगूहन का दृष्टान्त है।

निश्चय से तो निर्दोष परमात्मस्वरूप को आच्छादित करनेवाले, ढाँकनेवाले अथवा विपरीत स्वरूप बतानेवाले मोह-राग-द्वेष भाव हैं, इनका निज परमात्मा में सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रतारूप ध्यान द्वारा नाश करना ही निश्चय उपगूहन अङ्ग है। इसका दूसरा नाम उपबृहण अङ्ग भी है।

अब, स्थितिकरण अङ्ग का वर्णन करते हैं — निश्चय-व्यवहाररूप रत्नत्रयधारी जो मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका यह चार संघ हैं। इनमें से कोई भव्यजीव चारित्र अथवा श्रद्धा से च्युत होता हो तो उसे स्थिर करने की भावना व्यवहार स्थितिकरण है। शास्त्र में व्यवहार से कथन आता है कि चारित्रमोहनीय के उदय से कोई ब्रह्मचर्य व्रत छोड़ने का विचार करे, शिथिल हो जाए तो उसे शास्त्र की आज्ञानुसार यथाशक्ति धर्मोपदेश देकर अथवा गृहस्थ साधर्मी भाई-बहिन हो तो धन से, बल से अथवा योग्य रीति से उसकी समस्या को सुलझाकर उसे धर्म पालन करने में स्थिर करना व्यवहार स्थितिकरण है। इस विषय में पुष्पडाल मुनि को धर्म में स्थिर करने के लिए मुनि वारिषेण की कथा शास्त्रों में प्रसिद्ध है।

निश्चय से अपने स्वभाव में दृढ़ होना स्थितिकरण है। मैं चैतन्य ज्ञायक मूर्ति आत्मा हूँ। उसमें निर्मल-श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र द्वारा स्थिर होने की भावना निश्चय स्थितिकरण है। कमजोरी के कारण विकल्प उठे तो उसका त्याग करके ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव में समतापूर्वक चित्त को स्थिर करना, यथार्थ स्थितिकरण है।

अब, यहाँ मोक्षमार्ग अधिकार में सम्यग्दर्शन के सातवें वात्सल्य अङ्ग का वर्णन करते हैं :-

निश्चय से वीतराग चिदानन्द निज परमात्मा के प्रति वात्सल्य-प्रीति होना, वात्सल्य अङ्ग है और बाह्य में निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय के धारक मुनिराज, आर्यिका श्रावक-श्राविकारूप चार प्रकार के संघ में गोवत्स समान प्रीति होना, वात्सल्य अङ्ग है।

जिस प्रकार संसारी जीव के पाँच इन्द्रियों के विषयों के निमित्तरूप शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, सम्पदा, आबरु इत्यादि से स्नेह, प्रीति रहती है, उसी प्रकार धर्मीजीव को साधर्मी के प्रति अतुल्य स्नेह रहता है। स्वार्थभावनारहित धर्मानुराग होने से, उसमें मोक्षमार्ग का अनुमोदन है।

वात्सल्य अङ्ग के सन्दर्भ में आचार्य अकम्पनाचार्य के संघ पर राजा बलि द्वारा किया गया उपसर्ग दूर करेनरूप मुनि विष्णुकुमारजी की कथा प्रथमानुयोग में प्रसिद्ध है।

हस्तिनापुर के राजा पद्मराज के दुष्टमन्त्री बलि ने राजा पद्मराज से राज्य लेकर निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग के आराधक अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनियों पर घोर उपसर्ग किया। जब यह बात कहीं दूर स्थान पर विराजमान दूसरे मुनिराज ने अपने अवधिज्ञान से देखकर अपने श्रावकों से कही कि अहो! इस घोर उपसर्ग का निवारण महाविक्रियाऋद्धिधारी विष्णुकुमारजी द्वारा हो सकता है। तब श्रावकों ने मुनि विष्णुकुमारजी के पास जाकर उनसे इस विषय में निवेदन किया।

अपने अन्दर विक्रियाऋद्धि जानकर करुणापूर्वक मुनि विष्णुकुमारजी बामनिया का रूप धारण कर मन्त्री बलि के पास गये और मंत्री बलि से तीन पग (पैर) पृथ्वी माँगी, मन्त्री बलि के तीन पग (पैर) पृथ्वी देने की स्वीकृति मिलने पर उन्होंने अपनी विक्रियाऋद्धि के द्वारा एक पग (पैर) सुमेरुपर्वत पर रखा और एक पग (पैर) मानुषोत्तरपर्वत पर रखा — इस प्रकार दो पग (पैर) में ही सम्पूर्ण पृथ्वी नाप ली, जब तीसरा पग रखने की कहीं जगह ही नहीं रही, तब प्रतिज्ञाभङ्ग होने का दोष लगाकर बलि को बाँध लिया और सात सौ मुनिराजों का उपसर्ग दूर कर दिया।

यह सब तो उस समय में होनेवाला था, सो हो गया। विष्णुकुमार मुनि को वात्सल्य का भाव आया और उन सात सौ मुनिराजों का उपसर्ग दूर हुआ, दोनों का एक समय

होने से — यह कहा गया है कि मुनि विष्णुकुमारजी ने उपसर्ग दूर किया। वास्तव में तो दोनों कार्य अपने-अपने कारण एवं योग्यता से हुए हैं। उन्हें कोई इन्द्र अथवा जिनेन्द्र भी नहीं टाल सकते।

आज के युग में अज्ञानी जनों को यह स्वतन्त्रता की बात गले नहीं उतरती। वे निमित्ताधीन दृष्टि से वस्तु को पराधीन बताते हैं। अनादि की पराधीनता होने से स्वतंत्र वस्तुस्थिति का विरोध करते हैं।

व्यवहार वात्सल्य अङ्ग का कथन तो यह बताने के लिए किया है कि सरागदशा में किस प्रकार की परणति होती है। इसको समझने के लिए दूसरा उदाहरण इस प्रकार है—

एक वज्रकरण नाम का राजा सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के अलावा अन्य किसी को भी नमस्कार नहीं करता था; जबकि लोक व्यवहार में अन्य बड़े राजा को नमस्कार करने में श्रद्धा का दोष नहीं लगता है, फिर भी वज्रकरण का ऐसा ही भाव था किसी अन्य मिथ्यादृष्टि राजा को नमस्कार नहीं करना। उज्जैनीनगरी के राजा सिंहोदर ने उसे नमस्कार करने के लिए बाध्य किया और नमस्कार न करने पर उसे घेर लिया। तब भेदाभेद रत्नत्रय की भावना है प्रिय जिन्हें — ऐसे श्रीरामचन्द्रजी ने सिंहोदर राजा से लड़ाई कर उसे बांध लिया और साधर्मी वज्रकरण की रक्षा की — यह कथा पद्मपुराण में आती है।

देखो, निमित्त का कथन इस प्रकार ही होता है, इसमें रामचन्द्रजी ने वज्रकरण का कुछ नहीं किया था, बल्कि स्वयं को धर्म के प्रति वात्सल्य होने से स्वयं के लिए यह सब किया था। बाहर में तो जो होना था, वह हो गया। अन्दर में उसके प्रति राग था, इसलिए हुआ है — ज्ञानी ऐसा नहीं मानते; क्योंकि द्रव्य की प्रत्येक पर्याय उसकी योग्यता से ही होती है।

उपादान विधि निर्वचन है निमित्त उपदेश।
बसै जु जैसे देश में करै सु तैसौ भेष॥

जिस समय कार्य होता है, उस समय उस कार्य का कारण तो एक उपादान ही होता है तथा अन्य सभी को उपचार से कारण कहा जाता है। किसी भी कार्य के सम्पन्न होते समय कौन-कौन से कारण मौजूद थे — इसका ज्ञान कराने के लिए उपचार से उनका भी कथन किया जाता है।

कार्य होने में भी उपादान की विधि तो एक प्रकार की ही है और वह है तत्समय की योग्यता। जिस समय श्री रामचन्द्रजी के द्वारा राजा सिंहोदर के नगर का घेरा डालने का और सिंहोदर को बाँधने इत्यादि का कार्य हुआ। तब वास्तव में तो उस समय वह कार्य होना था, सो हुआ। श्री रामचन्द्रजी ने ऐसा किया — यह कहना तो निमित्त का कथन करना है।

सम्यग्दृष्टि गृहस्थ जीव को भूमिकानुसार धर्मात्मा के प्रति वात्सल्य आता है। जगत में तो जो होनेवाला होता है, वही होता है, उसे देखकर अज्ञानी कर्तापना मानता है और ज्ञानी ज्ञाता-दृष्टा रहकर मात्र देखता-जानता रहता है।

समस्त पुण्य-पाप के विकल्प से रहित निर्मल ज्ञानानन्द मात्र से उत्पन्न नित्यानन्दस्वरूप अथवा आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्दरूप सुख के प्रति प्रीति होना निश्चय वात्सल्य है।

वीतराग सर्वज्ञ अरहन्त परमात्मा के अपने निजस्वरूप में अभेद परिणमन है, इसलिए उनके निश्चय वात्सल्यपना परिपूर्ण है; परन्तु उन्हें धर्म तथा धर्मायतनों की रक्षा का राग नहीं आता। गृहस्थों को निश्चय-व्यवहार दोनों वात्सल्य होते हैं। निश्चय रत्नत्रय के साथ होने वाला व्यावहारिक रत्नत्रय मानने वाला व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है।

शंका — धनादिक देकर दूसरों की सहायता करना — ऐसा शास्त्र में आता है तो क्या आत्मा का पर व्यवहार से तो कर सकता है ?

समाधान — आचार्य कहते हैं कि नहीं। व्यवहार से पर का कर्ता नहीं है; परन्तु व्यवहार से पर का कर्ता कहा जाता है। जीव तो स्वयं ज्ञानस्वरूपी अरूपी द्रव्य है तथा अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का ही कर्ता है।

अब प्रभावना अङ्ग का वर्णन करते हैं -

सम्यग्दृष्टि श्रावक, दान-पूजादि से निर्दोष जिनमत की प्रभावना करते हैं, निर्ग्रन्थ मुनिदीक्षा धारण करते हैं अथवा शास्त्रज्ञान, तपश्चर्या आदि करते हैं - यह व्यवहार प्रभावना है।

प्रभावना अङ्ग के सन्दर्भ में इस प्रकार की कथा प्रसिद्ध है -

मथुरा नरेश की रानी महादेवी का सदैव जिनेन्द्र रथयात्रा का उत्सव कराने का नियम

था। एक बार जिनेन्द्र रथयात्रा में विघ्न आते ही जब रानी ने आहार-जल का त्याग कर दिया, तब पुण्योदय से विद्याधरों ने जिनेन्द्र रथयात्रा प्रवर्तन कर प्रभावना की।

दूसरा उदाहरण इस प्रकार है -

तद्भव मोक्षगामी हरिषेण चक्रवर्ती ने धर्मानुराग से जिनमत की प्रभावना के लिए जिनमन्दिर आदि बनवाकर सम्पूर्ण पृथ्वीतल को शोभयमान कर दिया। यह कथा पद्मपुराण में आती है।

जिस प्रकार मनुष्य को अपना घर बनाने का भाव आता है, उसी प्रकार धर्मात्मा गृहस्थ को जिनमन्दिर, रथयात्रा, पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा इत्यादि उत्सव कराने का भाव आता है, यह भाव आते हुए भी वीतरागता की वृद्धि हो - यह परिणाम रहता है। जिसमें प्रीति होती है, उसके प्रति उत्साह आये बिना नहीं रहता।

निर्विकल्प होने के लिए यथार्थ मोक्षमार्ग के राग का भी नकार करने, अन्दर अतीन्द्रिय ज्ञानानन्द स्वभाव में उत्साह लाना एवं विषय-कषायादि विभाव परिणाम का अभाव करना, यथार्थ प्रभावना है। व्यवहारमोक्षमार्ग का शुभराग भी विभाव है, इसलिए उसका अभाव करना चाहिए।

निश्चय से तो अन्दर चिदानन्द आत्मा में लीनतारूप स्वसम्वेदन ज्ञान से, निर्मल ज्ञान-दर्शनरूप निज शुद्धात्मस्वभाव का प्रकाशन, अनुभवन करना सच्ची प्रभावना है।

इस प्रकार पूर्वोक्त तीन मूढ़ता, आठ मद, छह अनायतन और शङ्कादि आठ दोषरहित शुद्ध जीवादि तत्त्वार्थों की रागसहित प्रतीति करना सरागसम्यक्त्व है। नवतत्त्वों का ज्यों का त्यों जानना व्यवहारसमकित है और अकेले शुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्व की प्रतीति, अनुभव करना निश्चयसम्यक्त्व है। जब निश्चय दृष्टि होने पर ही राग का अभाव होता है, तब उस जीव के शुभ व्यवहार को परम्परा उपचार कारण कहा जाता है।

शुभाशुभ विकल्परूप व्यवहार छोड़ने का अर्थ - पराश्रयरूप व्यवहार के अवलम्बन से लाभ माननेरूप मिथ्याश्रद्धान छोड़ना है।

अतीन्द्रिय अकषाय स्वरूप ज्ञायकस्वभाव की रुचि से साधने योग्य शुद्धोपयोगरूप और निश्चयरत्नत्रय की भावना, वीतरागी स्थिरता, एकाग्रता से उत्पन्न अतीन्द्रिय परम

आल्हादरूप सुखामृत रसास्वाद ही उपादेय है तथा इन्द्रियों के अवलम्बन से उत्पन्न आकुलतामय सुखाभासरूप लौकिक सुख हेय है।

ऐसी अन्तर्मुख रुचिरूप वीतरागचारित्रसहित समकित को निश्चयसमकित जानना चाहिए।

प्रश्न - यहाँ व्यवहारसम्यक्त्व के वर्णन में निश्चयसम्यक्त्व का वर्णन क्यों किया?

उत्तर - व्यवहारसम्यक्त्व के साथ-साथ निश्चयसम्यक्त्व का कथन आता ही है, क्योंकि निश्चय बिना व्यवहार होता ही नहीं है। ज्ञानी भी जब वीतरागचारित्ररूप दशा अपने में प्रगट करता है, तब जो व्यवहार के विकल्प आते हैं, ज्ञानी निश्चय के बल-पूर्वक उसका भी निषेध करके गौण करता है। उस राग के अभाव को भी उपचार से साधन कहा जाता है - इसका नाम व्यवहार है। वास्तव में तो रागरूप व्यवहाररत्नत्रय मोक्षमार्ग में बाधक ही है - सर्वप्रथम ऐसा निर्णय करना चाहिए। व्यवहार को उपचार से निश्चय का साधक कहा जाता है, परन्तु जो व्यवहार है, वह वस्तुस्थिति नहीं है।

अब, सम्यग्दर्शन का माहात्म्य कहते हैं -

जिस जीव को देहादि से भिन्न, राग से भिन्न निज चैतन्य स्वरूप के भानपूर्वक अनादिकालीन मिथ्यावासना का अभाव हुआ है, उस जीव ने यदि सम्यग्दर्शन होने से पूर्व आयु का बन्ध नहीं किया हो, तो भले वह अव्रती हो, राज्यादि का भोग भोगता हो, आरम्भ में हिंसा तथा अशुभभाव होता हो तो भी वह जीव शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव में जागृत होने से तिर्यञ्च-नरकगति आदि निन्दनीय स्थानों में जन्म नहीं लेता।

आगम में कहा है कि जिसे शुद्ध सम्यग्दर्शन हुआ है, वह जीव नरक-तिर्यञ्चगति में, नपुंसक, स्त्री, नीचकुल, अङ्गहीनशरीर, अल्प आयु और दरिद्रीपने को प्राप्त नहीं करता। जो इससे विपरीत मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। श्वेताम्बर शास्त्रकार मल्लिनाथ तीर्थङ्कर को स्त्री कहते हैं, पर जैसे स्त्री के पेट से बन्दर नहीं जन्मता है, उसी प्रकार तीर्थङ्कर देव स्त्री नहीं हो सकते।

तीर्थङ्कर को पूजनेवाले इन्द्र, गणधरदेव स्त्रीपर्याय को धारण नहीं करते, तो त्रिलोकीनाथ धर्मपिता, जगतगुरु, स्त्री कैसे हो सकते हैं ? उन्होंने लोक में भले बनने के लिए स्त्री को तीर्थङ्करपना, मुनिपना होता है - ऐसा सिद्ध करने के लिए जिनागम के नाम पर

कल्पित शास्त्रों की रचना की है; परन्तु परीक्षावान तो अन्धश्रद्धानी होता नहीं है, वह तो परीक्षा करके सब यथार्थ जान लेता है।

सम्यग्दृष्टि जीव, नरक-स्वर्ग की आयु पूर्ण करके उत्तम मनुष्य गति में ही उत्पन्न होता है। सम्यग्दृष्टि के समान उत्कृष्ट पुण्य मिथ्यादृष्टि के कभी नहीं होता। जहाँ सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा पुरुष जन्म लेता है; वहाँ दीप्ति, प्रताप, विद्या, यश, वृद्धि, वैभव और विपुल सम्पत्ति इत्यादि सभी सामग्री सहज ही उपलब्ध होती है।

उक्त सभी गुणों के कारण वह जीव सभी मनुष्यों में श्रेष्ठ होता है।

मिथ्यादृष्टि, व्यवहार में रुचिवान होने से पापानुबन्धी पुण्य बाँधकर संसार में रखड़ता है। वह शुभभाव के कारण कर्म की स्थिति तो अधिक बाँधता है, परन्तु उसे शुभभाव के पुण्य का आदर होने से त्रसपर्याय की दो हजार सागर की उत्कृष्ट स्थिति पूर्ण होने पर शुभभाव से बाँधी हुई सातावेदनीय की स्थिति तोड़कर अशुभभावपूर्वक निगोद प्राप्त होता है। सम्यग्दृष्टि जीव वीतरागस्वभाव की दृष्टि की मुख्यता से पुण्य द्वारा बाँधी हुई स्थिति तथा शुभ को तोड़कर शुद्धोपयोग के बल से अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त करता है।

मिथ्यादृष्टि को कर्म की स्थिति अधिक और पुण्य का रस कम होता है और ज्ञानी को आयुकर्म के अलावा सभी कर्मों की स्थिति कम और पुण्य का रस अधिक बँधता है, परन्तु संसार में त्रसपर्याय में दो हजार सागर से अधिक तो कोई भी नहीं रहता।

सम्यग्दृष्टि जीव समाधिमरण करके देवगति में उत्पन्न होता है, परन्तु देवगति में भी भवनवासी, व्यन्तर तथा ज्योतिषी देवों में उत्पन्न नहीं होता। यदि वैमानिक देवों में भी उत्पन्न हो तो वहाँ प्रकीर्णक, वाहन, किल्विषिक इत्यादि निम्नजाति के देवों में उत्पन्न नहीं होता। महाऋद्धिधारी उत्कृष्ट देवपने उत्पन्न होता है। यहाँ निमित भी अपेक्षा बात की है, निश्चय से तो वह अपने श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र में ही उत्पन्न होता है - रहता है।

प्रश्न - जिसे सम्यग्दर्शन होने से पूर्व नरक-तिर्यञ्च अथवा मनुष्य आयु का बन्ध हो गया हो तो वे जीव कहाँ उत्पन्न होते हैं ?

उत्तर - ऐसे जीव प्रथम नरक के बिना शेष छह नरकों में, ज्योतिषी, व्यन्तर, भवनवासी देवों में, सर्व स्त्री पर्याय में तथा कर्मभूमि के मनुष्य तिर्यंचों में उत्पन्न नहीं होते। राजा श्रेणिक ने सम्यग्दर्शन से पूर्व नरकायु का बन्ध किया था, अतः वे प्रथम

नरक में गये। मरण समय में 'मैं तो शुद्ध चिदानन्द हूँ' - ऐसा भान था और आज भी ऐसा ही भान वर्त रहा है; इसलिए उन्हें संयोग का दु:ख नहीं है। पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण जितना भी दु:ख है, वह भी गौण है।

अब यह बताते हैं कि उपशम, क्षयोपशम तथा क्षायिक इन तीन सम्यक्त्वों में से कौन-सा सम्यक्त्व किस गति में होता है -

सौधर्म आदि स्वर्गों में, असंख्यात वर्ष की आयुधारी भोगभूमि के तिर्यञ्च एवं मनुष्यों में तथा रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक की पृथ्वी में तीनों सम्यक्त्व होते हैं। विशेष ऐसा जानना - अपर्याप्त अवस्था में द्वितीयोपशम सम्यक्त्व महर्द्धिक देवों में ही होता है। क्षयोपशम तथा उपशम ये दो सम्यक्त्व आगे के देवों में, तिर्यञ्चों में तथा शेष नीचे के छह नरकों में पर्याप्तजीवों के ही होते हैं।

प्रथम नरक में तीव्र उष्णता की वेदना कम से कम दस हजार वर्ष तक होती है अर्थात् वहाँ के जीवों की कम से कम आयु दस हजार वर्ष की होती है। वहाँ की भूमि में यदि एक लाख योजन बराबर का कठोर लोहपिण्ड डाला जाय तो तत्काल गलकर टुकड़े-टुकड़े हो जाए - ऐसी भयङ्कर उष्णता तो प्रथम नरक में है। इससे अनन्तगुणी उष्णता द्वितीय नरक में है। वहाँ भी संयोगजनित दु:ख अधिक नहीं हैं, बल्कि देह में एकत्वपने का दु:ख अधिक है।

यहाँ पाप के भय से न डरता हुआ जीव अन्याय-अनीति करता है, माँस-मदिरा का सेवन करता है, शिकार करता है, परजीवों का घात करता है, चोरी करता है - ऐसे तीव्र आसक्तिवाले पापपरिणाम के फलस्वरूप जीव नरक में जाता है। यह जीव नरकों में अनन्तबार जाकर आया, फिर भी यहाँ कहता है कि वर्तमान ही है, भूत-भविष्य किसने देखा ? परन्तु भाई! तेरे मानने से क्या होता है? अभी जो भी तीव्र-मन्द पुण्य-पाप किया है, उनके फल को भोगने के साधन चारगति के रूप में संसार में असंख्यात हैं।

इस प्रकार निश्चय-व्यवहार रत्नत्रयस्वरूप जो मोक्षमार्ग है, उसके प्रथम चरण सम्यग्दर्शन की व्याख्या पूर्ण हुई। आगे द्वितीय चरण सम्यग्ज्ञान का वर्णन करेंगे।

❖❖❖

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-४२

अब, रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग के दूसरे अवयवरूप सम्यग्ज्ञान का स्वरूप प्रतिपादन करते हैं —

संसयविमोहविब्भमविवज्जियं अप्पपरसरूवस्स।
गहणं सम्मण्णाणं सायारमणेयभेयं तु॥४२॥

संशयविमोहविभ्रमविवर्जित आत्मपरस्वरूपस्य।
ग्रहणं सम्यक् ज्ञानं साकारं अनेकभेदं च॥४२॥

संशयविमोहविभरमविरहित स्वपर को जो जानता।
साकार सम्यग्ज्ञान है वह है अनेकप्रकार का॥४२॥

गाथार्थ : — आत्मा और परपदार्थों के स्वरूप को संशय, विमोह और विभ्रमरहित जानना वह सम्यक्ज्ञान है; वह साकार और अनेक भेदोंवाला है।

टीका : — **'संसयविमोहविब्भमविवज्जियं'** संशय - शुद्ध आत्मतत्त्वादि का प्रतिपादक शास्त्रज्ञान, क्या वीतरागसर्वज्ञ द्वारा कथित सत्य होगा या अन्यमतियों द्वारा कथित सत्य होगा, यह संशय है। उसका दृष्टान्त - वृक्ष का ठूँठ है या मनुष्य है ? विमोह - परस्पर सापेक्ष द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों नयों के प्रमाण से द्रव्य-गुण-पर्यायादि के ज्ञान का अभाव, वह विमोह है। वहाँ दृष्टान्त - गमन करनेवाले पुरुष को पैर में तृण आदि का स्पर्श होने पर स्पष्ट ज्ञान न हो कि किस का स्पर्श हुआ अथवा दिशा भूल जाना। विभ्रम - अनेकान्तात्मक वस्तु को 'यह नित्य ही है,' 'यह क्षणिक ही है' ऐसा एकान्तरूप जानना वह विभ्रम है। उसका दृष्टान्त - सीप में चाँदी का ज्ञान। **'विवज्जियं'** इन पूर्वोक्त लक्षणों वाले संशय, विमोह और विभ्रम से रहित, **'अप्पपरसरूवस्स गहणं'** सहज शुद्ध केवलज्ञान-दर्शनस्वभावी निजात्मस्वरूप का ग्रहण-परिच्छेदन-परिच्छित्ति और परद्रव्य का स्वरूप अर्थात् भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म का स्वरूप, पुद्गल आदि पाँच द्रव्यों स्वरूप तथा अन्य जीव का स्वरूप जानना, वह **'सम्मण्णाणं'** सम्यक्ज्ञान है। वह कैसा है ? **'सायारं'** यह घट है, यह वस्त्र है, इत्यादि जानने के व्यापाररूप से साकार है; सविकल्प-व्यवसायात्मक-निश्चयात्मक ऐसा ('साकार' का) अर्थ है तथा कैसा है ? **'अणेयभेयं तु'** अनेक भेदोंवाला है।

सम्यग्ज्ञान के भेद कहते हैं:- मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान — इन भेदों से सम्यग्ज्ञान पाँच प्रकार है अथवा श्रुतज्ञान की अपेक्षा से द्वादशाङ्ग और अङ्गबाह्य — इस भाँति दो प्रकार है। बारह अङ्ग के नाम कहते हैं :— आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, व्याख्याप्रज्ञप्ति अङ्ग, ज्ञातृकथाङ्ग, उपासकाध्ययनाङ्ग, अंतकृतदशाङ्ग, अनुत्तरोपपादिकदशाङ्ग, प्रश्न व्याकरणाङ्ग, विपाकसूत्राङ्ग और दृष्टिवाद — ये बारह अङ्गों के नाम हैं। दृष्टिवाद नामक बारहवें अङ्ग के परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका — इन पाँच भेदों का कथन करते हैं। चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति — इस प्रकार परिकर्म के पाँच प्रकार हैं। सूत्र एक ही प्रकार का है। प्रथमानुयोग का भी एक भेद है। पूर्वगत के चौदह भेद हैं :— उत्पादपूर्व, अग्रायणीपूर्व, वीर्यानुप्रवादपूर्व, अस्ति-नास्तिप्रवादपूर्व, ज्ञानप्रवादपूर्व, सत्यप्रवादपूर्व, आत्मप्रवादपूर्व, कर्मप्रवादपूर्व, प्रत्याख्यानपूर्व, विद्यानुवादपूर्व, कल्याणपूर्व, प्राणानुवादपूर्व, क्रियाविशालपूर्व और लोकबिन्दुसारपूर्व। जलगत चूलिका, स्थलगत चूलिका, आकाशगत चूलिका, हरमेखला आदि मायास्वरूप चूलिका और शाकिनी आदि रूप परिवर्तन चूलिका — इस भाँति चूलिका के पाँच प्रकार हैं। इस प्रकार संक्षेप में बारह अङ्ग का व्याख्यान है और जो अङ्गबाह्य श्रुतज्ञान है, वह सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक और अशीतिक — इस प्रकार चौदह प्रकार का प्रकीर्णक जानना।

अथवा श्री ऋषभनाथ आदि चौबीस तीर्थङ्कर, भरतादि बारह चक्रवर्ती, विजय आदि नव बलदेव, त्रिपृष्ठ आदि नव नारायण और सुग्रीव आदि नव प्रतिनारायण सम्बन्धी त्रेसठ शलाका पुरुषों के पुराण भेद से भेदवाले प्रथमानुयोग कहलाता है। उपासकाध्ययनादि में श्रावकधर्म का और आचार आराधना आदि में यतिधर्म का जहाँ मुख्यरूप से कथन किया जाता है, वह चरणानुयोग कहलाता है। त्रिलोकसार में तीर्थङ्करों का अन्तरकाल और लोकविभाग आदि का व्याख्यान है — ऐसे ग्रन्थ करणानुयोग के जानना। प्राभृत और तत्त्वार्थ सिद्धान्तादि में जहाँ मुख्यरूप से शुद्ध-अशुद्ध जीवादि छह द्रव्य आदि का व्याख्यान किया जाता है, वह द्रव्यानुयोग कहलाता है। इस प्रकार उक्त लक्षणवाले चार अनुयोगरूप से चार प्रकार का श्रुतज्ञान जानना। अनुयोग, अधिकार, परिच्छेद और

प्रकरण आदि का एक ही अर्थ है। अथवा छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नौ पदार्थों में निश्चयनय से अपना शुद्धात्मद्रव्य, स्व शुद्धजीवास्तिकाय, निज शुद्धात्मतत्त्व और निज शुद्धात्मपदार्थ उपादेय है और शेष हेय हैं — इस प्रकार संक्षेप में हेय-उपादेय के भेद से व्यवहारज्ञान दो प्रकार का है।

अब, उसी विकल्परूप व्यावहारज्ञान से साध्य निश्चयज्ञान का कथन करते हैं। वह इस प्रकार है — राग से परस्त्री आदि की वाञ्छारूप और द्वेष से दूसरे को मारने, बाँधने, छेदने आदि वाञ्छारूप मेरा दुर्ध्यान है, उसे कोई भी नहीं जानता है, इस प्रकार विचारकर स्वशुद्धात्मभावना से उत्पन्न सदानन्द (नित्य आनन्द) जिसका एक लक्षण है — ऐसे सुखामृतरसरूप निर्मल जल से (अपने) चित्त की शुद्धि न करता हुआ, यह जीव बाह्य में बगुले जैसा वेष धारण करके लोगों का रंजन करता है, वह मायाशल्य कहलाती है। 'निज निरञ्जन निर्दोष परमात्मा ही उपादेय है' — ऐसी रुचिरूप सम्यक्त्व से विलक्षण मिथ्याशल्य कहलाती है। निर्विकार परमचैतन्य की भावना से उत्पन्न परमाह्लाद जिसका एकरूप है, ऐसे सुखामृत रस का स्वाद न लेते हुए, यह जीव देखे हुए, सुने हुए और अनुभव किये गये भोगों में जो निरन्तर चित्त को रोकता है, उसे निदानशल्य कहते हैं। उपरोक्त लक्षणयुक्त तीन शल्य, विभाव परिणाम आदि समस्त शुभाशुभ सङ्कल्प-विकल्परहित, परम स्वास्थ्य के सम्वेदन से उत्पन्न हुआ तात्त्विक परमानन्द जिसका एक लक्षण है — ऐसे सुखामृत से तृप्त अपने आत्मा द्वारा अपना सम्यक् निर्विकल्परूप से वेदन-परिज्ञान-अनुभव ऐसा जो निर्विकल्प स्वसम्वेदनज्ञान, वही निश्चयज्ञान कहलाता है।

यहाँ शिष्य शङ्का करता है :— उपरोक्त प्रकार से प्राभृत ग्रन्थ में जो निर्विकल्प स्वसम्वेदन ज्ञान कहा गया है, वह घटित नहीं होता है। 'किसलिये घटित नहीं होता है?' ऐसा कहा जाए तो कारण बतलाते हैं:- जिस प्रकार जैनमत में सत्तावलोकनरूप चक्षु आदि दर्शन निर्विकल्प कहलाता है, उसी प्रकार बौद्धमत में ज्ञान निर्विकल्प कहलाता है, परन्तु वह निर्विकल्प होने पर भी (वहाँ) विकल्प को उत्पन्न करनेवाला कहलाता है। जैनमत में तो ज्ञान, विकल्प को उत्पन्न करनेवाला ही नहीं है, परन्तु स्वरूप से ही सविकल्प है और उसी प्रकार स्वपरप्रकाशक है। शङ्का का परिहार :— जैन सिद्धान्त में ज्ञान को कथञ्चित् सविकल्प और कथञ्चित् निर्विकल्प माना जाता है। वह इस प्रकार है — जिस प्रकार विषयानन्दरूप से सम्वेदन है, वह राग सम्वेदन के

विकल्परूप होने से सविकल्प है तो भी शेष अनिच्छित सूक्ष्म विकल्पों का सद्भाव होने पर भी उनका मुख्यपना नहीं है, इस कारण निर्विकल्प भी कहलाता है; उसी प्रकार स्वशुद्धात्मा के सम्वेदनरूप वीतराग स्वसम्वेदनज्ञान भी स्वसम्वेदन के एक आकाररूप विकल्पमय होने से सविकल्प है तो भी बाह्य विषयों के अनिच्छित सूक्ष्म विकल्पों का सद्भाव होने पर भी उनका मुख्यपना न होने से निर्विकल्प भी कहलाता है। यहाँ अपूर्व स्वसम्वेदन के आकाररूप अन्तर्मुख प्रतिभास होने पर भी बाह्य-विषयों के अनिच्छित सूक्ष्म विकल्प भी हैं, इसी कारण ज्ञान स्वपरप्रकाशक भी सिद्ध होता है। यदि यह सविकल्प-निर्विकल्प और स्वपरप्रकाशक ज्ञान का व्याख्यान आगम, अध्यात्म और तर्कशास्त्र का अनुसरण करके विशेषरूप से किया जाए तो बहुत विस्तार हो जाए, परन्तु यह (द्रव्यसंग्रह) अध्यात्मशास्त्र होने से उतना विस्तार नहीं किया है।

इस प्रकार रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग जो अवयवी है, उसके दूसरे अवयवरूप ज्ञान के व्याख्यान द्वारा गाथा समाप्त हुई॥४२॥

गाथा ४२ पर प्रवचन

सम्यग्ज्ञानी धर्मात्मा गृहस्थ हो या मुनि हो, उसके स्वसम्वेदन ज्ञान का अभाव नहीं होता अर्थात् सम्यग्ज्ञान रहता है। स्व-पर के सम्बन्ध में संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप मिथ्याज्ञान नहीं होता।

यह सम्यग्ज्ञान विकल्पसहित (आकारवाला - व्यवसायात्मक) अर्थात् स्व-पर प्रकाशक है तथा अनेक भेदवाला है। सम्यग्ज्ञान के अनेक भेदों में से कोई भी भेद ऐसा नहीं है, जो शुभराग से अथवा निमित्त से मोक्षमार्ग मानता हो, या परद्रव्य का कर्त्ता मानता हो। सम्यग्ज्ञान तो वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र से ही मोक्षमार्ग मानता है।

यहाँ सम्यग्ज्ञान के स्वरूप का वर्णन चलता है, अत: उसे स्पष्ट करने के लिए पहले मिथ्याज्ञान में पाये जानेवाले संशयादि दोषों का वर्णन करते हैं।

संशय - शुद्धात्मतत्त्व, वीतरागी सर्वज्ञ सच्चे देव, उनके मार्गानुसारी सच्चे गुरु तथा सर्वज्ञकथित सात तत्त्व, छह द्रव्य का प्रतिपादन करनेवाला शास्त्र सत्य है या अन्यमतियों द्वारा कहे हुए देव-गुरु-शास्त्र सत्य हैं? सम्पूर्ण मतों में धर्म की बात, सुखी होने की बात कही गई है। मार्ग भले सबके भिन्न-भिन्न हों, परन्तु सभी का साध्य तो एक ही

है न ? — ऐसी संशयात्मक बुद्धि सम्यग्ज्ञानी के नहीं होती। समस्त मतों में धर्म की बात कही है, इसलिए उनमें भी तो कुछ सत्यता होगी और सर्वज्ञदेव की बात सम्पूर्ण सत्य होगी ? ऐसा संशयसहित ज्ञान मिथ्याज्ञान है, अतः उसे मिथ्याभावरहित चिदानन्दस्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान आनन्ददशा प्राप्त नहीं होती। जैसे अन्धकार में वृक्ष का ठूँठ खड़ा हो तो उसको देखकर किसी को ऐसा संशय हो जाता है कि यह मनुष्य जैसा लगता है, अतः मनुष्य भी हो सकता है। पर कोई निश्चित नहीं कर पाता कि यह ठूँठ है या मनुष्य है — ऐसा निर्धार बिना शङ्काशील ज्ञान को मिथ्याज्ञान समझना चाहिए।

विमोह - अनिर्णायात्मक ज्ञान को अनध्यवसाय (विमोह) कहते हैं। अनिर्णयात्मक अर्थात् विचाररहित ज्ञान।

जैसे — चलते हुए मनुष्य के पैर में तृण का स्पर्श हो तो वह यह विचार नहीं करता कि क्या है ? 'होगा कुछ या कुछ है' — ऐसा विचार करता हुआ आगे बढ़ जाता है, इसीप्रकार मिथ्यादृष्टि जीव तत्त्वज्ञान में भी बेदरकार रहता है।

मैं कौन हूँ और मेरा सच्चा स्वरूप क्या है ? जीव ने इसका सच्चा विचार भी कभी नहीं किया। जिसको चार गति के घोर दुःखों से छुटकारा पाना हो, उसको अपने अन्दर में उपयोगस्वरूप आत्मा का विचार करके उसकी पहिचान करना चाहिए। शास्त्रकारों ने करुणा करके इसलिए ही यह स्वरूप समझाया है।

त्रिकाली आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड है, वह द्रव्य है; उसका प्रत्येक गुण त्रिकाली है, प्रत्येक गुण की प्रति समय नई-नई पर्याय उत्पन्न होती है और दूसरे समय में बदलती है तथा स्वसत्ता में रहती है — ऐसे चैतन्यस्वरूपी अनन्त जीव त्रिकाल भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र हैं। चेतनागुणरहित अनन्तानन्त परमाणु पुद्गलद्रव्य त्रिकाल भिन्न-भिन्न स्वतन्त्ररूप से हैं, शेष धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य एक-एक हैं। असंख्यात कालाणु द्रव्य हैं। इन सबके द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप, निश्चय-व्यवहार का स्वरूप गुरुगम से यथार्थ नहीं जाने और सामायिक इत्यादि धर्म करने बैठ जाए, परन्तु सामायिक और व्रत आदि क्या हैं ? वे रूपी हैं या अरूपी हैं ? किस गुण की पर्याय हैं ? विकारी हैं या अविकारी हैं — इसकी खबर नहीं है। कोई पूछे तो कहते हैं — 'भगवान जाने' — ऐसा अनिर्णयात्मक ज्ञान अर्थात् विमोहरूप ज्ञान मिथ्याज्ञान है।

विभ्रम - विपरीतज्ञान को विभ्रमज्ञान कहते हैं।

मेरे अन्दर जो विकार, दया दान, व्रतादि के तथा काम, क्रोधादि के विकल्प उठते हैं, वे पुद्गल के हैं या मेरे हैं ? कर्म के कारण उत्पन्न होते हैं या जीव के कारण ? इसका निर्णय किये बिना कर्म से ही होते हैं अथवा स्वभाव ही विकारी लगता है — ऐसा मान ले तो उसे एक तरफी मिथ्या अभिप्रायरूप विभ्रमज्ञान है।

'जड़कर्म के उदय से विकार होता है' - ऐसा गोम्मटसार में ज्ञानप्रधान कथन आता है, वहाँ निमित्त का ज्ञान कराने के लिए कर्म को कारण कहा है और समयसार इत्यादि में शुद्ध द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा रागादि को कर्मकृत कहा है, लेकिन स्वयं को भूलकर विपरीत पुरुषार्थ करने से स्वयं की पर्याय में राग होता है - यदि यह अपेक्षा भूल जाय तो वह एकान्ततः मूढ़ है। द्रव्य की वर्तमान पर्याय मेरे में मेरे द्वारा होती है, जड़कर्म के कारण नहीं - ऐसी पर्याय की स्वतन्त्रता जाने बिना क्षणिक विकार द्रव्यस्वभाव में नहीं है - यह बात भी ठीक नहीं है। अखण्ड ज्ञायक की दृष्टिपूर्वक पर्यायबुद्धि टल गई है, इसलिए वर्तमान कमजोरी के कारण होनेवाले राग को परद्रव्य में डालकर कर्मजन्य कह दिया है। गोम्मटसार में भी ऐसा कथन आता है, परन्तु उसकी अपेक्षा जुदी है।

पर्यायार्थिकनय से ऐसा कहा जाता है कि जीव पर्याय में रागादिरूप परिणमता है। यह रागादिमय जीव की अवस्था है और जीव इसका कर्त्ता है। सर्वज्ञ वीतराग कथित मोक्षमार्ग में दिगम्बर मार्ग के अलावा जैन के नाम पर जितने भी भेद हैं, वे सभी गृहीत मिथ्यादृष्टि अन्यमत समान हैं।

विकार, द्रव्य में नहीं है, गुण में नहीं है; तब फिर विकार आया कहाँ से ? कर्म के कारण हुआ, इसलिए कर्मकृत है। आचार्य कहते हैं कि यह मान्यता ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा माननेवाले ने निश्चय-व्यवहार दोनों नयों का स्वरूप यथार्थ नहीं जाना।

जब यह जीव अपने गुण की विपरीतदशा में अटकता है, तब विकार होता है तथा त्रिकाली द्रव्य-गुण अविकारी हैं — ऐसा दोनों अपेक्षाओं सहित वस्तुस्वरूप को स्वतन्त्रपने जाननेवाला ज्ञान प्रमाण है। संसारी जीव के केवलज्ञान पर्याय भी सत्तारूप में प्रगट है तथा संसार अवस्था में कर्मों से आच्छादित है — ऐसा माननेवालों को आचार्यश्री कहते

हैं कि यह सत्य नहीं है, संसारी जीव में केवलज्ञान शक्तिरूप से है, वह जब तक पर्याय में व्यक्त नहीं तब तक अप्रगट रहने की अपेक्षा आवरण कहा गया है - ऐसा जानना चाहिए।

जीव-पुद्गलादि छह द्रव्य, उनके अनन्त गुण, प्रत्येक की अनन्त-अनन्त पर्यायें - इनका जैसा यथार्थ स्वरूप है, वैसा तो न जाने और अन्यथा जाने - यही विभ्रमरूप मिथ्याज्ञान है। प्रत्येक परमाणु त्रिकाल अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावपने है और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावपने नहीं है। प्रत्येक परमाणु में भी प्रत्येक के अनन्तगुण सामान्य हैं और उनकी प्रतिसमय होनेवाली वर्तमान पर्याय विशेष है। वे परस्पर अपेक्षा रखते हैं।

'अग्नि से पानी गर्म हुआ' - ऐसा माननेवाले ने अंशी सामान्य द्रव्य को नहीं माना, क्योंकि उसने सामान्य बिना अग्नि से पानी को गर्म हुआ माना है, परन्तु सामान्य बिना परिणमन क्रियारूप पर्याय नहीं होती और पर्याय बिना द्रव्य-गुणरूप सामान्य नहीं होता — इस प्रकार यह परस्पर सापेक्ष हैं — ऐसा अनेकान्त स्वरूप माननेवाले सम्यग्ज्ञानी हैं। द्रव्य को पर्याय की अपेक्षा है और पर्याय को द्रव्य की अपेक्षा है; परन्तु निमित्त की अपेक्षा तो किसी को नहीं है कि निमित्त होता है तो कार्यसिद्धि होती है अथवा जैसा निमित्त मिलता है, वैसा उपादान में कार्य होता है - ऐसी पराधीनता सम्यग्दृष्टि के नहीं होती, यह मान्यता तो मिथ्यादृष्टि की है।

द्रव्य-गुण त्रिकाल है और उसकी पर्याय वर्तमान है। द्रव्यगुण सामान्य है, वह द्रव्यार्थिकनय का विषय है और उसका वर्तमान अंश पर्याय है, वह पर्यायार्थिकनय का विषय है। उसे भी परद्रव्य की अपेक्षा नहीं है। धर्मास्तिकाय का अभाव होने से सिद्ध भगवान लोक से आगे नहीं जाते - ऐसा माननेवाले निमित्ताधीन दृष्टिवाले हैं। **वास्तव में तो जो भी होता है, वह निश्चय से अपनी योग्यता से ही होता है। अन्य तो उपचारमात्र निमित्त होते हैं, परन्तु यह स्वतन्त्रता निमित्त के पक्षवालों को अच्छी नहीं लगती।**

सम्यग्ज्ञान प्रमाण है। जिसकी जो भी पर्याय हुई है, वह उसी से हुई है; अन्य से नहीं — ऐसी स्वतन्त्रता को सम्यग्ज्ञान सर्वत्र जानता है। जीव की जो भी विकारी या अविकारी दशा होती है, वह सभी जीवद्रव्य के द्वारा ही होती है; पर के द्वारा नहीं होती है। उस समय अन्य कौन-कौन पदार्थ थे — इसका ज्ञान कराने के लिए शास्त्र में निमित्त

का कथन होता है। शास्त्र में अनेक अपेक्षाओं से कथन आता है, उसमें अज्ञानी को उलझन होती है, कुछ समझ में नहीं आता; तो क्या शास्त्र के कारण समझ में नहीं आता? नहीं, शास्त्रकार के अभिप्राय को अपनी विपरीत बुद्धि से देखने के कारण समझ में नहीं आता।

जैसे किसी को सीप में चाँदी का भ्रम हो गया और उसने 'चाँदी ही है' — ऐसा उल्टा मान लिया तो उसका यह विपरीत ज्ञान विभ्रमरूपी मिथ्याज्ञान कहलाता है। इसी प्रकार कोई अनेकान्तरूप वस्तु को एकान्तरूप से शुद्ध ही है, अशुद्ध ही है, नित्य ही है अथवा अनित्य ही है — ऐसा एकान्तरूप माने तो विभ्रम है, क्योंकि वस्तु सर्वथा नित्य या अनित्य नहीं है, बल्कि द्रव्य अपेक्षा नित्य है, शुद्ध है तथा वही जीव संसार अवस्था में अपनी योग्यता से ही अशुद्ध है और पर्यायार्थिकनय से अनित्य है — ऐसा नहीं मानते हुए एकान्त शुद्ध ही मानते तो संसार अवस्था किसकी है ? भूल कौन करता है ? अशुद्ध ही हो तो उसका अभाव करके शुद्ध कौन हो ? — इस प्रकार अक्रिय-सक्रिय, भेद-अभेद इत्यादि में यथार्थ अपेक्षा जानना चाहिए। पर से अक्रिय तथा अपनी पर्याय में सक्रिय और द्रव्यगुण कथञ्चित् अक्रिय — ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार स्वरूप-पररूप में शङ्का, विपरीतता और अनिर्णयात्मकता रहित ज्ञान होना चाहिए।

पूर्वोक्त संशय, विमोह और विभ्रम से रहित सहज शुद्ध केवलज्ञान-दर्शनस्वभावी निजात्मस्वरूप का ग्रहण, परिच्छेदन, परिच्छित्ति और परद्रव्य अर्थात् भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म का स्वरूप, पुद्गलादि पाँच द्रव्यों का स्वरूप तथा अपने से भिन्न परजीव का स्वरूप जानना, सम्यग्ज्ञान है।

पर के अवलम्बनरूप विभावदशा जीव की अशुद्ध-अवस्था है, जिसे आगम में भावकर्म कहा है तथा भावकर्म जीव का स्थाई स्वरूप नहीं है, इसलिए परद्रव्यस्वरूप ही है — इस प्रकार भावकर्म का ज्ञान बराबर होना चाहिए। दोनों अपेक्षाओं को यथार्थ जानना चाहिए।

भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म का तथा पुद्गलादि पाँच अजीव द्रव्यों का, निजात्मा के अलावा समस्त पर जीवों का, अरहन्तादिक पञ्चपरमेष्ठी का शङ्कारहित, विपरीततारहित और अनिर्णयात्मकतारहित यथार्थ स्वरूप जानना चाहिए।

अब कहते हैं कि यह सम्यग्ज्ञान सविकल्प है अर्थात् स्व-पर का निश्चय करने वाला है तथा अनेक भेद वाला है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान — इन भेदों से सम्यग्ज्ञान पाँच प्रकार का है अथवा श्रुतज्ञान की अपेक्षा से द्वादशाङ्ग और अङ्गबाह्य — इस भाँति दो प्रकार का है। बारह अङ्ग के नाम कहते हैं — आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, व्याख्याप्रज्ञप्ति अङ्ग, ज्ञातृकथाङ्ग, उपासकाध्ययनाङ्ग, अंतकृतदशाङ्ग अनुत्तरोप-पादिकदशाङ्ग, प्रश्नव्याकरणाङ्ग, विपाकसूत्राङ्ग और दृष्टिवाद — ये बारह अङ्गों के नाम हैं। दृष्टिवाद नामक बारहवें अङ्ग के परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका इन पाँच भेदों का कथन करते हैं। चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति — इसप्रकार परिकर्म के पाँच प्रकार हैं। सूत्र एक ही प्रकार का है। प्रथमानुयोग का भी एक भेद है। पूर्वगत के चौदह भेद हैं - उत्पादपूर्व, अग्रायणीपूर्व, वीर्यानुप्रवादपूर्व, अस्ति-नास्तिप्रवादपूर्व, ज्ञानप्रवादपूर्व, सत्यप्रवादपूर्व, आत्मप्रवादपूर्व, कर्मप्रवादपूर्व, प्रत्याख्यानपूर्व, विद्यानुवादपूर्व, कल्याणपूर्व, प्राणानुवादपूर्व, क्रियाविशालपूर्व और लोकबिन्दुसारपूर्व। जलगत चूलिका, स्थलगत चूलिका, आकाशगत चूलिका, हरमेखला आदि मायास्वरूप चूलिका और शाकिनी आदि रूपपरिवर्तन चूलिका — इस भाँति चूलिका के पाँच प्रकार हैं। इस प्रकार संक्षेप में बारह अङ्ग का व्याख्यान है और जो अङ्गबाह्य श्रुतज्ञान, है, वह सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक और अशीतिक — इस प्रकार चौदह प्रकार का प्रकीर्णक जानना।

अथवा श्री ऋषभनाथ आदि चौबीस तीर्थंकर, भरतादि बारह चक्रवर्ती, विजय आदि नव बलदेव, त्रिपृष्ठ आदि नव नारायण और सुग्रीव आदि नव प्रति नारायण सम्बन्धी त्रेसठ शलाका पुरुषों के पुराणभेद से भेदवाला, प्रथमानुयोग कहलाता है।

उपासकाध्ययनादि में श्रावकधर्म का और आचार आराधाना आदि में यतिधर्म का जहाँ मुख्यरूप से कथन किया जाता है, वह चरणानुयोग कहलाता है। त्रिलोकसार में तीर्थङ्करों का अन्तरकाल और लोकविभाग आदि का व्याख्यान है — ऐसे ग्रन्थ करणानुयोग के जानना।

प्राभृत और तत्त्वार्थ सिद्धान्तादि में जहाँ मुख्यरूप से शुद्ध-अशुद्ध जीवादि छह द्रव्य आदि का व्याख्यान किया जाता है, वह द्रव्यानुयोग कहलाता है। इस प्रकार उक्त लक्षणवाले चार अनुयोग रूप से चार प्रकार का श्रुतज्ञान जानना। अनुयोग, अधिकार, परिच्छेद और प्रकरण आदि का एक ही अर्थ है।

आचाराङ्ग आदि सूत्रों में से बहुतों का तो विच्छेद हो गया है, परन्तु परम्परा से षट्खण्डागमादि तथा समयसारादि जितना आगमज्ञान ज्ञानियों द्वारा आया है, उपलब्ध है; वह सभी श्रुतज्ञान है। उसके द्वारा छह द्रव्यों का स्वरूप यथार्थ जानना चाहिए। एक शुद्धात्मा ही उपादेय है, बाकी राग, पुण्य-पापादि सब हेय हैं — ऐसा जानना व्यवहार सम्यग्ज्ञान है। राग जीवास्तिकाय की भूल से जीवास्तिकाय में होता है, शरीरादि पुद्गलास्तिकाय में तथा कर्म में नहीं होता तथा उनके कारण भी नहीं होता।

जिस प्रकार प्रत्येक परमाणु स्वयं के अस्तिकाय में है, इसी प्रकार प्रत्येक जीवास्तिकाय भी पृथक्-पृथक् त्रिकाल स्वतन्त्र है। परमाणु स्वयं की सामर्थ्य से टिका हुआ है, जीवद्रव्य भी अपनी स्वयं की सामर्थ्य से टिका हुआ है, परद्रव्य के कारण नहीं; अतः मेरे से भिन्न समस्त शुद्धाशुद्ध जीवादि पर है।

ज्ञानी को शुभरागरूप व्यवहाररत्नत्रय होता है, वह भी पर है और केवल एक शुद्धात्मा ही स्व है, उपादेय है - ऐसे विकल्पसहित जानना-मानना व्यवहारसम्यग्ज्ञान है। सात तत्त्व में जीवतत्त्व अविकारी ज्ञाता-दृष्टा तत्त्व है, पुण्य-पाप से भिन्न है। पुण्य-पाप इत्यादि सभी तत्त्वों का स्वरूप भिन्न-भिन्न है।

'एक अखण्ड नित्य शुद्धजीव उपादेय है' सर्वप्रथम विकल्पात्मक ज्ञान में ऐसा निर्णय करना चाहिए। पुण्य-पाप, आस्रव-बन्धतत्त्व विभावरूप हैं और उसमें जड़कर्म निमित्त है। संसार के कारण पुण्य-पाप, आस्रव-बन्धतत्त्व हैं और मोक्ष के कारण संवर-निर्जरातत्त्व हैं - इन्हें भिन्न-भिन्न जानना। तथा शुद्धाशुद्ध परजीव और अजीव उपादेय नहीं है, परन्तु निज शुद्धात्मा ही एक उपादेय है - ऐसा यथार्थ निर्णय करना ही हेय-उपादेयरूप दो प्रकार का व्यवहारसम्यग्ज्ञान है। इस प्रकार व्यवहार का भी विकल्प तोड़कर स्वसन्मुखतापूर्वक एक शुद्ध ज्ञायकभाव का निर्विकल्प अनुभव करना, निश्चय सम्यग्ज्ञान है।

आत्मा का स्वभाव सदैव निर्मल है तथा उसकी पर्याय में जो मलिनता है, वह संसार है। मलिनता का नाश करके शुद्धता प्रगट करना, मोक्षमार्ग है। इसका आधार शुद्धात्मद्रव्य है।

यहाँ हेय-उपादेय का भेद करनेवाला ज्ञान भी व्यवहारनय का विषय है। निश्चय से शुद्धात्मद्रव्य ही उपादेय है, परन्तु 'शुद्धात्मद्रव्य ही उपादेय है' - ऐसा विकल्प, व्यवहाररत्नत्रय तथा सम्यग्ज्ञान में जानने योग्य मेरे से भिन्न समस्त शुद्धाशुद्ध जीवादि भी पर हैं।

छह द्रव्य, सात तत्त्व, पञ्चास्तिकाय, नव पदार्थ - इनमें निश्चय से निज शुद्धात्मद्रव्य, निज शुद्धात्मतत्त्व, निज शुद्धजीवास्किाय तथा निज शुद्धात्मपदार्थ ही उपादेय है और इसके अलावा समस्त शुद्ध-अशुद्ध पर द्रव्यादि हेय हैं। परमाणु शुद्धद्रव्य है तथा अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध अशुद्धद्रव्य है - ये सब निज शुद्धात्मद्रव्य से भिन्न हैं।

इस प्रकार संक्षेप में हेय-उपादेय के भेद से व्यवहारज्ञान दो प्रकार है।

अब पूर्व कथित विकल्परूप व्यवहारज्ञान से साध्य निश्चयज्ञान का कथन करते हैं। जिस जीव को रागसहित विकल्परूप व्यवहारज्ञान से स्व-पर तत्त्वार्थों के निर्णय का भी ठिकाना नहीं है, उसे तो निश्चय का भान हो ही नहीं सकता।

स्वतन्त्र स्वरूप का आश्रय हुए बिना व्यवहार का भी यथार्थस्वरूप समझ में नहीं आता। यथार्थ निश्चयज्ञान द्वारा विकल्प तोड़कर स्वसन्मुख निश्चयज्ञान प्रगट होने पर सविकल्प व्यवहारज्ञान को निमित्त/साधन कहा जाता है। शुद्ध स्वद्रव्य के आश्रय से सम्यग्ज्ञान प्रगट होने पर आरोप से व्यवहारज्ञान को कारण कहा जाता है। पुण्य-पापरहित अखण्ड निज शुद्ध चैतन्य की रुचिरूप सम्यग्दर्शन प्रथम रत्न है। निज शुद्ध चैतन्य ही उपादेय है, रागादि हेय हैं — ऐसा निर्णय करनेवाला ज्ञान, व्यवहार सम्यग्ज्ञान है। स्वसन्मुख होने से पहले छह द्रव्य, नव तत्त्व इत्यादि के स्वरूप का निर्णय करनेवाला विकल्परूप ज्ञान होता अवश्य है, परन्तु वह व्यवहारसम्यग्ज्ञान ऐसा नाम तो निश्चय-सम्यग्ज्ञान होने पर ही पाता है; इससे पूर्व उसे यथार्थ व्यवहार संज्ञा भी नहीं मिलती, क्योंकि अकेला व्यवहारज्ञान तो अनादि अज्ञानरूप ही है।

त्रिकाली द्रव्य ज्ञायकभाव अनन्तगुणों का पिण्ड है, उसकी एक समय की ज्ञानपर्याय की सामर्थ्य स्वतन्त्र छह द्रव्य को जानने की है। ऐसा जानकर स्वद्रव्य को उपादेय

माने और तीनों शल्योंरहित निर्विकल्प स्वसन्मुख हो तो व्यवहारज्ञान को सम्यक् उपचार आता है।

अब, तीनों शल्यों का स्वरूप कहते हैं —

मायाशल्य - रागवश परस्त्री की वाञ्छारूप, द्वेषवश पर को मारने आदि की वाञ्छारूप जो मेरा दुर्ध्यान है, उसे कोई नहीं जानता। ऐसा जानकर जीव, लोकरञ्जन में समय गँवाता है और पापभाव का सेवन करता है। अपने चिदानन्द ज्ञायक निराकुल आनन्द लक्षण निज शुद्धात्मा का धारक होने पर भी, उसके सुखामृतरूपी निर्मलजल से अपने चित्त की शुद्धि नहीं करता है। शल्यरूपी मलिनचित्त को अतीन्द्रिय निर्मल ज्ञानानन्द अमृतजल से धोकर शुद्ध नहीं करता है और बगुला के समान वेष धारण करके जो लोक को प्रसन्न करता है, वह मायाशल्यी कहलाता है। जिस प्रकार शरीर में लोहे का बाण लगा हो तो जब तक उसे निकाले नहीं, तब तक वह शरीर में दु:ख उत्पन्न करता रहता है; इसी प्रकार अज्ञानी के चित्त में मायाशल्य भरी हुई है। जब तक यह जीव, निर्मल ज्ञायक स्वभाव के आश्रयपूर्वक मायाशल्य का अभाव नहीं करता है, तब तक मिथ्यात्वादि भवरोग से दु:खी रहता है और मायाशल्य से धर्म के नाम पर अपने को ठगता रहता है।

मिथ्यादर्शनशल्य - निज निरञ्जन निर्दोष शुद्ध परमात्मा ही उपादेय है और शेष पुण्य-पाप की रुचि हेय है — ऐसी रुचिरूप सम्यक्त्व से विपरीत लक्षण धारक मिथ्यादर्शनशल्य है।

निदानशल्य - यह जीव विकाररहित परमचैतन्य की भावना से उत्पन्न परमानन्दरूप सुखामृत के रसास्वाद को प्राप्त नहीं करता हुआ देखे हुए, सुने हुए, अनुभव किये हुए काम, भोग, इज्जत, आबरू, धनवानपना, चतुराई से बात करना, वक्तापना, वकालात करना, सुन्दर मोटर, वस्त्र, बगीचा, मकान इत्यादि वस्तुओं में राग कर-करके इनकी ही महिमा तथा इच्छा किया करता है — यही निदानशल्य है।

इस प्रकार उक्त तीनों शल्योंरहित और सम्पूर्ण प्रकार के शुभ-अशुभ सङ्कल्प-विकल्परहित निज शुद्ध स्वभाव को ही जानने से उत्पन्न यथार्थ परमानन्दरूप एक लक्षण स्वरूप सुखामृत के स्वाद से तृप्त हुआ — ऐसा जो निजात्मा है, इसका ही रागरहित

स्व-सम्वेदन ज्ञान करना अर्थात् निजस्वरूप का सम्यक्प्रकार से वेदन करना, अनुभव करना ही निश्चयज्ञान है और यही मोक्ष का कारण है।

आज धर्म के नाम पर, सर्वज्ञ के नाम पर कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र को सच्चा बतानेवाले बहुत हैं; यदि ये सच्चे हों तो इन्हें मिथ्या कहनेवाले श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव इत्यादि वीतरागी सन्तों को मिथ्या मानना पड़ेगा; क्योंकि विरुद्ध कथन अभिप्राय तो सत्य हो नहीं सकते। या तो श्री कुन्दकुन्द आचार्य सत्य हो सकते हैं या उनके बताये हुए मार्ग से विरुद्ध माननेवाले सत्य हो सकते हैं ? इसलिए परीक्षा करके यथार्थ निर्णय करना चाहिए।

अशुभ से बचकर शुभ करने का राग आता है, परन्तु शुभ से कल्याण हो जाएगा — यह बात जैनधर्म में नहीं है। ज्ञानी जीव को किसी भी परवस्तु में सुखबुद्धि-हितबुद्धि नहीं होती।

प्रश्न - ऐसा तो त्यागी होने पर होता है न ?

उत्तर - सबसे पहले यथार्थ वस्तुस्वरूप की स्वीकृतिपूर्वक श्रद्धा में मिथ्यात्व का त्यागी होना चाहिए।

ज्ञानी चक्रवर्ती के ९६ हजार रानियाँ और छह खण्ड का राज्य होते हुए भी उन्हें निरन्तर यथार्थ हेय-उपादेय का निर्मलज्ञान होता है। देखे हुए, सुने हुए, भोगे हुए भोगों में उनकी उपादेयबुद्धि नहीं होती। साधारण जीव को ऐसा लगता है कि यह सब कैसे हो सकता है ? परन्तु आचार्य कहते हैं कि प्रथम श्रद्धा में निर्दोष निज परमात्मा ही उपादेय है — ऐसी रुचि होने से मिथ्यात्व का त्याग होता है और वही निरन्तर सम्यक्त्व के ग्रहण सहित सम्पूर्ण संसार का त्याग करता है।

एक बगीचे में एक पागल मनुष्य बैठा था, उसी बगीचे में एक राजा-रानी जाकर कुछ समय के लिए विश्राम करने लगे, उन्हें देखकर वह पागल मनुष्य यह मानने लगा कि 'यह मेरे हैं, मुझे सुखी करने के लिए आये हैं।' तथा राजा-रानी को उनकी इच्छानुसार वर्तता देखकर दु:खी होता है और जब राजा-रानी वापस चले गये, तब दु:खी होता है। इसी प्रकार चार गति में भ्रमण करता हुआ मोही जीव जहाँ रहता है; वहीं स्त्री, पुत्र, धनादि का संयोग हो जाता है और वे जीव इससे पूछे बिना कुछ करते दिखते

हैं तो अपनी इच्छा के विरुद्ध होने से दु:खी होता है और कहता है कि मुझसे पूछे बिना पैसा खर्च क्यों किया ? किसी की आयु समाप्त हो जाए तो उसके मरने पर रोता है।

ज्ञानी तो समस्त संयोग-वियोगों का ज्ञाता रहता है; क्योंकि वह जानता है कि जिस काल में, जिसका जैसा होना है, वैसा ही होता है। किसी भी परद्रव्य के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।

भरत चक्रवर्ती के छह खण्ड का राज्य था, पुण्य के ठाठ थे, पर उन्होंने जब सब कुछ छोड़कर वीतरागी नग्न दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली, तब राजपुत्र शोक करते हैं; कहते हैं कि सब फीका लगने लगा, परन्तु ज्ञानी होने से साथ में समाधान भी वर्तता है कि सब क्रमबद्ध है, आज पिताश्री भरत चक्रवर्ती का मोक्ष हुआ तो कल (अल्प समय में) हमें भी मोक्ष में जाना है। ज्ञानी जीव गृहस्थदशा में रहते हुए भी आत्मज्ञानी होता है।

ज्ञान के निश्चय और व्यवहार ये दो भेद कहे जाते हैं, पर अब उसके सविकल्प और निर्विकल्प - ऐसे भेद किये जा रहे हैं। यह बात शिष्य के चित्त में नहीं बैठती, अत: वह प्रश्न करता है कि समयसारादि में स्वसम्वेदनज्ञान को निर्विकल्प कहा तथा जैनदर्शन में चक्षुदर्शन-अचक्षुदर्शन आदि भेदोंवाले दर्शनोपयोग को निर्विकल्प कहा है। इन सबकी क्या अपेक्षाएँ हैं ?

आत्मा में अनन्त गुण हैं, उनमें एक ज्ञानगुण है। वह स्व-परप्रकाशक है, सविकल्प है और अन्य सभी गुण स्व-पर को जानते नहीं हैं, अत: निर्विकल्प हैं। जो दर्शनोपयोग है, वह सामान्यसत्तावलोकनरूप होने से निर्विकल्प है और स्व-पर को भेदपूर्वक जानने के कारण ज्ञान सविकल्प है।

बौद्धमत में ज्ञान को निर्विकल्प कहा है। वहाँ निर्विकल्प होने पर भी भेद को उत्पन्न करनेवाला होने से सविकल्प कहा है। तथा जैनमत में तो ज्ञान भेद को उत्पन्न करनेवाला न होकर स्वभाव से ही स्व-पर का भेद करके जाननेवाला होने से विकल्पसहित है, सविकल्प है। यह अतीन्द्रिय आनन्द है, यह ज्ञान है, यह राग है, यह शब्दादि परविषय हैं — इत्यादि भिन्न-भिन्न जानने की सामर्थ्यवाला होने से ज्ञान, स्वभाव से ही स्व-पर प्रकाशक है, इसलिए उसे विकल्पसहित स्व-पर को जानने के व्यापारसहित होने से सविकल्प कहा है।

यदि किसी लौकिक कार्य में कुछ भूल हो जाए तो वहाँ तो जीव तत्काल निषेध करता है, भूल को नहीं चलने देता; जबकि वहाँ तो सभी संयोग-वियोग, पुण्य-पापानुसार होते हैं, तब फिर भाई! आत्मा के विषय में विचार करने से क्यों दूर भागता है ?

शुद्धात्म द्रव्याश्रित मोक्षमार्ग में ज्ञानगुण का सविकल्प स्वभाव कैसे है और निर्विकल्प स्वभाव कैसे है ? — इसका विचार-निर्णय तो न करे और कुछ का कुछ मान ले, तो वह भूल कैसे चल सकती है ?

ज्ञान में ही स्व-पर को जानने का स्वभाव है - इस अपेक्षा ज्ञान स्वभाव से ही सविकल्प है। सर्वज्ञ-वीतराग का ज्ञान भी ऐसा ही है।

परवस्तु का ग्रहण-त्याग ज्ञान या इच्छा के आधीन नहीं है। जिस काल में, जिस क्षेत्र में, जो संयोग प्राप्त होनेवाला है, वह संयोग हुए बिना नहीं रहता और वियोग के समय वियोग हुए बिना नहीं रहता।

कोई कहे कि ऐसी निश्चय की बात सुनकर कोई दान इत्यादि नहीं करेगा, धर्म की बात सुनने नहीं आयेगा।

आचार्य कहते हैं कि जो होनेवाला है, वह होता ही है, जिसे जिसकी रुचि होती है, वह उसके सम्पर्क में आये बिना नहीं रहता। सत्य बात समझने की सच्ची रुचि हो तो असत् का समागम छोड़कर सत्समागम में आये बिना नहीं रहता।

जैनदर्शन में ज्ञान को कथञ्चित् सविकल्प और कथञ्चित् निर्विकल्प कहा गया है। जैसे — मिथ्यादृष्टि जीवों को पञ्चेन्द्रिय के विषयों में, धन्धा-व्यापार में, नाटक-सिनेमा इत्यादि में रस आने पर उन जीवों की इन विषयों में आनन्दरूप एकाग्रता होती है। इसमें आनन्द की मुख्यता है और इनको जाननेरूप ज्ञान का विषय है, इसलिए यह सविकल्प ज्ञान है तथा इस काल में ही इच्छित विषयों के अलावा अबुद्धिपूर्वक ज्ञान में ज्ञात हुए सूक्ष्म विषय भी हैं, लेकिन उनकी मुख्यता न होने से उनका लक्ष्य नहीं है — इस कारण ज्ञान को निर्विकल्प भी कहा है। यह जीव अकेला विषयानन्द में रुक गया — इसे मुख्य करके सविकल्प कहा और अन्य में नहीं रुकने की अपेक्षा निर्विकल्प कहा है।

इसी प्रकार पञ्चेन्द्रिय के विषयों के अभावपूर्वक अपूर्व स्वसंवित्ति आकार रूप अन्तरङ्ग में मुख्य प्रतिभास होने से अन्तर्मुख ज्ञान, मात्र ज्ञानानन्द स्वरूप को जानता है तथा उसकी मुख्यता के काल में परसन्मुख होकर पर को जानने के विकल्प की मुख्यता नहीं है, इसलिए स्वसंवित्ति की अपेक्षा ज्ञान तथा शान्तिरूप स्व-पर को जानता है, इसलिये सविकल्प है और अबुद्धिपूर्वक होनेवाले विकल्पों को जानने की मुख्यता नहीं होने से उनकी तरफ उपयोग नहीं होने से निर्विकल्प है।

आत्मा में ज्ञानादि अनन्त गुण नित्य हैं तथा रागादि विभाव अनित्य हैं। देह-इन्द्रिय पर हैं, मूर्त हैं और आत्मा सदा अरूपी अतीन्द्रिय होने से देह से भिन्न है। स्वभाव से पूर्ण ज्ञानानन्दमय रहनेवाला है। क्षणिक रागादि से रहित चैतन्यस्वरूप ही उपादेय है। इसकी यथार्थ रुचि होना ही सम्यग्दर्शन है और सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी है।

मोक्षमार्ग का दूसरा चरण सम्यग्ज्ञान स्व-पर को जानता हुआ परिणमता है। कोई जीव किसी परपदार्थ का कुछ कर सकता हो — ऐसा नहीं है। आत्मा का स्वरूप शरीर बिना, राग बिना आनन्दमय रहने का है। आत्मा के स्वभाव में त्रिकाल समता है, आत्मा का स्वभाव परमानन्दमय है — ऐसे आत्मस्वरूप को भूलकर अज्ञानी जीव पर में, पर्याय में एकत्वबुद्धि करके दुःखी होता है।

इस दुःख का अत्यन्तपने नाश करने का उपाय प्रीतिपूर्वक सुने, समझे और 'मैं स्वयं ही अविनाशी सुखरूप हूँ' — ऐसी निःशङ्क श्रद्धा और भावना करे तो सुख प्रगट हो, धर्म प्रगट हो।

संसार में अनन्त जीव हैं। प्रत्येक जीव स्वतन्त्र है, मुक्त-सिद्ध जीव भी स्वतन्त्र हैं। छहों द्रव्य तथा प्रत्येक की गुण-पर्यायें स्वतन्त्र हैं तथा उनके निमित्त-उपादान स्वतन्त्र हैं। राग से भिन्न स्व-पर प्रकाशक ज्ञानस्वभाव भी स्वतन्त्र है। यह बात समझने के लिए इसकी अत्यन्त तीव्र रुचि होना चाहिए। यह बात सुनने का अवसर ही उत्कृष्ट पुण्य के उदय से प्राप्त होता है। यह तो सनातन दिगम्बर जैनधर्म की बात है। ईश्वर को कर्ता माननेवालों को तो यह वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा प्रतिपादित अकर्तृत्वपने की बात कठिन लगती है।

निज शुद्धात्मा को जाननेरूप ज्ञान अनाकुल रहता हुआ मुख्यत: स्व को ही जानता है। जिस ज्ञान की प्रगट पर्याय स्वभावसन्मुख है, उस ज्ञान में एक आनन्द का ही वेदन वर्तता है। वह ज्ञान स्वसम्वेदनरूप सविकल्प है।

ज्ञान में स्व-पर दोनों की प्रतीति तो पहले भी थी, परन्तु वही ज्ञान पहले पर में वर्तता होने से दु:ख का वेदन करता था और स्वसन्मुख होने पर राग को जानता हुआ भी मात्र आनन्द का वेदन करता है।

स्वभाव तो मुख्यत: ज्ञान और आनन्दरूप है, मात्र विकार को लक्ष्य में लेनेवाला ज्ञान तो अज्ञानरूप है। ज्ञानानन्दरूप को जाननेवाला स्वसम्वेदन ज्ञान, निश्चयसम्यग्ज्ञान है तथा आनन्द को जाननेवाला होने से वही ज्ञान सविकल्प है। स्व को जानता हुआ ज्ञान, राग की एकता के वेदन से रहित है; इसलिये निर्विकल्प है।

स्वसम्वेदनपूर्वक वस्तु की प्रतीति में भेद नहीं है; परन्तु वह ज्ञान राग से भिन्न होकर ज्ञानस्वभाव को जानता है, तब बुद्धिपूर्वक राग नहीं है और जो वर्तमान में अबुद्धिपूर्वक अस्थिरता के विकल्प वर्तते हैं, उनकी मुख्यता नहीं है, मात्र ज्ञानानन्द का ही वेदन है — इस अपेक्षा निर्विकल्प कहते हैं।

शुद्धात्मा ही उपादेय है — इसकी रुचि और मुख्यतापूर्वक अन्दर एकाग्र होने पर राग की तथा राग के विषयों की मुख्यता नहीं है। परसन्मुखता का अभाव हुआ, इसलिए निर्विकल्प कहलाता है।

जब ज्ञान ने अपने ज्ञानस्वभावी आत्मा को जाना, तब आत्मा के अतिरिक्त और भी जो अनिच्छित विकल्प विद्यमान थे, ज्ञान का स्व-पर प्रकाशक स्वभाव होने से उस समय भी ज्ञान में उन्हें जानने की सामर्थ्य है। ज्ञान का स्व-पर प्रकाशक स्वभाव ही ऐसा है कि वह राग को भी जानता है, भले ही उस समय 'यह राग है' — ऐसा भेद करके नहीं जानता हो, पर स्वसम्वेदन ज्ञान स्व-पर प्रकाशक सामर्थ्य सहित ही प्रगट हुआ है। आत्मा ज्ञानस्वभावी है, ज्ञान का स्वभाव जानने का है। अत: वह स्व-पर प्रकाशक सामर्थ्यसहित ही प्रगट हुआ है।

ज्ञान, ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा को जानने के समय राग को नहीं जानने की अपेक्षा निर्विकल्प है, परन्तु ज्ञान गौणरूप से विद्यमान राग को जानता ही न हो — ऐसा नहीं

है। सूक्ष्म राग को भी जानने की सामर्थ्य तो ज्ञानस्वभाव में उस समय भी है। स्वभावसन्मुखता के समय राग का प्रतिभास मुख्यरूप से नहीं होता, पर स्व-पर प्रकाशक स्वभाव तो उस समय भी है। राग को प्रगटरूप से उपयोग में नहीं लेने पर भी ज्ञान स्व-परप्रकाशक सामर्थ्यवाला तो है ही।

जो ज्ञान बुद्धिपूर्वक का विकल्प तोड़कर मात्र आनन्दस्वरूप ज्ञान को ही जानता है, वह सविकल्प है और उसी समय गौणरूप से विद्यमान राग को भी जानने के कारण ज्ञान निर्विकल्प है। अत: ज्ञान स्व को तथा राग को जानने की सामर्थ्यवाला होने से स्व-परप्रकाशक है।

इस प्रकार सविकल्प-निर्विकल्प तथा स्व-परप्रकाशक ज्ञान का व्याख्यान, आगमशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र तथा तर्कशास्त्र के अनुसार किया जाए तो बहुत बढ़ जाएगा। यहाँ अध्यात्मशास्त्र होने के कारण अधिक विस्तार नहीं किया है।

इस प्रकार रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग के दूसरे चरण सम्यग्ज्ञान का वर्णन पूरा हुआ।

❖❖❖

अहो! ऐसी दशा का नाम चारित्र या मुनिपना

अहो! जिन्होंने आत्मा को हथेली की रेखा के समान अन्दर में देखा है, वे मुनि हैं। उन्होंने सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने पर पहले से ही 'आत्मा ऐसा है' - यह देखा और जाना था; इसलिए उन धर्मात्माओं को आगे बढ़कर स्वरूप में स्थिर होने में कोई आश्चर्य की बात नहीं है, यह तो उनका स्वरूप ही है। अहो! उनका अवतार धन्य है न!

भगवान आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है। सत् + चित् + आनन्द अर्थात् शाश्वत ज्ञान और आनन्द का सागर है। उसमें शरीर, वाणी और मन तो नहीं; परन्तु दया, दान, व्रत का राग/विकल्प भी नहीं है। उस आत्मा में बसना, अतीन्द्रिय आनन्द में स्थिर होना सत्पुरुषों के लिए आश्चर्यकारी बात नहीं है, क्योंकि वह धर्मात्मा की स्थिति ही है, वैसी ही उनकी दशा है, वैसा ही उनका स्वरूप है। अहो! ऐसी दशा का नाम चारित्र और मुनिपना है।

(- प्रवचन-रत्न चिन्तामणि, ३/५६)

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-४३

अब, विकल्परहित सत्ता का ग्रहण करनेवाले दर्शन का कथन करते हैं —

जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं।
अविसेसिदूण अट्ठे दसणमिदि भण्णए समए॥४३॥

यत् सामान्यं ग्रहणं भावानां नैव कृत्वा आकारम्।
अविशेषयित्वा अर्थान् दर्शनं इति भण्यते समये॥४३॥

अर्थग्राहक निर्विकल्पक और है अविशेष जो।
सामान्य अवलोकन करे जो उसे दर्शन जानना॥४३॥

गाथार्थ :— पदार्थों में विशेषपना किये बिना (भेद किये बिना), आकार अर्थात् विकल्प किये बिना, पदार्थों का जो सामान्यरूप से (सत्तावलोकनरूप) ग्रहण उसे परमागम में दर्शन कहा जाता है।

टीका :— **'जं सामण्णं गहणं भावाणं'** जो सामान्यरूप से अर्थात् सत्तावलोकनरूप से ग्रहण करना - परिच्छेदन करना; किसका ग्रहण करना ? पदार्थों का-भावों का ग्रहण करना; किस प्रकार ? **'णेव कट्टुमायारं'** नहीं करके, क्या नहीं करके ? आकार अथवा विकल्प; वह भी क्या करके ? **'अविसेसिदूण अट्ठे'** पदार्थों का विशेष (भेद) न करके; किस रूप से ? यह सफेद है, यह काला है, यह दीर्घ है, यह ह्रस्व है, यह घट है, यह पट है इत्यादिरूप से; **'दंसणमिदि भण्णए समए'** वह परमागम में सत्तावलोकनरूप दर्शन कहलाता है। इस दर्शन को ही तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षणयुक्त सम्यग्दर्शन नहीं कहना। किसलिये नहीं कहना ? क्योंकि वह श्रद्धान तो विकल्परूप है और यह दर्शन विकल्परहित है। यहाँ तात्पर्य यह है — जब कोई भी कुछ भी अवलोकन करता है-देखता है, तब जब तक वह विकल्प नहीं करता, तब तक सत्तामात्र के ग्रहणरूप दर्शन कहलाता है, तत्पश्चात् शुक्ल आदि विकल्प होने पर ज्ञान कहलाता है॥४३॥

गाथा ४३ पर प्रवचन

जो पदार्थों में विशेष-भेद किये बिना, आकार-विकल्प किये बिना पदार्थों को सामान्यरूप से ग्रहण करता है, उसे परमागम में दर्शन कहते हैं।

यह मोक्षमार्ग अधिकार चलता है, इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र — ये तीन अङ्ग हैं, जिनमें से सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान का वर्णन तो पिछली गाथाओं में हो चुका है। सम्यक्चारित्र का आगे करेंगे। यहाँ दर्शनोपयोग की चर्चा करते हैं।

छद्मस्थ को ज्ञान होने से पहले जो अन्तर्मुख व्यापार होता है, उसे दर्शन कहते हैं। केवली भगवान के ज्ञान तथा दर्शन एक साथ होता है। मैं चैतन्य हूँ, यह जड़ है; यह हरा है, यह काला है — ऐसा भेद किये बिना जो अन्तर में अभेद व्यापार-देखना होता है, उसे परमागम में दर्शनोपयोग कहते हैं।

जो सामान्य अवलोकन अर्थात् 'समस्त पदार्थ हैं' — ऐसा अभेद व्यापार है, वह दर्शनोपयोग है। दर्शनोपयोग परपदार्थों में तो भेद नहीं करता, पर अपने में भी भेद नहीं करता। 'सभी सत् हैं' — उन्हें भेद किये बिना देखनेवाला दर्शनोपयोग है। दर्शनोपयोग में चक्षुदर्शनादि भेद हैं, पर उनमें विषय की अपेक्षा अन्तर नहीं है। केवली भगवान के केवलदर्शन में भी सामान्यपना है और छद्मस्थ के चक्षुदर्शन एवं अचक्षुदर्शन में भी सामान्यपना ही है। सामान्य का अर्थ 'सब एक समान जानते हैं' — यह नहीं है; परन्तु कोई भी दर्शन भेद करके नहीं देखता, सब सामान्यपने भेद किये बिना ही देखते हैं।

अवधिदर्शन तथा चक्षुदर्शन की सामर्थ्य में भेद-अन्तर है, सामर्थ्य हीनाधिक है। केवलदर्शन की सामर्थ्य सबसे अधिक है; इसलिए वह सामान्य समेटकर विशेष हो जाता हो — ऐसा नहीं है। केवलदर्शन के सामान्य की सामर्थ्य तथा चक्षुदर्शन के सामान्य की सामर्थ्य में अनन्तगुणा फेर है-अन्तर है। केवलदर्शन की सामर्थ्य अनन्तगुणी है तो भी उसके सामान्यत्व में कोई अन्तर नहीं पड़ता। अभेद जानने की अपेक्षा सभी में समानता है अर्थात् किसी के विषय में कोई भेद नहीं है।

प्रत्येक पदार्थ को ज्ञान भिन्न-भिन्न जानता है, परन्तु दर्शन 'समस्त वस्तुएँ सामान्यपने हैं' — ऐसा जानता है। नरक है, मोक्ष है, मोक्षमार्ग है, सिद्ध है; इस प्रकार सबके भेद किये बिना जीव में देखने की जो सामर्थ्य है, वह दर्शन है और प्रत्येक वस्तु पृथक्-पृथक् है — इस प्रकार भेद करके जानने की जो सामर्थ्य है, वह ज्ञान है।

प्रश्न - दर्शनोपयोग नहीं माना जाए तो क्या बाधा आयेगी ?

उत्तर - यदि दर्शनोपयोग को नहीं माना जाए तो सब सामान्य हैं — यह बात ही

नहीं रहती। केवली भगवान के केवलज्ञान तथा केवलदर्शन एक समय में ही हैं तो भी दोनों का विषय तो पृथक्-पृथक् है।

समस्त पदार्थों में भेद किये बिना तथा अपने में भी भेद किये बिना देखना दर्शनोपयोग का कार्य है। महासत्ता अर्थात् समस्त पदार्थों का अस्तित्व, यह दर्शन का विषय है। दर्शन स्वयं अपने में भेद नहीं करता और उसके विषय में भी भेद नहीं होता। यह घट है, यह पट है, यह सफेद है, यह काला है — ऐसा भेद किये बिना अभेद मात्र को दर्शन ग्रहण करता है। इसे परमागम में सत्तावलोकनरूप दर्शन कहते हैं।

जिसे अपना हित करना है, उसे आत्मा का जैसा स्वभाव है, वैसे जानना चाहिए। आत्मा शुद्ध चैतन्यमय है। जीवादि नव पदार्थों की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहते हैं। संशय, विमोह, विभ्रम आदि त्रिदोषरहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।

आत्मा दशावान-पर्यायवान स्वतन्त्र वस्तु है और उसकी दशा-पर्याय स्वतन्त्र है, जड़ सत् है, उसका पलटना भी स्वतन्त्र है। आत्मा है, जड़ है, उनकी शक्तियाँ हैं, उनका पलटना है। जीव में शुद्ध और अशुद्धरूप परिणमन है — ऐसा है, यह चैतन्य ही जानता है, जड़ नहीं। आत्मा चैतन्यपदार्थ है और उसका चेतना स्वभाव है। इसमें दर्शन तथा ज्ञान ऐसे दो गुण हैं। भेद किये बिना 'सभी हैं', जो ऐसा देखता है, उसे दर्शनोपयोग कहते हैं।

आत्मा है, पर्याय है — इस प्रकार 'है-है पना' देखना, यह दर्शनोपयोग का कार्य है। सर्वज्ञ परमात्मा को दर्शनोपयोग की पूर्ण पर्याय प्रगट हो गई है और छद्मस्थ के दर्शनपर्याय अधूरी है।

प्रश्न - नव तत्त्व की श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन में तथा इस गाथा में कथित दर्शनोपयोग में क्या अन्तर है ?

उत्तर - आत्मा आदि नव पदार्थ की प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन तो श्रद्धागुण की निर्मल पर्याय है और सामान्य अवलोकन दर्शनगुण की पर्याय है। दोनों भिन्न-भिन्न हैं। यहाँ स्वसहित नव तत्त्व की प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन की बात नहीं है; क्योंकि वह श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन विकल्परूप है और यह सामान्य अवलोकन विकल्परहित अर्थात् निर्विकल्प है।

यहाँ ज्ञानप्रधान सम्यक्त्व की व्याख्या होने से ज्ञानपूर्वक होनेवाली श्रद्धा को सम्यक्त्व कहा है, इसलिए सम्यक्त्व को विकल्परूप कहा है। सम्यग्दर्शन सम्पूर्ण आत्मा को ध्येय बनाता है, लेकिन यहाँ नव तत्त्व की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा है। जीव शुद्ध है, हिंसादि का भाव पाप है, दया-दानादि का भाव पुण्य है और पाप-पुण्य से आस्रव तथा बन्ध होता है। आत्मा के आश्रय से संवर, निर्जरा तथा मोक्ष होता है।

इस प्रकार नव तत्त्व को भेदपूर्वक जानना विकल्प है; यहाँ विकल्प का अर्थ राग नहीं है, परन्तु भेदपूर्वक जानना है; इसलिए सम्यग्दर्शन को विकल्परूप कहा है।

प्रवचनसार में सम्यग्दर्शन की व्याख्या ज्ञेयतत्त्व और ज्ञातृतत्त्व की प्रतीतिरूप कही है। यहाँ ज्ञानप्रधान व्याख्या है, यहाँ भी यही बात है। सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञान होता है — ऐसा अभेदपना बताने के लिए श्रद्धा में ज्ञान के विकल्पपने का आरोप किया है। नव तत्त्व की प्रतीति, वह विशेषरूप दशा है, इसलिए यहाँ सम्यग्दर्शन को विकल्प रूप कहा है।

ज्ञान होने से पूर्व हुआ सामान्य व्यापार दर्शनोपयोग है, वह निर्विकल्प है। छद्मस्थ सम्यग्ज्ञानी को जब दर्शन लब्धि में होता है, तब ज्ञान उपयोग में होता है और जब ज्ञान लब्धि में होता है, तब दर्शन उपयोग में होता है तथा सम्यग्दर्शन तो दोनों अवस्थाओं में रहता ही है। केवली को दर्शन, ज्ञान तथा सम्यग्दर्शन तीनों एक साथ ही प्रगटरूप होते हैं।

यहाँ कहते हैं कि छद्मस्थ ज्ञानी को ज्ञान उपयोगरूप हो या लब्धिरूप हो, सम्यग्दर्शन तो दोनों अवस्थाओं में रहता ही है। सम्यग्दर्शन के समय सम्यग्ज्ञान तो होता ही है, चाहे लब्धरूप हो या उपयोगरूप — ऐसे सम्यग्ज्ञान का अविनाभावी मानकर श्रद्धा को सविकल्प माना गया है।

छद्मस्थ को ज्ञान-दर्शन उपयोगरूप क्रम से होने पर भी प्रतीति तो एक साथ ही होती है, चाहे लब्धरूप ज्ञान में हो या उपयोगरूप ज्ञान में, इसलिए श्रद्धा तथा ज्ञान को अविनाभावी जानकर श्रद्धा को सविकल्प कहा है और सामान्य को ग्रहण करनेवाले दर्शनोपयोग को निर्विकल्प कहा है।

अज्ञानी को भी अनादि से दर्शनोपयोग है, परन्तु उसके सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान

का अविनाभाव नहीं है। दर्शनोपयोग के साथ सम्यग्दर्शन होता ही हो — ऐसा नियम नहीं है। दर्शनोपयोग के समय सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान हो भी अथवा न भी हो; परन्तु सम्यग्दर्शन के समय सम्यग्ज्ञान तो होता ही है और सम्यग्ज्ञान के समय सम्यग्दर्शन भी होता ही है — ऐसा नियम है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का अविनाभाव सम्बन्ध है, इसलिए सम्यग्दर्शन को सविकल्प कहा है।

आचार्य कहते हैं कि भाई! चिदानन्द आत्मा की प्रतीति कर, तो तेरा बेड़ा पार। एक समय की कमाई तू अनन्तकाल तक खा! जो ज्ञान अनादि काल से विकार में तथा राग में अटककर शरीर को ही मैं मानता रहा है, यदि वह ज्ञान पलटकर अपने चैतन्यरूप में अपनत्व करे तो क्षणभर में जात्यन्तर होकर केवलज्ञान प्रगट कर ले। सम्यग्दर्शन का सहचारी होने से ज्ञान सम्यक् हुआ, जात्यन्तर हुआ। सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान का एक क्षण का भी विरह नहीं होता।

शङ्का - यहाँ सम्यग्दर्शन को सविकल्प कहा है और पञ्चाध्यायी में निर्विकल्प कहा है — इन दोनों की अपेक्षा स्पष्ट करें।

समाधान - पञ्चाध्यायी में ऐसा कहा है कि ज्ञान स्व-पर को जानता है, अतः ज्ञान सविकल्प है और ज्ञान के अलावा सम्यक्त्व आदि अन्य सभी गुण सत्तारूप में हैं, वे स्वयं, स्वयं को तथा पर को — इस प्रकार दोनों को नहीं जानते; इसलिए निर्विकल्प हैं। इस अपेक्षा वहाँ सम्यग्दर्शन को निर्विकल्प कहा है और यहाँ ज्ञान के अविनाभावीपने की अपेक्षा सविकल्प कहा है।

मैं आत्मा हूँ और यह जड़ है — इत्यादि भेद किये बिना दर्शनोपयोग जानता है। राजवार्तिक में दृष्टान्त दिया है कि एक मनुष्य ने तलघर में जन्म लिया और २०-२५ वर्ष तक वहीं रहा। तलघर में एकदम अन्धकार होने से वह आँख के विषय में भेद नहीं कर सकता, पर तलघर से बाहर आने पर यह प्रकाश है, यह अन्य पदार्थ है — ऐसा भेदपूर्वक जानने लगा।

अन्धेरे में अभेद को जानना दर्शन का दृष्टान्त है और बाहर में भेदपूर्वक जानना ज्ञान का दृष्टान्त है।

यह वस्तु सुन्दर है, यह रूपवान है — ऐसा भेदपूर्वक जाननेवाला ज्ञान है और अभेद का व्यापार दर्शन है। इस प्रकार का व्यापार अनादि से प्रत्येक जीव को है। ❖❖❖

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-४४

अब, छद्मस्थों को ज्ञान, सत्तावलोकनरूप दर्शनपूर्वक होता है और मुक्तजीवों को दर्शन और ज्ञान एक साथ ही होता है — ऐसा प्रतिपादन करते हैं —

दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवउग्गा।
जुगवं जह्मा केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि॥४४॥

दर्शनपूर्व्वं ज्ञानं छद्मस्थानां न द्वौ उपयोगौ।
युगपत् यस्मात् केवलिनाथे युगपत् तु तौ द्वौ अपि॥४४॥

जिनवर कहें छद्मस्थ के हो ज्ञान दर्शनपूर्वक।
पर केवली के साथ हों दोनों सदा यह जानिये॥४४॥

गाथार्थ :— छद्मस्थ जीवों को दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है, क्योंकि छद्मस्थों को ज्ञान और दर्शन ये दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते हैं। केवली भगवान को ज्ञान और दर्शन ये दोनों उपयोग एक साथ ही होते हैं।

टीका :— **'दंसणंपुव्वं णाणं छदमत्थाणं'** छद्मस्थ-संसारी जीवों के सत्तावलोकनरूप दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है। क्यों ? **'ण दोण्णि उवउग्गा जुगवं जह्मा'** क्योंकि छद्मस्थों के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग — ये दोनों एक साथ नहीं होते। **'केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि'** केवली भगवान के ज्ञान और दर्शन उपयोग दोनों एक ही साथ होते हैं।

उसका विस्तार — चक्षु आदि इन्द्रियों के अपने-अपने क्षयोपशम प्रमाण अपने योग्य स्थान में स्थित रूपादि विषयों का ग्रहण करना, वही सन्निपात सम्बन्ध अथवा सन्निकर्ष कहलाता है, परन्तु नैयायिक मत की भाँति चक्षु आदि इन्द्रियों का जो रूपादि अपने-अपने विषयों के पास जाना, उसे सन्निकर्ष न कहना। ऐसा सम्बन्ध जिसका लक्षण है —ऐसे लक्षणयुक्त निर्विकल्प सत्तावलोकनरूप दर्शन है; उस दर्शनपूर्वक 'यह सफेद हैं' इत्यादि अवग्रहादि विकल्परूप, इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होनेवाला मतिज्ञान है। उक्त लक्षण वाले मतिज्ञानपूर्वक धुएँ से अग्नि का ज्ञान होता है, उसी प्रकार एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ के ग्रहणरूप 'लिङ्ग' (चिह्न से उत्पन्न होनेवाला) और घटादि शब्दों के श्रवणरूप 'शब्दज' (शब्द से उत्पन्न होने०वाला) — ऐसा दो प्रकार का श्रुतज्ञान है।

अवधिज्ञान, अवधिदर्शनपूर्वक होता है। ईहा (नामक) मतिज्ञानपूर्वक मन:पर्ययज्ञान होता है।

यहाँ श्रुतज्ञान और मन:पर्ययज्ञान को उत्पन्न करने वाला, अवग्रह-ईहा आदिरूप से मतिज्ञान कहा है, वह मतिज्ञान भी दर्शनपूर्वक उत्पन्न होने से उपचार से दर्शन कहलाता है; इस कारण श्रुतज्ञान और मन:पर्ययज्ञान — ये दोनों भी दर्शनपूर्वक जानना। इस प्रकार छद्मस्थों को आवरणवाला क्षायोपशमिक ज्ञान होने से दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है। केवली भगवान को निर्विकार स्वसम्वेदन से उत्पन्न निरावरण क्षायिक ज्ञान होने से, मेघरहित सूर्य के युगपद् आतप और प्रकाश की भांति, दर्शन और ज्ञान (दोनों) युगपद् ही होते हैं — ऐसा जानना।

प्रश्न - छद्मस्थ शब्द का अर्थ क्या है ?

उत्तर - 'छद्म' शब्द से ज्ञानावरण और दर्शनावरण — ये दो कहे जाते हैं; उस छद्म में जो रहता है, वह छद्मस्थ है।

इस प्रकार तर्क के अभिप्राय से सत्तावलोकनरूप दर्शन का व्याख्यान किया।

अब, आगे सिद्धान्त के अभिप्राय से कथन किया जाता है। वह इस प्रकार :— उत्तर (आगे के) ज्ञान की उत्पत्ति के लिये जो प्रयत्न, उसरूप जो अपने आत्मा का परिच्छेदन-अवलोकन वह दर्शन कहलाता है। तत्पश्चात् बाह्य विषय में विकल्परूप से जो पदार्थों का ग्रहण है, वह ज्ञान है; यह वार्तिक है। जैसे कोई मनुष्य पहले घट सम्बन्धी विकल्प करता है, तत्पश्चात् पट का ज्ञान करने की इच्छा होने पर वह घट के विकल्प से हटकर (निवृत्त होकर) जो स्वरूप में प्रयत्न-अवलोकन-परिच्छेदन करता है, वह दर्शन है। तत्पश्चात् 'यह पट है' — ऐसा निश्चय अथवा बाह्य विषयरूप से पदार्थ के ग्रहणरूप जो विकल्प करता है, वह ज्ञान कहलाता है।

यहाँ शिष्य पूछता है — जो आत्मग्राहक (अपना ग्रहण करने वाला) वह दर्शन और परग्राहक (पर को जानने वाला) वह ज्ञान कहा जाए तो जिस प्रकार नैयायिक मत में ज्ञान आत्मा को नहीं जानता है; उसी प्रकार जैनमत में भी ज्ञान आत्मा को नहीं जानता है — ऐसा दूषण प्राप्त होता है। **उसका समाधान** — नैयायिकमत में ज्ञान भिन्न और दर्शन भिन्न इस प्रकार दो गुण नहीं हैं। इस कारण उनको (नैयायिकों को) आत्मा के ज्ञान के अभावरूप दोष प्राप्त होता है, परन्तु जैनमत में तो (आत्मा) ज्ञानगुण से परद्रव्य

को जानता है और दर्शनगुण से आत्मा को जानता है — इस प्रकार आत्मा के ज्ञान के अभावरूप दोष प्राप्त नहीं होता है। यह दोष क्यों नहीं प्राप्त होता है ? जिस प्रकार एक ही अग्नि जलाती है, अतः वह दाहक है और पकाती है; अतः वह पाचक है; विषय के भेद से अग्नि (दाहक और पाचक) ऐसे दो प्रकार के भेदरूप होती है; उसी प्रकार अभेदनय से चैतन्य एक ही होने पर भी भेदनय की विवक्षा में जब आत्मा का ग्रहण करने में प्रवृत्त होता है, तब उसको 'दर्शन' ऐसा नाम मिलता है और तत्पश्चात् जब परपदार्थ का ग्रहण करने में प्रवृत्त होता है, तब उसको 'ज्ञान' नाम मिलता है — इस प्रकार विषय के भेद से चैतन्य के दो भेद होते हैं। विशेष यह है कि यदि दर्शन को सामान्य का ग्राहक और ज्ञान को विशेष का ग्राहक कहा जाए तो ज्ञान को प्रमाणपना प्राप्त नहीं होता है।

प्रश्न - किस प्रकार ?

उत्तर - वस्तु को ग्रहण करता है, वह प्रमाण है। वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है। ज्ञान ने वस्तु के एकदेश का अर्थात् विशेष का ही ग्रहण किया, वस्तु का ग्रहण नहीं किया। सिद्धान्त से तो निश्चयनय की अपेक्षा से गुण और गुणी अभिन्न हैं, अतः संशय, विमोह और विभ्रमरहित वस्तु का जो ज्ञान, वह ज्ञानस्वरूप आत्मा ही प्रमाण है; वह दीपक की भाँति स्व और पर के सामान्य और विशेष को जानता है, इस कारण अभेदरूप से उसी को (उस आत्मा को ही) प्रमाणपना है।

शङ्का - यदि दर्शन बाह्यविषय का ग्रहण नहीं करता तो अन्धे की भाँति सब मनुष्यों को अन्धपने का प्रसङ्ग आता है।

उत्तर - ऐसा नहीं कहना चाहिए; क्योंकि बाह्य विषय में दर्शन का अभाव होने पर भी (अर्थात् उसमें दर्शन प्रवृत्त नहीं होने पर भी) आत्मा ज्ञान द्वारा विशेषरूप सब पदार्थों को जानता है तथा यह विशेष है — जब दर्शन द्वारा आत्मा का ग्रहण होता है तब आत्मा के साथ अविनाभूत ज्ञान का भी (दर्शन द्वारा) ग्रहण हो जाता है और ज्ञान का ग्रहण होने पर ज्ञान के विषयभूत बाह्य वस्तु का भी ग्रहण हो जाता है।

प्रश्न — जो आत्मा को ग्रहण करता है, उसे आप यदि दर्शन कहते हो तो 'जो पदार्थों का सामान्य ग्रहण वह दर्शन है', इस गाथा का अर्थ आपके कथन में किस प्रकार घटित हो सकता है ?

उत्तर - 'सामान्य ग्रहण' अर्थात् 'आत्मा का ग्रहण'; वह दर्शन है।

प्रश्न — 'सामान्य' का अर्थ 'आत्मा' किस प्रकार है ?

उत्तर — आत्मा, वस्तु का ज्ञान करते हुए, 'मैं इसको जानूँ' और 'इसको न जानूँ' ऐसा विशेष-पक्षपात नहीं करता है, परन्तु सामान्यरूप से वस्तु को जानता है, इस कारण 'सामान्य' शब्द द्वारा 'आत्मा' कहा जाता है — इस प्रकार गाथा का अर्थ है। अधिक कहने से क्या ? जो कोई भी तर्क और सिद्धान्त का अर्थ जानकर, एकान्त दुराग्रह का त्याग कर, नयविभाग द्वारा मध्यस्थवृत्ति रखकर व्याख्यान करता है तो दोनों ही अर्थ (तर्क के और सिद्धान्त के) सिद्ध होते हैं। किस प्रकार से सिद्ध होते हैं ? तर्क में मुख्यता से अन्यमत का व्याख्यान है; वहाँ जब कोई अन्यमती पूछता है कि जैन सिद्धान्त में जीव के दर्शन और ज्ञान ये दो गुण कहे हैं, वे किस प्रकार घटित होते हैं ? तब उसे कहते हैं — 'जो आत्मा को ग्रहण करता है, वह दर्शन है' तो वे समझ नहीं सकते हैं। अतः आचार्यों ने उन्हें प्रतीति कराने के लिये स्थूल व्याख्यान से बाह्यविषय में जो सामान्य का ग्रहण है, उसका नाम सत्तावलोकनरूप दर्शन स्थापित किया और जो 'यह सफेद है' इत्यादि विशेष परिच्छेदन हुआ, उसे ज्ञान संज्ञा से स्थापित किया — इस प्रकार दोष नहीं है। सिद्धान्त में मुख्यरूप से स्वसमय का व्याख्यान होता है; वहाँ सूक्ष्म व्याख्यान करते हुए आचार्यों ने 'जो आत्मा को ग्रहण करता है, वह दर्शन है' इस प्रकार व्याख्यान किया। इस प्रकार से इसमें भी दोष नहीं हैं।

यहाँ शिष्य शङ्का करता है — सत्तावलोकनरूप दर्शन का ज्ञान के साथ भेद ज्ञात होता है, परन्तु तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन और वस्तुविचाररूप सम्यग्ज्ञान — इन दो में भेद ज्ञात नहीं होता है। यदि कहते हो कि 'क्यों नहीं ज्ञात होता है ?' तो कहते हैं कि सम्यग्दर्शन में पदार्थ का निश्चय है, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान में भी है तो उनमें क्या अन्तर है ?

समाधान — पदार्थ के ग्रहण में जाननेरूप क्षयोपशम-विशेष 'ज्ञान' कहलाता है और उस ज्ञान में ही भेदनय से, वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कथित शुद्धात्म आदि तत्त्वों में 'यही है, इस प्रकार ही है' ऐसा निश्चय, वह सम्यक्त्व है। निर्विकल्प अभेदनय से तो जो सम्यग्ज्ञान है, वही सम्यग्दर्शन है।

शङ्का — ऐसा किस प्रकार है ?

समाधान — 'अतत्त्व में तत्त्वबुद्धि, अदेव में देवबुद्धि, अधर्म में धर्मबुद्धि' इत्यादि विपरीत अभिनिवेशरहित ज्ञान ही 'सम्यक्' विशेषण से वाच्य (कहने योग्य) अवस्था विशेष को सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

शङ्का - यदि (सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में) भेद नहीं है तो दो गुणों के घातक ज्ञानावरण और मिथ्यात्व — दो कर्म कैसे कहे हैं ?

समाधान — जिस कर्म से पदार्थ को जाननेरूप क्षयोपशम ढँका जाता है, उसका नाम 'ज्ञानावरण' है और उस क्षयोपशम विशेष में जो कर्म पूर्वोक्त लक्षणयुक्त विपरीत अभिनिवेश को उत्पन्न करता है, उसका नाम 'मिथ्यात्व' है। इस प्रकार भेदनय से आवरण में भेद है। निश्चयनय से तो अभेद विवक्षा में कर्मपने की अपेक्षा से तो दो आवरणों को भी एक ही जानना चाहिए।

इस प्रकार दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है, इस कथन रूप से गाथा पूर्ण हुई॥४४॥

गाथा ४४ पर प्रवचन

छद्मस्थ जीवों को दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है, क्योंकि छद्मस्थों को ज्ञान और दर्शन — ये दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते। केवली भगवान को ज्ञान और दर्शन दोनों उपयोग एक साथ ही होते हैं।

छद्मस्थ अर्थात् संसारी जीवों के प्रथम सामान्य अवलोकनमात्र दर्शनोपयोग होता है, पश्चात् विशेष देखनेरूप ज्ञानोपयोग होता है; क्योंकि छद्मस्थ को ज्ञानोपयोग तथा दर्शनोपयोग दोनों एक समय में एक साथ नहीं होते हैं।

'यह काला है, यह सफेद है' — ऐसा जानने से पहले जो दर्शनोपयोग का व्यापार होता है, वह चक्षुदर्शन है। कान से सुनने में आने से पूर्व जो दर्शनोपयोग का व्यापार होता है, वह अचक्षुदर्शन है। इसी प्रकार स्पर्शादि शेष चार इन्द्रियों के ज्ञान से पूर्व होने वाले सामान्य व्यापार को भी अचक्षुदर्शन कहते हैं।

भले ही क्षेत्र तथा काल की अपेक्षा पदार्थ दूर हो, पर इन्द्रियज्ञान के क्षयोपशम की योग्यतानुसार चक्षु आदि इन्द्रियाँ अपने-अपने योग्य पदार्थों को जानती हैं। इसे ही सम्बन्ध अथवा सन्निकर्ष कहते हैं।

जब एक पदार्थ का ज्ञान होता है, तभी अन्य दूसरे पदार्थों की तरफ भेद किये बिना जो व्यापार होता है, उसे दर्शन कहा गया है।

चक्षु आदि इन्द्रियाँ अपने-अपने योग्य विषय के पास जाकर उन्हें स्पर्श करके जानती हैं, नैयायिक मत में इस प्रकार के जानने को सन्निकर्ष कहते हैं; परन्तु वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है, क्योंकि चक्षु अग्नि के पास जाकर अर्थात् अग्नि को छूकर नहीं जानती, वह तो अग्नि को दूर से ही जान लेती है। पदार्थ की ओर झुकाव होना ही सन्निकर्ष है और यही दर्शनोपयोग का लक्षण है।

पदार्थ पास में हो या दूर हो, इससे कोई सम्बन्ध नहीं है; परन्तु पदार्थ का ज्ञान होने से पहले जो सामान्य अवलोकनमात्र होता है, वह दर्शनोपयोग है और उस पदार्थ के साथ सामान्य व्यापाररूप सम्बन्ध होना सन्निकर्ष अथवा सम्बन्ध है तथा यह सन्निकर्ष निर्विकल्प अवलोकनरूप दर्शन का लक्षण है।

आत्मा वस्तु है, चैतन्य उसका स्वभाव है, उसमें दर्शनगुण है, क्षयोपशमानुसार अपने-अपने विषय की तरफ झुकाव होना दर्शन है। 'यह रूप है' इस प्रकार भेदसहित जानने को ज्ञान कहते हैं और भेदसहित जानने से पहले आत्मा का उस तरफ उन्मुख होना दर्शनोपयोग है — यह व्याख्या तत्त्वार्थसार में है। उन्मुखता अर्थात् विपरीतता नहीं है, परन्तु सन्मुखता समझना चाहिए।

भेद किये बिना होनेवाले चेतन के व्यापार को दर्शन कहते हैं।

'यह राग है, यह जड़ है, यह कलुषता है, आत्मा शुद्ध है' — ऐसा भेदपूर्वक जानना ज्ञान है। मतिज्ञान अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप पाँच इन्द्रिय तथा मन द्वारा होता है। मतिज्ञान दर्शनोपयोग होने के बाद होता है।

अब, इसके बाद होने वाले श्रुतज्ञान की चर्चा करते हैं —

जिस प्रकार गगन में (आकाश में) उड़ता हुआ धुआँ देखकर अग्नि का ज्ञान होता है; उसी प्रकार एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ का ज्ञान होना, वह लिङ्गज अर्थात् चिह्न द्वारा उत्पन्न होने वाला श्रुतज्ञान है तथा 'घट' — ऐसा शब्द सुनकर मतिज्ञान हुआ और इस घट शब्द से जो घट पदार्थ का ज्ञान हुआ, यह शब्दज अर्थात् शब्दों द्वारा उत्पन्न होने वाला श्रुतज्ञान है। इस प्रकार श्रुतज्ञान दो प्रकार का है।

अवधिज्ञान, अवधिदर्शन होने के बाद होता है। जीव अवधिज्ञान द्वारा स्वर्ग-नरक को जान सकता है। जो इन्द्रिय के तथा मन के अवलम्बन बिना स्वर्गादि तथा महा

विदेहक्षेत्रादि रूपीपदार्थों को मर्यादासहित प्रत्यक्ष जानता है, वह अवधिज्ञान है तथा अवधिज्ञान से पहले सामान्य अवलोकन को अवधिदर्शन कहते हैं।

मन:पर्ययज्ञान भावलिङ्गी महामुनिराज के ही होता है। वे मन:पर्ययज्ञान द्वारा दूसरे जीवों के मन में होनेवाले विचारों को जान लेते हैं। अपने अलावा अन्य जीव भविष्य में यह विचार करेगा, भूतकाल में यह विचार किया था, ऐसा मन:पर्ययज्ञान जान लेता है। यह ज्ञान ईहा मतिज्ञानपूर्वक होता है। मतिज्ञान तथा अवधिज्ञान की भाँति यह दर्शनपूर्वक नहीं होता।

अवाय मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है और ईहा मतिज्ञानपूर्वक मन:पर्ययज्ञान होता है। मतिज्ञान से पूर्व दर्शन होता है, इसलिए मतिज्ञान को उपचार से दर्शन भी कहते हैं तथा इसी प्रकार उपचार से श्रुतज्ञान और मन:पर्ययज्ञान भी दर्शनपूर्वक जानना चाहिए, क्योंकि छद्मस्थ जीवों को दर्शनपूर्वक ही ज्ञान होता है और केवली भगवान को केवलदर्शन तथा केवलज्ञान एकसाथ होते हैं, वे विकाररहित हैं।

जिस प्रकार बादलों के आवरण से रहित सूर्य में आतप और प्रकाश एक समय में होते हैं; उसी प्रकार सर्व विकारों से रहित शुद्ध चिदानन्द आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले क्षायिकभावस्वरूप केवलज्ञान तथा केवलदर्शन एक समय में होते हैं।

जिसने पर्याय को यथार्थ नहीं जाना, उसने गुण तथा द्रव्य को भी यथार्थ नहीं जाना, इसलिए यहाँ कहते हैं कि केवली भगवान के दर्शन तथा ज्ञान युगपत् होते हैं तथा छद्मस्थ के युगपत् नहीं होते — ऐसा जानना चाहिए।

प्रश्न - गाथा में जो 'छद्मस्थ' शब्द कहा है, उसका क्या अर्थ है ?

उत्तर - छद्म का अर्थ है ज्ञानावरण और दर्शनावरण। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है। उसकी हीन पर्याय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म का निमित्त है, जो ऐसे आवरणसहित होता है, उसे छद्मस्थ कहते हैं।

आत्मा का मूल स्वभाव मुख्यपने ज्ञाता-दृष्टा है, अन्य चारित्रादि गुण भी है, पर यहाँ देखने-जानने की बात चलती है, अत: ज्ञानगुण को मुख्य करके कहा गया है। आँख बन्द हो तो भी आत्मा तो अन्तरङ्ग ज्ञानचक्षु से जान लेता है, इसलिए जानना आत्मा का स्वभाव है। ऐसे आत्मा के अवलम्बन से मुक्तदशा प्रगट होती है। अपने आत्मा को जाने बिना सब व्यर्थ है। आत्मा को जाने बिना शुभभाव करे तो पुण्य होता है, धर्म नहीं।

जानना-देखना आत्मा का स्वरूप है। जो समस्त परपदार्थों को सामान्यपने अभेद देखे, उसे दर्शन कहते हैं और जो प्रत्येक पदार्थ को भिन्न-भिन्न रूप से विशेषपने जाने, उसे ज्ञान कहते हैं।

आत्मा में दर्शनगुण पूर्णरूप से भरा है अर्थात् सबको देखना आत्मा का स्वभाव है।

छद्मस्थ जीव को पहले दर्शन होता है, बाद में ज्ञान।

घड़े का ज्ञान होने से पूर्व जो प्रयत्न होता है, वह दर्शन है अथवा आत्मा में जो परविषय रहित आत्मा का सामान्य अवलोकन होता है, उसे दर्शन कहते हैं। दर्शन अर्थात् देखना।

कोई व्यक्ति प्रथम क्षण में ऐसा जान रहा हो कि 'यह मकान है' पश्चात् द्वितीय क्षण उसका लक्ष्य शरीर पर गया, तब उसका ज्ञान मकान से हट गया और शरीर पर पहुँचा नहीं है — यहाँ शरीर का ज्ञान होने से पहले होनेवाले आत्मा के व्यापार को दर्शन जानना।

पहले तर्क शैली में दर्शनगुण को सामान्य सत्तावलोकन लिया था, अब यहाँ आत्मा के अन्तरङ्ग प्रयत्न को दर्शनगुण कह रहे हैं।

परपदार्थ को जानने से पहले अथवा स्व को भी विशेषपने जानने से पहले जो स्व का 'अस्तित्वपने' देखना/सामान्य अवलोकन करना, वह दर्शन है। यहाँ यह 'स्व' है — ऐसा भी भेद नहीं है। अभेद देखना ही दर्शन है। भगवान का दर्शन करना दर्शनोपयोग नहीं है, वह तो ज्ञान है। परवस्तु का ज्ञान होने से पहले जो 'समस्त पदार्थ हैं' उनमें भेद किये बिना स्वसन्मुख प्रयत्न/सामान्य सत्तावलोकन है, वह दर्शनोपयोग है।

यह शरीर तो जड़ का कारखाना, रूपी पदार्थ है और आत्मा ज्ञानानन्दमय अरूपी पदार्थ है — ऐसा आत्मा का स्वरूप जानने से पहले होने वाला व्यापार दर्शन है एवं बाह्यविषयों में भेदपूर्वक पदार्थ का ग्रहण अर्थात् जानपना, ज्ञान है।

एक व्यक्ति 'यह शरीर है' — ऐसा शरीर का ज्ञान करता हो, पश्चात् 'यह आत्मा है' — ऐसा आत्मा के ज्ञान के लिए उद्यत हुआ, तब शरीर का ख्याल छूट गया और अभी आत्मा को जाना नहीं है, इसके बीच में सामान्य अवलोकनरूप जो व्यापार हुआ, वह दर्शन है।

एक व्यक्ति खाता-बही देख रहा था, तब किसी के आवाज देने पर उसे आवाज का ज्ञान अथवा विषय का प्रतिबोध तो नहीं होता, पर उसे जानने के लिए अन्तर में प्रयत्न होता है, उसे दर्शनोपयोग कहते हैं।

सभी पदार्थ हैं, शरीर है, मन है, वाणी है, प्रतिमा है, आत्मा है, सुख है, कर्म है — इत्यादि सभी हैं, तो इन सबको अभेदपने देखनेवाला स्वभाव भी होना चाहिए। जिसका अस्तित्व है अर्थात् जो है, वह नष्ट नहीं होता। अनन्त आत्माएँ, शुद्ध परमात्मा, संसार, विकार तथा और भी जगत की अन्य अनेक वस्तुएँ हैं — इन्हें अभेदरूप से देखनेवाला स्वभाव दर्शन का है।

सभी वस्तुएँ अभेदरूप होते हुए भी भिन्न-भिन्न भी हैं। जैसे — 'यह जड़ है, यह चेतन है, यह सुगन्ध है, यह दुर्गन्ध है' — इस प्रकार सभी भिन्न-भिन्न हैं — ऐसा भिन्न-भिन्नपने जानने का स्वभाव ज्ञान का है।

कोई कहता है कि खड़िया अपने स्वभाव से खाली है तो यह बात झूठ है, क्योंकि खड़िया सफेदाई आदि से भरी हुई है। इसी प्रकार आत्मा अपने स्वभाव से खाली नहीं है, शरीरादि से भिन्न ज्ञाता-दृष्टापने से भरा हुआ है।

आत्मा के दो गुण मुख्य हैं, उनका पृथक्-पृथक् कार्य है। यहाँ दर्शनगुण का कार्य बताया है। अब, आगे ज्ञानगुण की बात करते हैं —

घट का ज्ञान छूटकर पट का ख्याल होना, उसे ज्ञान कहते हैं। ज्ञानस्वभाव स्व-परप्रकाशक है। 'मैं आत्मा हूँ यह शरीर है, राग-द्वेष कृत्रिम है' — ऐसा ज्ञान होना, विशेषबोध है, उसे ज्ञान कहते हैं। ज्ञान का विषय ज्ञेय है। ज्ञान में स्व और पर दोनों ज्ञेय झलकते हैं।

आत्मा का ज्ञान होने से पूर्व 'पुण्य-पाप' ही मेरा स्वरूप है, जो ऐसा जानता था; वह ज्ञान छूटकर आत्मा का ज्ञान होने से पूर्व दर्शनगुण का व्यापार होता है, उसके बाद स्व-सम्वेदन ज्ञान प्रगट होता है।

यह बात सर्वज्ञ के ज्ञान सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं है। आत्मकला बिना दुनिया की समस्त कलाएँ कुम्हार की कला के समान हैं। समस्त लौकिक कलाएँ संसार की ही निमित्त हैं। मोक्ष का मूल उपादानकारण तो त्रिकाली द्रव्यस्वभाव है, उसका आश्रय करने

से केवलज्ञान पर्याय प्रगट होती है। त्रिकालीस्वभाव में से मोक्ष प्रगट होता है, इसलिए त्रिकालीस्वभाव को उपादानकारण कहा है। केवलज्ञान एक समय में तीन काल, तीन लोक को एक साथ जानता है। जिसे ऐसे केवलज्ञान की प्रतीति नहीं है, उसे धर्म नहीं होता।

यह शरीर जीर्ण होकर नाश हो जाता है तथा जब तक रहता है, तब तक अपने आयुकर्म के उदय से रहता है; ऐसे नाशशील शरीर से पृथक् आत्मा के भान बिना अनन्तकाल से भव-भ्रमण किया। अतः अब जड़-शरीर तथा काम-क्रोधादि विकारी भावों से रहित अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का अनुभव करना ही भव-भ्रमण के अभाव करने का एकमात्र उपाय है।

आत्मा अपने स्वभाव से परिपूर्ण भरा हुआ है तथा शरीर एवं विकार से खाली है — ऐसे स्वभाव को जानने से पहले जो सामान्य उपयोग होता है, उसे दर्शनोपयोग कहते हैं तथा जो भेदपूर्वक विशेष जानना होता है, उसे ज्ञानोपयोग कहते हैं।

अब, जिसे कुछ ख्याल आया है और कुछ नहीं आया, उसे शङ्का होती है और वह पूछता है, क्योंकि अज्ञानी को भी शङ्का नहीं होती और पूर्णज्ञानी को भी शङ्का नहीं होती।

यहाँ जो थोड़ा समझा है, वह विशेष पूछता है। शिष्य ने इतना तो ग्रहण किया है कि आत्मवस्तु एक है, उसमें ज्ञान-दर्शन - ऐसे चेतनारूप दो गुण कहना चाहते हैं, अन्य गुण चारित्रादि भी हैं। उनमें अपने को ग्रहण करनेवाला दर्शन और पर को ग्रहण करनेवाले/जाननेवाले को ज्ञान कहते हैं। - ऐसा समझकर शिष्य पूछता है -

प्रश्न - नैयायिकमत में ज्ञान, आत्मा को नहीं जानता, इसी प्रकार यहाँ जैन में भी ज्ञान पर को जानता है - ऐसा कहा तो उस ज्ञान ने स्व को अर्थात् आत्मा को जाना नहीं, तब नैयायिक की तरह दोष आता है ?

समाधान - नैयायिकमत में ज्ञान और दर्शन - ऐसे अलग-अलग गुण मान्य नहीं हैं। आत्मवस्तु एक है, उसमें ज्ञान और दर्शन दो मुख्य गुण हैं, अन्य अनन्त गुण यहाँ गौण हैं। नैयायिकमत में तो ये दो गुण ही नहीं माने गये हैं। वहाँ तो एक ही गुण के दो कार्य माने गये हैं; इसलिए नैयायिकमत में आत्मा के जानने के अभावरूप दूषण प्राप्त होता है अर्थात् आत्मा के ज्ञान न होनेरूप दूषण प्राप्त होता है।

जैनमत में आत्मा ज्ञान से परपदार्थ को जानता है और दर्शन से आत्मा को देखता है; इस कारण आत्मा के ज्ञान के अभावरूप दूषण नहीं आता अर्थात् जैनमत में आत्मा के ज्ञानपना सिद्ध है।

प्रश्न – ऐसा दूषण क्यों नहीं आता ?

उत्तर – जैसे एक अग्नि अपने दहनगुण से परपदार्थ को जलाती है; इसलिए वह दाहक कहलाती है और पाचकरूप दूसरे गुण से अन्य चीजों को पकाती है; इसलिए वह पाचक कहलाती है। उसी प्रकार आत्मा एक वस्तु है। अभेदनय से आत्मा एक चैतन्यस्वभाववाला है तो भी भेदनय से अपनी ओर प्रयत्न करने को दर्शन कहा और पर तरफ अथवा भेदसहित झुकाव हुआ, उसे ज्ञान कहा है। इस प्रकार विषय भेद से चैतन्य के दो स्वभाव कहे गये हैं। स्व को देखे सो दर्शन और पर को जाने सो ज्ञान– ऐसा भेदनय से कहा है। एक ही चैतन्य, दर्शनरूप और ज्ञानरूप भेद से दो प्रकार का होता है।

सामान्य सत्ता को अर्थात् एक अंश को देखे, वह दर्शन और विशेष अर्थात् एक अंश को जाने, वह ज्ञान – यदि ऐसा कहा जाए तो ज्ञान ने सम्पूर्ण वस्तु को नहीं जाना, अतः ज्ञान प्रमाण नहीं होता। दर्शन में भी सम्पूर्ण वस्तु नहीं आने से और ज्ञान में भी सम्पूर्ण वस्तु नहीं आने से वे प्रमाणता को प्राप्त नहीं होते। ज्ञान तो सम्पूर्ण वस्तु को एकसाथ जाने ऐसा है। यदि वह सामान्य को नहीं जाने तो उसे प्रमाणज्ञान नहीं कहा जा सकता; इसलिए सामान्य का अर्थ समस्त पदार्थों का एक अंश ग्रहण करना और विशेष का अर्थ एक अंश ग्रहण करना – ऐसा नहीं है। दर्शन से वस्तुओं का एक भाग और ज्ञान से दूसरा भाग जानने में आता है – ऐसा माना जाए तो वह ज्ञान सच्चा नहीं है।

आत्मा में जो दर्शन और ज्ञानगुण हैं, उनके सम्पूर्ण विषय दो हैं। दर्शन का विषय सारा आत्मा है और ज्ञान का विषय भी पूरा है। जगत के पदार्थों के एक अंश को दर्शन और एक अंश को ज्ञान जानता है – ऐसा नहीं है; अपितु दोनों में सम्पूर्ण की बात लेना है। दर्शन के समय सारा आत्मा अपनी ओर ढलता है और ज्ञान के समय सम्पूर्ण वस्तुओं का ज्ञान होता है। तात्पर्य यह है कि दोनों के विषय अंश नहीं, अपितु पूर्ण हैं। भले ही छद्मस्थ वर्तमान पर्याय में कम पदार्थ जाने, तथापि उसका विषय पूरा है, अंश नहीं – यह यहाँ कहना है। दर्शन का विषय पूरा आत्मा अर्थात् स्व है और ज्ञान का विषय

समस्त पूर्ण पदार्थ अर्थात् पर है; इस प्रकार स्व-पर विषय पूरा होता है। ऐसा जानने से समाधान होता है। समस्त पदार्थों को जानने-देखने का (आत्मा का) स्वभाव है। इन दोनों गुणों के विषय दोनों पूरे हैं - ऐसा सच्चा ज्ञान करे तो स्व-परप्रकाशक स्वभावी आत्मस्वभाव की सन्मुखता का प्रयत्न होकर धर्म प्रगट होता है।

आत्मा दर्शन और ज्ञानस्वभावी है। आत्मा दृष्टा है, दर्शन उसका गुण है और उपयोगरूप कार्य उसकी पर्याय है।

भाई! आत्मा सूक्ष्म है, इसलिए उसे समझने के लिए सूक्ष्मबुद्धि होना चाहिए।

आत्मा, दर्शनगुण द्वारा सामान्य अंश को और ज्ञानगुण द्वारा विशेष अंश को जाने तो ज्ञान प्रमाण नहीं होता और ऐसा होने से आत्मवस्तु सिद्ध नहीं होती।

प्रश्न - प्रमाण क्यों नहीं होता ?

उत्तर - जो सम्पूर्ण वस्तु को ग्रहण करे, उसे प्रमाण कहते हैं। प्रत्येक वस्तु त्रिकाल कायम रहकर प्रतिक्षण पलटती है अथवा शक्तिरूप ध्रुव है, वह सामान्य है और पर्याय अपेक्षा से विशेष है। यदि ज्ञान एक भाग को जाने, सम्पूर्ण वस्तु को नहीं जाने तो आत्मा भी एक अंश को जानेगा, तो फिर आत्मा स्व-पर को पूरा जानता है - यह बात नहीं रहती। आत्मा, शरीरादि तथा पुण्य-पापादि सबका जाननेवाला है। यदि दर्शनगुण से एक सामान्य अंश को और ज्ञान से एक विशेष अंश को जाने तो ज्ञान और आत्मा तो अभेद है; अतः आत्मा भी एक अंश को जानेगा और ऐसा होने से आत्मा प्रमाणरूप नहीं होता।

तर्कशास्त्र की अपेक्षा से कहा कि दर्शन, सामान्य को देखता है और ज्ञान, विशेष को जानता है; परन्तु सिद्धान्त से कहते हैं कि निश्चयनय की अपेक्षा से गुण और गुणी भेदरूप नहीं है। यदि ज्ञान एक अंश को जाने तो वह प्रमाण नहीं होता और इस कारण आत्मा भी पूरा नहीं जानेगा, क्योंकि ज्ञान और आत्मा अलग नहीं है; इसलिए आत्मा अप्रमाण सिद्ध होता है।

आत्मा गुणी है, ज्ञान-दर्शन उसके गुण हैं। यदि उसका ज्ञानगुण एक अंश को जाने तो आत्मा भी एक अंश को जानेगा। ज्ञान राग को नहीं जाने और त्रिकाली द्रव्य को नहीं जाने अथवा सामनेवाले अन्य पदार्थ के एक अंश को जाने, किन्तु पूरे को नहीं

जाने तो आत्मा भी अंश को जानेगा - ऐसा निश्चित होने पर आत्मा स्वतन्त्र परिपूर्ण ज्ञानस्वभावी वस्तु है - यह बात नहीं रहती।

सिद्धान्त में यह कहते हैं कि दर्शन स्व पूरे को जानता है और ज्ञान पर पूरे को जानता है। यदि पूरा नहीं जाने तो आत्मा प्रमाण नहीं रहता। निश्चयनय से गुण-गुणी अभेद है; इसलिए ज्ञान अंश को जानेगा तो आत्मा प्रमाण नहीं होगा। इस कारण संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय - इन तीनों दोषों से रहित जो ज्ञान है, उस स्वरूप ही आत्मा प्रमाण है। यदि ज्ञान अंश को जानता है - ऐसा कहोगे तो ज्ञानस्वभाव सिद्ध नहीं होता और तब ज्ञानस्वभाववान आत्मा भी सिद्ध नहीं होता।

जैसे सोना पन्द्रहवान ताँबे की अपेक्षा से कहलाता है, परन्तु स्वभाव से तो सोना सोलहवान ही है। सोना स्वभाववान है, यदि उसका पीलापन पन्द्रहवान होगा तो सोना भी पन्द्रहवान होगा, परन्तु ऐसा नहीं है। इसी प्रकार आत्मा के ज्ञान-दर्शन स्वभाव में एक को भी कम कहोगे अर्थात् वह वस्तु के एक अंश को जानता-देखता है - ऐसा कहोगे तो उसे स्वभाव नहीं कहा जाता और तब स्वभाववान आत्मा सिद्ध नहीं होता। निचलीदशा में छद्मस्थ जीव थोड़ा जाने, वह बात बात अलग है, परन्तु जो जानता है वह पूरा जानता है, वैसा ज्ञान का स्वभाव है।

यहाँ गुण-गुणी अभेद से बात की है। किसी वस्तु को अपूर्ण/अधूरी कहो तो वह वस्तु ही नहीं है। अन्य चीज की अपेक्षावाली पर्याय अपूर्ण कहलाती है, परन्तु वस्तु अपूर्ण नहीं होती; इसलिए स्वभाव अपूर्ण नहीं होता। आत्मा स्वयंसिद्ध अक्रत्रिम है, किसी का किया नहीं है। यदि वस्तु को किसी ने किया हो तो वह नित्य नहीं हो सकती। आत्मा जानने-देखने के स्वभाववाला है। उसमें ज्ञानगुण पूरी वस्तु को जानता है; किन्तु यदि यह कहो कि एक अंश को जानता है तो द्रव्यस्वभाव सिद्ध नहीं होता।

साधकदशा में कम जाने, यह अलग बात है, परन्तु जिसे जानता है, उस पूरी वस्तु को जानने का उसका स्वभाव है। दर्शन, सामान्यरूप अंश को देखता है और ज्ञान, विशेषरूप अंश को जानता है - ऐसा कहना सत्य नहीं है। सामान्य कहने से आत्मा और विशेष कहने से पर-पदार्थ - ऐसा समझना चाहिए। दर्शन पूरे आत्मा को देखता है और ज्ञान परपदार्थ को पूरे को जानता है।

आत्मा त्रिकाल सत् है। उसका देखने-जानने का स्वभाव है। जो अन्यमती दर्शन और ज्ञान को अलग नहीं मानते, उन्हें समझाना हो तो ऐसा कहा जाता है कि दर्शन सामान्य को देखता है और ज्ञान विशेष को जानता है; परन्तु सिद्धान्त से कहें तो दर्शन पूरे आत्मा को देखता है और ज्ञान परवस्तु को पूरी को जानता है।

प्रश्न - तब तो ज्ञान पर-प्रकाशक हो गया ?

उत्तर - हाँ, यह गुणभेद से बात करनी है न! यहाँ नियमसार की बात नहीं करनी है। यहाँ चेतना के दो स्वभाव परिपूर्ण हैं - यह बात करनी है। प्रत्येक गुण भिन्न-भिन्न परिपूर्ण काम कर रहा है - यह बात सिद्ध करनी है। दर्शन स्व को परिपूर्ण देखता है और ज्ञान पर को परिपूर्ण जानता है - यह बात सिद्ध करनी है। यहाँ दोनों गुणों के परिपूर्ण कार्य का वर्णन करके आत्मा को स्व-परप्रकाशक कहा है और नियमसार में आत्मा को स्व-परप्रकाशक कहकर, अभेददृष्टि से दर्शन और ज्ञान दोनों को स्व-प्रकाशक कहा है। यहाँ नियमसार की विवक्षावाली बात नहीं है।

यहाँ दर्शन स्व को देखता है और ज्ञान पर को जानता है। इसमें तू यह कहता है कि दर्शन सामान्य (अंश) को देखता है और विशेष (अंश) को जानता है - यदि ऐसे अंश को जाने तो उसका पूरा कार्य सिद्ध नहीं होता और ऐसा होने से आत्मा प्रमाणरूप नहीं होता, क्योंकि आत्मा गुण है, ज्ञान उसका स्वभाव है; गुण-गुणी निश्चय से अभेद है। जिस प्रकार दीपक स्व-परप्रकाशक है। वह स्वयं अपने को प्रकाशित करता है और घट-पटादि को प्रकाशित करता है; इसी प्रकार आत्मा स्व-परप्रकाशक है। दर्शन स्व-प्रकाशक और ज्ञान परप्रकाशक - इस प्रकार आत्मा स्व-परप्रकाशक है।

इस प्रकार दर्शन पूरे आत्मा को और ज्ञान पर-पदार्थ पूरे को जानता है, इस कारण अभेदरूप से आत्मा प्रमाणस्वरूप है।

यहाँ कोई यह शङ्का करे कि दर्शन बाह्य में प्रवर्तित नहीं होता अर्थात् दर्शन स्व को देखता है और ज्ञान पर को जानता है, इसलिए दर्शन ने पर को नहीं देखा, अतः दर्शन अन्धा हो जाता है। दर्शन द्वारा स्व को देखे और ज्ञान द्वारा पर को जाने तो दर्शन पर के लिए अन्धा सिद्ध हुआ। जैसे अन्धा मनुष्य पर को नहीं देखता, उसी प्रकार दर्शन पर को नहीं देखता।

इस शङ्का का समाधान इसप्रकार है कि ऐसा नहीं कहना चाहिए। दर्शन बाह्य विषय को नहीं पकड़ता होने पर भी, आत्मा ज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों को जानता है; इसलिए आत्मा अन्धा सिद्ध नहीं होता। दर्शन ने आत्मा को देखा और आत्मा में ज्ञान आ जाता है। उस ज्ञान ने पर को जाना, इसलिए दर्शन पर को देखता है, वह अन्धा नहीं है।

भाई! तेरा स्वभाव जानना-देखना है। दर्शन स्व को देखता है और ज्ञान पर को जानता है - ऐसा गुणभेद सिद्ध करना है और इससे आत्मा को स्व-परप्रकाशक कहना है।

नियमसार में अकेले गुणभेद को माननेवाले को मिथ्यादृष्टि कहा है। एक गुण अर्थात् दर्शन स्व को देखता है और एक गुण अर्थात् ज्ञान पर को जानता है - ऐसा एकान्त नहीं है। वहाँ नियमसार में तो अभेददृष्टि कराना है। यहाँ भेद का स्वरूप सिद्ध करना है। दर्शन और ज्ञान में गुणभेद है। अभेदता के लक्ष्यपूर्वक भेद का ज्ञान करना योग्य है और कोई यह माने कि भेद का कार्य अलग-अलग है ही नहीं तो वह भी मिथ्या है।

प्रश्न - आपने कहा कि आत्मा को ग्रहण करे, वह दर्शन है परन्तु मूल गाथा में तो यह कहा है कि पदार्थ का सामान्य ग्रहण दर्शन है तो फिर आपके कथन में गाथा का अर्थ किस प्रकार घटित होता है ?

उत्तर - वहाँ सामान्य कहने से आत्मा समझना और विशेष कहने से पर - ऐसा अर्थ लेना। तात्पर्य यह है कि सामान्य ग्रहण कहने से आत्मा का ग्रहण समझना।

यदि कोई यह पूछे कि ऐसा अर्थ कैसे किया तो उसका समाधान इस प्रकार है -

दर्शन के समय अन्तर प्रयत्न में भेद नहीं पड़ता। यह वस्तु है और ऐसी वस्तु नहीं - ऐसा विशेष पक्षपात नहीं है और भेद पाड़कर पर का देखना नहीं होता, इसलिए दर्शन आत्मा को देखता है - ऐसा कहा है।

इस पदार्थ को जानता हूँ और इसको नहीं - ऐसा भेद दर्शन में नहीं पड़ता, इसलिए दर्शन द्वारा आत्मा का ग्रहण होता है - ऐसा कहा है। 'भावाणं' अर्थात् दर्शन में पदार्थ का भेद पड़ता है ? नहीं। इसको जानता है और इसको नहीं - ऐसा भेद दर्शन में नहीं पड़ता, इसलिए दर्शन का विषय पूरा आत्मा रह गया।

यह पदार्थ है – ऐसा ज्ञान होने से पूर्व अखण्ड व्यापार हुआ है, इसलिए दर्शन आत्मा को देखता है – ऐसा कहा है। उस समय तो मैं आत्मा हूँ – ऐसा भेद भी नहीं है; अतः दर्शन सामान्य को देखता है अर्थात् आत्मा को देखता है – ऐसा कहा है।

कोई भी जीव तर्क/न्याय और सिद्धान्त का अर्थ जानकर एकान्तरूप दुराग्रह का त्याग करता है और नयों के विभाग से मध्यस्थता धारण करके व्याख्यान करता है, तब सामान्य और विशेष दोनों सिद्ध होते हैं।

किस प्रकार ?

परसमय अर्थात् अन्यमती को समझाने के लिए तर्क/न्याय की मुख्यता से व्याख्यान है। अतः यदि कोई अन्यमती पूछता है कि जैनमत में दर्शन और ज्ञान – ये दो गुण कहे गये हैं, वे किस प्रकार सिद्ध होते हैं ? तो उसे समझाने के लिए कहते हैं कि जो आत्मा को ग्रहण करता है, वह दर्शन है। इस कथन से अन्यमती नहीं समझता है। अतः उसे प्रतीति आये इसलिए आचार्य स्थूलरूप व्याख्यान करते हैं। बाह्य विषय में सामान्य का देखना, उसे दर्शन नाम दिया और यह सफेद है, यह काला है; इस प्रकार बाह्य में विशेष का जानना हुआ, उसे ज्ञान नाम दिया; इसलिए उसमें दोष नहीं है।

सिद्धान्त की मुख्यता से निजसमय/जैनमत अनुसार व्याख्यान करते हैं; इसलिए जब सिद्धान्त में सूक्ष्म व्याख्यान किया, तब आचार्यों ने, आत्मा को देखे उसे दर्शन कहा – इस कथन में दोष नहीं है।

तर्क ग्रन्थों में स्थूल कथन होता है। वहाँ अन्यमतवालों को समझाने के लिए ऐसा कहते हैं कि 'निमित्त के बिना कार्य नहीं होता', 'धर्मद्रव्य के बिना गति नहीं होती', 'कर्म के बिना राग नहीं होता', क्योंकि यदि कर्म के बिना ही राग होगा तो राग आत्मा का स्वभाव हो जाएगा, इस प्रकार वहाँ राग में निमित्तभूत अन्य वस्तु सिद्ध करनी है। वस्तुतः कर्म के कारण राग होता है – यह बात तो है ही नहीं।

धर्मद्रव्य के बिना लोक-अलोक का विभाग नहीं होता – यह सब कथन अन्य वस्तु अथवा निमित्त को सिद्ध करने के लिए है अथवा जो अन्य वस्तु को नहीं मानते, उनके लिये यह सब कथन है। यह स्थूल कथन कहलाता है। तर्क/न्याय शास्त्र, जैसे कि प्रमेयकमलमार्तण्ड, अष्टसहस्त्री इत्यादि ग्रन्थों में इसी प्रकार से कथन है।

सिद्धान्त में यह कहा जाता है कि जब मुख्यता (अर्थात् उपादानगत योग्यता) के अनुसार कार्य होता है, तब अन्य वस्तु अर्थात् निमित्त स्वयं उपस्थित होता है। इस प्रकार सिद्धान्त में उपादानकारण की मुख्यता से कथन किया जाता है, वह सूक्ष्म कथन है।

यहाँ भी दो प्रकार से कथन हैं – 'दर्शन सामान्य को देखता है, ज्ञान विशेष को जानता है' – यह कथन अन्यमतवालों को समझाने के लिए स्थूल कथन है और सिद्धान्त से सूक्ष्म कथन यह है कि दर्शन आत्मा को देखता है और ज्ञान पर को जानता है। परसमय अर्थात् अन्यमतियों को समझाने के लिए स्थूल कथन और स्वसमय (जैनमती) को समझाने के लिए सूक्ष्मकथन है।

देखो, यह मोक्षमार्ग की व्याख्या चल रही है। उसमें यहाँ दर्शनोपयोग की चर्चा ली है। आत्मा का चेतना स्वभाव है। उसके दो गुण दर्शन और ज्ञान हैं। दर्शन स्व को देखता है और ज्ञान पर को जानता है। इस सम्बन्ध में तीन प्रकार के कथन आते हैं –

१. आत्मा स्व-पर को जानता है, इसलिए अभेददृष्टि से उसके दोनों गुण स्व-पर को जानते हैं – ऐसा नियमसार में कहा है। यह बात यहाँ नहीं है।

२. आत्मा वस्तु है। उसमें दर्शन स्व को देखता है और ज्ञान पर को जानता है – यह कथन गुणभेद की दृष्टि से स्वमत के अभिप्राय से सूक्ष्म व्याख्या कहलाती है।

३. अन्यमती को स्थूलरूप से समझाना हो तो दर्शन सामान्य को देखता है और ज्ञान विशेष को जानता है – ऐसा तर्क की/न्याय की मुख्यता से कहा जाता है। इस प्रकार जहाँ जिस पद्धति से कहा गया हो, वहाँ उस पद्धति से ज्ञान करना चाहिए।

अब, उपादान और निमित्त में भी ऐसा ही है। प्रत्येक द्रव्य में स्वतन्त्ररूप से पर्याय होती है। निमित्त की पर्याय भी स्वतन्त्र होती है, परन्तु तर्क से कहना हो और निमित्तपने का अथवा अन्य चीज का ज्ञान कराना हो तो ऐसा कहा जाता है कि 'काल के बिना द्रव्यों का परिणमन नहीं होता' – वस्तुतः इस कथन में निमित्त सिद्ध करना है। यह स्थूल कथन है। इसे न समझकर कोई वहाँ यही मान ले कि प्रत्येक द्रव्य का परिणमन कालद्रव्य के कारण होता है तो यह बात सत्य नहीं है।

सिद्धान्तरूप से यह समझाते हैं कि उपादान वस्तु में परिणमनरूपी कार्य होता है, तब कालपदार्थ निमित्त होता है। सिद्धान्त कथन के समय निमित्त की प्रधानता का कथन नहीं होता – ऐसा समझना चाहिए।

तर्क से समझाते हैं कि धर्मास्तिकाय नहीं हो तो जीवों-पुद्गलों की गति कैसे होगी? अधर्मद्रव्य न हों तो वे स्थिर कैसे होंगे? आकाशद्रव्य न हो तो अर्थात् आकाश के आधार बिना/क्षेत्र बिना पदार्थ कहाँ रहेंगे? और यह भी समझाते हैं कि क्षेत्रीवस्तु की अपेक्षा क्षेत्र बड़ा होता है - इस प्रकार आकाश का क्षेत्र सिद्ध करने के लिए कथन करते हैं। परन्तु भाई! वस्तुतः तो सभी वस्तुएँ स्वतन्त्र रहती हैं; तथापि वे आकाश क्षेत्र में रहती हैं - यह व्यवहार का स्थूल कथन है। यह कथन तर्कशास्त्र में होता है।

सिद्धान्त में सूक्ष्म कथन ऐसा आता है कि प्रत्येक पदार्थ स्वयंसिद्ध है; प्रत्येक अपने आधार से रहता है। समयसार में ऐसा कहा है कि आकाश का आधार कौन? तो कहा कि आकाश स्वयं। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ अपना-अपना आधार स्वयं है; इस प्रकार सिद्धान्त में स्वतन्त्र परिणमन बतलाते हैं। प्रत्येक पदार्थ स्वयं परिणमन करता है, तब अन्य वस्तु न हो - ऐसा भी नहीं है।

तर्कशास्त्र यह कहता है कि कर्म के बिना राग नहीं होता - ऐसा कहकर वहाँ कर्म की सिद्धि की है। सूक्ष्म कथन यह है कि आत्मा स्वयं अपने ही कारण रागरूप अथवा वीतरागरूप से परिणमित होता है।

समयसार के पुण्य-पाप अधिकार में कहा है कि पुण्यपरिणाम भी स्थूल हैं। वे परिणाम सूक्ष्म अरूपी होने पर भी शुद्ध उपयोग की अपेक्षा से उन्हें स्थूल कहा है; परन्तु आत्मा सूक्ष्म है, इसलिए उसके द्रव्य-गुण-पर्याय को सूक्ष्म कहा जाता है। जीव पुण्य-पाप में अटकता है, इसलिए उन्हें स्थूल कहा है परन्तु वे भाव आत्मा का अपना परिणमन है, यह बतलाने के लिए उन्हें सूक्ष्म कहते हैं। इसलिए जहाँ जैसा हो, वहाँ वैसा यथार्थरूप से समझना चाहिए।

श्री प्रवचनसार में कहते हैं कि सर्वज्ञदेव अपनी ज्ञानपर्याय में भूत और भविष्यत की पर्यायों को भी वर्तमानवत् जानते हैं। यद्यपि वहाँ भूत-भविष्य की पर्यायें विद्यमान नहीं हैं, परन्तु केवलज्ञान विद्यमान है (अर्थात् वे पर्यायें केवलज्ञान में ज्ञात होती हैं), इसलिए उन पर्यायों को विद्यमान कह दिया है - यह सूक्ष्म कथन है। छद्मस्थ जीव विचार करे कि पचास वर्ष पूर्व बाल्यावस्था में शरीर की अवस्था ऐसी थी, तो वह अवस्था वर्तमान में नहीं होने पर भी, उस पर्याय को देखता हूँ - यह सूक्ष्म व्याख्यान

है। पचास वर्ष पूर्व की पर्याय की बात ख्याल में आयी कि मैं बालपने में ऐसे पढ़ता था, पढ़ते समय के प्रसङ्ग याद करे तो वह पर्याय विद्यमान नहीं होने पर भी ज्ञान में विद्यमान है। इसी प्रकार भविष्य की पर्यायें अविद्यमान होने पर भी विद्यमानरूप भासित होती है कि आगे अमुक प्रकार की पर्याय होगी; इस प्रकार वे पर्यायें विद्यमान नहीं होने पर भी, उनका वर्तमान में विद्यमानवत् भास होता है।

साधक जीव को वर्तमान में मोक्षपर्याय विद्यमान नहीं होने पर भी, मेरी भविष्य की मोक्षपर्याय ऐसी पूर्ण शुद्ध होनी चाहिए - ऐसा वह वर्तमान में निश्चित करता है। इस प्रकार एक समय में भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों का ज्ञान होता है - ऐसा कथन करना सूक्ष्म कथन है। सामान्य कथन करना हो तो भूतकाल की पर्याय व्यय हो गयी और वह द्रव्य में मिल गयी - ऐसा कहा जाता है।

केवलज्ञानी एक समय में सब जानते हैं। केवलज्ञान की एक समय की पर्याय नैमित्तिक है और ज्ञेय निमित्त हैं। भूत और भविष्यत् की पर्यायें अविद्यमान होने पर भी उन्हें विद्यमान कह दी है। केवलज्ञान पूर्ण जानता है, तो सामने निमित्त भी पूर्ण होना चाहिए। आत्मा चिदानन्द स्वरूप है, देह से भिन्न है। उसकी ज्ञानपर्याय वर्तमान में त्रिकाल की समस्त पर्यायों को जानती है - यह सूक्ष्म कथन है। ज्ञान की सामर्थ्य की अपेक्षा से भूत-भविष्यत् की पर्यायें वर्तमानवत् हैं - ऐसा कहा है। यदि सामने निमित्त की अपेक्षा से कहो तो सामने निमित्त भी पूरा है अर्थात् एक समय में परिपूर्ण ज्ञात होने की योग्यतावाला है।

गुण-गुणी किसी अपेक्षा से अभेद है, तथापि कथञ्चित् भेद है तथा गुण-गुण के बीच भी भेद है - ऐसा समझना चाहिए। अलग-अलग गुण सिद्ध करने हों वहाँ ऐसा कहते हैं कि ज्ञान न हो तो अन्य को कौन जानेगा? वीर्य न हो तो ज्ञान को कौन टिकायेगा? वहाँ क्या ज्ञान वीर्य के कारण टिकता है? नहीं; स्वरूप रचना की सामर्थ्यरूप वीर्यशक्ति है। अत: एक शक्ति के बिना दूसरी शक्ति नहीं टिकती - ऐसा कहना, स्थूल कथन है और प्रत्येक शक्ति स्वयं के कारण से टिकी हुई है - ऐसा कहना सूक्ष्म कथन है।

यहाँ शिष्य कहता है कि हे गुरुदेव! दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग के बीच का भेद तो जाना, परन्तु तत्त्वार्थश्रद्धान अथवा पदार्थ के विचाररूप सम्यग्ज्ञान में कोई भेद ज्ञात

नहीं होता। भेद क्यों नहीं ज्ञात होता? – ऐसा पूछने पर शिष्य का उत्तर यह है कि पदार्थ का जो निश्चय, सम्यग्दर्शन में है, वही सम्यग्ज्ञान में है। शुद्ध जीव, वह जीव पदार्थ है; शरीर-कर्म, वे अजीव हैं; पुण्य-पाप दोनों राग हैं-आस्रव हैं; उनमें अटकना बन्ध है; आत्मा के आश्रय से होनेवाली शुद्धि संवर है; शुद्धता की वृद्धि निर्जरा है और पूर्ण शुद्धता सो मोक्ष है – ऐसा निश्चय, सम्यग्दर्शन में है तथा सम्यग्ज्ञान में भी है; अतः उनमें अन्तर ज्ञात नहीं होता। संशयरहित सम्यग्ज्ञान हुआ, वही संशयरहित सम्यग्दर्शन हुआ अर्थात् जैसा निर्णय श्रद्धा में है, वैसा ही निर्णय सम्यग्ज्ञान में है; इसलिए हमें तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में भेद ज्ञात नहीं होता। इस प्रकार शिष्य तर्कसहित प्रश्न करता है।

शिष्य के प्रश्न का समाधान करते हुए आचार्यदेव कहते हैं – पदार्थ के ग्रहण करनेरूप क्षयोपशमविशेष अथवा विकासरूप पर्याय, वह ज्ञान है तथा उस ज्ञान में भेदनय से शुद्ध आत्मादि नव तत्त्व वीतराग भगवान ने जैसे कहे हैं, वैसे ही हैं – ऐसा निश्चय होना, वह सम्यक्त्व है। आत्मा सिद्धसमान है – मात्र ऐसा बोलनेवाला शास्त्र का आशय नहीं समझता।

यहाँ कहते हैं कि पदार्थ को जाननेरूप विकास, वह ज्ञान है। देखो, यहाँ वीतराग जिनेन्द्र द्वारा कथित तत्त्व की बात है। इसके अतिरिक्त अन्यों के द्वारा कहे गये तत्त्व सच्चे नहीं हैं। नौ तत्त्वों में 'जो तत्त्व है वही यह तत्त्व है' वह सम्यग्दर्शन है। यहाँ श्रद्धान को सविकल्प कहा है। ज्ञानप्रधानसहित की श्रद्धा ली गयी है।

जीव शुद्ध ज्ञायक है, कर्म-शरीर अजीव है, नव तत्त्वों को भिन्न-भिन्न जानना – ऐसी प्रतीति होना, वह सम्यग्दर्शन है। नव तत्त्वों का यथार्थ निर्णय कब कहलाता है ? शुद्ध आत्मा से विकार नहीं होता। यदि उससे होता हो तो शुद्ध आत्मा और विकार एक हो जाएँगे। पुण्यरूप विकार से संवर होता हो तो विकार और संवर एक हो जाएँगे। जीव, मोक्ष जितना नहीं है। अजीव से विकार नहीं होता और मेरे विकार के कारण कर्म नहीं होता तथा मेरी इच्छा से शरीर नहीं चलता – इस प्रकार नव तत्त्वों की ऐसी भिन्न प्रतीति होना चाहिए, तभी नव तत्त्वों का यथार्थ निर्णय कहा जाता है।

यही तत्त्व है और ऐसा ही है। यह ज्ञायक है और ऐसा ही है। संवर-निर्जरा अपूर्ण

शुद्धपर्याय है – यही है और ऐसा ही है। पाप परिणाम अशुद्ध हैं – यही है और ऐसा ही है। शरीर और कर्म की पर्याय अजीव है – यही है और ऐसा ही है। शुद्ध जीव पूर्ण है – यही है और ऐसा ही है। अजीव द्रव्य अपने गुण-पर्याय सहित है तो फिर जीव की इच्छा से शरीर चलता है – ऐसा माननेवाले को जीव-अजीव का पता नहीं है। इस प्रकार यहाँ नव तत्त्वों का ज्ञान लिया है। वर्तमान ज्ञान की सामर्थ्य में नव तत्त्वों की पृथक्-पृथक्रूप से प्रतीति वर्ते – एक रूप निश्चय वर्ते, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं।

क्या नव को जानना अथवा अनन्त को जानना राग का कारण है ? नहीं। पर को जानने से राग नहीं होता। आत्मा ज्ञानस्वभाव है। वह अनेक को जानता है, इसलिए राग होता है – ऐसा नहीं है। रागी जीव को पर का लक्ष्य करने से राग होता है, परन्तु पर के ज्ञान के कारण राग नहीं होता।

जिसने यह कहा कि दया, दान के व्यवहार परिणाम से निश्चय होता है, उसने पुण्य और संवर को एक माना है और आहार-पानी नहीं खाने से निर्जरा माननेवाले ने अजीव तथा निर्जरा को एक माना है। राग हो तो कर्मबंध होता है – ऐसा माननेवाले ने राग और कर्म को एक माना है। कर्म का उदय हो तो संसार होता है – ऐसा माननेवाले ने अजीव और बन्ध को एक माना है। उसने नव तत्त्व पृथक् हैं – ऐसा अनेकपना नहीं रखा है। इस प्रकार एक तत्त्व की दूसरे में खिचड़ी (मिलावट) करने से नव तत्त्वों की खिचड़ी हो जाती है – ऐसी मान्यतावाला मिथ्यादृष्टि है।

यह जीव अनन्तबार नौवें ग्रैवेयक तक गया है, बहुत बार नमस्कार मन्त्रादि भी इसने सीखे हैं, तथापि यह समझ किये बिना कि संसार एक समय का है, त्रिकाली स्वभाव में संसार नहीं है तथा एक साथ नव तत्त्वों को पकड़े बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता।

अज्ञानी जीव को शुक्ललेश्या के परिणाम हों तो भी एक भी भव कम नहीं होता, तो सामान्य कषाय की मन्दता से तो क्या लाभ होगा ? कुछ नहीं। अनन्तानुबंधी कषाय के मन्दपरिणाम होने पर भी वे स्वभाव का घात करते हैं और स्वरूपाचरण प्रगट नहीं होने देते। भाई! सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के बिना सब कुछ व्यर्थ है।

इस प्रकार भेद से बात की कि जो उघाड़ अथवा विकास दिखता है, वह ज्ञान है और यह तत्त्व ऐसे ही हैं – ऐसा निश्चय, वह सम्यक्त्व है।

अभेदनय से ज्ञान में से विपरीतबुद्धि निकल जाना, वही सम्यग्दर्शन है। विपरीत अभिनिवेश रहित ज्ञान की विशेष अवस्था ही सम्यक्त्व है।

कुदेव में देवबुद्धि, अधर्म में धर्मबुद्धि, कुगुरु में गुरुबुद्धि तथा सर्वज्ञ कथित तत्त्व से विरुद्ध कहना सत्य नहीं होने पर भी उसे सत्य तत्त्व मानना, सर्व रोगरहित सर्वज्ञ को क्षुधा-तृषा आदि न होने पर भी सर्वज्ञ को क्षुधा आदि मानना, आस्रव और बन्ध का कारण होने पर भी पुण्यास्रव से मुनिपना मानना, पुण्य से धर्म मानना इत्यादि सब विपरीत अभिनिवेश है। छठवें गुणस्थान में इतना राग घट गया है कि वहाँ वस्त्रादि नहीं होते, तथापि वस्त्रादि सहित मुनिपना मनवाना - यह अधर्म में धर्मबुद्धि है। निमित्त से उपादान में कार्य होना मानना इत्यादि विपरीत मान्यताएँ, उल्टा आग्रह अथवा विपरीत अभिनिवेशवाली है।

इन विपरीत अभिनिवेश रहित ज्ञान है और उसकी अवस्था विशेष को सम्यक्त्व कहते हैं। विपरीत अभिप्राय रहित ही ज्ञान है। सम्यक् विशेषण से अवस्था विशेष ही सम्यक्त्व है। ज्ञान की दशा विशेष को सम्यक्त्व कहते हैं। इस प्रकार यह अभेदनय से बात की है।

यदि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में भेद नहीं हों तो आठ कर्मों में दर्शनमोहनीय और ज्ञानावरण कर्म को आवरण कहा जाता है, वह किस प्रकार ? ऐसी शङ्का की जाए तो उसका समाधान इस प्रकार है -

जो कर्म, पदार्थ को जाननेरूप क्षयोपशम को ढांकने में निमित्त होता है अथवा अल्पज्ञता में निमित्त होता है, वह ज्ञानावरणीय है और जिस कर्म के निमित्त से कुदेव में देवबुद्धि, अधर्म में धर्मबुद्धि होती है, वह दर्शनमोहनीय कर्म है। इस प्रकार भेदनय से दो आवरणों का भेद है। अभेद विवक्षा से सामान्यरूप से कर्म एक ही आवरणरूप है - ऐसा जानना चाहिए।

इस प्रकार दर्शन पहले होता है और पश्चात् ज्ञान होता है - यह गाथा पूर्ण हुई।

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-४५

अब, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग के तीसरे अवयवरूप और स्वशुद्धात्मा के अनुभवरूप शुद्धोपयोगरूप लक्षणवाले वीतरागचारित्र के परम्परा से साधक ऐसे सरागचारित्र का प्रतिपादन करते हैं —

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणयादु जिणभणियम्॥४५॥

अशुभात् विनिवृत्तिः शुभे प्रवृत्तिः च जानीहि चारित्रम्।
व्रतसमितिगुप्तिरूपं व्यवहारनयात् तु जिनभणितम्॥४५॥

अशुभ से विनिवृत्त हो व्रत समितिगुप्तिरूप में।
शुभभावमय हो प्रवृत्ती व्यवहार चारित्र जिन कहें॥४५॥

गाथार्थ : — अशुभकार्य की निवृत्ति और शुभकार्य में प्रवृत्ति, उसे (व्यवहार) चारित्र जानो। व्रत-समिति-गुप्तिरूप ऐसा वह (चारित्र) व्यवहारनय से जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

टीका : — इसी सरागचारित्र के एकदेश अवयवरूप देशचारित्र का प्रथम कथन करते हैं। वह इस प्रकार है :— मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय होने पर अथवा अध्यात्मभाषा से निजशुद्धात्माभिमुख परिणाम होने पर शुद्धात्मभावना से उत्पन्न, निर्विकार, वास्तविक सुखामृत को उपादेय करके, संसार-शरीर और भोगों में जो हेयबुद्धियुक्त, सम्यग्दर्शन से शुद्ध है, वह चतुर्थ गुणस्थानवर्ती, व्रतरहित दार्शनिक कहलाता है। जो अप्रत्याख्यानावरण नामक द्वितीय कषाय का क्षयोपशम होने पर पृथ्वी आदि (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिरूप) पाँच स्थावरों के वध में प्रवृत्त होने पर भी यथाशक्ति त्रस के वध से निवृत्त होता है, वह पञ्चम गुणस्थानवर्ती श्रावक कहलाता है।

उस श्रावक के ग्यारह भेद कहे जाते हैं :— सम्यग्दर्शनपूर्वक मद्य, माँस, मधु और पाँच उदुम्बर फलों के त्यागरूप आठ मूलगुणों का पालन करता हुआ जो जीव, युद्धादि में प्रवृत्त होने पर भी पाप की वृद्धि करनेवाले शिकार आदि के समान बिना प्रयोजन जीवघात से निवृत्त हुआ है, वह प्रथम दार्शनिक श्रावक कहलाता है। वही दार्शनिक

श्रावक जब त्रसजीवों की हिंसा से सर्वथा निवृत्त होकर पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत सहित होता है तब 'व्रती' नामक दूसरा श्रावक होता है। वही जब तीनों काल सामायिक करता है, तब तीसरी प्रतिमाधारक; प्रौषध-उपवास करता है, तब चौथी प्रतिमाधारक; सचित्त के त्याग से पाँचवीं प्रतिमाधारक; दिवस में ब्रह्मचर्य पालन करने से छट्ठी प्रतिमाधारक; सर्वथा ब्रह्मचर्य पालन करने से सातवीं प्रतिमाधारक; आरम्भ आदि सम्पूर्ण व्यापार के त्याग से आठवीं प्रतिमाधारक; पहिनने-ओढ़ने के वस्त्रों के अतिरिक्त अन्य सर्व परिग्रहों के त्याग से नवमीं प्रतिमाधारक; घर-व्यापार आदि सम्बन्धी समस्त पापमयकार्यों में सम्मति (सलाह) देने का त्याग करने से दशवीं प्रतिमाधारक औद उद्दिष्ट आहार के त्याग से ग्यारहवीं प्रतिमा का धारक श्रावक होता है। इन ग्यारह प्रकार के श्रावकों में पहली छह प्रतिमाधारक तारतम्यरूप से जघन्य श्रावक हैं, उसके पश्चात् की तीन प्रतिमाधारक मध्यम श्रावक और अन्तिम दो प्रतिमाधारक उत्तम श्रावक हैं — इस प्रकार संक्षेप में देशचारित्र के दार्शनिक श्रावक आदि ग्यारह भेद जानना।

अब, एक देश चारित्र के व्याख्यान के पश्चात् सकल चारित्र का उपदेश करते हैं:— **'असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं'** हे शिष्य! अशुभकार्यों से निवृत्ति और शुभकार्यों में प्रवृत्ति को तू चारित्र जान। वह कैसा है ? **'वदसमिदि गुत्तिरूवं ववहारणयादु जिणभणियं'** व्रत, समिति और गुप्तिरूप है और व्यवहारनय से श्री जिनेन्द्र भगवन्तों द्वारा कथित है। वह इस प्रकार है — प्रत्याख्यानावरण नामक तीसरे कषाय का क्षयोपशम होने पर, **'विषयकषाओगाढा दुस्सुदिदुच्चित्त दुट्ठ गोट्ठिजुदो। उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो॥' अर्थ :-** जिसका उपयोग विषय-कषायों में मग्न है, दुःश्रुति (विकथा), दुष्टचित्त और दुष्ट गोष्ठी (खराब सङ्गति) सहित है, जो उग्र है और उन्मार्ग में तत्पर है, उसे वह अशुभ उपयोग है। इस गाथा में कथित लक्षणोंयुक्त अशुभोपयोग से निवृत्ति और उससे विपरीत शुभोपयोग में प्रवृत्ति, उसे हे शिष्य! तू चारित्र जान। आचार-आराधना आदि चरणानुयोग के शास्त्रों में कहे अनुसार वह चारित्र पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तिरूप है, तो भी अपहृतसंयम नामक शुभोपयोगलक्षणयुक्त सराग-चारित्र है। वहाँ जो बाह्य में पाँच इन्द्रियों के विषय आदि का त्याग है, वह उपचरित असद्भूतव्यवहारनय से चारित्र है और अन्तरङ्ग में जो रागादि का त्याग है, वह अशुद्ध निश्चयनय से चारित्र है — इस प्रकार नयविभाग जानना। इस प्रकार निश्चयचारित्र के साधक व्यवहारचारित्र का व्याख्यान किया॥४५॥

गाथा ४५ पर प्रवचन

अशुभ कार्य से दूर होना और शुभ कार्यों में प्रवृत्ति होना अर्थात् उसमें लगना, उसे चारित्र जानो। श्रीजिनेन्द्रदेव ने व्यवहारनय से वह चारित्र पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति स्वरूप कहा है।

कुदेवादि और कुश्रुतादि की श्रद्धा से दूर हुए और आत्मा का भान हुआ, उन मुनि को अट्ठाईस मूलगुणों का विकल्प उत्पन्न होता है, उसे व्यवहारनय से चारित्र जानना चाहिए। श्रीजिनेन्द्रदेव ने उस चारित्र को पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति स्वरूप कहा है। छठवें गुणस्थान में ऐसा विकल्प होता है और सातवें गुणस्थान में विकल्प टूटकर वीतरागता होती है।

इस गाथा की व्याख्या तो टीकाकार बाद में करेंगे। इसके पूर्व वे चौथे-पाँचवें गुणस्थान की बात करते हैं।

मुनिराज को पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तिरूप सराग चारित्र होता है। उसके अवयवरूप देशचारित्र श्रावक को होना है। सर्वप्रथम देशचारित्र का कथन करते हैं।

श्रावकपना किसे होता है, यह बतलाते हैं। सर्वप्रथम सम्यग्दृष्टि का स्वरूप ऐसा है कि अनादि मिथ्यादृष्टि को पाँच प्रकृति - एक मिथ्यात्व और चार अनन्तानुबंधी - इन पाँच को उपशम से आदि होता है। सादि मिथ्यादृष्टि को दर्शनमोहनीय की तीन और अनन्तानुबंधी की चार - इन सात का उपशमादि होता है। जिसने आत्मा के पुरुषार्थ द्वारा इन सातों (या पाँचों) प्रकृतियों का उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय किया है, वह सम्यग्दृष्टि है। इस प्रकार यह आगमभाषा के अनुसार व्याख्या की है।

अब, अध्यात्मभाषा के अनुसार सम्यग्दृष्टि का स्वरूप कहते हैं -

सम्यग्दृष्टि मानता है कि भगवान आत्मा शुद्ध है। उसे रागदृष्टि अथवा पर्यायदृष्टि छूटकर स्वभावदृष्टि हुई है। मैं शुद्ध चिदानन्दस्वरूप हूँ - ऐसी एकाग्रता से आनन्द उत्पन्न होता है। यही अमृतपना अङ्गीकार करने जैसा है, पुण्य-पाप अङ्गीकार करने योग्य नहीं है - ऐसी प्रतीतिवाले को सम्यग्दर्शन होता है। पाँच इन्द्रियों के विषयों की सुखबुद्धि हेय है - ऐसे भानवाले को मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ीरूप सम्यग्दर्शन होता है। पाँच इन्द्रियों के भोगादि उपादेय नहीं हैं, वे हेय हैं और आत्मा उपादेय है - ऐसी बुद्धि होने

से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, उसे अविरत सम्यग्दृष्टि कहते हैं। तत्पश्चात् श्रावकपना होता है।

अब, पञ्चम गुणस्थानवर्ती श्रावक की बात करते हैं।

वीतरागदेव कहते हैं कि श्रावक को आत्मसन्मुखतारूप शान्ति बढ़ गयी है, उसे अप्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम हुआ है। उसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति इत्यादि पाँच स्थावर काय जीवों की हिंसा का पापभाव होने पर भी दो इन्द्रिय के पाँच इन्द्रिय तक के त्रसजीवों को मारने का भाव यथाशक्ति नहीं होता। कोई हिलते-चलते मर जाए, वह बात अलग है, इसीलिए यथाशक्ति कहा है।

जिसे चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा विशेष अन्तरस्थिरता बढ़ी है, उसे पञ्चम गुणस्थानवर्ती श्रावक कहते हैं।

अब, श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप संक्षेप में कहते हैं -

१. दर्शनप्रतिमा - प्रथम आत्मा शुद्ध निर्विकल्प आनन्दस्वरूप है - ऐसी प्रतीतिरूप दशा करके, मद्य, माँस, मधु इत्यादि का त्याग - ये अष्ट मूलगुण हैं। पञ्चम गुणस्थानवाले को अष्ट मूलगुण मुख्य हैं अर्थात् इन आठ प्रकार के पदार्थों के राग का त्याग होता है।

'लाटी संहिता' में पञ्चम गुणस्थानवाला युद्ध में प्रवृत्ति नहीं करता - ऐसा कहा है। यहाँ कहते हैं कि किसी को युद्ध का राग आता है, परन्तु वह शिकार के प्रयोजन से जीवघात नहीं करता अर्थात् वैसा राग नहीं होता।

जो जीव यह मानता है कि मैं पर को मार सकता हूँ, बचा सकता हूँ, उसे आत्मा का भान नहीं है। वह मिथ्यादृष्टि जीव कदाचित् आठ मूलगुणों का पालन भी करता हो और युद्ध भी नहीं करता हो तो भी उसे देशचारित्र नहीं है, वह श्रावक नहीं है।

प्रत्येक जीव को सुख-दुःखरूप अवस्था अपने-अपने कारण से होती है, तो भी मैं अन्य को सुखी-दुःखी कर सकता हूँ - ऐसा माननेवाले मिथ्यादृष्टि को सच्चे व्रत, तप नहीं होते हैं। आत्मा के भानसहित जीव को स्वरूप में विशेष लीनता होने पर बिना प्रयोजन जीवघात करने का भाव नहीं होता, उसे दार्शनिक श्रावक कहते हैं।

२. व्रत प्रतिमा - इस प्रतिमावाले को पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार

शिक्षाव्रत होते हैं और वह त्रसजीवों के घात से सर्वथा रहित होता है। उसकी युद्ध में प्रवृत्ति नहीं होती। अन्तर स्वरूप का विशेष आनन्द बढ़ा होने से जिसे ऐसा राग नहीं होता, वह व्रती श्रावक है।

३. सामायिक प्रतिमा - इस तीसरी प्रतिमावाले को नियम से तीन बार सामायिक होती है। वह जीव प्रातः, दोपहर और सांयकाल नियमपूर्वक आत्मा का आराधन करता है। उसने आत्मा की प्रतीति तो की है और स्वभाव में विशेष एकाग्रता करने के लिए यत्नशील है, उसे सामायिक नामक तीसरी प्रतिमा कहते हैं।

जिसे यह पता नहीं है कि सच्चे देव-शास्त्र-गुरु क्या कहते हैं ? और बाहर से प्रतिमा धारण कर ले तो वह यथार्थ प्रतिमा नहीं है।

४. प्रौषधोपवास प्रतिमा - प्रत्येक माह की कृष्ण और शुक्ल पक्ष की अष्टमी और चतुर्दशी को आत्मा को पोषता है और प्रौषध उपवास में प्रवृत्त रहता है, इसे तीसरी प्रतिमावाले की अपेक्षा शान्ति का रस बढ़ गया है, वह चौथी प्रौषधोपवास प्रतिमाधारी है।

५. सचित्तत्याग प्रतिमा - जिसे सचित्त का त्याग वर्तता है, वह सचित्तत्याग प्रतिमाधारी है।

६. दिवामैथुनत्याग प्रतिमा - जो दिन में ब्रह्मचर्य का पालन करता है, वह छठवीं प्रतिमाधारी है।

७. ब्रह्मचर्य प्रतिमा - जो सर्वथा ब्रह्मचर्य पालन करता है, वह सातवीं प्रतिमाधारी है। यहाँ मात्र काया के ब्रह्मचर्य की ही बात नहीं है, अपितु अन्दर आत्मा के भानपूर्वक की बात है। जैसे-जैसे प्रतिमा बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे अन्तर शान्ति भी बढ़ती जाती है।

८. आरम्भ त्याग प्रतिमा - जो आरम्भादि नहीं करता, व्यापार अथवा रसोई नहीं करता, वह आठवीं प्रतिमाधारी है।

९. परिग्रहत्याग प्रतिमा - जो एक वस्त्र के अतिरिक्त समस्त परिग्रह से रहित है, वह नौंवी प्रतिमाधारक है।

१०. अनुमतित्याग प्रतिमा - जो घर सम्बन्धी, व्यापार सम्बन्धी सलाह नहीं देता, हिंसा सम्बन्धी किसी भी कार्य में सलाह नहीं देता, वह दशवीं प्रतिमाधारी है।

११. उद्दिष्टत्याग प्रतिमा - जो अपने लिए बनाया हुआ आहार, पानी, दवा इत्यादि नहीं लेता, वह ग्यारहवीं प्रतिमाधारी है। जिसे आत्मा के भानपूर्वक विशेष शान्ति वृद्धिंगत हुई है, वह अपने लिए बनाया हुआ आहार नहीं लेता।

यहाँ कहते हैं कि ग्यारहवीं प्रतिमावाले को अपने लिए बनायी गयी वस्तु का त्याग होता है। अभी तो जिसे इस व्यवहार का भी ठिकाना नहीं हो तो निश्चय तो होगा ही कैसे ? निर्दोष आहार हो तो परिणाम सुधरते हैं, जिसे ऐसी बुद्धि है, वह तो मिथ्यादृष्टि है।

ग्यारहवीं प्रतिमाधारक जीव मुनिपने का उम्मीद्वार है, वह अपने लिए बनाया हुआ आहार नहीं लेता।

इस प्रकार प्रतिमा के भेदों से पहले से छठवीं प्रतिमाधारी को तारतम्यता से जघन्य श्रावक कहते हैं, सातवीं से नौवीं प्रतिमाधारक को मध्यम श्रावक कहते हैं तथा दशवीं और ग्यारहवीं प्रतिमा धारक को उत्कृष्ट श्रावक कहते हैं।

इस प्रकार देशचारित्र की चर्चा करके, अब टीकाकार मूल गाथा का अर्थ करते हैं।

छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले, जङ्गल में बसनेवाले मुनिराज की दशा कैसी होती है - यह अब कहते हैं।

अब एकदेश चारित्र के पश्चात् सकलचारित्र का उपदेश करते हैं। गुरु कहते हैं कि - हे शिष्य अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति को चारित्र जान। यह व्यवहारचारित्र की बात है। कैसे हैं मुनि ? व्रत, समिति और गुप्ति स्वरूप हैं - ऐसा व्यवहारनय से भगवान ने कहा है। मुनिराज को प्रत्याख्यानावरणीय कषाय का क्षयोपशम हुआ है। मुनिराज सहजरूप से दिगम्बर दशावाले होते हैं, पर्वत और गुफाओं में आनन्द करते हैं।

एकाकी विचरूँगा कब श्मशान में,
गिरि पर होगा बाघ सिंह संयोग जब।

अडोल आसन और न मन में क्षोभ हो,
जानूं पाया परम मित्र संयोग जब॥ अपूर्व...॥

निर्ग्रन्थ मुनियों को विकल्प की खलबलाहट नहीं होती। वे अन्तरधाम/मोक्ष पहुँचने की तैयारीवाले होते हैं। उनको देह, मोरपिच्छी और कमण्डलमात्र होता है। वे जङ्गल के महल में रहते हैं। ऊपर आकाश और नीचे धरती और आस-पास पर्वतों के झुण्ड के बीच रहते हैं। उन्होंने तीन कषाय चौकड़ी का अभाव किया है, उनके रोम-रोम से वैराग्य झरता है। उन्हें स्वरूप में विशेष लीनता वर्तती है। उनके विषय-कषाय की गाढ़, आसक्ति छूट गयी है, दु:श्रुति का श्रवण छूट गया है, दिव्यध्वनि के अनुसार सचित्त शास्त्रों के श्रवण का विकल्प उत्पन्न होता है। खराब परिणाम छूट गये हैं अर्थात् अशुभ से निवृत्ति हो गयी है। कुदेव-कुगुरु और उनके माननेवालों का परिचय छोड़ दिया है तथा सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ के कहे हुए मार्ग में ही मुनियों का उपयोग वर्तता है। इस गाथा में कहे हुए लक्षण के अनुसार वीतरागी सन्त-मुनिवरों को अशुभ परिणाम नहीं होते। श्रावक को तो अमुक अशुभ परिणाम होते हैं, परन्तु मुनि की अन्तरदशा अर्थात् वीतरागता बढ़ गयी है, इसलिए अशुभ परिणाम छूट गये हैं।

तब उन्हें कैसे परिणाम होते हैं ? अशुभ से विरुद्ध लक्षणवाले शुभपरिणाम होते हैं। वीतरागी मार्ग में कहे गये पञ्च महाव्रतादि का विकल्प उत्पन्न होता है। हे शिष्य! ऐसी दशावन्त को चारित्र जान।

मूलाचार, भगवती आराधना तथा प्रवचनसार की चरणानुयोग सूचक चूलिका इत्यादि में कहे अनुसार मुनि को पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तिस्वरूप सरागचारित्र होता है। इसे अपहत संयत कहा है, क्योंकि जरा विकल्प वर्तता है, इसलिए अपहत कहा है। आत्मा के भानवाले को ऐसा शुभराग वर्तता है, इसलिए उसे व्यवहारचारित्र कहा है।

इस व्यवहारचारित्र में बाह्य विषयों में पाँच इन्द्रिय के विषयों का त्याग किया, स्त्री आदि को छोड़ा, वस्त्र छोड़े - ऐसा कहने को उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से चारित्र कहते हैं। वह उपचार है और आत्मा का स्वरूप नहीं है, इसलिए असद्भूत कहा गया है।

आत्मा के भानपूर्वक अन्तरलीनता होना, वह शुद्ध उपयोगरूप चारित्र है।

जो पञ्च महाव्रतादि का विकल्प उत्पन्न होता है, उसे व्यवहारचारित्र कहते हैं। राग का त्याग, वह अशुद्ध निश्चयनय से चारित्र है। आत्मा की पर्याय में है, परन्तु राग अशुद्ध है, इसलिए अशुद्ध कहा है।

वीतरागी दशा होने पर, अशुभ परिणाम के निमित्तरूप पाँच इन्द्रिय के विषय आदि छूटे हैं, इसलिए उसे उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से चारित्र कहा है। इस प्रकार नय विभाग से (चारित्र का कथन) जानना चाहिए।

निश्चयचारित्र तो अकषायदशा है, उसे साधनेवाला व्यवहारचारित्र कहा गया है अर्थात् वह निश्चयचारित्र का निमित्त है। अन्दर में राग छूटना निश्चयनय से चारित्र कहा है, वह भी व्यवहारचारित्र है।

❖❖❖

धर्मी को मुनिदशा की कैसी उत्कृष्ट भावना

चक्रवर्ती के राजकुमार भी आत्मभानपूर्वक अन्तर में ही जाना चाहते हैं। जब कोई राजकुमार वन में जाने लगता है, तब अपनी माता के पास आज्ञा माँगता है –

'हे जननी! मुझे आज्ञा दो, मैं अपने आनन्द के नाथ के निकट जाना चाहता हूँ। हे माता! अब मुझे बाहर एक क्षण भी अच्छा नहीं लगता। इन रत्न-महलों में तथा रानियों में कहीं मेरा आनन्द नहीं है। आत्मा आनन्द का नाथ है, वह मैंने देख लिया है। हे माता! एक बार तुझे रोना हो तो रो ले, लेकिन मैं शपथ लेता हूँ कि अब दूसरी माता नहीं करूँगा। मैं तो अन्तर में स्थिर होकर भव का अभाव करूँगा। मैं तो अतीन्द्रिय आनन्द रस का रसिक हूँ। हे माता! मैं वह रस लेने के लिए वन में अकेला जा रहा हूँ।'

अहाहा! वह पुरुषार्थ कितना होगा? पञ्चम काल में भी सम्यग्दृष्टि को तो ऐसी भावना होती है! 'धन्य वह दिवस कि जब बाहर आना ही न पड़े।' – ऐसे भाववाले महापुरुषार्थी महाज्ञानी आनन्द के अनुभव में एक वीतरागभाव में ही निमग्न-तल्लीन हो गये हैं। 'वह दशा हमें हो, वह अवसर हमें कब आयेगा' – ऐसी भावना धर्मी को होती है। अहाहा! आनन्द में समाये, सो समाये। 'श्रीमद् राजचन्द्र' में आता है कि 'जो समझे वे समा गये, अन्तर में ही स्थिर हो गये।' भाई! मार्ग तो यह है! *(- वचनामृत प्रवचन, २/२९-३०)*

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-४६

अब, उसी व्यवहारचारित्र से साध्य निश्चयचारित्र का निरूपण करते हैं —

बहिरब्भंतरकिरियारोहो भवकारणप्पणासट्ठं।
णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं॥४६॥

बहिरभ्यन्तरक्रियारोधः भवकारणप्रणाशार्थम्।
ज्ञानिनः यत् जिनोक्तम् तत् परमं सम्यक्चारित्रम्॥४६॥

बाह्य अंतर क्रिया के अवरोध से जो भाव हों।
संसारनाशक भाव वे परमार्थ चारित्र जानिये॥४६॥

गाथार्थ :— संसार के कारणों का नाश करने के लिये ज्ञानी को जो बाह्य और अन्तरङ्ग क्रियाओं का निरोध है; श्री जिनेन्द्र द्वारा कथित वह परम सम्यक् चारित्र है।,

टीका :— '**तं**' वह '**परमं**' परम-उपेक्षालक्षणयुक्त, निर्विकार स्वसम्वेदनरूप शुद्धोपयोग का अविनाभूत, परम '**सम्मचारित्तं**' सम्यक्चारित्र जानना। वह क्या ? '**बहिरब्भंतर-किरियारोहो**' निष्क्रिय, नित्यनिरञ्जन, विशुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वभावी निजात्मा से प्रतिपक्षभूत क्रियाव्यापार का, जो (क्रियाव्यापार) बाह्य में वचन और काया के शुभाशुभ व्यापाररूप है और अन्तरङ्ग में मन के शुभाशुभ विकल्परूप है, उसका निरोध अर्थात् त्याग (वह परम सम्यक्चारित्र है।) वह निरोध किसलिये है ? '**भवकारणप्पणासट्ठ**' पाँच प्रकार के संसार से रहित, निर्दोष परमात्मा से विलक्षण, जो संसार उस संसार के व्यापार के कारणभूत जो शुभाशुभ कर्म-आस्रव उनके विनाश के लिये है। ऐसा बाह्य और अन्तरङ्ग क्रियाओं के निरोधरूप चारित्र किसको होता है ? '**णाणिस्स**' निश्चयरत्नत्रयस्वरूप अभेदज्ञानी को ऐसा चारित्र होता है तथा वह चारित्र कैसा है ? '**जं जिणुत्त**' वह चारित्र जिनेन्द्रदेव, वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कथित है। इस प्रकार वीतराग सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के अविनाभूत तथा निश्चयरत्नत्रयस्वरूप निश्चयमोक्षमार्ग के तीसरे अवयवरूप वीतराग-चारित्र का व्याख्यान किया॥४६॥

इस प्रकार द्वितीय स्थल में आठ गाथाएँ पूर्ण हुईं।

इस प्रकार मोक्षमार्ग के प्रतिपादक तीसरे अधिकार में निश्चय-व्यवहाररूप मोक्षमार्ग के संक्षेप कथन से दो गाथाएँ, तत्पश्चात् उसी मोक्षमार्ग के अवयवरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के विशेष व्याख्यानरूप से छह गाथाएँ — इस प्रकार दो स्थलों के समुदायरूप आठ गाथाओं द्वारा प्रथम अन्तराधिकार समाप्त हुआ।

इसके पश्चात् ध्यान, ध्याता, ध्येय और ध्यानफल के कथन की मुख्यता से प्रथम स्थल में तीन गाथाएँ, तत्पश्चात् पञ्चपरमेष्ठियों के व्याख्यानरूप से दूसरे स्थल में पाँच गाथाएँ और तत्पश्चात् उसी ध्यान के उपसंहाररूप विशेष व्याख्यान द्वारा तीसरे स्थल में चार गाथाएँ हैं; इस प्रकार तीनों स्थलों के समुदाय द्वारा बारह गाथाओं सम्बन्धी दूसरे अन्तराधिकार की समुदायरूप भूमिका है।

गाथा ४६ पर प्रवचन

यहाँ व्यवहारचारित्र से साध्य निश्चयचारित्र का निरूपण करते हैं —

निश्चयचारित्र मिथ्यादृष्टि के नहीं होता। जो निमित्त से लाभ मानता है, दया-दानादि से लाभ मानता है; उसकी रुचि व्यवहार व निमित्त से हटकर स्वभावसन्मुख नहीं होती है। यदि व्यवहार से निश्चय हो तो व्यवहार का अभाव होते ही निश्चय का अभाव हो जाएगा। व्यवहार अर्थात् राग; और राग से धर्म हो तो जितना अधिक राग होता है, उतनी अधिक वीतरागता बढ़नी चाहिए। वास्तव में तो व्यवहार/राग के अभावपूर्वक निश्चय होता है, इसलिए व्यवहार को उपचार से कारण कहा गया है। ज्ञानी को भी जितना राग आता है, वह सब बाधक ही होता है; परन्तु वह शुभराग छोड़कर अशुभ में नहीं जाता, इसलिए शुभराग को साधन कहा जाता है। वास्तविक साधन तो शुद्ध स्वभाव ही है।

कितने ही जीव समयसार गाथा १२ की टीका में समागत निश्चय-व्यवहार सम्बन्धी गाथा का सही अर्थ नहीं समझते। वे वहाँ व्यवहार का आग्रह रखते हैं। वह मूल गाथा इस प्रकार है —

'जइ जिणमयं पवज्जइ ता मा ववहारणिच्छए मुणह।
एक्केण विणा छिज्जई तित्थं अण्णेण पुणं तच्चं॥

यदि तुम जिनमत का प्रवर्तन करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों नयों

को मत छोड़ो, क्योंकि व्यवहारनय के बिना तो तीर्थ-व्यवहारमार्ग का नाश हो जाएगा और निश्चयनय के बिना तत्त्व (वस्तु) का नाश हो जाएगा।'

इसका अर्थ यह है कि जब तक शुद्धात्मा की प्राप्ति नहीं होती है, तब तक शुभरागादिरूप व्यवहार जानने लायक है, जो उसका तो ज्ञान नहीं करता और कहता है कि मुझे राग नहीं है, मुझे राग होता नहीं है तो उससे कहते हैं कि भाई! तेरी यह मान्यता सर्वथा खोटी है।

व्यवहार/राग जाननेयोग्य है और निश्चय अखण्ड शुद्धात्मा आश्रययोग्य है। अखण्ड शुद्धात्मा के भानरहित व्यवहार मात्र पुण्य का कारण है, उससे संसार का नाश नहीं होता। ज्ञानी की दृष्टि निश्चयस्वभाव पर रहती है, इसलिए उनके व्यवहार को उपचार से साधन कहा जाता है। जो साधकदशा में व्यवहार को नहीं मानता है, उसकी मान्यता तो खोटी है ही, जो व्यवहार से निश्चय मानता है, उसकी मान्यता भी खोटी ही है।

यहाँ ज्ञानी जीव की बात करते हैं — ऐसे जीवों के संसार के नाश करने के लिए बाह्य-अभ्यन्तर क्रिया का निरोध होता है।

मुनिराजों के पुण्य-पाप की उपेक्षा होती है और विकाररहित निज सम्वेदनरूप शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव की रमणता से व्याप्त चारित्र होता है। साधक जीव को शुभराग होता है, परन्तु वह चारित्र नहीं है। चारित्र का यथार्थ साधक तो शुद्धभाव ही है और शुभराग को उपचार से साधक कहा जाता है।

वीतरागपना-अकषायपना तो स्वभाव में से ही आता है, राग या क्रिया से वीतरागता मानना तो मिथ्यादृष्टि है, 'राग करते-करते वीतरागता प्रगट हो जाएगी' — ऐसा माननेवाला तो मिथ्यादृष्टि है-अज्ञानी है।

आचार्य कहते हैं कि चारित्र आत्मा के आधार-आश्रय से होता है और आत्मा बाह्य-अभ्यन्तर क्रिया से रहित है। हिंसा, झूठ आदि परिणामों के समय शरीर और वचन की जो क्रिया होती है, उसे बाह्य क्रिया कहते हैं तथा अन्तरङ्ग शुभाशुभभावों को अभ्यन्तर क्रिया कहते हैं। आत्मा इन दोनों क्रियाओं से रहित नित्य निरञ्जन है। आत्मा में संसार नहीं है, संसार एक समय की पर्याय में है; इसलिए शुद्धात्मा संसार के अञ्जन से रहित है, संसार से रहित है।

आत्मा तो ज्ञान-दर्शनस्वभावी है — ऐसे आत्मा से विरुद्ध बाह्य-अभ्यन्तर क्रियाओं का रुक जाना, वह चारित्र है।

बाह्य विषयों में शुभाशुभ वचन या काय के व्यापाररूप क्रिया का रुक जाना बाह्यक्रिया का निरोध है और 'दया-दानादि करूँ' — ऐसे शुभभाव अथवा किसी अशुभभाव रूप क्रिया का रुक जाना अभ्यन्तरक्रिया का निरोध है। स्वभाव में लीन होते ही शुभाशुभ भाव रुक जाते हैं — इस प्रकार बाह्य-अभ्यन्तर क्रिया के निरोधपूर्वक स्वभाव की लीनता-स्थिरता को चारित्र कहते हैं।

'क्रिया किसके आश्रय से रुकती है?' — इसकी खबर बिना चारित्र नहीं होता। क्रियारहित आत्मा में क्रिया का निरोध होता है। दया-दानादि के विकल्परूप अन्तरङ्ग विकारी क्रिया का निरोध हुए बिना आत्मतत्त्व की उपलब्धि नहीं होती और आत्मतत्त्व की उपलब्धि के बिना अन्तरङ्ग क्रिया का निरोध नहीं होता।

आत्मस्वभाव ज्ञायक ध्रुव एक अखण्ड आनन्दकन्द चैतन्य प्रभु है, वह मन-वचन-काय जड़ की क्रिया से एवं पुण्य-पाप, संकल्प-विकल्प की क्रिया से रहित है — ऐसे भानपूर्वक जब स्वरूप में लीनता होने पर पुण्य-पाप की क्रिया अटक जाती है-रुक जाती है और शरीररादि की क्रिया भी रुक जाती है, तब चारित्र होता है। यहाँ 'बाह्य-अभ्यन्तर क्रिया का विरोध' यह शब्द स्पष्ट लिखा है।

यदि त्रिकाली आत्मा में संसार की क्रिया हो और आत्मा शरीर-मन-वाणी की क्रिया कर सकता हो तो आत्मा उन दोनों क्रियाओं से रहित नहीं हो सकता। 'सङ्कल्प-विकल्प पर्याय में हैं, स्वभाव में नहीं' — ऐसी दृष्टि होने के बाद स्वभाव में लीनता होने पर सङ्कल्प-विकल्प पर्याय में से टलते जाते हैं।

गाथा की उत्थानिका में कहा था कि व्यवहार से निश्चय साध्य है और यहाँ कहते हैं कि व्यवहार आत्मा का प्रतिपक्षी है-विरोधी है। 'ऊपर साधन कहा था' — इसका अर्थ तो यह है कि मुनिराज की भूमिका में महाव्रतादिरूप व्यवहार आये बिना रहता नहीं है; लेकिन वे परिणाम चैतन्य से विरुद्ध हैं। 'विरुद्ध अविरुद्ध को साधता है' — इसका अर्थ यह समझना कि व्यवहार का अभाव निश्चय के प्रगट होने में निमित्त कारण है। मुनिराज के पञ्च महाव्रत होने पर भी उनका जितना निरोध होता है, उतना निश्चय चारित्र है और जितना शेष रहता है, उतना राग है, व्यवहारचारित्र है।

अरे भाई! यह विषय वाद-विवाद के लिए नहीं है, यह तो आत्मार्थी के लिए है। अनुकूल निमित्त हो तो कार्य हो अथवा शुभरागरूप व्यवहार से निश्चय होता है — यह मान्यता जैनदर्शन की नहीं है।

मन-वचन-काय का व्यापार जड़ है, इसलिए वह तो आत्मा से विरुद्ध है ही; परन्तु जिस भाव से तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध हो, वह भी आत्मा से विरुद्ध ही है; क्योंकि उसके आश्रय से भी वीतरागता या चारित्रदशा प्रगट नहीं होती। वीतरागता या चारित्रदशा तो आत्मा के ही आश्रय से प्रगट होती है। ऐसी दृष्टि, रुचि, प्रतीति हुए बिना चारित्र नहीं होता। अज्ञानी दैहिक आचरण या क्रिया करके यह मानता है कि अब मुझे धर्म होगा तथा ऐसा कर-करके यह जीव अनन्तबार नवमें ग्रैवेयक में तो गया; परन्तु आत्मदृष्टि बिना एक भी भव कम नहीं हुआ।

मन-वचन-काय की क्रिया और भगवान द्वारा कहे गये पञ्च महाव्रत के परिणाम भी संसार के नाश के कारण नहीं हैं। शुभाशुभभावों का रुकना और अन्तर में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की शुद्धक्रिया होना, वास्तव में तो यही भव के अभाव का कारण है।

आत्मा, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और भव — इन पाँच-परावर्तनोंरूप संसार से रहित निर्दोष परमात्मा है। इन पञ्च-परावर्तनों में भ्रमण करना संसार है। संसार में भ्रमण का कारण पुण्य-पापरूप शुभाशुभकर्म है तथा बाह्य-अभ्यन्तर क्रियाओं का रुकना शुभाशुभ कर्मों के आस्रव के अभाव का कारण है।

निश्चयचारित्रस्वरूप अभेदज्ञान के धारक ज्ञानी को ही पूर्वोक्त बाह्य-अभ्यन्तर दोनों क्रियाएँ रुकती हैं और निमित्त तथा व्यवहार से धर्म माननेवाले अज्ञानी के वे बाह्य और अभ्यन्तर दोनों क्रियाएँ नहीं रुकतीं, भले ही वह द्रव्यलिङ्गी मुनि भी क्यों न हो?

अज्ञानी ऐसा कहता है कि मैं स्त्री-पुत्रादि से छूट गया हूँ। धन-सम्पत्ति आदि परिग्रह से छूट गया हूँ, निमित्तादि से छूट गया हूँ; परन्तु आचार्य कहते हैं कि स्वभाव के भान बिना इनसे छूटना कोई छूटना नहीं कहलाता। जो स्वभाव के भानपूर्वक, स्वभाव में लीनता करके शुभाशुभभाव से छूटा है, वही निमित्तादि से छूटा कहा जाता है। जो कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को मानता है, उसके तो किसी भी प्रकार का त्याग है ही नहीं; परन्तु

जो सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को ही मानता हो, सब परिग्रह घर-परिवार का त्याग किया हो; लेकिन यदि उसे आत्मा का भान नहीं है तो उसे भी त्याग नहीं होता।

जिसको ज्ञानानन्दस्वभावी निज आत्मा की दृष्टिपूर्वक उसमें लीनता करने पर शुभाशुभभावों का त्याग होता है, उसको निमित्तरूप बाह्यक्रियाओं के त्याग को व्यवहार कहा जाता है। द्रव्यलिङ्गी मुनि ने बाह्य में चाहे जितना त्याग कर दिया हो, परन्तु उनके पर्यायदृष्टि के कारण नैमित्तिक विकार नहीं छूटता; इसलिए उनके बाह्यनिमित्त छूटे नहीं कहलाते और आत्मानुभवी ज्ञानी के स्वभाव के भानपूर्वक स्वभाव में लीनता होने पर पुण्य-पापरूप नैमित्तिक विकार सहज ही छूट जाते हैं, अतः उन्हें बाह्यनिमित्त छूटे कहे जाते हैं।

जैनसिद्धान्त प्रवेशिका में भी चारित्र की परिभाषा इसप्रकार लिखी है — 'बाह्य और अभ्यन्तर क्रिया के निरोध से प्रगट हुई आत्मा की शुद्धि विशेष को चारित्र कहते हैं।'

जिसके हिंसादि के परिणाम छूट गये हैं, उसके हिंसादि के निमित्तरूप शरीर की क्रिया भी रुक जाती है — ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। अशुभपरिणामवाला मिथ्यादृष्टि हो या शुभपरिणामवाला मिथ्यादृष्टि हो — दोनों समान हैं, दोनों के उदयभाव अर्थात् संसार समान है। जिसे विकल्प की रुचि है, उसे एक का भी त्याग नहीं होता। परिग्रह का निमित्त छूटा उसे कहा जाता है, जिसके राग की रुचि छूट जाती है और राग की रुचि छूटी तब कही जाती है, जब क्रियारहित ज्ञायकस्वभाव में स्थिरता हो जाती है।

जिसने ज्ञायकस्वभाव को स्वीकार किया है, उसके मिथ्याभाव छूट जाता है और जिसके मिथ्यात्व छूट जाता है, उसको मिथ्यात्व के निमित्त कुदेवादि छूट जाते हैं तथा स्वभाव में स्थिर होते ही राग छूट जाता है। इस प्रकार स्वभाव में लीनता के कारण राग रुक जाता है, राग रुक जाने के कारण राग के निमित्त जड़पदार्थ छूट जाते हैं। अतः स्वभाव में लीन होते ही समस्त बाह्य-अभ्यन्तर क्रिया का त्याग हो जाता है — ऐसा त्याग ज्ञानी के होता है। गाथा में 'णाणिस्स' शब्द का प्रयोग किया है न! वह यह बताता है कि ज्ञानी के ही बाह्य-अभ्यन्तर क्रिया का त्याग होता है और उसे ही चारित्र होता है।

कोई कहे कि अज्ञानी को स्त्री छोड़ने पर ब्रह्मचर्य तो कहो, उसके देह की क्रिया नहीं होती, उसने उसके निमित्त को छोड़ दिया है इतना तो कहो? तो कहते हैं कि नहीं, ऐसा नहीं है। अज्ञानी के निमित्त ही नहीं छूटा है, तब फिर 'निमित्त छूटा' — ऐसा उपचार कैसे सम्भव है ? जिसे आत्मा का भान है और जिसके मन-वचन-काय आदि की क्रिया रुकी है, उस पर ही असद्भूत-उपचरितनय से यह उपचार लागू होता है कि उसने 'बाह्यपदार्थों को छोड़ा है।'

समयसार परमागम के बन्ध अधिकार की अन्तिम गाथाओं में तथा अनेक व्याख्यानों में यह बात बहुत स्पष्टरूप से आ गई है कि 'मैं एक ज्ञायकस्वभाव चिदानन्द हूँ' — ऐसी दृष्टि करे तो निमित्त छूटा कहा जाए। जिसके स्वभाव के आश्रय से निमित्त के लक्ष्य से उत्पन्न हुआ राग छूटता है — ऐसे जीव के ही राग तथा उसके निमित्त छूटे कहे जाते हैं। कुदेवादिरूप निमित्तों का छूटना भी उसके ही कहा जाता है, जिसके कुदेवादि में देवपने की मान्यता छूटकर सुदेवादि के प्रति आदरभाव होता है और बाद में उनका भी लक्ष्य छूटकर आत्मा का लक्ष्य/भान होता है, उसको ही स्वभाव की प्राप्ति होती है।

'आत्मा गृहीत-अगृहीत मिथ्यात्व रहित है।' ऐसा आत्मा का भान होने पर ही गृहीत मिथ्यात्व छूटता है। जो कुदेवादि को मानता है — ऐसे मिथ्यादृष्टि के तो गृहीत व अगृहीत किसी भी मिथ्यात्व का त्याग नहीं है; परन्तु कुदेवादि को किञ्चित् भी न मानकर सुदेवादि के माननेवाले के भी आत्मा के भान बिना अगृहीत मिथ्यात्व का त्याग नहीं होता और गृहीत मिथ्यात्व का अभाव किये बिना अगृहीत मिथ्यात्व का भी त्याग यथार्थ नहीं कहलाता। स्वभाव के भानपूर्वक राग के त्याग को ही त्याग कहा जाता है। जब जीव को सिद्धदशा प्रगट होती है, तब देह का छूटना कहा जाता है। अन्तर में पूर्णदशा/सिद्धदशा प्रगट हुए बिना देह का छूटना नहीं होता।

निश्चयरत्नत्रय (अखण्ड आत्मा की रुचि, ज्ञान और रमणता) परिणत आत्मा को ही बाह्य व अन्तरङ्ग क्रियाओं का त्याग वर्तता है। अन्तर में विकार का त्याग होने पर बाह्य जड़क्रिया रुकती ही है। स्वभाव की रुचि और स्थिरता के बिना अज्ञानी को बाह्यक्रिया के त्याग का उपचार भी लागू नहीं पड़ता।

मूल गाथा में आचार्यदेव ने जिनेन्द्र भगवान को याद किया है। वे कहते हैं कि जिनेन्द्र भगवान ने ऐसा चारित्र कहा है। तात्पर्य यह है कि जिनेन्द्र भगवान की दिव्यध्वनि के अनुसार मैं नेमीचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्ती चारित्र का स्वरूप बता रहा हूँ।

संसारपर्यायरहित शुद्ध-आत्मा की दृष्टि करके उसी में लीनता करने पर संसार का त्याग होता है, उसे चारित्र कहते हैं। मिथ्यादृष्टि मुनि के अभ्यन्तर त्याग तो है ही नहीं, परन्तु बाह्य त्याग भी वास्तविक नहीं है। 'णाणिस्स' शब्द कहकर यह स्पष्ट कर दिया है कि बाह्य-अभ्यन्तर त्याग ज्ञानी को ही होता है, अज्ञानी को नहीं।

आत्मा राग की क्रिया से रहित है। राग के निमित्त से कर्म और कर्म के निमित्त से नोकर्म की प्राप्ति होती है; परन्तु आत्मा तो इन सबकी क्रियाओं से रहित है। ऐसे आत्मा के भान बिना मिथ्यादृष्टि मुनि ने भले ही हजारों रानियों का राग छोड़ा हो; परन्तु यदि वह शुभराग और शुभक्रिया में धर्म मानता है तो उसकी मुक्ति नहीं होती।

अरे! जिसे अभी सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की ही खबर नहीं है, उसे दिव्यस्वभाव की रमणता कैसे हो ? उसका न तो राग छूटता है और न ही राग के निमित्त छूटते हैं।

ज्ञानी जीव को संसार के कारण दूर करने के लिए बाह्य तथा अन्तरङ्ग शुभ-अशुभ क्रिया का त्याग होता है। इसे ही जिनेन्द्र भगवान ने चारित्र कहा है और यह चारित्र सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है।

आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, आत्मा अपने से भिन्न देहादि परद्रव्य की क्रिया करने में समर्थ नहीं है। आत्मा शुभाशुभ मलिनभावों की रुचि छोड़कर अन्तर में अपने ज्ञानानन्दस्वरूप की रुचि और ज्ञानपूर्वक जगत का साक्षी हो जाता है।

जड़पर्याय का कार्य आत्मा के आधीन नहीं है और आत्मा का कल्याण भी पर की सहायता से नहीं होता — इस प्रकार वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान होने पर ही सम्यक्चारित्र होता है। वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान के बिना अर्थात् आत्मा के भान के बिना कैसी भी क्रियाएँ करे तो भी धर्म नहीं होता, अधर्म-अज्ञान ही रहता है।

'वीतरागी सम्यक्त्व' कहा — इसका अर्थ यह है कि रागादिभाव से कल्याण नहीं होता। 'मेरा कल्याण अन्तर के अवलम्बन से ही होता है' — ऐसे दृढ़ श्रद्धानपूर्वक 'पर

का कल्याण मेरे से नहीं होता' — ऐसा विवेक जागृत होता है। साथ ही ऐसी मान्यता नहीं रहती कि पर का कल्याण करने से मेरा कल्याण हो जाएगा। 'मेरा कल्याण मेरे से होता है' — ऐसे श्रद्धा-ज्ञान बिना के चारित्र नहीं होता।

अनन्त-आत्माएँ और अनन्तानन्त पुद्गलद्रव्य सभी स्वतन्त्र हैं। पर के अवलम्बन से दया-दान होता है, जो आत्मा के लिए किञ्चित् भी हितकारी नहीं हैं। मेरा चिदानन्द स्वरूप ही मेरा है और वही मुझे हितकर है, जिसके ऐसी दृष्टि हुई है, उसके ही सम्यक्चारित्र होता है।

इस प्रकार वीतराग सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के अविनाभूत तथा निश्चयरत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग के तीसरे अवयवरूप, वीतराग चारित्र का व्याख्यान पूर्ण हुआ।

इस ग्रन्थ की टीका करते हुए श्री ब्रह्मदेवसूरि ने विषय को ध्यान में रखते हुए पूरे अधिकार को स्थलों एवं अन्तराधिकारों में वर्गीकृत करके वर्णन किया है। यहाँ तीसरे अधिकार के दो स्थलों में पहला अन्तराधिकार पूर्ण हुआ है, जिसका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है —

मोक्षमार्ग के प्रतिपादक तीसरे अधिकार के प्रथम अन्तराधिकार के प्रथम स्थल में निश्चय-व्यवहाररूप मोक्षमार्ग के संक्षेप कथन में दो गाथाएँ तथा दूसरे स्थल में उसी मोक्षमार्ग के अवयवरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के विशेष व्याख्यानरूप से छह गाथाएँ — इस प्रकार दो स्थलों के समुदायरूप आठ गाथाओं द्वारा प्रथम अन्तराधिकार पूर्ण हुआ।

आगे दूसरे अन्तराधिकार में भी तीन स्थलों द्वारा क्रमशः प्रथम स्थल में ध्यान, ध्याता, ध्येय और ध्यानफल के कथन की मुख्यता से तीन गाथाएँ तत्पश्चात् दूसरे स्थल में पञ्च परमेष्ठियों के व्याख्यानरूप से पाँच गाथाएँ और तीसरे स्थल में ध्यान के उपसंहाररूप विशेष व्याख्यानरूप से चार गाथाएँ कही गई हैं। इस प्रकार दूसरे अन्तराधिकार का समुदायरूप कथन तो यहाँ किया, विस्तार से आगे करेंगे।

❖❖❖

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-४७

अब, निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग का जो ध्यान, उसका अभ्यास करो इस प्रकार उपदेश देते हैं —

दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तह्मा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह ॥४७॥

द्विविधं अपि मोक्षहेतुं ध्यानेन प्राप्नोति यत् मुनिः नियमात्।
तस्मात् प्रयत्नचित्ताः यूयं ध्यानं समभ्यसत्॥४७॥

अरे दोनों मुक्तिमग बस ध्यान में ही प्राप्त हो।
इसलिए चित्तप्रसन्न से नित करो ध्यानाभ्यास तुम॥४७॥

गाथार्थ :— ध्यान करने से मुनि नियम से निश्चय और व्यवहाररूप मोक्षमार्ग को प्राप्त करते हैं। अतः तुम चित्त को एकाग्र करके ध्यान का सम्यक् प्रकार से अभ्यास करो।

टीका :— '**दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा**' क्योंकि मुनि नियम से ध्यान द्वारा दोनों प्रकार के मोक्ष के कारणों को प्राप्त करते हैं। विशेष — क्योंकि निश्चयरत्नत्रयस्वरूप निश्चय-मोक्ष हेतु अर्थात् निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहार-रत्नत्रयात्मक व्यवहार-मोक्ष हेतु अर्थात् व्यवहारमोक्षमार्ग; जिनका साध्य-साधकभावरूप से पहले कथन किया है, उन दोनों प्रकार के मोक्षमार्गों को निर्विकार स्वसम्वेदनरूप परमध्यान द्वारा मुनि प्राप्त करते हैं, '**तह्मा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह**' इसलिए एकाग्रचित्त होकर हे भव्यजनो! तुम ध्यान का सम्यक् प्रकार से अभ्यास करो अथवा इसी कारण देखे हुए, सुने हुए और पूर्व में अनुभव किये हुए अनेक मनोरथरूप समस्त शुभाशुभ रागादि विकल्पजाल का त्याग करके, परम स्वास्थ्य से उत्पन्न सहजानन्द जिसका एक लक्षण है — ऐसे सुखामृत के रसास्वाद के अनुभव में स्थिर होकर, तुम ध्यान का अभ्यास करो॥४७॥

गाथा ४७ पर प्रवचन

ध्यान करने से मुनि नियम से निश्चय और व्यवहाररूप मोक्षमार्ग को पाते हैं। अतः तुम चित्त को एकाग्र करके, उस ध्यान का भले प्रकार अभ्यास करो।

यहाँ मुनिराज की मुख्यता से ध्यान की बात कर रहे हैं।

आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसकी दृष्टि और रमणता करना ध्यान है। आत्मस्वरूप को समझे बिना जगत जिसे ध्यान कहता है, उस ध्यान में बैठ जाना सच्चा ध्यान नहीं है। संसार और मोक्ष दोनों ध्यान से ही मिलते हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, दया, दान, सेवा आदि के विकारीभाव (आर्त-रौद्रध्यान) संसार के कारण हैं और आत्मध्यान मोक्ष का कारण है।

प्रथम यह जानना चाहिए कि शरीर-मन-वाणी आत्मा से भिन्न परवस्तुएँ हैं, वे मुझे अर्थात् आत्मवस्तु को छूते भी नहीं हैं। 'प्रत्येक तत्त्व भिन्न-भिन्न है' — ऐसी प्रतीतिपूर्वक परसन्मुखता छूटने पर और 'मैं ज्ञाता हूँ' — ऐसी अन्तर की रुचि होने पर ध्यान होता है, उससे निश्चय-व्यवहारमोक्षमार्ग प्रगट होता है। 'मैं देश, शरीर आदि परद्रव्यों का कर्ता हूँ' - यह आत्मा पहले ऐसा मानता था और ऐसा मानकर पर तथा विकार में अटकता था, अब ज्ञानी होने पर उसने 'उससे भिन्न आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है' — ऐसा जानकर अपने ध्यान की दिशा बदल ली है।

बहिर्मुखदशा तो दुर्ध्यान है, विकार है, चैतन्य के लिए लाभदायक नहीं है। यह ज्ञानस्वभावी आत्मा अपने अज्ञान से परसन्मुखतारूप शुभाशुभभावों द्वारा मोक्ष प्राप्त करना चाहता है, परन्तु यह तो मिथ्याभावना है, ऐसी (खोटी) बुद्धि और भावना मुनिराज के छूट गई है।

पुण्य-पाप विकार है, वह मेरे स्वभाव में नहीं है, मेरे स्वभाव में तो आनन्द है, जिसके ऐसी स्वरूप की दृष्टि हुई है, उसे पवित्रतारूप मोक्षमार्ग नियम से मिलता ही है तथा जब तक ध्यान में पूर्ण स्थिर नहीं हो सकता, तब तक व्यवहारमोक्षमार्ग का विकल्प उठता है; इसलिए यहाँ श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती अन्तर के अनुभवसहित कहते हैं कि हे भव्य! अभी तक तूने अपने चित्त को बाहर में एकाग्र किया है, अब उसे अपने अन्तर में एकाग्र कर — यही एकमात्र मोक्ष का उपाय है।

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु कहते हैं कि अन्तर्मुख झुकाव ही धर्म का कारण है। 'पर का मैं कुछ कर सकता हूँ' — ऐसा कहनेवाले अर्थात् पर से लाभ-हानि माननेवाले कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र हैं, वे सच्चे नहीं हैं। तेरा चित्त पर की ओर ढलता है और दया-

दानादि के विकल्पों में वर्तता है, अब उससे छूटकर आत्मसन्मुख हो, वही सच्चा ध्यान है — ऐसा सच्चे गुरु कहते हैं। चैतन्य की सन्मुखतापूर्वक उसकी दृष्टि, ज्ञान और लीनता ही मोक्षमार्ग है।

ध्यान से ही मुनिराज दोनों प्रकार के मोक्षमार्ग प्राप्त करते हैं; शरीर, मन, वाणी या पर की सहायता से मोक्षमार्ग प्रगट नहीं कर सकते हैं।

अज्ञानी कहता है कि हमें तो समस्त सांसारिक कार्य भी करना है, उसमें यह ध्यान कैसे करें ?

भाई! यह दिशा पलटने की बात है। स्वभावसन्मुख दृष्टि से उसमें एकाग्र होना — यह निश्चय है और विकल्प उठे तो सच्चे देवादिक से जिनवाणी सुने, उनकी सेवा-पूजा करे और झूठे से नहीं सुने — यह व्यवहार है; परन्तु यह व्यवहार भी व्यवहार तब कहा जाता है, जब निश्चय होता है। निश्चय के बिना व्यवहार, व्यवहार नहीं कहलाता।

आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और रमणतारूप निश्चयरत्नत्रय ही मोक्ष का कारण है तथा सर्वज्ञदेव और निर्ग्रन्थ मुनियों द्वारा कहे हुए शास्त्रों की प्रतीति तथा ज्ञानरूप विकल्प व्यवहार से मोक्ष का कारण है। इस प्रकार दोनों मोक्षमार्ग कहे हैं।

पुण्य-पापरहित स्वसम्वेदनरूप आत्मध्यान से - अन्तरध्यान से ही दोनों मोक्षमार्ग प्राप्त होते हैं। अज्ञानी को यह बात समझ में आती नहीं है। अनन्त बार मुनि होकर नवमें ग्रैवेयक में गया, मगर आत्मा के यथार्थरूप की खबर नहीं होने से कल्याण नहीं हुआ; क्योंकि वह ऐसा मानता है कि आत्मा शरीर को चलाता है और पुण्य-भाव से कल्याण होता है, परन्तु जैनदर्शन अर्थात् वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है।

आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूपी है, स्वभाव से परमात्मा है, पर्याय में विकार है और उस विकार की रुचि छोड़कर ज्ञानानन्दस्वरूप की रुचिपूर्वक एकाग्रता करने पर मोक्षमार्ग प्रगट होता है। त्रिकाल यही एक मोक्षमार्ग है। पर्याय में राग-द्वेष होते हैं, उनकी रुचि छोड़ना कहो या पर्यायबुद्धि छोड़ना कहो एक ही बात है। ज्ञान का (आत्मा का) ज्ञान से (ज्ञानपर्याय से) अनुभव किया जाता है। तात्पर्य यह है कि स्वसम्वेदन से ही मोक्षमार्ग प्रगट होता है। विकाररहित आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता द्वारा मोक्षमार्ग प्राप्त होता है। देव-शास्त्र-गुरु के निमित्त से भी मोक्षमार्ग प्राप्त नहीं होता, क्योंकि वे तो आत्मा

को परद्रव्य है और पर से मोक्षमार्ग तो होता ही नहीं है, विकार भी पर से नहीं होता; क्योंकि यदि विकार पर से हो तो विकाररहित होने का कभी प्रसङ्ग ही न आवे। शरीरादि भी पर हैं, परन्तु यहाँ उनकी बात नहीं की, क्योंकि पहले उन्हें नहीं मिटाना है; परन्तु पर्याय में जो विकार होता है, स्वभाव में स्थिरता द्वारा उसका अभाव हो सकता है, इसलिए आत्मा की पहले विकार से भिन्नता कही है।

जिसे स्वभावसन्मुखदशा प्रगट हुई है, उसे अस्थिरताजन्य अल्प शुभराग रह जाता है। शुभराग आता है अर्थात् व्यवहारमोक्षमार्ग ध्यान की कचास (अपूर्णता) दशा में होता है। यह व्यवहारमोक्षमार्ग भी व्यवहार के लक्ष्य से प्राप्त नहीं होता। आत्मा की पूर्ण आनन्ददशा मोक्ष है और उस मोक्ष का कारण आत्मा की प्रतीति, ज्ञान और रमणता है।

निश्चय प्राप्त होने पर ही व्यवहार प्राप्त हुआ कहने में आता है। यह एक ही नियम है। मूल गाथा में समागत 'णियमा' शब्द इसी बात को बताता है।

पर्यायगत क्षणिक विकार और ज्ञान से पार आत्मा पूर्ण है। जब ऐसे पूर्णस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-रमणता होती है, तब उस काल में हुए शुभराग को सच्चा व्यवहार कहा जाता है और आत्मभान बिना सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति उत्पन्न भक्तिभावरूप शुभभाव को भी व्यवहार नहीं कहा जाता।

अहो! आचार्य भगवान ने अद्‌भुत रीति से अलौकिक बात कही है। परसन्मुखता को छुड़ाकर आत्मसन्मुखता कराई है। अहो! संतों की वाणी लोकालोक से भेदज्ञान कराती है। मुनिराज शिष्य को सुनाते हैं कि हमारी वाणी सुनने का जो तुझे शुभराग उठता है, वह भी सच्चा व्यवहार नहीं है। वह व्यवहार भी सच्चा तब कहलाता है कि जब तू हमारा लक्ष्य छोड़कर, हमें सुनने की रुचि छोड़कर अन्दर में स्थिर होकर निश्चय मोक्षमार्ग प्रगट कर लेता है। यही बात समयसार की १४३वीं गाथा में भी कही गयी है।

अरे भाई! धर्म तो अन्दर से प्राप्त होता है, बाह्यक्रिया से नहीं। अन्दर में स्वसन्मुखता के पुरुषार्थ से निश्चयमोक्षमार्ग प्रगट होता है।

मोक्षमार्ग का कारण एक ध्यान ही है, धर्म करने की यही एक रीति है। मैं जानने-देखनेवाला हूँ, कोई क्रिया करनेवाला नहीं — ऐसी अन्तर्मुख दृष्टि, ज्ञान और रमणता से निश्चय और व्यवहार — दोनों मोक्षमार्ग प्राप्त होते हैं। इसलिए हे भव्य! तू अच्छी

तरह से अपने आत्मा का ध्यान कर। जैसे व्यापार आदि में अच्छी तरह से चित्त लगाकर पर का ध्यान करता है, वैसे ही चित्त लगाकर अपना ध्यान कर। उस ध्यान से तुझे दोनों मोक्षमार्ग प्राप्त होंगे।

ग्रन्थकार कहते हैं कि तू देखी हुई वस्तु को भूल जा, भगवान और मूर्ति को भूल जा, भगवान की सुनी हुई दिव्यध्वनि भूल जा, पर तरफ की वृत्ति हुई हो, हर्ष हुआ हो, लौकिक में सन्तोष हुआ हो — उन सभी अनुभवों को भूल जा तथा मैं कल ऐसा करूँगा — ऐसे मनोरथ को भी भूल जा अर्थात् सम्पूर्ण शुभाशुभभावों का त्याग कर। तात्पर्य यह है कि पुरुषार्थ द्वारा परम निजस्वरूप ज्ञायक ध्रुव नित्यान्नद की दृष्टि करके उसमें स्थिर होते ही, जो आनन्द ध्रुव में पड़ा है, वह पर्याय में प्रगट हो जाता है, उसे मोक्षमार्ग कहते हैं।

जो विकार की रुचि छोड़कर ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा में स्थिर होता है, उसे आनन्द प्रगट होता है। यहाँ दु:ख का अभाव होकर सुख प्रगट हुआ तथा ध्रुवतत्त्व आत्मा कायम रहा — इस प्रकार यहाँ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य भी सिद्ध होता है। देखे हुए, सुने हुए और अनुभव किए हुए विषयों की रुचि का नाश हुआ और स्वभाव की रुचि करने से स्वभाव में जो आनन्द शक्तिरूप था वह अन्दर की एकाग्रता से प्रगट हुआ - ऐसे सहजानन्द लक्षण वाले अमृतरस के अनुभव में स्थिर होकर हे भव्यो! तुम ध्यान का अभ्यास करो, क्योंकि इससे ही निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग प्रगट होता है, अन्य से नहीं।

स्वभाव की एकाग्रता से जो आनन्द प्रगट होता है, उसी में स्थिर होना ध्यान है अर्थात् एकाग्रता ही ध्यान है। आत्मा के अनुभव से निज आनन्द से ही ध्यान प्रगट होता है। उससे निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग प्रगट होते हैं।

यहाँ ध्यान अर्थात् चारित्र की बात चल रही है। जिसे ज्ञायकस्वरूप आत्मा का भान है, उसे उपदेश वचन से कहा जाता है कि परसन्मुखतारूप राग की वृत्ति छोड़! वास्तविकता तो यह है कि स्वभाव में स्थिरता होने पर राग छूट जाता है।

❖❖❖

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-४८

अब ध्याता-पुरुष का (ध्यान करने वाले पुरुष का) लक्षण कहते हैं —

मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह इट्ठणिट्ठअट्ठेसु।
थिरमिच्छहि जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए॥४८॥
मा मुह्यत मा रज्यत मा द्विष्यत इष्टानिष्टार्थेषु।
स्थिरं इच्छत यदि चित्तं विचित्रध्यानप्रसिद्ध्यै॥४८॥

यदि कामना है निर्विकल्पक ध्यान में हो चित्त थिर।
तो मोह-राग-द्वेष इष्टानिष्ट में हो चित्त थिर॥४८॥

गाथार्थ :— यदि तुम विचित्र (अनेक प्रकार के) अथवा विचित्त (विकल्पजाल रहित) ध्यान की सिद्धि के लिये चित्त को स्थिर करना चाहते हो, तो इष्ट और अनिष्ट इन्द्रिय विषयों में मोह, राग और द्वेष न करो।

टीका :— **'मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह'** समस्त मोह-राग-द्वेषजनित विकल्पजाल से रहित निज परमात्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न परमानन्द जिसका एक लक्षण है, ऐसे सुखामृत के रस से उत्पन्न हुए और उसी परमात्म सुख के आस्वाद में लीन-तन्मयरूप जो परमकला अर्थात् परम संवित्ति, उसमें स्थिर होकर हे भव्य जीवो! मोह, राग और द्वेष न करो। किन विषयों में? **'इट्ठणिट्ठअट्ठेसु'** माला, स्त्री, चन्दन, ताम्बूल आदि इष्ट इन्द्रिय विषयों में और सर्प, विष, कण्टक, शत्रु, रोग आदि अनिष्ट इन्द्रियविषयों में। क्या चाहते हो तो राग-द्वेष न करना ? **'थिरमिच्छहि जइ चित्तं'** यदि उसी परमात्मा के अनुभव में तुम स्थिर-निश्चल चित्त चाहते हो तो। किसलिये स्थिर चित्त चाहते हो? **''विचित्त-झाणप्पसिद्धीए''** 'विचित्र' अर्थात् अनेक प्रकार के ध्यान की प्रसिद्धि के लिये अथवा जिस ध्यान में से चित्त विगत (नष्ट) हो गया हो अर्थात् चित्त में उत्पन्न होते हुए शुभाशुभ विकल्पजाल नष्ट हो गये हों, वह 'विचित्त' ध्यान है, ऐसे 'विचित्त ध्यान' की सिद्धि के लिये।

अब, प्रथम ही आगमभाषा से उसी ध्यान के अनेक प्रकार के भेदों का कथन किया जाता है। वह इस प्रकार है — इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग और रोग — इन तीनों को दूर

करने में और भोगों के कारणों में वाञ्छारूप - इस भाँति चार प्रकार का आर्तध्यान है। वह आर्त्तध्यान तारतम्यता से मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर छट्ठे गुणस्थान तक के जीवों को संभव है। वह आर्त्तध्यान यद्यपि मिथ्यादृष्टि जीवों को तिर्यञ्च गति के बन्ध का कारण होता है तो भी जिस जीव को सम्यक्त्व प्राप्त होने से पहले तिर्यञ्च आयु बँध गई हो, उसके अतिरिक्त अन्य सम्यग्दृष्टि को वह आर्तध्यान तिर्यञ्च गति का कारण नहीं होता है।

प्रश्न - कारण कैसे नहीं होता है ?

उत्तर - 'स्व शुद्धात्मा ही उपादेय है' ऐसी विशिष्ट भावना के बल से तिर्यञ्च गति के कारणभूत संक्लेशभाव का उसको अभाव होने से।

अब, रौद्रध्यान का कथन करते हैं — हिंसा में आनन्द, झूठ बोलने में आनन्द, चोरी में आनन्द और विषयों का संरक्षण करने में आनन्द से उत्पन्न चार प्रकार का रौद्रध्यान है। वह रौद्रध्यान तारतम्यता से मिथ्यादृष्टि से लेकर पाँचवें गुणस्थान तक के जीवों के सम्भव है। वह रौद्रध्यान मिथ्यादृष्टि जीवों को नरकगति का कारण है तो भी जिस जीव को सम्यक्त्व प्राप्त करने से पहले नरक की आयु बँधी हो उसके अतिरिक्त अन्य सम्यग्दृष्टि जीवों को वह नरकगति का कारण नहीं होता है।

प्रश्न - किस कारण से नहीं होता है?

उत्तर - 'निज शुद्धात्मतत्त्व ही उपादेय है' ऐसे विशिष्ट भेदज्ञान के बल से नरकगति के कारणभूत तीव्र संक्लेशभाव का उनको अभाव होने से।

अब, आगे आर्तध्यान और रौद्रध्यान के परित्यागरूप आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय नामक चार भेद संयुक्त, तारतम्यवृद्धि क्रम से असंयत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत — इन चार गुणस्थानवर्ती जीवों को सम्भव, मुख्यरूप से पुण्यबंध का कारण होने पर भी परम्परा से मोक्ष का कारणभूत धर्मध्यान अब कहा जाता है। वह इस प्रकार है — स्वयं मन्दबुद्धि हो और विशिष्ट ज्ञानी गुरु की प्राप्ति न हो, तब शुद्ध जीवादि पदार्थ सूक्ष्म होने से, **'सूक्ष्मं जिनोदितं वाक्यं हेतुभिर्यन्न हन्यते। आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः॥'** अर्थ — श्री जिनेन्द्र का कहा हुआ जो सूक्ष्मतत्त्व है, वह हेतुओं से खण्डित नहीं होता है, अतः जो सूक्ष्म

तत्त्व है, उसे जिनेन्द्रदेव की आज्ञानुसार ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि श्री जिनेन्द्रदेव अन्यथावादी नहीं होते है। इस श्लोक में कहे अनुसार पदार्थ का निश्चय करना वह 'आज्ञाविचय' नामक प्रथम धर्मध्यान कहलाता है। उसी प्रकार भेदाभेद रत्नत्रय की भावना के बल से हमारे अथवा अन्य जीवों के कर्मों का नाश कब होगा — इस प्रकार का चिन्तन उसे 'अपायविचय' नामक दूसरा धर्मध्यान जानना। शुद्ध निश्चयनय से यह जीव, शुभाशुभ कर्मों के उदय से रहित है तो भी अनादि कर्मबन्ध के वश से पाप के उदय से नारक आदि के दुःखरूप फल का अनुभव करता है और पुण्य के उदय से देवादि के सुखरूप फल को भोगता है — ऐसी विचारणा को 'विपाकविचय' नामक तीसरा धर्मध्यान जानना। पहले कही हुई लोक-अनुप्रेक्षा के चिन्तन को 'संस्थानविचय' नामक चौथा धर्मध्यान कहते हैं।

अब, पृथकत्ववीतर्कवीचार, एकत्ववितर्कअवीचार, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक चार प्रकार के शुक्लध्यान का कथन करते हैं। वह इस प्रकार है — प्रथम पृथकत्ववितर्कवीचार नामक शुक्लध्यान का कथन करते हैं। द्रव्य, गुण और पर्याय के भिन्नपने को 'पृथकत्व' कहते हैं। स्व शुद्धात्मा की अनुभूति जिसका लक्षण है — ऐसे भावश्रुत को और उसके (स्वशुद्धात्मा के) वाचक अतजल्परूप वचन को 'वितर्क' कहते हैं। इच्छा के बिना एक अर्थ से दूसरे अर्थ में, एक वचन से दूसरे वचन में, मन-वचन-काय इन तीन योगों से किसी एक योग से दूसरे योग में जो परिणमन (पलटना) होता है, उसे 'वीचार' कहते हैं। इसका अर्थ इस प्रकार है — यद्यपि ध्यान करनेवाला पुरुष निज शुद्धात्मा का सम्वेदन छोड़कर बाह्य पदार्थों का चिन्तन नहीं करता है तो भी उसे जितने अंश में स्वरूप में स्थिरता नहीं है, उतने अंश में इच्छा के बिना विकल्प उत्पन्न होते हैं; इस कारण इस ध्यान को 'पृथकत्ववितर्कवीचार' कहते हैं। यह प्रथम शुक्लध्यान उपशमश्रेणी की विवक्षा में अपूर्वकरण-उपशमक, अनिवृत्तिकरण-उपशमक, सूक्ष्मसाम्पराय उपशमक और उपशान्त कषाय — इन चार गुणस्थानों में होता है और क्षपकश्रेणी की विवक्षा में अपूर्वकरण-क्षपक, अनिवृत्तिकरण-क्षपक और सूक्ष्मसाम्पराय क्षपक — इन तीन गुणस्थानों में होता है। इस प्रकार प्रथम शुक्लध्यान का व्याख्यान हुआ।

निज शुद्धात्मद्रव्य में अथवा विकाररहित आत्मसुख के अनुभवरूप पर्याय में अथवा

उपाधिरहित स्व-सम्वेदन गुण-पर्याय — इन तीनों में से जिस एक में (द्रव्य, गुण अथवा पर्याय में) प्रवृत्त हो, उसमें ही वितर्क नामक स्वसम्वेदन लक्षणयुक्त भावश्रुत के बल से स्थिर होकर अवीचाररूप होता है अर्थात् द्रव्य, गुण अथवा पर्याय में परावर्तन नहीं करता है, वह क्षीणकषाय गुणस्थान में संभव 'एकत्ववितर्कअवीचार' नामक दूसरा शुक्लध्यान कहलाता है। इस दूसरे शुक्लध्यान से ही केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है।

अब, सूक्ष्मकाय की क्रिया के व्यापाररूप और अप्रतिपाति (जिससे गिरना नहीं हो) ऐसा 'सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति' नामक तीसरा शुक्लध्यान है। वह उपचार से 'सयोगकेवली जिन' गुणस्थान में होता है।

जिसमें से क्रिया विशेषरूप से उपरत अर्थात् निवृत्त हुई है, वह 'व्युपरतक्रिया' है। व्युपरतक्रिया हो (सर्व क्रिया की निवृत्ति हुई हो) और अनिवृत्ति हो अर्थात् मुक्ति न हुई हो, वह 'व्युपरतक्रियानिवृत्ति' नामक चौथा शुक्लध्यान है। वह उपचार से 'अयोगीकेवलीजिन' गुणस्थान में होता है। इस प्रकार संक्षेप में आगमभाषा से भिन्न-भिन्न प्रकार के ध्यानों का व्याख्यान किया।

अध्यात्मभाषा से सहज-शुद्ध-परम-चैतन्यशाली, परिपूर्ण आनन्द के धारक भगवान निजात्मा के उपादेयबुद्धि करने के पश्चात् 'मैं अनन्त ज्ञानमय हूँ, मैं अनन्त सुखरूप हूँ' इत्यादि भावनारूप अन्तरङ्ग धर्मध्यान कहलाता है। पञ्च परमेष्ठियों की भक्ति आदि उसके अनुकूल (अन्तङ्ग धर्मध्यान को व्यवहार से अनुकूल) शुभ अनुष्ठान, वह बहिरङ्ग धर्मध्यान है। उसी प्रकार निज शुद्धात्मा में विकल्परहित समाधिरूप शुक्लध्यान है। अथवा '**पदस्थं मन्त्रावाक्यस्थं पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनम्। रूपस्थं सर्वचिद्रूपं रूपातीतं निरञ्जनम्॥**' अर्थ — मन्त्रवाक्यों में स्थित 'पदस्थध्यान' है, निज आत्मा का चिन्तन, वह 'पिण्डस्थ ध्यान है, सर्वचिद्रूप का चिन्तन, वह रूपस्थ ध्यान' है और निरञ्जन का ध्यान रूपातीत ध्यान है। इस श्लोक में कहे अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार का ध्यान जानना।

अब, ध्यान के प्रतिबन्धक मोह, राग और द्वेष का स्वरूप कहते हैं। शुद्धात्मा आदि तत्त्वों में विपरीत अभिप्राय उत्पन्न करनेवाला वह मोह, दर्शनमोह अथवा मिथ्यात्व है। निर्विकार स्वसम्वेदन जिसका लक्षण है, ऐसे वीतराग चारित्र को आवरण करनेवाला चारित्रमोह, वह राग-द्वेष कहलाता है।

प्रश्न — चारित्रमोह शब्द से राग-द्वेष किस प्रकार कहा जाता है ?

उत्तर — कषायों में क्रोध-मान ये दो द्वेष के अंश हैं और माया-लोभ ये दो राग के अंश हैं। नो कषायों में स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये — तीन वेद तथा हास्य और रति — ये दो (ये पाँच नो कषाय) राग के अंश हैं। अरति और शोक — ये दो तथा भय और जुगुप्सा — ये दो (ये चार नो कषाय) द्वेष के अंश हैं — इस प्रकार जानना।

यहाँ शिष्य पूछता है — राग, द्वेष आदि कर्मजनित हैं अथवा जीवजनित हैं ? उसका उत्तर — स्त्री और पुरुष इन दोनों के संयोग से उत्पन्न हुए पुत्र की भाँति, चूने और हल्दी के मिश्रण से उत्पन्न हुए वर्णविशेष की भाँति, राग-द्वेष आदि जीव और कर्म इन दोनों के संयोगजनित हैं। नय की विवक्षा के अनुसार, विवक्षित एकदेश शुद्ध निश्चयनय से राग-द्वेष कर्मजनित कहलाते हैं और अशुद्ध निश्चयनय से जीव जनित कहलाते हैं। यह अशुद्ध निश्चयनय, शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से व्यवहार ही है।

प्रश्न — साक्षात् शुद्ध निश्चयनय से ये राग-द्वेष किसके हैं ? ऐसा हम पूछते हैं।

उत्तर — साक्षात् शुद्ध निश्चय से, स्त्री और पुरुष के संयोगरहित पुत्र की भाँति, चूना और हल्दी के संयोगरहित रङ्ग विशेष की भाँति, उनकी (राग-द्वेषादि की) उत्पत्ति ही नहीं है; तो कैसे उत्तर दें ?

इस प्रकार ध्याता के व्याख्यान की मुख्यता से, उसके आश्रय से, विचित्र ध्यान के कथन द्वारा यह गाथा पूर्ण हुई॥४८॥

गाथा ४८ पर प्रवचन

हे भव्यजनो! यदि तुम नाना प्रकार के ध्यान अथवा जो विकल्परहित ध्यान की सिद्धि के लिए चित्त को स्थिर करना चाहते हो तो इष्ट तथा अनिष्टरूप जो इन्द्रियों के विषय हैं, उनमें राग-द्वेष-मोह मत करो।

हे भव्यजनो! ''ध्यान करो'' ऐसा कहा — इसका अर्थ यह हुआ कि उपदेशक, श्रोता को उपदेश देते हैं और श्रोता रुचिपूर्वक उपदेश को सुनता है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रवक्ता और श्रोता दो व्यक्ति हैं।

जब प्रवक्ता यह कहते हैं कि पर-पदार्थों की रुचि छोड़कर स्व-स्वरूप की रुचि

एवं एकाग्रता करो, तब यह सुनकर शिष्य को ज्ञान होता है कि परवस्तु भी है और उसका ध्यान भी होता है; परन्तु वह पर का ध्यान है, बुरा ध्यान है; हितकारी नहीं है। और पर से भिन्न त्रिकाल रहनेवाले निज चैतन्यस्वरूप का ध्यान ही सच्चा ध्यान है और वही हितकारी है।

आचार्यदेव कहते हैं कि हे भव्य! यदि तुम निर्मलदशा अर्थात् सच्चा सुख प्रगट करना चाहते हो तो जिस प्रकार हम कहते हैं, उस प्रकार अपने स्वरूप का ध्यान करो। हम जबरदस्ती नहीं करते, यदि अपना हित चाहते हो तो परपदार्थों की रुचि एवं एकाग्रता छोड़कर स्वभाव की रुचि एवं एकाग्रता करो।

चैतन्यस्वरूप ज्ञायक भगवान आत्मा की एकाग्रता से अनेक निर्मल दशाएँ प्रगट होती हैं; इसलिए नाना प्रकार के ध्यान ऐसा कहा है।

यहाँ ध्यान अर्थात् चारित्र की बात चल रही है। जिसे ज्ञायकस्वरूप आत्मा का भान है, उसे उपदेश वचन से कहा जाता है कि पर सन्मुखतारूप राग की वृत्ति छोड़। वास्तविकता तो यह है कि स्वभाव में स्थिरता होने पर राग छूट जाता है।

पाँच इन्द्रियों के विषय वास्तव में तो ज्ञेय हैं, परन्तु वे विषय राग के निमित्त हैं; इसलिए परद्रव्य के प्रति राग-द्वेष-मोह मत करो — ऐसा कहा है। वास्तव में तो स्वभाव की दृष्टि करते ही मोह का नाश होता है और स्थिरता करते ही राग-द्वेष का अभाव होता है। पाँच इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के विषय व पुण्य-पाप की बात तो उनकी रुचि छोड़कर स्व-स्वरूप की रुचि कराने के लिए बताई है।

त्रिकाली स्वभाव, मोह-राग-द्वेषरहित है — ऐसा निश्चय करके, उसमें एकाग्र होने पर राग-द्वेष की उत्पत्ति ही नहीं होती; इसलिए राग-द्वेष छोड़ो — ऐसा उपदेश दिया है। चैतन्यध्रुव स्वभाव में एक समय का भी संसार नहीं है, यदि उसमें एक समय का भी संसार हो तो संसार कभी छूट नहीं सकता।

भव्य जीव प्रथम ही यह निर्णय करता है कि परम आत्मा अर्थात् निज शुद्धात्मा समस्त मोह-राग-द्वेषरहित है। पर्यायबुद्धि (दृष्टि) छोड़े बिना स्वाभावबुद्धि नहीं होती और स्वभावबुद्धि हुए बिना ध्यान या चारित्र नहीं होता। शरीर, कर्म आदि तो पर हैं ही, राग-द्वेष भी आत्मा का स्वभाव नहीं है, संसाररूप उदयभाव का भी आत्मा में

अभाव है; संसार तो एक समय की पर्याय में है, त्रिकाली स्वभाव में नहीं। त्रिकाली स्वभाव के आश्रय से उदयभाव का अभाव होता है। आत्मा ज्ञायकस्वभावी है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान-रमणतारूप आत्मभावना से परमानन्द उत्पन्न होता है और मोह-राग-द्वेष से विकल्प उत्पन्न नहीं होते हैं। जिस स्वभाव के श्रद्धान-ज्ञान-आचरण से नवीन परमानन्दरूप सुखरूप दशा उत्पन्न हुई है, यहाँ उस सुखामृत लक्षणरूप स्वभाव में स्थिर होने को कहते हैं।

अहाहा..... ! दिगम्बर मुनिराजों की एक-एक गाथा में बारह अङ्ग और चौदह पूर्व का रहस्य भरा है।

'स्वभाव में मोह-राग-द्वेष नहीं है' इस प्रकार आत्मा की श्रद्धा एवं स्थिरता से परम कला उत्पन्न होती है। जगत की कला, विज्ञान की कला सब झूठी है, दुःखदायक है। आत्मा की भावना कहो, परम कला कहो, परम आनन्द कहो — सभी एकार्थक हैं। परमसंवित्ति अर्थात् आत्मा के साक्षात्कार में अर्थात् अनुभव में स्थिर रहकर मोह-राग-द्वेष को छोड़ो — ऐसा उपदेश वाक्य है। आत्मा स्वयं ज्ञानस्वभावी है, राग, द्वेष, मन एवं इन्द्रियों के अवलम्बन बिना असङ्गतत्त्व के स्वयं प्रत्यक्ष हुए बिना अर्थात् ज्ञान की प्रत्यक्षता बिना यह अमुक चीज है, अमुक वस्तु का ऐसा परिणमन हो रहा है — ऐसा जानेगा कौन ? इसलिए आत्मा की संवित्ति ही परम कला है। हे भव्य जीव! जिस कला से केवलज्ञान प्रगट हो, उस कला में तत्पर होओ। देह में रहे हुए आत्म को पहिचान कर उसमें प्रीति करके उसके आनन्द में स्थिर होकर हे भव्यजीवो! मोह-राग-द्वेष मत करो। मात्र बाह्य पदार्थों के छूटने से मोहादि नहीं छूटते, परन्तु स्व स्वरूप की रुचि एवं स्थिरता करते ही मोहादि छूट जाते हैं अर्थात् फिर मोहादि उत्पन्न ही नहीं होते। यहाँ कहते हैं कि तू शान्ति तथा आनन्द लेना चाहता है न! तो तेरा निज भगवान आत्मा, जो शान्ति और आनन्द से भरा है, उसे देख।

दया, दान एवं हीरा, मोती, फूलमाल, चन्दन, स्त्री वगैरह ये सभी राग के निमित्त हैं, इनमें राग मत कर और स्वभाव में स्थिरता कर। सर्प, जहर, काँटा, शत्रु, रोग वगैरह द्वेष के निमित्त हैं। खाई गई चीज में जहर है — ऐसा सुनते ही द्वेष होता है, नङ्गे पैर चलने से काँटा लग जाए तो उसे अनिष्ट मानकर स्वयं ही उससे द्वेष करता है, वे द्वेष नहीं कराते; इसलिए उनके प्रति द्वेषभाव छोड़। अज्ञानी जीव बाह्य वस्तुओं को राग के कारण इष्ट और द्वेष के कारण अनिष्ट मानता है; इसलिए राग-द्वेष छोड़ — ऐसा कहा है।

निज ज्ञायक परमात्मा विकल्परहित है, उसमें स्थिर होना चाहते हो तो राग-द्वेष को छोड़ो। अनेक प्रकार का ध्यान स्थिरता का कारण है। अल्पलीनता, विशेषलीनता इस प्रकार निर्मलता के अनेक भेद हैं, इसलिए ध्यान को अनेक प्रकार का कहा है। स्वरूप-एकाग्रता का अभ्यास करते ही विचित्र ध्यान से विरुद्ध पुण्य-पापरूप विकल्प उत्पन्न ही नहीं होंगे।

भले ही अनेक प्रकार की ध्यान की दशा कही, परन्तु ध्यान में भेद नहीं है। अनेक प्रकार से रागरहित होता है, इसलिए अनेक प्रकार की निर्मलता का ज्ञान कराया है; परन्तु अनेक प्रकार की निर्मलता राग का कारण नहीं है।

यदि तुम ध्यान करना चाहते हो अर्थात् शुक्लध्यान और केवलज्ञान प्रगट करना चाहते हो तो उसका कारण दया पालना, उपवास करना या अन्य कोई बाह्य कारण नहीं है। अन्दर स्वभाव में एकाग्रता ही केवलज्ञान का कारण है।

सात्त्विक भोजन करना, स्त्री, बाल-बच्चे छोड़कर जङ्गल में जाने से आत्मस्थिरता नहीं होती; बल्कि स्वभाव सन्मुख होते ही अर्थात् स्वभाव में स्थिर होते ही पर सम्बन्धी विकल्प छूट जाते हैं, इसलिए ध्यान होता है।

अब धर्मध्यान की बात करते हैं। आर्त-रौद्रध्यान के त्यागरूप लक्षण का धारक धर्मध्यान है। उसके चार प्रकार हैं।

(अ) आज्ञाविचय — असंयत सम्यग्दृष्टि, श्रावक, मुनि के प्रमत्त-अप्रमत्त — इन चार गुणस्थानों में उत्तरोत्तर बढ़ती हुई धर्मध्यान की दशा होती है। धर्मी को मुख्यरूप से शुद्धस्वरूप का विचार होने पर भी, भूमिका अनुसार शुभराग भी आता है। देव-शास्त्र-गुरु की आज्ञा वगैरह का विचार आता है, उससे पुण्यबन्ध होता है। स्वभाव की आराधनारूप अकषायदशा, वह धर्मध्यान है। समकिती को यथार्थ प्रतीति है; इसलिए उसके शुभराग को उपचार से धर्मध्यान कहते हैं, वह परम्परा मोक्ष का कारण है।

सम्यग्दृष्टि को आत्मदृष्टि हुई है, प्रयोजनभूत ज्ञान है; परन्तु अप्रयोजनभूत बातों का विशेष ज्ञान के लिए गुरु का योग न भी मिले तो भी कुदेवादि की प्रतीति नहीं करते। जिस शास्त्र में सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का, नव तत्त्वों का यथार्थ वर्णन हो, उन शास्त्रों की अप्रयोजनभूत बात भी यथार्थ ही होती है। यहाँ अल्पज्ञान के धारक का अर्थ ऐसा नहीं

कि चाहे जैसे देव-गुरु-शास्त्र को मानता हो। अल्पज्ञानी भी शुद्धजीवतत्त्व, पुण्य-पाप, आस्रव वगैरह तत्त्वों को, सच्चे देव-शास्त्र-गुरुओं द्वारा जानता है; परन्तु उसमें कोई सूक्ष्म तत्त्व ख्याल में न आता हो और गुरु का योग भी न मिले तो भी यह सर्वज्ञ का कहा हुआ तत्त्व सत्य है — ऐसा मानना, वह आज्ञाविचय धर्मध्यान है; क्योंकि जिनेन्द्रदेव अन्यथा अथवा झूठ कहनेवाले नहीं। सूक्ष्म अर्थात् अमुक गुणस्थान में अमुक प्रकृतियों का बन्ध वगैरह सूक्ष्म बात, जो अप्रयोजनभूत हो और अपने ख्याल में न आती हो तो सर्वज्ञ ने कही है — ऐसा मानना।

परन्तु जो प्रयोजनभूत बातें अर्थात् सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप में, अनेकान्त स्वरूप धर्म में भूल करे, प्रमाणभूत रकम में अप्रमाणिकपना हो तो अज्ञानी ही है। इसमें भगवान ने कही सो सत्य है — ऐसा नहीं चलेगा। प्रयोजनभूत में तो परीक्षा प्रधानी होकर यथार्थ निर्णय करना चाहिए, फिर अप्रयोजनभूत को सर्वज्ञ की आज्ञा अनुसार माने तो 'आज्ञाविचय धर्मध्यान' है।

सर्वज्ञ द्वारा कही गई सन्तों की दशा, उपयोग की दशा, अनेकान्त धर्म, निश्चय-व्यवहार जैसा है, वैसा यथार्थ जानना चाहिए। प्रयोजनभूत बातों की खबर होनी चाहिए। धवला टीकाकार वीरसेनस्वामी लिखते हैं कि अमुक प्रकृति के सम्बन्ध में दो आचार्य के दो मत पड़ते हैं, हम किसकी सत्य मानें ? उस सम्बन्ध में सर्वज्ञ प्ररूपित सत्य है — ऐसा मानना। किसी को असत्य कहने के लिए मैं अपनी जबान नहीं चलाऊँगा; क्योंकि यह तो धारणा का विषय है। इन सूक्ष्म बातों को आज्ञा प्रमाण से मानना और विचारना, इसका नाम आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

कोई भगवान की आज्ञा के नाम से देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप ही विपरीत माने, वह तो मिथ्यादृष्टि ही है। उसे ऐसा धर्मध्यान होता ही नहीं। प्रयोजनभूत में भूल नहीं चलती। यहाँ जो सूक्ष्म बात आज्ञानुसार मानने को कहा है, वह तो करणानुयोग वगैरह में जो छद्मस्थ के प्रत्यक्ष और अनुमानगोचर नहीं है; उसे सूक्ष्म समझना, जो कि अप्रयोजनभूत है। जैसे कि प्रत्येक समय होनेवाले परिणामों की अपेक्षा ज्ञानादिक का तथा स्निग्ध-रूक्षादिक के अंशों का जो निरूपण किया है, वह तो आज्ञा से प्रमाण होता है। (मो. मा. प्र. पृ. २७८)।

(ब) अपायविचय — सच्चेदेव-शास्त्र-गुरु की प्रतीति, ज्ञान, वह भेदरत्नत्रय है और आत्मा की प्रतीति, ज्ञान और रमणता अभेदरत्नत्रय है। अभेदरत्नत्रय से शुभ-अशुभ का नाश होता है और भेदरत्नत्रय से अशुभ का नाश होता है। ऐसे भेद और अभेदरत्नत्रय द्वारा हमारा तथा दूसरों के कर्मों का नाश कब होगा ? अनर्थ का नाश कब होगा ? ऐसा विचारना, वह अपायविचय धर्मध्यान है। आर्तध्यान कर्मबन्ध का कारण है, उसका नाश कब होगा ? ऐसा विचार करता है, दूसरे जीव भी अपने स्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान करके कर्मों का नाश करें और स्वयं भी इसी तरह चिन्तन करे, वह धर्मध्यान का दूसरा भेद है।

(स) विपाक विचय — शुभाशुभकर्मों का उदय आत्मा में नहीं है, स्वयं भूल करके कर्मों के वश होता है तो नरक, तिर्यञ्चगति में जन्म लेकर, वहाँ के प्रतिकूल संयोगों के वश हो तो दुःख पाता है। मनुष्यगति में निर्धनता और सधनता की ज्वाला (भभकती) होती है। पुण्योदय से देवगति के फल को भोगता है, अज्ञानी उसमें सुख कल्पता है। वहाँ सभी पुण्य-पाप कर्मों का फल है, उसके वश होकर रागादि को भोगता है, वह लौकिक सुख भी दुःख है और दुःख हो तो भी दुःख ही है। प्राणी कर्मों के वश होकर दुःख भोग रहे हैं — ऐसा विचारना 'विपाकविचय' धर्मध्यान है।

(द) संस्थान विचय — लोकानुप्रेक्षा का विचार करना। स्वर्ग-नरक वगैरह के स्थान कैसे हैं — ये विचारना 'संस्थान विचय' धर्मध्यान है।

इस प्रकार यह चार भेदरूप धर्मध्यान का वर्णन हुआ।

आत्मस्वभाव में विशेष एकाग्रता करना, वह शुक्लध्यान है। उसके भी चार प्रकार हैं — (१) पृथक्त्ववितर्क (२) एकत्ववितर्क (३) सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति (४) व्युपरतक्रिया-निवृत्ति।

(१) पृथक्त्ववितर्क — प्रथम पृथक्त्ववितर्क का विचार करते हैं। यह ध्यान ८, ९, १०, ११वें गुणस्थान तक होता है। यह ध्यान अभी महाविदेह में होता है। इस काल में यहाँ नहीं होता। आठवें गुणस्थान से धर्मी जीव को आत्मा का परमार्थरूप से ध्यान होता है तो भी वहाँ अनिश्चितवृत्ति अर्थात् अबुद्धिपूर्वक का राग रह गया है, इसलिए द्रव्य, गुण, पर्याय का विचार पलटता रहता है, वे विचार अपनी इच्छा बिना ही आ

जाते हैं। कोई कहे कि देखो! परद्रव्यों के विचार से शुक्लध्यान होता है, इसलिए परद्रव्य भी हितकारी हैं, मगर यह उनकी भूल है। परद्रव्य अनिष्ट और स्वद्रव्य इष्ट - यह मान्यता ही भ्रान्तियुक्त है। आठवें आदि गुणस्थानों में पूर्णदशा प्रगट न होने से अबुद्धिपूर्वक का राग है; इसलिए पृथक्-पृथक् द्रव्य, गुण, पर्याय आदि का विचार होता है। इस कारण से कहीं आठवें आदि गुणस्थानों में होनेवाले ध्यान में अनेकता के भेदभङ्ग नहीं आते। ज्ञायक की मुख्यता बिना तो सम्यग्दर्शन तथा धर्मध्यान ही नहीं होता तो फिर शुक्लध्यान तो कहाँ से होगा ? आठवें आदि गुणस्थानों में परद्रव्य, गुण, पर्यायों के भेदों की मुख्यता हो जाती होगी ? नहीं, वहाँ तो अखण्ड स्वद्रव्य में एकाकार है, आनन्द में लीन है। स्वद्रव्य के आश्रय से ही शुक्लध्यान होता है।

आठवें आदि गुणस्थानों में अबुद्धिपूर्वक राग रह जाने से कभी धर्मद्रव्य का, कभी स्वद्रव्य का, कभी अपने गुण का विचार आता है, परन्तु इन भेदों से धर्म नहीं होता। द्रव्यदृष्टि होने के बाद शुद्धता की अधिक वृद्धि होने पर भी अभी पूर्ण शुद्धता नहीं हुई; इसलिए छह द्रव्यों का तथा गुण-पर्यायों का विचार आ जाता है; इसलिए शुक्लध्यान नहीं होगा, ऐसा नहीं है, उससे वह टिकता भी नहीं और बढ़ता भी नहीं — ऐसा जानना चाहिए।

अज्ञानी कहते हैं कि जिस प्रकार बर्तन में जङ्ग लग गई हो तो ईंट या टाट से घिसने से छूट जाती है; उसी प्रकार आत्मा में कर्मों का मेल लगा है तो व्यवहार से, उपवासादि क्रिया करने से मेल छूट जाता है। भाई! वह तो मिथ्याभ्रान्ति है। आठवें आदि गुणस्थानों में जो भेद उठता है, वह अशुद्धनय का विषय है, वह शुक्लध्यान नहीं है। उसके कारण से शुक्लध्यान नहीं होता और बढ़ता भी नहीं तो फिर राग और निमित्त से धर्म होता है — यह बात ही कहाँ रही ?

स्वभाव की सन्मुखता से शुक्लध्यान होता है। वहाँ द्रव्य, गुण, पर्याय का अबुद्धिपूर्वक का विकल्प उठता है, वह 'पृथक्त्व' है।

स्वभावसन्मुखता की दशा बढ़े, उसे भावश्रुत का अनुभव कहते हैं तथा निजशुद्ध आत्मा को कहनेवाला अन्तरङ्ग में सूक्ष्मवचन उसे, 'वितर्क' कहते हैं। अबुद्धिपूर्वक राग होने से अन्दर में ऐसा सूक्ष्म विकल्प-जल्प उठता है, उस भूमिका में ऐसा भेद है, वह शुक्लध्यान नहीं; फिर भी बिना इच्छा के आता है, वह वितर्क है।

एक अर्थ से दूसरे अर्थ का अर्थात् द्रव्य, गुण, पर्याय का अथवा एक चेतनद्रव्य से अन्य द्रव्य का – इस प्रकार छहों द्रव्यों के अठारह बोलों का जो विचार उस भूमिका में होता है। इच्छा बिना एक वचन से दूसरे वचन, सत्य, असत्य आदि चार प्रकार के वचनों में, फेरफार होता है; मन, वचन, काया के कम्पन में पलटन होता है, तीनों योगों में एक योग से दूसरे योग में जो परिणमन होता है, उसे 'वीचार' कहते हैं। इस प्रकार शुक्लध्यान के पृथक्त्ववितर्क का अर्थ हुआ।

निज चिदानन्द आत्मा का स्वरूप आनन्दकन्द है, उसे छोड़कर ध्यान में अन्य पदार्थों की चिन्ता नहीं करता। द्रव्य, गुण, पर्याय के भेद, योगों के भेद, वचनों के भेद पड़ते हैं; उस समय जीव को वही जानने की लायकात है तो स्व को जानते हुए पर-प्रकाशक ज्ञान में पर भी जानने में आ जाते हैं। पर-प्रकाशक ज्ञान पर लक्ष्य न होने पर भी ऐसे भेद होते हैं, ध्याता पुरुष, पर की चिन्ता नहीं करता। फिर भी जहाँ तक कषाय का सद्भाव है, वहाँ तक जितनी अस्थिरता अथवा भेद पड़ते हैं, वह ध्यान नहीं है। वह तो कषायभाव होने से बन्ध का ही कारण है। अज्ञानी प्रश्न करते हैं कि यह भी शुक्लध्यान का भेद है या नहीं ? शास्त्रों में उसे शुक्लध्यान कहा है तो फिर पृथक्त्ववितर्क से आत्मा को लाभ कैसे नहीं होगा ? भाई! स्वद्रव्य का विचार हो या परद्रव्य का विचार हो; उसमें जितना अबुद्धिपूर्वक का राग है, वह तो बन्ध का ही कारण है। वह शुक्लध्यान नहीं, शान्ति का कारण नहीं; भले ही उसकी पृथक्त्ववितर्कवीचार नाम से पहचान कराई गई है। उस भूमिका में ऐसे भेदों के विचार आते रहते हैं; परन्तु जितनी स्वभाव में स्थिरता वर्तती है, उतना ध्यान है, वही शान्ति का कारण है।

किसी भी काल में, कैसे ही निमित्त हों, कोई भी क्षेत्र में हो अथवा विकल्पों में हो तो भी शुद्धात्मा की रुचि और स्थिरता करना, यह एक ही मुक्ति का कारण है, ऐसा केवली भगवान ने जाना है तथा क्रमबद्ध में भी यही आता है। क्रमबद्धपर्याय को समझने वालों को परपदार्थों एवं रागादि की कर्तृत्वबुद्धि उड़ जाती है और स्वाभाविक बुद्धि (दृष्टि) हो जाती है। उन्हें यदि विकल्प उठता है तो सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का ही उठता है तथा केवलज्ञान के समय वज्रवृषभनाराच संहनन होने पर भी पर्याय का वास्तविक क्रम फिरता नहीं है।

पर तरफ से उदास होकर स्व में एकाग्र होना ही चारित्र है, यहाँ भी यह एक ही उपाय कहा है।

उल्टा (गलत) समझनेवाले का भी परिणमन तो क्रम से ही होता है। उसमें अन्तर नहीं है। प्रत्येक पदार्थ का परिणमन व्यवस्थित ही होता है — ऐसा निर्णय करना ही धर्म है। वही स्व में कर्त्तव्यपरायणपना है। भाई! थोड़ा धीरज रख, सब मेल मिल जाएगा। एक ही नियम को पकड़ कि चैतन्य और जड़ पदार्थों की पर्यायें अपने-अपने कारण से होती हैं; इसलिये पर की कर्त्ताबुद्धि छोड़कर, स्वभाव की ओर अपनी दृष्टि कर, एक यही सुखी होने का उपाय है।

श्रीमद्राजचन्द्रजी ने कहा है कि अरे! हमारी सत्य बात को कौन गिनेगा ? सत्य का पुकार करनेवाली यह बात तो सम्प्रदाय के आग्रही लोगों को बैठती ही नहीं।

क्रमबद्ध का न्याय ४७वीं गाथा में आ गया है। दोनों प्रकार का मोक्षमार्ग ध्यान में प्रगट होता है। उसमें 'पयत्तचित्ता' शब्द है, चित्त को एकाग्र करके ध्यान का अभ्यास करो — ऐसा कहा है। उस पुरुषार्थ में क्रमबद्ध का न्याय आ ही जाता है। जहाँ क्रमबद्ध कहा, वहाँ जीव को यथार्थ समझ में निमित्ताधीन बुद्धि और राग की कर्त्तृत्वबुद्धि छूटकर स्वाभाविक बुद्धि हो जाती है। जो पर्याय जिस समय में होनी है, उस समय वही पर्याय होगी, ऐसे निर्णय में पर से दृष्टि हटकर स्वतरफ दृष्टि ढ़लती है अर्थात् स्वभाव तरफ झुकते ही क्षणिक पर्याय की रुचि टलकर स्वभाव की रुचि और एकाग्रता होती है। इसे ध्यान कहो या क्रमबद्ध पर्याय का निर्णय कहो, एक ही है। ध्यान में दोनों मोक्षमार्ग प्रगट होते हैं अर्थात् क्रमबद्ध के निर्णय में निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग प्रगट होते हैं।

आत्मा की गति आदि पर्यायों में जो-जो निमित्त होते हैं, वे भले हों; परन्तु स्वभाव के ज्ञान बिना यह निमित्त है — ऐसा जानेगा कौन ? स्व-परप्रकाशक ज्ञान खिले बिना यह परप्रकाशक है — ऐसा निश्चय कौन करेगा ? आत्मा का स्व-परप्रकाशक स्वभाव है — ऐसे निर्णय में सभी का यथार्थपने ज्ञान हो जाता है।

ध्यान की इस गाथा में आचार्य कहते हैं कि 'स्वभावसन्मुख' होना चाहते हो तो आर्त-रौद्रध्यान को छोड़ो अर्थात् स्वभावसन्मुख झुको, इसमें क्रमबद्ध का निर्णय आ ही जाता है।

इस ४८वीं गाथा में प्रथम शुक्लध्यान पृथक्त्ववितर्कवीचार, उपशमश्रेणी की विवक्षा

में जहाँ पुरुषार्थ की मन्दधारा बहती है, वहाँ अपूर्वकरण उपशमक, अनिवृत्तिकरण उपशमक, सूक्ष्मसाम्पराय उपशमक और उपशान्तकषाय उपशमक इन चार गुणस्थानों में होता है और क्षपकश्रेणी की विवक्षा में अपूर्वकरण क्षपक, अनिवृत्तिकरण क्षपक और सूक्ष्मसाम्पराय क्षपक इन तीनों गुणस्थानों में होता है।

(२) एकत्ववितर्कअवीचार — (किसी आचार्य का यह मत है कि पृथक्त्व वितर्कवीचार बारहवें गुणस्थान के प्रथम पाया तक रहता है और अन्तिम पाया में एकत्ववितर्कअवीचार नाम का ध्यान होता है और किसी आचार्य का मत है कि बारहवें गुणस्थान में एकत्ववितर्कअवीचार नाम का ही ध्यान है।)

बारहवें गुणस्थान के प्रारम्भ में कोई विचार पलटते हों तो वे जानने लायक हैं। ज्ञान का क्षयोपशमभाव है; इसलिए पलटता हुआ भाव कहा, परन्तु उसी ध्यान के दूसरे भेद में ये तीन भेद भी नहीं रहते। बारहवें गुणस्थान तक भावश्रुतज्ञान है, इसलिए वितर्क है, उस भावश्रुतज्ञान के बल से ही स्थिर होता है अर्थात् ज्ञान की निर्मलदशा स्वभाव तरफ ढली, वहाँ शान्ति का वेदन हुआ — यही भावश्रुतज्ञान की स्थिरता है। जब तक पलटन होता था, तब तक पृथक्त्ववितर्कवीचार कहा और जब पलटन रुक गया, उसे एकत्ववितर्कअवीचार कहते हैं, उसके बाद केवलज्ञान होता है।

जो कोई सम्यग्ज्ञान या सम्यक्चारित्र अथवा मोक्ष पाते हैं, वे सभी ध्यान से ही पाते हैं।

मोक्षमार्गप्रकाशक में ऐसा आता है कि ज्ञान में अनेक प्रकार से विचार करना वह राग का कारण नहीं, क्योंकि धर्मी जीव अकषायस्वभाव तरफ ढला है, उसका बहुत कुछ राग घट गया है, उस अपेक्षा से उसे वीतराग कह दिया है। ज्ञान का विशेष विकास है, वह ज्ञेयों का विचार करता है, इसलिए राग की उत्पत्ति होती है — ऐसा नहीं है, वह तो ज्ञानस्वभाव का सामर्थ्य बताने के लिए ऐसा कहा है और समयसार में ऐसा कहते हैं कि ''नवतत्त्व की सन्तति की परिपाटी को छोड़कर हमें एक शुद्धात्मा ही प्राप्त होओ'' वहाँ मात्र शुद्ध स्वभाव की प्रधानता से कथन है।

शुक्लध्यान का दूसरा पाया ऐसा है कि अन्दर में जमावट जमी है; इसलिए अल्पकाल में केवलज्ञान होगा।

(३) सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति — केवली भगवान को उपचार से यह ध्यान कहा है। भगवान को शुद्धता बढ़कर पूर्ण हो गई है, वे अनन्त आनन्द का अनुभव कर रहे हैं, इसलिए उपचार से ध्यान कहा है। तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में यह तीसरा शुक्लध्यान होता है। यहाँ योग की क्रिया की बात नहीं है। चिदानन्द के उपयोगरूप परिणमन, वह धर्म है। योग के कम्पन से तो कर्म आते हैं तथा शुभाशुभभाव से अर्थात् परिणमन से बन्ध होता है। क्रिया (कर्म) अर्थात् क्या ? शरीर की क्रिया की बात नहीं, आत्मप्रदेशों का कम्पन होता है, वह क्रिया है। भगवान को कम्पन है; इसलिए क्रिया गिनी गई है। तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम भाग में कम्पन बहुत कम होता है, भगवान को सूक्ष्म कम्पन रहता है और वह गिरता नहीं है; अतः अप्रतिपाति है, इसलिए उस ध्यान को सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नाम का ध्यान कहा है।

(४) व्युपरतक्रियानिवृत्ति — शुक्लध्यान के इस चौथे पाये में कम्पनरूप क्रिया का अभाव है, यह चौदहवें गुणस्थान में होता है। वहाँ किसी भी प्रकार का कम्पन अर्थात् योग नहीं है, इस अपेक्षा से उस गुणस्थान में व्युपरतक्रियानिवृत्ति नाम का शुक्लध्यान कहा है। इसके बाद सिद्धदशा प्रगट होती है।

इस प्रकार शुक्लध्यान के स्वरूप एवं भेदों का कथन किया।

अब, अध्यात्मभाषा से धर्मध्यान की बात करते हैं। आत्मा स्वयं सहज-स्वाभाविक, निर्मल, परम चैतन्य से अर्थात् जानन-देखन स्वभाव से शोभायमान है, पुण्य-पाप से शोभायमान नहीं है। आत्मा परिपूर्ण अमृत का कुण्ड प्रभु है। पर्याय में अल्पज्ञता है; परन्तु स्वभाव तो आनन्द समूह को धारण करनेवाला है। ऐसे निज आत्मा का वर्णन किया।

देखो! आत्मा को निमित्तवाला अथवा रागवाला नहीं कहा तथा एक समय की संवर-निर्जरा पर्याय जितना भी नहीं, परन्तु आनन्द से भरपूर, त्रिकाली ध्रुव आत्मा है; उसमें उपादेयबुद्धि करना यह उपाय है। क्रमबद्धपर्याय में पुरुषार्थ आ जाता है, परन्तु क्रमबद्धपर्याय की बात बाहर आते ही अज्ञानी भड़कते हैं। वस्तु के केवलज्ञान का निर्णय कर अथवा क्रमबद्ध का निर्णय कर अथवा तो शुद्धात्मा आनन्द से भरपूर है, उसे उपादेय मान, ये सभी एकार्थवाची हैं, मगर भाषा बदलते ही अज्ञानी भड़क उठते हैं।

अपना शुद्ध आत्मा ही उपादेय है, ऐसी भावना कर। भाई! मैं आनन्द से भरा हूँ, शुद्ध आत्मा ही आदरणीय है। उसे शुद्धात्मा कहो, सम्यग्दर्शन का विषय कहो या द्रव्यदृष्टि कहो, सभी एक ही हैं।

आत्मा अमर्यादित आनन्द को धरनेवाला, अनन्त ज्ञान का धारक, अनन्त वीर्य की मूर्ति है — ऐसे स्वभावसन्मुख का घोलन, उसे निश्चयधर्मध्यान कहते हैं।

रोज उपाश्रय जानेवाले, प्रोषध करनेवाले एवं रात्रि भोजन-पानी का त्याग करनेवाले ने एक बार पूछा कि महाराज! आत्मा कितने परमाणुओं का बना होगा ? ऐसे लोगों को आत्मा की खबर नहीं और मानते हैं कि हम धर्मध्यान करते हैं।

धर्म अथवा धर्मध्यान आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-लीनता से होता है। आत्मा की प्रतीति को सम्यग्दर्शन एवं लीनता को ध्यान अथवा चारित्र कहा है तथा पञ्च परमेष्ठी की प्रतिमा, वीतरागी शास्त्र की भक्ति और जिनेन्द्र द्वारा कथित भूमिका के योग्य व्रत-महाव्रत आदि के शुभपरिणाम उठते हैं, उन्हें बहिरङ्ग धर्मध्यान कहा है; वे पुण्यबन्ध के कारण हैं और स्वभाव की एकाग्रता, वह धर्म का कारण है।

इस प्रकार निज शुद्धात्मा के विकल्परहित ध्यान को शुक्लध्यान कहते हैं। वहाँ बुद्धिपूर्वक का राग नहीं रहता।

पदस्थध्यान - अर्हन्त आदि पञ्च परमेष्ठी जीवों का विचार करना, पदस्थध्यान है।

पिण्डस्थध्यान - शरीर में रहे हुए आत्मा का ध्यान करना, पिण्डस्थध्यान है। आत्मा में स्थिर होना, वह निश्चय है और विकल्प उठे, वह व्यवहार ध्यान है।

रूपस्थध्यान - शरीर में रहे हुए सर्वज्ञ अरहन्त का चिन्तवन करना, रूपस्थ ध्यान है। जैसे — महाविदेहक्षेत्र में अभी सीमन्धर भगवान विराज रहे हैं, उनका विचार करना, वह रूपस्थध्यान है।

रूपातीतध्यान - शरीररहित सिद्ध भगवान का ध्यान करना, रूपातीतध्यान है। इन सभी में आत्मा की तरफ का झुकाव है। जहाँ तक अपूर्ण दशा है, वहाँ जो राग होता है, वह भी पञ्च परमेष्ठी की ओर झुकाववाला होता है। इस प्रकार क्रमानुसार विचित्र शब्द से अनेक प्रकार का ध्यान जानना।

ध्यान के प्रतिबंधक कारण जड़कर्म नहीं हैं, क्योंकि आत्मा में कर्म का अभाव है। तू राग कर तो कर्म निमित्त कहलायेंगे और वीतरागता प्रगट कर तो कर्म का अभाव निमित्त कहलायेगा।

अब, ध्यान को रोकनेवाले मोह-राग-द्वेष की व्याख्या करते हैं। ध्यान को जड़कर्म नहीं रोकता। जीव जब स्वयं खोटा ध्यान करता है तो उस खराब ध्यान को सम्यक् ध्यान रोकता है; इसलिए मोह-राग-द्वेष का स्वरूप कहते हैं।

शुद्धात्मा आदि नवतत्त्वों की विपरीतबुद्धि दर्शनमोह अर्थात् मिथ्यात्व है। जैसे जीव को अशुद्ध मानना, पुण्य है ही नहीं अथवा पुण्य में धर्म मानना या पुण्य को आदरणीय मानना — ये मिथ्यात्व है। जीव शुद्ध है, कर्म अजीव है, पुण्य-पाप आस्रव हैं, इत्यादि सभी को पृथक्-पृथक् न जानना, ऐसा विपरीत अभिनिवेश मिथ्यात्व है, वह यथार्थ प्रतीति नहीं होने देता। विकाररहित निज आत्मा की शान्तिरूप अनुभव को रोकनेवाले राग-द्वेष हैं, उन राग-द्वेष को स्वयं ने किया है।

कषायों में क्रोध और मान दो द्वेषरूप हैं तथा माया और लोभ दो रागरूप हैं। नो कषायों में तीनों वेद, हास्य और रति ये पाँच रागरूप हैं और अरति अर्थात् दिलगिरी, शोक कषाय सहित उदासीनता, भय होना, ग्लानि होना ये चार द्वेषरूप हैं। राग के कुल सात प्रकार और द्वेष के छह प्रकार — ये सभी मिलकर १३ हैं।

अब प्रश्न होता है कि पुण्य-पाप जीव से होते हैं या कर्म से होते हैं ?

समाधान - अकेला **परिणामी भाव** से बात करें तो उपादान से होते हैं — ऐसा कहा जाता है, परन्तु यहाँ तो निमित्त-नैमित्तिक दोनों की बात करते हैं। जैसे — पुत्र माता-पिता दोनों के संयोग से हुआ होने से दोनों का है अथवा हल्दी और चूना मिलकर एक लालरङ्ग बन जाता है।

यहाँ भगवान आत्मा निरुपाधितत्त्व है, उसकी योग्यतानुसार विकार होता है, वह निमित्त के सम्बन्ध से होता है — ऐसा बताना है। यहाँ दो चीजों का संयोग बताया उसका अर्थ यह है कि जब जीव स्वयं विकार करे, तब कर्म निमित्तरूप है, इस अपेक्षा को ख्याल में रखकर ऐसा कहा कि जीव को कर्म के संयोग से विकार होता है।

अब, नय विवक्षा से कथन करते हैं —

भगवान चिदानन्द आत्मा शुद्ध है। धर्मी जीव धर्मध्यान या शुक्लध्यान के समय

शुद्धात्मा में लीन होता है। उस समय बाकी बचा राग, वह आत्मा का कार्य नहीं, कर्म का ही कार्य है। द्रव्यदृष्टि की प्रधानता से यह कथन है कि विकार का कर्त्ता पुद्गल है। यदि स्वभाव से आत्मा विकार का कर्त्ता हो तो विकाररहित कभी हो ही नहीं सकेगा। इस दृष्टि से यहाँ कहा है कि शुद्ध चिदानन्द एकरूप रहनेवाला तत्त्व, जिसका कभी अभाव नहीं है, छेद नहीं, व्यय नहीं, ऐसे तत्त्व में राग भी नहीं। यहाँ साधक की बात है, केवली को राग नहीं (उन्हें अपूर्णता नहीं); इसलिए नय भी नहीं। बाधक (मिथ्यादृष्टि) को नय नहीं। (साधक को नय होते हैं) इसलिए नयों से बात की है। जिसे आत्मा का भान हुआ है, उसे बाकी रहा राग है, उसे कर्म से उत्पन्न हुआ कहा है। यहाँ द्रव्यदृष्टि का जोर बताना है — ऐसा जानना।

परम शुद्धनिश्चयनय से राग, स्वभाव में नहीं और कर्म का भी नहीं है। साधक को थोड़ा राग है, वह टल जानेवाला है; इसलिए उसे कर्मजन्य कहा है। धर्मी की निमित्ताधीन दृष्टि नहीं है, उसकी तो शुद्ध उपादानदृष्टि है; इसलिए ऐसा कहा है।

श्रीसमयसार में ऐसा कहा कि जैसे घड़े का कर्त्ता माटी है, कुम्हार नहीं, वैसे ही विकार का कर्त्ता शुद्ध आत्मा नहीं, कर्म ही उसका कर्त्ता है। राग को धर्मी छोड़ना चाहता है; इसलिए रागरूपी घड़ा कर्मरूपी माटी का ही कार्य है।

अज्ञानी की दृष्टि दया, दान, पूजादि पर ही है, उसकी निमित्ताधीन दृष्टि होने से पर्याय और निमित्त पर ही दृष्टि जाती है, उसे स्वभाव की दृष्टि नहीं है। ज्ञानी को स्वभावदृष्टि होने से स्वभाव की श्रद्धा ज्ञान, लीनता द्वारा राग को टालना ही चाहता है।

अन्य अपेक्षा से लें तो राग-द्वेष जीव की पर्याय में होता है; इसलिए अशुद्ध निश्चयनय से जीव का ही है, जीवजनित है; अपने ही अपराध से पर्याय में विकार हुआ है। विकारीपर्याय स्वयं की है; इसलिए निश्चय कहा, परन्तु विकार जीव का नित्य स्वभाव नहीं; इसलिए अशुद्ध कहा। अशुद्ध निश्चयनय को भी शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से व्यवहार कहा है।

प्रश्न - तो फिर शुद्ध निश्चय से राग-द्वेष किसका है ?

समाधान - अकेले जीव से विकार हो तो सिद्धों में भी होना चाहिए और अकेला कर्म से हो तो कर्म को दुःख होना चाहिए। जिस प्रकार स्त्री-पुरुष के संयोग बिना पुत्र

नहीं होता, चूना और हल्दी के बिना लाल रङ्ग नहीं होता, उसी प्रकार जीव और कर्म के संयोग बिना राग-द्वेष नहीं होते। साक्षात् शुद्ध निश्चयनय से जीव में विकार होता ही नहीं, बन्ध भी नहीं होता। जीव, साधक भी नहीं और जीव का मोक्ष भी नहीं।

ज्ञानी को विकार टालने की बुद्धि नहीं है; वह तो स्वभाव में आरूढ़ है — इस अपेक्षा से अर्थात् एकदेश शुद्ध निश्चयनय से रागादि को कर्मजन्य कहा है। अमूर्तस्वभाव की प्रधानता से मूर्त के निमित्त से हुआ विकार टल जाएगा; इसलिए कर्म का कहा। अपनी पर्याय में होता है, यह बताने के लिए अशुद्ध निश्चयनय से जीव का कहा। लेकिन टल जाएगा; इसलिए व्यवहारनय से कहा।

धर्मी की दृष्टि स्वभाव की अधिकता में है, राग को टालने में नहीं। जो राग उत्पन्न हो गया, उसे कैसे टाले ? और जो उत्पन्न ही नहीं हुआ, उसे भी क्या टाला जाए। जब राग को टालने की बुद्धि नहीं तो उत्पन्न करने की भी नहीं होगी; इसलिए ज्ञानी के राग को एकदेश शुद्ध निश्चयनय से कर्मजन्य कहा है; परन्तु मात्र स्वभाव ही लक्ष्य में ले, विकार को लक्ष्य में लें ही नहीं तो विकार किसी का नहीं है। शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि में संयोग और विकार भासते ही नहीं। श्रीसमयसार में कहा है कि सम्यग्दृष्टि को स्वाभाविक भाव उत्पन्न होता है, विकार तो अल्प होता है, उसे गौण करके विकार उत्पन्न ही नहीं होता — ऐसा कहा है। स्वभाव सन्मुखता में राग को गौण करके अभाव हो गया कहा है, धर्मी को पर्याय में राग नहीं, ऐसा कह दिया।

कर्म के उदय के प्रमाण में राग करना ही पड़े — ऐसा माननेवाले को निमित्त और राग की पृथक्ता का ख्याल ही नहीं है, उसे तो रागरहित स्वभाव की खबर ही नहीं पड़ सकती।

ध्यान करनेवाला कहो या आत्मा की रुचि, ज्ञान और रमणता करनेवाला कहो, दोनों एक ही हैं। ध्यान करनेवाला आत्मस्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और रमणता ही करता है, पुण्य-पाप नहीं करता। इस प्रकार ध्यान करनेवाले की प्रधानता से ध्याता का ध्यान एवं और भी अनेक प्रकार के ध्यानों का कथन करते हुए यह गाथा पूर्ण हुई।

❖❖❖

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-४९

अब, 'मंत्रवाक्य में स्थित पदस्थ' ध्यान कहा था, उसका विवरण करते हैं —

पणतीससोलछप्पणचउदुगमेगं च जबह ज्झाएह।
परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरूवएसेण॥४९॥

पञ्चत्रिंशत् षोडश षट्पञ्च चत्वारि द्विकं एकं च जपत ध्यायत।
परमेष्ठिवाचकानां अन्यत् च गुरूपदेशेन॥४९॥

परमेष्ठीवाचक एक दो छह चार सोलह पाँच अर।
पैंतीस अक्षर जपो नित अर अन्य गुरु उपदेश से॥४९॥

गाथार्थ :— पञ्चपरमेष्ठी के वाचक पैंतीस, सोलह, छह, पाँच, चार, दो और एक अक्षररूप मन्त्रपदों का जाप करो, ध्यान करो, उनके अतिरिक्त अन्य का भी, गुरु के उपदेश अनुसार जाप और ध्यान करो।

टीका :— "**पणतीस**" 'णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं' ये पैंतीस अक्षर 'सर्वपद' कहलाते हैं। "**सोल**" 'अरिहन्त-सिद्ध-आइरिय-उवज्झाय-साहू' ये सोलह अक्षर 'नामपद' कहलाते हैं। "**छ**" 'अरिहंत-सिद्ध' ये छह अक्षर अरिहन्त-सिद्ध इन दो परमेष्ठियों 'नामपद' कहलाते हैं। "**पण**" 'अ, सि, आ, उ, सा' ये पाँच अक्षर पञ्च परमेष्ठी के 'आदिपद' कहलाते हैं। "**चउ**" 'अरिहंत' ये चार अक्ष्र अरिहन्त परमेष्ठी के 'नामपद' हैं। "**दुगं**" 'सिद्ध' ये दो अक्षर सिद्ध परमेष्ठी के 'नामपद' हैं। "**एगं च**" 'अ' यह एक अक्षर अरिहन्त परमेष्ठी का 'आदिपद' है, अथवा 'ओं' यह एक अक्षर पाँचों परमेष्ठियों का 'आदिपद' है।

प्रश्न — 'ओम्' यह पाँचों परमेष्ठियों का आदिपद किस प्रकार है ?

उत्तर — 'अरिहंता असरीरा आइरिया तह उवज्झाया। मुणिणो मढमक्खरणिप्पण्णो ओंकारो पंच परमेट्ठी॥ अर्थ — अरिहन्त का प्रथम अक्षर 'अ', अशरीर (सिद्ध) का प्रथम अक्षर 'अ', आचार्य का प्रथम अक्षर 'आ', उपाध्याय का प्रथम अक्षर 'उ' मुनि का प्रथम अक्षम 'म्', — इस प्रकार पाँचों परमेष्ठियों के प्रथम अक्षरों से बना हुआ 'ओंकार' है, वही पञ्च परमेष्ठियों के नाम का आदिपद है।" — इस गाथा में कथित

जो प्रथम अक्षर है, उसमें पहले '**समानः सवर्णे दीर्घो भवति**' इस सूत्र से, 'अ, अ, आ' मिलाकर दीर्घ 'आ' बनाकर '**परश्च लोपम्**' इस सूत्र से पश्चात् के 'आ' का लोप करके, अ अ आ — इन तीनों का 'आ' सिद्ध किया। पश्चात् '**उवर्णे ओ**' इस सूत्र से आ+उ के स्थान में 'ओ' बनाया, इस प्रकार स्वरसंधि करने से 'ओम्' यह शब्द निष्पन्न हुआ। '**जवह ज्झाएह**' मन्त्र शास्त्र के सर्वपदों में सारभूत, इस लोक में और परलोक में इष्टफल देनेवाले इन पदों का अर्थ जानकर पश्चात् अनन्तज्ञानादि गुणों के स्मरणरूप से और वचन के उच्चारणरूप से जाप करो, उसी प्रकार शुभोपयोगरूप त्रिगुप्त अवस्था में मौनपूर्वक ध्यान करो तथा वे पद कैसे हैं ? '**परमेट्ठिवाचयाणं**' 'अरिहन्त' पद वाचक है और अनन्तज्ञानादि गुणों से युक्त श्री अरिहन्त इस पद का वाच्य अर्थात् अभिधेय (कहने योग्य) हैं। इत्यादि प्रकार से पञ्च परमेष्ठी के वाचक हैं। '**अण्णं च गुरुवएसेण**' पूर्वोक्त पदों के अतिरिक्त अन्य का भी बारह हजार श्लोक प्रमाण पञ्च नमस्कार माहात्म्य नामक ग्रन्थ में कहे अनुसार लघु सिद्धचक्र, वृहत् सिद्धचक्र इत्यादि देवपूजन के विधान का-भेदाभेद रत्नत्रय के आराधक गुरु के प्रसाद से जानकर, ध्यान करना। इस प्रकार पदस्थ ध्यान का स्वरूप कहा॥४९॥

इस प्रकार '**गुप्तेन्द्रियमना ध्याता ध्येयं वस्तु यथास्थितम्। एकाग्रचिन्तनं ध्यानं फलं संवर निर्जरौ॥ अर्थ** - इन्द्रिय और मन को रोकनेवाला ध्याता है, यथास्थित पदार्थ ध्येय है, एकाग्रचिन्तन ध्यान है, संवर और निर्जरा — यह ध्यान का फल है।' इस श्लोक में कथित लक्षणयुक्त ध्याता, ध्येय, ध्यान और फल का संक्षेप में व्याख्यान कर तीन गाथाओं द्वारा द्वितीय अन्तराधिकार में प्रथम स्थल समाप्त हुआ।

गाथा ४९ पर प्रवचन

स्वभाव के ध्यान में ऐसे विकल्प नहीं; परन्तु स्वभाव में स्थिर न हो तो पञ्च परमेष्ठी आदि का स्मरण आता है। यहाँ उनके स्वरूप को कहनेवाले भिन्न-भिन्न मन्त्रपद की बात करते हैं। नमस्कार मन्त्र में पैंतीस अक्षर होते हैं, 'एसो पञ्च....' — ये तो नमस्कार मन्त्र की स्तुति है, मूल मन्त्र नहीं है। मूलाराधना की टीका में आता है कि अनादि से तो मूल नमस्कार मन्त्र में पाँच पद हैं — ऐसा स्वीकारना चाहिए; इसलिए मन्त्र वाक्य में पैंतीस अक्षर होते हैं — ऐसा कहा है।

जिसे आत्मस्वभाव का भान हुआ है, उसे अशुभभाव न होकर शुभभाव आते हैं,

तब इस जाप को जपो और शुभ का नाशकर स्वभाव में स्थिर हो। आत्मा ज्ञायकस्वभावी है, जिन्हें उसकी प्रतीति, ज्ञान और रमणता हुई है, उन्हें पञ्च परमेष्ठी का जाप करो — ऐसा कहा है।

(१) णमो अरिहंताणं (२) णमो सिद्धाणं (३) णमो आइरियाणं (४) णमो उवज्झायाणं (५) णमो लोए सव्वसाहूणं। इन पाँच पदों में पैंतीस अक्षर होते हैं, इसे सर्वपद कहते हैं। नैमित्तिक शुद्धदशा के भान बिना ध्यान नहीं होता, इसलिए पहले आत्मा का भान होना चाहिए। अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु — इस सोलह अक्षरों के पद को पञ्च परमेष्ठी का नामपद कहते हैं। 'अरिहन्त और सिद्ध' इसमें छह अक्षर हैं, इसलिए इसे दो नामपद कहते हैं। 'अ सि आ उ सा' इसमें पञ्च अक्षर हैं; इसलिए इसे पञ्च परमेष्ठी का आदिपद कहा है। 'अरिहन्त' ये चार अक्षर अर्हन्त परमेष्ठी के नामपद हैं। 'सिद्ध' ये दो अक्षर सिद्ध परमेष्ठी के नामपद हैं। 'अ' यह एक अक्षर अर्हत्परमेष्ठी का आदिपद है अथवा तो 'ओम्' यह एक अक्षर पाँचों परमेष्ठियों के आदि-पदस्वरूप है।

प्रश्न - 'ओम्' यह एक अक्षर पञ्चपरमेष्ठी के आदिपदरूप कैसे है ?

उत्तर - अरिहन्त का प्रथम अक्षर 'अ', अशरीरी सिद्धों का प्रथम अक्षर 'अ', आचार्य का प्रथम अक्षर 'आ', उपाध्याय का प्रथम अक्षर 'उ' और मुनि का प्रथम अक्षर 'म'। इस प्रकार यह पाँचों परमेष्ठियों के प्रथम अक्षरों से सिद्ध जो ओंकार है, वह पञ्च परमेष्ठियों के समान है। पण्डित बनारसीदास के जिनसहस्त्रनामवाले स्तवन में ओंकार नाम सर्वप्रथम आता है। सर्वज्ञ परमात्मा अकषायी और सर्वज्ञ हुए, उनकी ओम् ध्वनि छूटती है, उसका विचार कर गणधरदेव बारह अङ्ग की रचना करते हैं, उस 'ओंकार' अनक्षरवाणी में पूर्णश्रुत आता है। समझनेवाला अपनी लायकात एवं उघाड़ के अनुसार समझता है।

इस प्रकार गाथा में कहे हुये शब्दों का प्रथम अक्षर 'अ अ आ उ म्' हैं, इनमें पहले 'समानः सवर्णे दीर्घो भवति' इस सूत्र से अ अ आ मिलकर दीर्घ 'आ' बनाकर 'परश्च लोपम्' इससे पर अक्षर 'आ' का लोप करके अ अ आ के इन तीनों के स्थान में एक 'आ' सिद्ध किया, फिर 'उवर्शो ओ' इस सूत्र से 'आउ' के स्थान में 'ओ' बनाया — ऐसे स्वरसंधि करने से 'ओम्' यह शब्द निष्पन्न हुआ। सभी मन्त्र शास्त्रों में यह मन्त्र

सारभूत है। शुद्ध स्वभाव का भान करने के बाद थोड़ा राग बाकी रह जाए तो इस लोक में बाह्य अनुकूलता मिलती है और परलोक में स्वर्गपद मिलता है और अन्दर में स्थिर हो तो वीतरागता प्रगट होती है, इसलिए इसे सारभूत कहा है।

ओम् आत्मरूप और अक्षररूप ऐसे दो प्रकार का है। आत्मा शुद्ध चिदानन्द है — ऐसा भाव अन्तर में हो तो वह आत्मरूप ओम् है और ओम् शब्द पढ़ने का विकल्प उठे, वह अक्षररूप है। चिदानन्द ज्ञानस्वरूप में से ही पञ्च परमेष्ठी पद की प्राप्ति होती है — ऐसा जिसे भान है, उसे भाव ओम् है; इसलिए आत्मा की शुद्धता प्रगट होती है और जितना जाप जपने का शुभराग है, उसे द्रव्य अथवा अक्षररूप ओम् कहते हैं। आत्मभान बिना ओम् का अर्थ ही उसके ख्याल में नहीं आता।

मैं अनन्त ज्ञान और आनन्दरूप हूँ, जैसे सिद्ध हैं, वैसा ही मैं हूँ — ऐसे भानपूर्वक जो विकल्प उठते हैं अथवा वाणी द्वारा पदों को भजते हैं, उन्हें ओम्पद सारभूत है। इसलिए कहते हैं कि पूर्व में कहे हुए पाँचों पदों का अर्थ और परमार्थ जानकर अनन्तज्ञान आदि गुणों के स्मरणरूप वचन उच्चारण करके जाप करो तथा इस प्रकार शुभोपयोगरूप जो मन-वचन-काय इन तीनों की गुप्तिरूप अवस्था है, उसमें मौन द्वारा पूर्व में कहे गये पदों का ध्यान करो।

यहाँ कोई पूछता है कि और किन-किन पदों को जपें और ध्यावें ?

अरिहन्त शब्द है, उसमें अरिहन्त नहीं हैं और अरिहन्त भगवान में अरिहन्त शब्द नहीं है। अरिहन्त शब्द तो अरिहन्त के स्वरूप को बताता है। अनन्त ज्ञानादि सहित जिनेन्द्र भगवान अरिहन्त शब्द के वाच्य हैं, इसी तरह पाँचों पद के वाच्य जानना। इस प्रकार पञ्चपरमेष्ठी पदों रूप वाचक के वाच्य को जानकर ध्यान करना चाहिए। इसके सिवाय अन्य जो मन्त्र पद हैं, जो बारह हजार श्लोक संख्या प्रमाण 'पञ्च नमस्कार माहात्म्य' नाम के ग्रन्थ में कहे अनुसार तथा लघुसिद्धचक्र और बृहत् सिद्धचक्र इत्यादि सर्वज्ञ वीतरागदेव की पूजन के विधानों को भेदाभेदरत्नत्रय के आराधक गुरु के पास जाकर, उन्हें जानकर उन पदों का ध्यान करना चाहिए।

देखो! चाहे जैसा मिथ्यादृष्टि गुरु हो, उसके पास से मन्त्र धारण कर लेना — ऐसा नहीं कहा। भेदाभेदरत्नत्रय के आराधक गुरु कहे हैं। जिन्हें शुद्धात्मा की प्रतीति, ज्ञान

और रमणता प्रगट हुई है, वह अभेदरत्नत्रय है, उन्हें अल्प राग वर्तता है, उसे और देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा इत्यादि को भेदरत्नत्रय कहा है। गुरु ऐसे भेदाभेदरत्नत्रय के धारक हैं। इस तरह पदस्थध्यान का कथन किया।

इन्द्रियों और मन को रोकनेवाला ध्यानी है। इन्द्रियाँ और मन मेरे में हैं ही नहीं, इसलिए जो उन तरफ के राग की उपेक्षा करके, स्वभाव की अपेक्षा करके स्वभाव में लीनता करे, उसे ध्याता अथवा ध्यानी कहते हैं। ज्ञानी जाप जपने के राग को भी नहीं ध्याता।

यथास्थित पदार्थ, वे ध्येय हैं। जिसे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु कौन हैं ? नव तत्त्वों का भिन्न-भिन्न स्वरूप कैसा है ? सच्चा आत्मा कौन है ? इनकी खबर नहीं, उसे सच्चा ध्येय होता ही नहीं; इसलिए यथास्थित शब्द का प्रयोग किया है।

एकाग्र होकर विचार करना ध्यान है। वीतरागीपर्याय ध्यान है। शुद्ध आत्मा अतीन्द्रिय है — ऐसा ध्यानी जानता है। जो यथार्थ वस्तु को ध्येय में रखकर ध्यान करता है, उसे ध्यान के फल में संवर-निर्जरा प्रगट होती है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रदशा प्रगट होती है, ये उसी का फल है, पुण्यादि उसका फल नहीं। यह ध्यान चौथे गुणस्थान से शुरू होता है। आगे कहा था कि वह ध्यान इस लोक और परलोक में इष्टफल देनेवाला है, उस व्यवहार फल को यहाँ गौण किया है। शुद्ध आत्मा की पर्याय में प्राप्ति होना यह इष्टफल है।

ध्याता, ध्येय, ध्यान और ध्यानफल इन सभी को पहले ज्ञान करना चाहिए। कर्म और विकार आत्मा में नहीं; परन्तु आत्मा तो शुद्ध है — ऐसा माननेवाला जीव, ध्यान कर सकता है। कर्म के उदय अनुसार राग करना ही पड़े, निमित्त जैसा हो, वैसा कार्य हो — ऐसा माननेवाले की दृष्टि स्वभाव तरफ हो सकती ही नहीं, उसने तो कर्म को लक्ष्य बनाया है, आत्मा को लक्ष्य नहीं बनाया; इसलिए ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव को ध्यान होता ही नहीं।

इस श्लोक में कहे हुए लक्षणवाले ध्याता, ध्येय, ध्यान और ध्यान का फल संक्षेप से कथन करनेवाली तीन गाथाओं से द्वितीय अन्तराधिकार में प्रथम स्थल समाप्त हुआ।

❖❖❖

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-५०

अब, रागादि विकल्परूप उपाधि से रहित निज परमात्मपदार्थ की भावना से उत्पन्न सदानन्द (नित्य आनन्द) जिसका एक लक्षण है — ऐसे सुखामृत के रसास्वाद से तृप्तिरूप निश्चय ध्यान का परम्परा से कारणभूत जो शुभोपयोग लक्षणयुक्त व्यवहार ध्यान है, उसके ध्येयभूत पाँच परमेष्ठियों में से प्रथम अरिहन्त परमेष्ठी का स्वरूप मैं कहता हूँ — यह एक पातनिका है। पूर्व गाथा में कथित सर्वपद-नामपद-आदिपदरूप वाचकों के वाच्य जो पञ्च परमेष्ठी हैं, उनका व्याख्यान करते हुए प्रथम ही मैं श्री जिनेन्द्र का स्वरूप निरूपण करता हूँ — यह द्वितीय पातनिका है अथवा पदस्थ, पिण्डस्थ और रूपस्थ — इन तीन ध्यानों के ध्येयभूत श्री अरिहंत-सर्वज्ञ का स्वरूप मैं दर्शाता हूँ — यह तीसरी पातनिका है। इन तीन पातनिकाओं को मन में धारण कर श्रीनेमिचन्द्र आचार्यदेव अब आगे की गाथा का प्रतिपादन करते हैं —

णट्ठचदुघाइकम्मो दंसणसुहणाणवीरियमईओ।
सुहदेहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो॥५०॥
नष्टचतुर्घातिकर्म्मा दर्शनसुखज्ञानवीर्यमयः।
शुभदेहस्थः आत्मा शुद्धः अर्हन् विचिन्तनीयः॥५०॥
नाशकर चऊ घाति दर्शन ज्ञान सुख अर वीर्यमय।
शुभदेहथित अरिहंत जिन का नित्यप्रति चिन्तन करो॥५०॥

गाथार्थ :— जिन्होंने चार घातियाकर्म नष्ट किये हैं, जो (अनन्त) दर्शन-सुख-ज्ञान-वीर्यमय हैं, जो उत्तम देह में विराजमान हैं और जो शुद्ध (अठारह दोषरहित) हैं — ऐसे आत्मा अरहन्त हैं, उनका ध्यान करने योग्य है।

टीका :— '**णट्ठचदुघाइकम्मो**' निश्चयरत्नत्रयात्मक, शुद्धोपयोगी ध्यान द्वारा पहले घातिकर्मों में मुख्य मोहनीय का नाशक, तदनन्तर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय — इन तीन घातिकर्मों का एक साथ नाश कर, जो चार घातिकर्मों के नष्ट करनेवाले हुए हैं। '**दंसणसुहणाणवीरियमइओ**' उन घातिकर्मों के नाश से अनन्त चतुष्टय (अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख और वीर्य) को प्राप्त किया होने से सहज शुद्ध, अविनाशी दर्शन-ज्ञान-सुख और वीर्यमय हैं। '**सुहदेहत्थो**' निश्चय से शरीररहित हैं तो भी व्यवहारनय से सात

धातुओंरहित, हजारों सूर्य समान दैदीप्यमान ऐसे परम औदारिक शरीर युक्त होने से शुभदेह में विराजमान हैं। '**सुद्धो**' — '**क्षुधा तृषा भयं द्वेषो रागो मोहश्च चिन्तनम्। जरा रुजा च मृत्युश्च खेदः स्वेदो मदोऽरतिः॥ विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश स्मृताः। एतैर्दोषैर्विनिमुक्तः सोऽयमाप्तो निरञ्जनः॥**' **अर्थ** —क्षुधा, तृषा भय, द्वेष, राग, मोह, चिन्ता, वृद्धावस्था, रोग, मृत्यु, खेद, स्वेद (पसीना), मद, अरति, विस्मय, जन्म, निद्रा और विषाद — इन अठारह दोषों से रहित निरञ्जन परमात्मा, वह आप्त है। इन दो श्लोकों में कहे हुए अठारह दोषो से रहित होने के कारण 'शुद्ध' है। '**अप्पा**' ऐसे विशिष्ट गुणों युक्त आत्मा है। '**अरिहो**' 'अरि' शब्द से वाच्य मोहनीय कर्म का, '**रज**' शब्द से वाच्य ज्ञानावरण और दर्शनावरण — इन दो कर्मों का और '**रहस्य**' शब्द से वाच्य अन्तरायकर्म का-इस प्रकार चारों कर्मों का नाश करने के कारण इन्द्र आदि द्वारा रचित गर्भावतार, जन्माभिषेक, तप, केवलज्ञान की उत्पत्ति और निर्वाण नामक पाँच महाकल्याणकरूप पूजा के योग्य हैं — इस कारण 'अर्हन्' कहलाते हैं। '**विचिन्तिज्जो**' हे भव्यो! तुम उपरोक्त विशेषणों से विशिष्ट, आप्तकथित आगम आदि ग्रन्थों में कहे हुए वीतराग, सर्वज्ञ आदि एक हजार आठ नामवाले अर्हन्त जिन भट्टारक का पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ ध्यान में स्थित होकर, विशेषरूप से चिन्तवन करो, ध्यान करो!

यहाँ भट्ट और चार्वाक मत का आश्रय लेकर शिष्य पूर्वपक्ष करता है कि 'सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि उसकी अनुपलब्धि (अप्राप्ति) है (अर्थात् जानने में नहीं आता है), गधे के सींग की भाँति।' उसका प्रत्युत्तर — सर्वज्ञ की प्राप्ति क्या इस देश और इस काल में नहीं है कि सर्वदेश और सर्वकाल में नहीं है ? यदि इस देश और इस काल में नहीं है — ऐसा कहो तो हम भी उसे मानते ही हैं। यदि तुम ऐसा कहते हो कि 'सर्वदेश और सर्वकाल में सर्वज्ञ की प्राप्ति नहीं है' तो तीन लोक और तीन काल में तुमने सर्वज्ञ के बिना किस प्रकार जाना ? यदि तुम कहते हो कि हमने जाना है तो तुम ही सर्वज्ञ हुए और यदि तुमने नहीं जाना है तो फिर निषेध कैसे करते हो ? वहाँ दृष्टान्त है — जिस प्रकार कोई निषेध करनेवाला मनुष्य, घट के आधारभूत पृथ्वी को आँखों से घटरहित देखकर फिर कहता है कि इस पृथ्वी पर घट नहीं है तो उसका कथन युक्त (ठीक) है; परन्तु जिसके आँखें नहीं हैं, उसका ऐसा कहना अयोग्य ही है; उसी प्रकार जो तीन लोक और तीन काल को सर्वज्ञरहित जानता है, उसका ऐसा कहना कि 'तीन लोक और तीन काल में सर्वज्ञ नहीं है' योग्य है; परन्तु जो तीन लोक और तीन काल

को जानता, वह सर्वज्ञ का निषेध किसी भी प्रकार से नहीं करता है। कैसे नहीं करता है ? तीन लोक और तीन काल को जानने से वह स्वयं सर्वज्ञ हुआ; अतः वह सर्वज्ञ का निषेध नहीं करता है।

सर्वज्ञ के निषेध में 'सर्वज्ञ की अनुपलब्धि' ऐसा जो हेतु वाक्य है, वह भी योग्य नहीं है। योग्य कैसे नहीं है ? क्या आपको सर्वज्ञ की अनुपलब्धि (अप्राप्ति) है कि तीन लोक और तीन काल के पुरुषों को अनुपलब्धि है ? यदि आपको ही सर्वज्ञ की अनुपलब्धि हो तो इतने मात्र से ही सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि जिस प्रकार पर के मन के विचार तथा परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थों की आपको अनुपलब्धि है तो भी उनका अभाव सिद्ध नहीं होता है अथवा यदि तीनों लोक और तीनों काल के पुरुषों को सर्वज्ञ की अनुपलब्धि है तो आपने ऐसा किस प्रकार जाना ? यदि आप कहते हो कि 'हमने ऐसा जाना है' तो आप ही सर्वज्ञ हुए — ऐसा पहले ही कहा गया है। इस प्रकार हेतु में दूषण है — ऐसा जानना।

सर्वज्ञ के अभाव की सिद्धि में जो 'गधे के सींग' का दृष्टान्त दिया था, वह भी अनुचित है। गधे के सींग नहीं होते, परन्तु गाय आदि के सींग हैं; सींग का अत्यन्त अभाव नहीं है; उसी प्रकार सर्वज्ञ का अमुक देश और काल में अभाव होने पर भी सर्वथा अभाव नहीं है — इस प्रकार दृष्टान्त में दोष कहा है।

प्रश्न — आपने सर्वज्ञ के सम्बन्ध में बाधक प्रमाण का तो खण्डन किया, परन्तु सर्वज्ञ के सद्भाव को सिद्ध करनेवाला प्रमाण क्या है ?

उत्तर — 'कोई पुरुष सर्वज्ञ है' इस वाक्य में 'पुरुष' धर्मी है और 'सर्वज्ञ है' वह साध्य (जिसकी सिद्धि करनी है ऐसा) धर्म है। इस प्रकार 'कोई पुरुष सर्वज्ञ है' यह वाक्य धर्मी और धर्म के समुदायरूप से पक्षवचन है। 'किस कारण से ? (अर्थात् किसी पुरुष के सर्वज्ञ होने में हेतु क्या है ?)' ऐसा पूछा जाए तो 'पूर्वोक्त प्रकार से बाधक प्रमाण का अभाव होने से; यह हेतुवचन है। किसकी भाँति ? 'अपने अनुभव में आते हुए सुख और दुःख आदि की भाँति;' यह दृष्टान्त वचन है। इस प्रकार सर्वज्ञ के सद्भाव में पक्ष, हेतु और दृष्टान्तरूप से तीन अङ्गोंयुक्त अनुमान जानना।

अथवा सर्वज्ञ के सद्भाव का साधक दूसरा अनुमान कहते हैं — 'राम, रावण आदि

काल से अन्तरित (आच्छादित) पदार्थ; मेरु आदि क्षेत्र से अन्तरित पदार्थ; भूत आदि भव से अन्तरित पदार्थ तथा दूसरों के चित्त के विकल्प और परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थ किसी भी पुरुष विशेष के प्रत्यक्ष होते हैं (देखने में आते हैं)' यह धर्मी और धर्म के समुदायरूप पक्षवचन है। उनमें 'राम, रावण आदि काल से अन्तरित पदार्थ; मेरु आदि क्षेत्र से अन्तरित पदार्थ; भूत आदि भव से अन्तरित पदार्थ, दूसरों के चित्त के विकल्प और परमाणु आदि पदार्थ' धर्मी हैं और 'किसी भी पुरुष विशेष के प्रत्यक्ष हैं' वह साध्य धर्म है। 'अन्तरित और सूक्ष्म पदार्थ किसी को प्रत्यक्ष किस प्रकार हैं ?' इस प्रकार पूछा जाए तो 'अनुमान का विषय होने से' — यह हेतुवचन है। किसकी भाँति? 'जो जो अनुमान का विषय होते हैं, वे किसी को प्रत्यक्ष होते हैं, जैसे अग्नि आदि' — यह अन्वय-दृष्टान्त का वचन है। 'अन्तरित और सूक्ष्म पदार्थ अनुमान के विषय हैं' यह उपनय का वचन हैं। अत: 'अन्तरित और सूक्ष्म पदार्थ किसी को प्रत्यक्ष होते हैं' यह निगम-वचन है। अब व्यतिरेक का दृष्टान्त कहते हैं, 'जो किसी को भी प्रत्यक्ष नहीं होता है, वह अनुमान का विषय भी नहीं होता है, जैसे कि 'आकाश के पुष्प आदि' — यह व्यतिरेक दृष्टान्त का वचन है। 'अन्तरित और सूक्ष्म पदार्थ अनुमान के विषय हैं' यह पुन: उपनय का वचन है। अत: 'अन्तरित और सूक्ष्म पदार्थ' किसी को प्रत्यक्ष हैं,' यह पुन: निगमन-वचन है।

'अन्तरित और सूक्ष्म पदार्थ किसी को प्रत्यक्ष हैं, अनुमान का विषय होने से' — यहाँ 'अनुमान का विषय होने से' यह हेतु है। सर्वज्ञरूप साध्य में यह हेतु सब प्रकार से सम्भव है; इस कारण यह हेतु 'स्वरूप से असिद्ध' अथवा 'भाव से असिद्ध' — ऐसे विशेषण द्वारा असिद्ध नहीं हैं तथा उक्त हेतु, सर्वज्ञरूप अपना पक्ष छोड़कर सर्वज्ञ के अभावरूप विपक्ष को सिद्ध नहीं करता है, इस कारण विरुद्ध भी नहीं है तथा वह (हेतु) जिस प्रकार सर्वज्ञ के सद्भावरूप स्वपक्ष में वर्तता है, उसी प्रकार सर्वज्ञ के अभावरूप विपक्ष में भी नहीं वर्तता है, इस कारण उक्त हेतु अनैकान्तिक भी नहीं है। अनैकान्तिक का क्या अर्थ है ? व्याभिचारी ऐसा अर्थ है। तथा उक्त हेतु प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधित भी नहीं है। तथा वह हेतु (सर्वज्ञ को नहीं माननेवाले) प्रतिवादियों को असिद्ध ऐसे सर्वज्ञ का सद्भाव सिद्ध करता है, इस कारण अकिञ्चित्कर भी नहीं है। इस प्रकार 'अनुमान का विषय होने से' — यह हेतु असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक (बाधित) और अकिञ्चित्कररूप जो हेतु के दोष हैं, उनसे रहित हैं; अत: वह सर्वज्ञ के सद्भाव को

सिद्ध करता ही है। उपरोक्त प्रकार से सर्वज्ञ के सद्भाव में पक्ष, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमनरूप पाँच अङ्गों से युक्त अनुमान जानना।

विशेष — जिस प्रकार नेत्ररहित पुरुष को दर्पण विद्यमान हो तो भी प्रतिबिम्बों का परिज्ञान नहीं होता है, उसी प्रकार नेत्र स्थानीय (नेत्र समान) सर्वज्ञतारूपी गुण से रहित पुरुष को दर्पणस्थानीय चार अनुयोग वेदशास्त्रों में कथित प्रतिबिम्ब-स्थानीय परमाणु आदि अनन्त सूक्ष्म पदार्थों का किसी भी काल में परिज्ञान नहीं होता है। इस प्रकार कहा भी है कि - 'जिस पुरुष को स्वयं बुद्धि नहीं है, उसको शास्त्र क्या (उपकार) कर सकता है ? क्योंकि नेत्ररहित पुरुष को दर्पण क्या उपकार करे ?'

इस प्रकार यहाँ संक्षेप में सर्वज्ञ की सिद्धि जानना।

इस प्रकार पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ — इन ध्यानों के ध्येयभूत सकल परमात्मा श्रीजिन-भट्टारक के व्याख्यान से यह गाथा समाप्त हुई॥५०॥

गाथा ५० पर प्रवचन

अब, इसके आगे विकल्परूप उपाधि से रहित निज-परमात्म-पदार्थ की भावना से उत्पन्न होनेवाले सदानन्द एक लक्षणवाले सुखामृत रसास्वाद से तृप्तिरूप निश्चय-ध्यान का परम्परा से कारणभूत जो शुभोपयोग लक्षणवाला व्यवहार ध्यान है, उसके ध्येयभूत पञ्च-परमेष्ठियों में से प्रथम ही जो अर्हत् परमेष्ठी हैं, उनके स्वरूप को कहता हूँ, यह एक पातनिका है। पूर्व गाथा में कहे हुए सर्वपद-नामपद, आदिपद रूप वाचकों के वाच्य जो पञ्च-परमेष्ठी, उनका व्याख्यान करने में प्रथम ही श्री जिनेन्द्र के स्वरूप को निरूपण करता हूँ, यह दूसरी पातनिका है। अथवा पदस्थ, पिण्डस्थ तथा रूपस्थ — इन तीन ध्यानों के ध्येयभूत श्री अर्हत्सर्वज्ञ के स्वरूप को दिखलाता हूँ, यह तीसरी पातनिका है। इन पूर्वोक्त तीनों पातनिकाओं को मन में धारण करके सिद्धान्तिदेव श्री नेमिचन्द्र आचार्य अन्तिम गाथा सूत्र का प्रतिपादन करते हैं।

चार घातिकर्मों को नष्ट करने वाले, अनन्तदर्शन-सुख-ज्ञान और वीर्य के धारक, उत्तमदेह में विराजमान और शुद्ध आत्मस्वरूप अरिहन्त का ध्यान करना चाहिए।

अरिहन्त कैसे होते हैं ? इसकी व्याख्या चल रही है। यहाँ आत्मा का स्वरूप शुद्ध उपयोग से सिद्ध करते हैं। आत्मा ज्ञान और आनन्द से भरपूर है, वह रागरहित शुद्धोपयोग

से परमात्मा होता है। यह ध्यान की व्याख्या चलती है। आत्मा देह, मन, वाणी, पुण्य-पाप से जुदा है। जब ऐसे आत्मा का भान हो तब ध्यान होता है। आत्मा ध्याता है, उसका ध्येय यथास्थित पदार्थ है। ध्यान वीतरागी शुद्धोपयोगदशा है, उसका फल संवर-निर्जरा है, उस ध्यान को धर्मध्यान कहा गया है।

शुभोपयोग में ध्याता आत्मा है, ध्येय पञ्चपरमेष्ठी हैं, शुभोपयोग ध्यान है, उसका फल सातिशय पुण्य है।

भगवान आत्मा ज्ञानस्वभावी है। दया, दानादि के राग में एकाग्रता, अधर्मध्यान है अथवा आर्तध्यान है और शुद्ध आत्मा में अन्तरएकाग्रता, सच्चा धर्मध्यान है। यहाँ शुभ परिणाम में धर्मध्यान व्यवहार से कहा गया है, इसका आशय यह है कि वह निश्चय से धर्मध्यान नहीं है।

जिसकी आत्मा के भानसहित शुभोपयोग वर्तता है, उस शुभ का ध्येय पञ्च परमेष्ठी हैं। इस प्रकार यहाँ व्यवहार की बात चल रही है।

कैसे हैं अरिहंत भगवान ? भगवान ने चार घातिया कर्मों का नाश किया है। वस्तुतः यह कथन असद्भूत उपचार का है।

वास्तविकता यह है कि स्वभाव में लीनता होने पर विकार का नाश हो जाता है। आत्मा, विकार का नाश करता है - यह उपचरित कथन है, तब आत्मा कर्मों का नाश करता है - यह तो बहुत दूर का उपचार है।

द्रव्यकर्म और आत्मा के बीच अत्यन्ताभाव है, अतः आत्मा ने कर्मों का नाश किया - यह उपचार कथन है। वस्तुतः कर्मों ने आत्मा के गुणों का घात नहीं किया है। आत्मा ने स्वयं अपने स्वभाव को भूलकर अपने गुणों का घात किया तो उस घात में कर्मों को निमित्त कहा जाता है।

जीव में पूर्ण आनन्ददशा प्रगट हो तो विकार नहीं हो सकता, परन्तु विकार प्रत्यक्ष दिखता है, तो उसमें कर्म निमित्त हैं। वस्तुतः तो जीव का विकारी परिणमन भी असहाय है, उसे किसी की सहायता नहीं है। जीव विकार करे या अविकारी भाव करे, वह स्वतंत्रता से करता है।

भगवान, अनन्त दर्शन-ज्ञान-सुख और वीर्य के धारक हैं। उनका स्फटिक समान

शरीर हो जाता है। उनको रोग या लाल पेचिस आदि नहीं होते; क्योंकि उनका तो परम औदारिक शरीर है। उनके शरीर के समीप आकर देखनेवाले को अपने सात भव दिखते हैं। जिस प्रकार कीमती हीरे की डिब्बी भी बहुत कीमती होती है; उसी प्रकार जब चैतन्य हीरा सर्वज्ञ हुआ, तब यह शरीर भी स्फटिक जैसा हो जाता है। जो भोले जीव भगवान के शरीर में रोगादि मानते हैं, वे भगवान के स्वरूप को नहीं पहिचानते।

आत्मा की निर्विकल्प प्रतीति, ज्ञान और रमणता को शुद्ध उपयोगरूप ध्यान कहा है। ध्यान के प्रकरण में शुद्धोपयोग को निश्चय ध्यान और शुभोपयोग को व्यवहार ध्यान कहा है।

जो अरिहन्त का ध्यान करते हैं, उन्हें ऐसी प्रतीति हुई है कि अरिहन्तदशा आत्मा की दशा है। मेरी दशा में अभी अल्पता होने पर भी स्वभाव की रुचि होने से मुझे और अधिक भवभ्रमण नहीं हो सकता है। धर्मी जीव को विकार, निमित्त और अल्पज्ञ पर्याय की रुचि होती ही नहीं है। वे जीव अरिहन्त के स्वरूप की प्रतीति का स्वयं को ख्याल होने से अरिहन्त का आदर करते हैं और ऐसा चिन्तन करते हैं कि जिस प्रकार अरिहन्त ने अनन्त चतुष्टय अपनी निजशक्ति से प्रगट किया है; उसी प्रकार मैं भी अनन्त चतुष्टय अपनी निजशक्ति से प्रगट करूँगा, तब कर्म भी टल जाएंगे।

आत्मभान बिना अरिहन्त पद का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता है। भगवान ने सर्वज्ञ होने से पहले मोह का नाश किया, बाद में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का एक समय में नाश किया; इसलिए उन परमात्मा को अनन्त चतुष्टय प्रगट हुआ। इस प्रकार स्वभाव से उत्पन्न, शुद्ध और विनाशरहित अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख और वीर्य प्रकट किया है।

भाई! अपना स्वभाव आनन्द का रसकन्द है, उसकी प्रतीति और उपयोगात्मक परिणमन हो तो पर्याय में आनन्द प्रगट होता है अर्थात् अचेतन पदार्थ की उपेक्षा और चेतन पदार्थ की अपेक्षा करने से यह असीम आनन्द प्रगट होता है।

तथा निश्चयनय से भगवान अरिहन्त का आत्मा शरीररहित है, फिर भी व्यवहारनय की अपेक्षा सप्तधातुरहित, हजारों सूर्य के समान दैदीप्यमान परम औदारिक शरीर धारण किया है; अतः वे शुभदेह में विराजमान हैं। भगवान के शरीर में मैल, रोग और पेचिस

आदि नहीं होते। भगवती सूत्र के १४वें शतक में कहा है कि भगवान को रोग हुआ, छह माह तक पेचिस रहा, उन्होंने दवा ली तथा उनकी वाणी बन्द रही — ये सभी बातें झूठी हैं। भगवान को जब अनन्त चतुष्टय प्रगट हुआ, तब शरीर स्वयं परम औदारिकरूप परिणम गया।

आत्मा के भानवाले को शुभ उपयोग में ऐसे अरिहन्त भगवान ध्येयरूप होते हैं।

अरिहन्त भगवान को छद्मस्थदशा में आहार होता था, मगर निहार तो जन्म से ही नहीं होता। केवलज्ञान दशा प्रगट होने पर आहार-निहार दोनों नहीं होते, जब केवलज्ञान सूर्य की किरणें उदित हुईं, तब शरीर में भी सूर्य के समान तेज आ गया। आत्मा शान्त हो गया, उस समय इस जगत में जितने भी शान्तरसरूप से परिणमित परमाणु थे, वे सभी शरीररूप परिणमित हो गये। ऐसे शुभदेह के अन्दर भगवान विराजमान हैं।

भगवान अठारह दोषों से रहित हैं। उन्हें क्षुधा, तृषा, भय, द्वेष, राग, मोह, चिन्ता, जरा, रुजा, मरण, श्वेद, खेद, मद, अरति, विस्मय, जन्म, निद्रा और विषाद नहीं होते। उनके शरीर में वृद्धावस्था नहीं होती। कोई जीव आठ वर्ष में केवलज्ञान प्राप्त करता है; फिर अरबों वर्षों की आयु भले हो तो भी उनका शरीर ज्यों का त्यों रहता है, उसमें झुर्रियाँ नहीं पड़तीं।

सर्वज्ञ को चैतन्य अनुसार वर्तता परिणामरूप उपयोग होता है; परन्तु एक ज्ञेय से हटकर दूसरे ज्ञेय की ओर जानेरूप उपयोग नहीं होता। छद्मस्थ को विग्रहगति में ज्ञानोपयोगरूप कार्य नहीं होता, इसलिए मरण कहलाता है। भगवान को सदा अनन्त दर्शन-ज्ञानरूप उपयोग रहता है, इसलिए उनका मरण नहीं होता।

जिसने ऐसा निश्चय-व्यवहार से अरिहन्त के स्वरूप को जाना है, उसने ही यथार्थरूप से अरिहन्त को पहिचाना है। अरिहन्त आप्त पुरुष हैं, निज हित के लिए मानने योग्य पुरुष हैं।

यदि अरिहंत को क्षुधा, तृषा हो तो (उसमें निमित्तभूत) कार्य में उतना रस/अनुभाग रह गया होना चाहिए और आत्मा में भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के उतनी अशुद्धता शेष रहनी चाहिए। यदि ऐसा हो तब तो अरिहन्त अशुद्ध सिद्ध होते हैं, परन्तु ऐसा नहीं है, वे तो शुद्ध हैं।

अब, 'अरि' शब्द में से तीन अर्थ निकाले हैं - 'अरि' शब्द का वाच्य मोहनीय कर्म होता है, 'रज' शब्द का वाच्य ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय होता है और 'रहस्य' शब्द का वाच्य अन्तराय कर्म होता है, इस प्रकार अरिहन्त भगवान ने ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय - इन चार कर्मों का नाश किया है।

यहाँ पाँच कल्याणकवाले तीर्थङ्कर की बात ली गयी है। कर्मों का नाश किया होने से भगवान अरिहन्त, देवों और इन्द्रों से पाँच महाकल्याणरूप पूज्य योग्य होते हैं।

भगवान गर्भ में आने के छह माह पूर्व से ही देव, भगवान की माता की सेवा करते हैं और गर्भकल्याणक मनाते हैं। तत्पश्चात् जन्म के समय मेरुपर्वत पर ले जाकर महा अभिषेक करते हैं। भगवान द्वारा मुनिपना अङ्गीकार करने के समय तपकल्याणक मनाते हैं। भगवान को केवलज्ञान होना, ज्ञानकल्याणक और मोक्ष होना, निर्वाण कल्याणक है। धर्मी जीव को कल्याणक मनाने का शुभभाव आता है।

यद्यपि भगवान को गर्भ एवं जन्म के समय तीन ज्ञान हैं, तथापि उस महोत्सव के समय देवगण महाकल्याणरूप पूजा करते हैं। वह शुभभाव कल्याण का कारण है - ऐसा यहाँ नहीं कहना है। वस्तुतः तो तीर्थङ्कर स्वयं का कल्याण करते हैं और अन्य के कल्याण में निमित्त हैं, इसलिए भक्तिवान जीव, भगवान के पाँच महाकल्याणकों की पूजा करते हैं।

देखो! यह आप्तपुरुष का वर्णन है। जिसे आप्त के स्वरूप में भूल है, उसे धर्म के स्वरूप का पता ही नहीं है।

इस प्रकार अरिहन्त भगवान पञ्च कल्याणक से पूजने योग्य होते हैं, इसलिए उन्हें अर्हन्त कहते हैं। ऐसे अरिहन्त का चिन्वतन करना। किसी ने उनके स्वरूप की अन्यथा कल्पना की हो तो वह चिन्तवन योग्य नहीं है।

ऊपर कहे हुए विशेषणों के धारक तथा आप्त की दिव्यध्वनि से रचित शास्त्रों में भगवान वीतराग सर्वज्ञ आदि ऐसे एक हजार आठ नाम हैं, उन नामों के धारण करने वाले श्री अरिहन्त जिन भट्टारक का चिन्तवन करना।

पञ्च नमस्कार पद में स्थित पञ्च परमेष्ठियों का ध्यान पदस्थध्यान है। औदारिक शरीर में स्थित अरिहन्त का ध्यान पिण्डस्थध्यान है और समवसरण में इन्द्रों से पूज्य

अरिहन्त का ध्यान रूपस्थध्यान है। हे भव्यजनो! ऐसे ध्यान में स्थिर होकर ऐसे अरिहन्त भगावन का चिन्तवन करो।

ऐसे भानसहित निज स्वरूप का ध्यान करना, परन्तु जब शुद्ध स्रूप में स्थिर न हो सके, तब अरिहन्त का ध्यान करना।

निश्चय साध्य यथास्थित पदार्थ है और व्यवहार साध्य अरिहन्त भगवान हैं।

अब, यहाँ भट्ट और चार्वाकमत को ग्रहण करनेवाला शिष्य कहता है –

'सर्वज्ञ नहीं हैं' क्योंकि ऐसे सर्वज्ञ प्रत्यक्ष नहीं दिखते। आपने इतनी बड़ी बात की है कि सर्वज्ञ एक समय में तीन काल और तीन लोक के जानने वाले और तथा औदारिक शरीरवाले हैं, परन्तु वे हमें प्रत्यक्ष नहीं दिखते तथा न हमने यह सुना है कि वे किसी को प्राप्त हुए हैं। जैसे गधे के सींग प्रत्यक्ष नहीं दिखते और किसी को गधे के सींग की प्राप्ति सुनने में भी नहीं आयी, इसी प्रकार हमें सर्वज्ञ भगवान प्रत्यक्ष नहीं दिखते और वे किसी को प्राप्त हुए हों-दिखे हों – ऐसा भी हमें नहीं लगता – शिष्य ऐसी कल्पना करता है।

इस प्रकार यहाँ शिष्य ने अपने प्रश्न में तीन बातें ली हैं –

१. सर्वज्ञ नहीं हैं।

२. उसका हेतु कारण यह है कि उनकी उपलब्धि/प्राप्ति हमको नहीं है, वे हमारे जानने में नहीं आते।

३. इसका दृष्टान्त यह है कि जैसे गधे के सींग नहीं दिखते, वैसे ही सर्वज्ञ भी नहीं दिखते।

उत्तर – भाई! तू सर्वज्ञ का अस्तित्व नहीं मानता तो हम तुझसे यह पूछते हैं कि इस काल और इस देश में सर्वज्ञ नहीं है या सर्वकाल और सर्व क्षेत्रों में सर्वज्ञ नहीं है? यदि तू कहे कि इस काल और इस क्षेत्र में सर्वज्ञ नहीं है, तो यह सत्य ही है, हम भी ऐसा ही मानते हैं। इस क्षेत्र के वर्तमान काल/पञ्चम काल में यहाँ सर्वज्ञ नहीं है – यह सत्य है अर्थात् भरत क्षेत्र और पञ्चमकाल में सर्वज्ञ नहीं है – यह सत्य है।

देखो! यदि सर्व रीति से वस्तुस्वरूप को यथार्थ माने तो आत्मा की पहिचान होती

है। 'प्रवचनसार' गाथा-८०वीं में कहा है कि यदि सर्वज्ञ के द्रव्य-गुण-पर्याय को, निज आत्मा के सन्मुख होकर जाने तो स्व-सावधानी हुए बिना नहीं रहती और पर की रुचि का अभाव हुए बिना नहीं रहता अर्थात् उस जीव को अवश्य ही सम्यग्दर्शन होता है। ये सर्वज्ञ मेरी ही जाति के हैं, मैं भी इसी योग्य हूँ - ऐसा माननेवाला ही सर्वज्ञ की प्रतीति करनेवाला है। देह-मन-वाणी नहीं, अल्पज्ञ नहीं, मैं तो सर्वज्ञ शक्तिवान हूँ - ऐसी प्रतीति किये बिना अरिहन्त के स्वरूप को नहीं जाना जा सकता।

वह सर्वज्ञ पर्याय, अनन्त सिद्धों तथा केवली भगवन्तों को और सबको एक समय में जान लेती है। इस प्रकार अपनी शक्ति का विश्वास करनेवाले ने ही अरिहन्त की पहिचान की है। आत्मा स्वयं अपना कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और आधार - ऐसे छह कारकरूप होकर धर्म प्रगट करके, केवलज्ञान प्रगट कर सकता है। उसको शरीर, क्षेत्र, विकार और अल्प पर्याय की रुचि छूट जाती है।

यहाँ शिष्य के प्रश्न का समाधान करते हुए कहत हैं कि इस काल में और इस क्षेत्र में केवली नहीं है - यदि ऐसा तू कहता है तो वह सत्य है, परन्तु केवली सर्व क्षेत्रों तथा सर्व कालों में नहीं है - यदि तू ऐसा कहता है तो तू ही समस्त कालों और क्षेत्रों को जान लिया। भूत, वर्तमान और भविष्य - ऐसे तीनों कालों को जान लिया। यदि ऐसा है तो तू ही तीनों कालों और तीनों कालों को जाननेवाला हो गया अर्थात् तू ही सर्वज्ञ हो गया और यदि तूने यह सब नहीं जाना तो जाने बिना तू यह सब कैसे कह सकता है कि सर्वज्ञ नहीं है ? तात्पर्य यह है कि यदि तूने तीन काल, तीन लोक को जाना है तो तू सर्वज्ञ हो गया और यदि तुझे तीन काल, तीन लोक का पता/ज्ञान नहीं है तो तेरे द्वारा सर्वज्ञ के अस्तित्व का इन्कार किसी भी तरह योग्य नहीं है अर्थात् तू अन्य क्षेत्र और अन्य काल में गये बिना सर्वज्ञ की सत्ता से इन्कार नहीं कर सकता।

जो तीन काल, तीन लोक के पदार्थों को जानता है, वह सर्वज्ञ है। तूने जान लिया कि तीन काल, तीन लोक में सर्वज्ञ नहीं है, तो तू ही सर्वज्ञ हो गया अथवा तीन काल, तीन लोक में सर्वज्ञ नहीं है - ऐसा तूने नहीं जाना तो 'सर्वज्ञ नहीं है' - ऐसा निषेध तू कैसे कर सकता है ?

कोई निषेध करने वाला पुरुष जमीन देखकर कहे कि जमीन में अथवा इस मकान में घड़ा नहीं है, तो वहाँ भूतल अथवा जमीन देखकर कहे तो सत्य है, परन्तु जैसे अन्धे

व्यक्ति ने जमीन नहीं देखी, तो वह यह कैसे कह सकता है कि वहाँ घड़ा नहीं है ? जो अन्धा है, वह घड़े से इन्कार कैसे कर सकता है ? वह घड़े के क्षेत्र तथा काल को नहीं जानता तो फिर उसके आधेय घड़े से इन्कार कैसे कर सकता है ? इसलिए अन्धे का निषेध वचन सत्य नहीं है।

आत्मा में से सर्वज्ञ हुए है। सर्वज्ञ आधेय और क्षेत्र-काल आधार है। वह क्षेत्र-काल जो कि आधार है, उसके ज्ञान बिना सर्वज्ञ आधेय नहीं है - ऐसा कह दे तो वह बात सत्य नहीं है।

'इसलिए सर्वज्ञ नहीं है' - ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सर्वकाल और सर्वक्षेत्र को जाना नहीं है, अत: आधार को जाने बिना आधेय से इन्कार नहीं किया जा सकता। 'इसलिए सर्वज्ञ है ही नहीं' - यह बात तू किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं कर सकता।

अब हेतुवचन का विशेष कथन करते हैं।

पूर्व में शिष्य ने शङ्का की थी कि इस जगत में कोई सर्वज्ञ नहीं है। उसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि यदि तुम्हें सर्वज्ञ नहीं दिखते हैं तो सर्वज्ञ की प्राप्ति तुम्हें नहीं है — ऐसा कहा जा सकता है अर्थात् उनका प्रत्यक्ष अनुभव या दर्शन तुम्हें नहीं हुआ है, ऐसा तो कहा जा सकता है; पर ऐसा नहीं कहा जा सकता कि जगत में सर्वज्ञ हैं ही नहीं। इसका उदाहरण देते हुए कहते हैं कि जैसे कोई मनुष्य ऐसा विचार करे कि भगवान महाविदेह में विराजते हैं। यदि तू उसके इस विकल्प को नहीं जान सकता तो क्या ऐसा कहा जा सकता है कि उस व्यक्ति के ऐसा विकल्प है ही नहीं ? इसी प्रकार कोई परमाणु सम्बन्धी विकल्प करे और वह विकल्प तू न जान पाये तो क्या ऐसा कहा जा सकता है कि उसके ऐसा विकल्प है ही नहीं अर्थात् सर्वज्ञ सम्बन्धी तेरी जानकारी के अभाव में सर्वज्ञ का अभाव किसी कीमत पर नहीं कहा जा सकता है।

फिर वह पुन: कहता है कि तीन लोक और तीन काल में सर्वज्ञ हैं ही नहीं तो हम उससे पूछते हैं कि यह बात तूने कैसे जानी ? यदि तूने तीन लोक और तीन काल को देखकर यह बात कही है तो तू ही सर्वज्ञ हो गया; क्योंकि तीन लोक और तीन काल का जानकार ही सर्वज्ञ है और यदि तू यह बात बिना देखे कहता है तो बिना देखे कही हुयी तेरी यह बात सत्य कैसे हो सकती है ? इस प्रकार सर्वज्ञ की अप्राप्तिरूप

हेतु में अनेक दोष खड़े होते हैं; इसलिए तेरा ऐसा कहना कि सर्वज्ञ का अभाव है, बिलकुल गलत है।

कुछ लोग ऐसी **शङ्का** करते हैं कि सर्वज्ञ की स्वीकृति से वस्तुओं की अनन्तता खण्डित होती है, क्योंकि अनन्त वस्तुओं को जान लेने पर उनका अन्त जान लिया गया कहा जाएगा ? और यदि अनन्त वस्तुओं को सर्वज्ञ नहीं जानते — ऐसा कहा जाए तो ज्ञान की हीनता फलित होती है ?

समाधान - जिस प्रकार एक गोल थाली है, उस गोल थाली का प्रारम्भ ज्ञान में नहीं आता है और उसे बताया भी नहीं जा सकता है, क्योंकि गोलाकार वस्तु का प्रारम्भ और अन्त बताना सम्भव नहीं है; उसी प्रकार जगत भी अनादि-अनन्त है, उस अनादि-अनन्त जगत को ज्ञान अनादि-अनन्तरूप जान लेता है और वाणी भी वैसा ही कह देती है। यदि अनादि-अनन्त जगत को ज्ञान और वाणी के जानने और कहने से सादि-सान्त माना जाए तो ज्ञान और वस्तु दोनों ही खोटी ठहरती हैं।

कुछ लोग गधे के सींग के अभाव की तरह सर्वज्ञ का अभाव मानते हैं, उनकी यह बात भी गलत है; क्योंकि उन्होंने सर्वज्ञ के अभाव को बताने के लिये गधे के सींग का गलत दृष्टान्त दिया है, क्योंकि यद्यपि गधे के सींग नहीं हैं; तथापि गाय, बैल आदि के तो सींग हैं ही; इसलिए सींग का ही अभाव है, ऐसा नहीं जा सकता है। सींग का अत्यन्त अभाव नहीं है। जिस प्रकार गधे के सींग का अभाव होने से गाय, बैल के सींग का अभाव नहीं कहा जा सकता है; उसी प्रकार यदि तुझे सर्वज्ञ नहीं मिले तो सभी को सर्वज्ञ की प्राप्ति नहीं है — यह कहना सम्भव नहीं है।

इस क्षेत्र और इस काल में तो सर्वज्ञ का अभाव कहा जा सकता है; पर ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि सभी क्षेत्र और सभी काल में सर्वज्ञ नहीं हैं।

ढाई द्वीप के बाहर मनुष्य नहीं हैं; अतः वहाँ सर्वज्ञ का अभाव सम्भव है, परन्तु ढाई द्वीप में केवलज्ञानी का सर्वकाल में अभाव नहीं कहा जा सकता है।

इस प्रकार जो यह कहा गया कि —

(१) सर्व काल और सर्व क्षेत्र में सर्वज्ञ का अभाव है।

(२) किसी भी जीव को सर्वज्ञ नहीं मिले; अतः सर्वज्ञ का अभाव है।

(३) गधे के सींग के अभाव की तरह सर्वज्ञ का अभाव है।

ये तीनों बातें गलत हैं।

जो जीव सर्वज्ञ का निर्णय करेगा, वह सर्वज्ञ बन जाएगा; पर जिसे सर्वज्ञ का ही निर्णय नहीं है, उसे धर्म की प्राप्ति भी नहीं होगी। देखो! यहाँ शुभभाव के ध्येय की बात चल रही है। सर्वप्रथम उन्हें स्वीकार करो। जिस जीव को शुभभाव के ध्येयरूप भगवान अरिहन्त ख्याल में आते हैं, उसे ही शुद्धभाव के ध्येयरूप भगवान आत्मा का भान होता है।

यहाँ बाधक प्रमाण का खण्डन कर देने पर अर्थात् वादी की बात का खण्डन कर देने पर वह कहता है कि आपने सर्वज्ञ की नास्ति का तो खण्डन कर दिया; अब उनकी अस्ति का मण्डन (समर्थन) तो कीजिये ?

भाई! सत्तास्वरूप ग्रन्थ में सर्वज्ञ का स्वरूप बताया है। वहाँ तर्क देकर समझाया है कि जिसने अरिहन्त को बाह्य लक्षणों के आधार पर नहीं जाना, वह गृहीत मिथ्यादृष्टि है। जिसने सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को नहीं जाना और जो कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को मानता है; वह स्थूल मिथ्यादृष्टि है। भाई! देखो, पहले के श्रावक और पण्डित न्याय से यथार्थ बात करते थे।

यहाँ ग्रन्थकार ने स्वयं वादी के मुख में प्रश्न डाला है कि सर्वज्ञ के सद्भाव को सिद्ध कीजिये ?

उत्तर - कोई पुरुष सर्वज्ञ पर्याय का धारक है। वह पुरुष अर्थात् आत्मा तो धर्मी है और सर्वज्ञता उसका धर्म है। धर्मी को पक्ष और धर्म को साध्य भी कहा जाता है। इस प्रकरण में कोई आत्मा सर्वज्ञ पर्याय का धारक है। यह प्रतिज्ञा वाक्य है एवं सर्वज्ञ की सिद्धि में बाधक प्रमाण का अभाव है — यह हेतु है।

जिस प्रकार सुख-दुःख का अनुभव हमारे ख्याल में आता है, यह दृष्टान्त है; उसी प्रकार किसी के अनुभव में सर्वज्ञता आती है — यह सिद्धान्त है, जो इस दृष्टान्त से स्वयमेव सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार सर्वज्ञ हैं अर्थात् सर्वज्ञतारूपी धर्म को धारण करनेवाला धर्मी है। यह

पक्ष है और बाधक प्रमाण का अभाव हेतु है तथा अनुभव से सिद्ध होता है, यह दृष्टान्त है — इस प्रकार पक्ष, हेतु तथा दृष्टान्त अनुमान जानना चाहिये।

सर्वज्ञता का विरोधी प्रमाण सिद्ध न होने से विघ्न का अभाव है; अत: उसकी सिद्धि अविरुद्धपने होती है। जिस प्रकार सुख-दु:ख का वेदन किसी से पूछना नहीं पड़ता, प्रत्यक्ष ही ख्याल में आता है; उसी प्रकार किसी जीव को सर्वज्ञपना प्रकट हो जाता है, यह सहज ख्याल में आता है।

अहो! यह ज्ञानस्वाभावी आत्मा है, ऐसे अनन्त-अनन्त आत्माओं ने क्रम-क्रम से परमात्मदशा प्राप्त की है। ऐसी प्रतीति करके हम भी परमात्मदशा प्राप्त करेंगे। ऐसी परमात्मदशा के आनन्द में सांसारिक आनन्द की कोई कीमत नहीं है। भाई! जिसे आत्मा की और सर्वज्ञता की प्रतीति होती है एवं सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा होती है; उसे विकार और निमित्त की महिमा नहीं आती है, स्वभाव की ही महिमा आती है।

सर्वज्ञ के सद्भाव का साधक दूसरा अनुमान द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव से समझाते हैं। (१) राम-रावण जिस समय थे, तब तो उन्हें किसी ने प्रत्यक्ष अवश्य देखा था। वे भले ही हमारे अनुमान ज्ञान के विषय हों; परन्तु किसी न किसी के प्रत्यक्षज्ञान के विषय अवश्य हैं; क्योंकि जो-जो पदार्थ अनुमान का विषय बनता है, वह अवश्य ही प्रत्यक्ष का भी विषय बनता है अथवा परमाणु का ज्ञान हमें अनुमान से होता है, जैसे किसी स्कन्ध के अनेक हिस्से करते चले जाएं तो सबसे सूक्ष्म अंश या हिस्सा परमाणु कहलाता है। जब परमाणु हमारे अनुमान का विषय बनता है तो वह अवश्य ही अवधिज्ञानी और केवलज्ञानी के प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय बनता है। जिस प्रकार परमाणु का उदाहरण दिया; उसी प्रकार कालाणु के बारे में भी जान लेना चाहिए। इस प्रकार द्रव्य का दृष्टान्त दिया।

(२) वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र, मेरु पर्वत आदि क्षेत्र से दूर अर्थात् अन्तरित पदार्थ हैं। शास्त्रों में कहा है कि महाविदेहक्षेत्र, मेरु पर्वत आदि हैं, वे क्षेत्र और उनमें रहनेवाले पदार्थ हमारे अनुमान के विषय हैं; परन्तु मेरु पर्वत के समीप रहनेवाले जीवों के तो वे प्रत्यक्षज्ञान के ही विषय हैं। इस प्रकार क्षेत्र का दृष्टान्त दिया।

(३) भूतकाल का हमें अनुमान हो सकता है, परन्तु भूतकाल में जो मनुष्य थे; उन्हें वह काल प्रत्यक्ष था। इसी प्रकार भविष्य में इस क्षेत्र में श्रेणिक राजा का जीव (जो

वर्तमान में नरक में है) आगामी चौबीसी में तीर्थंकर होगा, यह हमें अनुमान है; परन्तु भविष्यकाल के जीवों को राजा श्रेणिक का जीव प्रत्यक्ष केवली भगवान के रूप में दिखाई देगा। भाई! जिसका अनुमान होता है, उसे प्रत्यक्ष जाननेवाला कोई न कोई जीव अवश्य होना चाहिए। इस प्रकार काल का दृष्टान्त दिया।

(४) किसी जीव को कोई विचार आ रहा है, वह हमें अनुमान से ख्याल में आता है, परन्तु उस जीव को वह विचार अनुमान का नहीं; बल्कि प्रत्यक्ष का विषय है। इस प्रकार भाव का दृष्टान्त दिया।

इस प्रकार द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव के माध्यम से सर्वज्ञता के सद्भाव का अनुमान किया।

यहाँ कोई पूछता है कि राम-रावणादि किसी के प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय कैसे हो सकते हैं; क्योंकि वे तो हैं ही नहीं ?

उससे कहते हैं कि भाई! जो-जो अनुमान का विषय होता है, वह-वह किसी न किसी के प्रत्यक्ष का भी विषय होता है। चूँकि राम-रावणादि हमारे अनुमान के विषय हैं; अतः वे अवश्य ही किसी न किसी के प्रत्यक्ष के विषय भी होना चाहिए। जिस प्रकार पहाड़ पर स्थित अग्नि हमारे अनुमान ज्ञान का विषय बनती है तो वह किसी न किसी के प्रत्यक्षज्ञान का विषय भी अवश्य बनती है। यह अन्वय दृष्टान्त है।

इस प्रकार राम-रावणादि का द्रव्य-क्षेत्र-काल और भावरूप अनुमान से निश्चय करना उपनय वचन है और देश-काल, राम-रावण, परमाणु विकल्प आदि अन्तरित पदार्थ अनुमान के विषय हैं तो वे पदार्थ किसी न किसी जीव के प्रत्यक्ष भी होना चाहिए तथा वर्तमान में किसी के केवलज्ञान में प्रत्यक्षज्ञान होना चाहिये — यह निगमन वाक्य है।

भाई! सर्वज्ञ की प्रतीति हो तो सभी का खुलासा हो जाए। अरिहन्त किसे कहना? अज्ञानी को इसकी खबर नहीं है। सर्वज्ञ की प्रतीति करनेवाला विकार से धर्म नहीं मानता। अन्य का कल्याण कर दूँ — ऐसा भी नहीं मानता। भाई! प्रत्येक पदार्थ की पर्यायें क्रमशः होती हैं, जो ऐसा मानता है, उसे अहंकार, विकार तथा अल्पज्ञता की रुचि छूटकर स्वभाव की रुचि हो जाती है।

अरे भाई! आत्मा का धर्म सर्वज्ञपना है। किसी को यह प्रत्यक्ष प्रकट हुआ है —

ऐसा निश्चय करनेवाले का सभी प्रकार का भ्रम नष्ट हो जाता है। उन सर्वज्ञ परमात्मा को ज्ञान-दर्शन-आनन्द पूर्ण होता है, उनका शरीर परम औदारिक होता है। भाई! वास्तव में तो सर्वज्ञ ही धर्म के स्तम्भ हैं।

अब व्यतिरेक दृष्टान्त कहते हैं अर्थात् इसी बात को निषेधपूर्वक समझाते हैं। जिस प्रकार आकाश के फूल का अनुमान नहीं किया जा सकता; क्योंकि वह किसी के प्रत्यक्षज्ञान का विषय नहीं है। जो किसी के प्रत्यक्ष का विषय न हो, वह अनुमान का विषय भी नहीं हो सकता। जो जगत में सत् है, वह ज्ञान का विषय न बने — ऐसा नहीं हो सकता। पूर्णज्ञान वाले को पूर्ण ख्याल में आता है और अपूर्णज्ञान वाले को अपूर्ण ख्याल में आता है। यदि केवली भगवान किसी के प्रत्यक्ष न हों तो किसी के अनुमान में भी नहीं आ सकते। अगर केवली भगवान अनुमान में आते हैं तो वे किसी के प्रत्यक्षज्ञान के विषय भी होना चाहिए।

यहाँ व्यतिरेक दृष्टान्त दिया अर्थात् कहा कि आकाश पुष्प नहीं है तो वह अनुमान का विषय भी नहीं है। अब आगे कहते हैं कि चूँकि राम-रावणादि अनुमान के विषय हैं; अत: वे किसी के प्रत्यक्ष भी हैं। ये क्रमश: उपनय और निगमन वाक्य हैं। राम-रावणादि अनुमान के विषय होने से किसी के प्रत्यक्ष भी होते हैं। इस वाक्य में 'अनुमान का विषय होने से' — यह हेतु है और यह हेतु सर्वज्ञरूप साध्यधर्म में सर्व प्रकार से रहता है; इसलिए वह हेतु स्वरूपसिद्ध, भावासिद्ध तथा विशेषण आदि से असिद्ध नहीं है।

भाई! हमें यह समझना चाहिए कि केवली भगवान हमारी जाति के हैं, बस अन्तर इतना है कि वे पूर्ण हैं और हममें अधूरापन है। जब अधूरापन ही आदरणीय नहीं है, तब फिर विकार आदि आदरणीय कहाँ से हो सकते हैं। मेरी वर्तमान पर्याय में अल्पज्ञता है और भगवान की पर्याय सर्वज्ञ है तो भाई! विचार करो, आखिर यह सर्वज्ञता आयी कहाँ से ? अल्पज्ञता की पर्याय पूर्ण पर्याय का अंश है अर्थात् मतिज्ञान केवलज्ञान का अंश है और पूर्ण पर्याय स्वभाव के आश्रय से प्रकट होती है। मतिज्ञान में सर्वज्ञपने का आंशिक प्रत्यक्षपना है। यदि उसमें आंशिक प्रत्यक्षपना भी न हो तो वह मतिज्ञान सिद्ध ही नहीं होता। जिस प्रकार यह खम्भा है, इसके एक तरफ किनार है तो वह किनार खम्भे की ही है। वह अंश अंशी का है — ऐसा अभेदपने निश्चय करें तो यथार्थ ही है; उसी प्रकार मतिज्ञान पर्याय पूर्णज्ञान पर्याय का अंश है। मतिज्ञान पर्याय राग की,

निमित्त की या कर्म की नहीं और पर्याय, स्वभाव का आश्रय लेने से पूर्ण होगी। मतिज्ञान में केवलज्ञान अंशरूप से प्रत्यक्ष है। भाई! आत्मा अखण्ड द्रव्य है, उसका ज्ञानगुण भी अखण्ड है; परन्तु वर्तमान पर्याय अधूरी है, लेकिन वह अधूरी नहीं रह सकती है। वह पर्याय, द्रव्यस्वभाव का आश्रय लेने से पूर्ण होगी ही।

मुझे आंशिक प्रत्यक्षज्ञान प्रगट हुआ है तो किसी को पूर्ण प्रत्यक्षज्ञान होना चाहिए — ऐसा साधक जीव अपने में निर्णय करता है। केवलज्ञान का अंश मतिज्ञान में प्रत्यक्ष है — ऐसा निर्णय करते ही धर्मदशा प्रगट हो जाती है। यह आत्मा सर्वज्ञ होने लायक है। वह सर्वज्ञता राग या निमित्त के कारण नहीं; बल्कि स्वयं से प्रगट होती है — ऐसा निर्णय करनेवाले को सम्यग्दर्शन प्रगट होता ही है।

भाई! सर्वज्ञ के ज्ञान बिना प्रतिमा में भगवान की स्थापना का आरोप यथार्थरूप से आ सकता ही नहीं। जिस प्रकार बिल्ली को देखकर कोई बिल्ली को ही सिंह मान ले तो वह मूर्ख ही है; उसी प्रकार व्यवहार से आत्मा समझाया, गुण-भेद से आत्मा समझाया, विकारी पर्याय का ज्ञान कराया तो अज्ञानी ने विकार को और गुणभेद को ही आत्मा मान लिया, उसे निश्चय का भान नहीं है। अतः सर्वप्रथम यह निश्चय करना चाहिए कि आत्मा सर्वज्ञ होने लायक है — ऐसे निर्णयपूर्वक ही सर्वज्ञ भगवान का अथवा यह भगवान की प्रतिमा है — ऐसा व्यवहार लागू होता है।

अब कहते हैं कि सर्वज्ञ स्वरूप से, भाव से एवं विशेषण से पूर्णतया सिद्ध होते हैं; वे किसी भी तरह से असिद्ध नहीं है — यह हमारा हेतु है। इस हेतु में असिद्धत्व नाम का दोष नहीं है; क्योंकि यह हेतु सर्वज्ञरूप पक्ष में पाया जाता है तथा सर्वज्ञ के अभावरूप विपक्ष में यह नहीं पाया जाता है। इसी प्रकार यह हेतु विरुद्ध हेत्वाभास भी नहीं है; क्योंकि इसके विरुद्ध अल्पज्ञतारूप साध्य में यह नहीं पाया जाता है अथवा अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध सर्वज्ञ को किन्हीं अन्य हेतुओं से असिद्ध नहीं किया जा सकता है। यह हेतु सर्वज्ञरूप पक्ष के साथ-साथ अल्पज्ञरूप विपक्ष में नहीं पाया जाने से अनैकान्तिक हेत्वाभास भी नहीं है तथा यह हेतु प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित न होने के कारण अबाधित विषय है।

भट्ट एवं चार्वाक आदि सर्वज्ञ को नहीं माननेवालों को तर्क से सर्वज्ञ सिद्ध करते हैं। अतः इस हेतु में अकिञ्चित्कर दोष भी नहीं है। इस प्रकार इस हेतु में असिद्ध,

विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर — ये चार दोष नहीं आते हैं; इसलिए सर्वज्ञ का सद्भाव सिद्ध होता है। भाई! सर्वज्ञ का भाव, स्वरूप और विशेषण जिसने अन्तर प्रतीति में लिया, उसे सर्वज्ञता प्रकट होती है; परन्तु विकार, क्रियाकाण्ड एवं अपूर्ण पर्याय के अवलम्बन से सर्वज्ञता प्रकट नहीं होती हैं। गुण-गुणी के अभेद अवलम्बन से अर्थात् निज स्वभाव के आधार से आत्मा सर्वज्ञ हो सकता है, वह अल्पज्ञ रहनेवाला नहीं है।

इस प्रकार सर्वज्ञता के सद्भाव में पक्ष, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन — इन पाँच अङ्गोंवाला अनुमान जानना चाहिए।

सर्वज्ञ ने जैसा देखा है, वैसा ही तीन लोक और तीन काल में होगा — ऐसी प्रतीति जिसे हुई है, उसे पर की रुचि छूटकर आत्मप्रतीति हुए बिना नहीं रहती।

भाई! यह तो णमो अरिहंताणं की व्याख्या चलती है। अरिहन्त को नमस्कार करनेवाला पात्र जीव कैसा होना चाहिए ? — यहाँ यह बताया जा रहा है। आत्मा ज्ञान-स्वभावी है; अतः ज्ञान की हीनदशा टलकर ज्ञानस्वभाव के आश्रय से पूर्णदशा प्राप्त हो, राग-द्वेष टल जायें — ऐसी मेरी शक्ति है। ऐसा निर्णयवन्त जीव ही अरिहन्त को यथार्थ नमस्कार करता है। ज्ञान की पूर्ण अवस्था का आदर करनेवाले जीव को शुभभाव आये बिना नहीं रहता, उसका ढलान सदैव अरिहन्त के प्रति रहता है। जिसे निश्चय से आत्मा ध्येय है, ज्ञान में यथास्थित पदार्थ है — ऐसे ध्यानवन्त को शुभभाव में श्री अरिहन्त ध्येय हैं।

सर्वज्ञसिद्धि के लिये अनेक तर्क-युक्तियाँ दीं, अब एक और तर्क देते हैं। जिस प्रकार अन्धे पुरुष को दर्पण में पड़े प्रतिबिम्ब का ज्ञान नहीं होता है; उसी प्रकार 'मैं सर्वज्ञ होने के लायक हूँ' — ऐसी प्रतीति जिसे नहीं होती है, वह नेत्रहीन पुरुष के समान है। यहाँ नेत्र शब्द सर्वज्ञतारूप पर्याय के लिए कहा गया है। आत्मा ज्ञानस्वभावी है, उसकी प्रतीति करते ही राग छूटकर वीतरागता प्रगट होती है और ज्ञान बढ़ते-बढ़ते पूर्ण हो जाता है। भाई! ऐसे वीतरागता और विज्ञान को धारण करनेवाले अरिहन्त-सिद्ध भगवन्तों की सत्ता है। इस अनुमान से भी यह बात सिद्ध होती है कि जब किसी व्यक्ति में हीनाधिक ज्ञान पाया जा सकता है अर्थात् ज्ञान में हीनाधिकता दिखाई देती है तो अवश्य ही ऐसा कोई होना चाहिए, जिसे पूर्ण ज्ञान हो। इसी प्रकार रागादि की मन्दता दिखाई देती है तो किसी को रागादिक का अभाव भी हो सकता है। अपने आश्रय से

आत्मा वीतराग और सर्वज्ञ हो सकता है; जिसे ऐसी प्रतीति नहीं है, वह नेत्रहीन के समान है।

जैसे कोई नेत्रवन्त पुरुष आकाश में देखकर कहें कि वहाँ १०८ बगुले हैं और उसके विरोध में अन्ध पुरुष कहे कि १०६ बगुले हैं तो वह झूँठा है; क्योंकि अंधे ने रङ्ग देखा नहीं, आकाश देखा नहीं तथा उसका ज्ञान भी निष्पक्ष नहीं है; अतः उसकी होड झूठी है; उसी प्रकार जिसका ज्ञान मध्यस्थ (निष्पक्ष) नहीं हुआ, वह अन्ध समान है। भाई! अपना ज्ञानस्वभाव है, उसके अवलम्बन से विकार तथा अल्पज्ञता रह सकती ही नहीं है, जो ऐसी प्रतीति रहित है, वह अन्ध समान है।

यहाँ कहते हैं कि दर्पण के स्थान पर द्रव्यानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग एवं धर्मकथानुयोग — ये चार अनुयोग हैं। इनमें सर्वज्ञ परमात्माओं ने नय-प्रमाण-निक्षेप से वस्तु का स्वरूप कहा है तथा पदार्थ प्रतिबिम्ब के स्थान पर हैं। मेरा आत्मा सर्वज्ञ होने की शक्तिवाला है, इसकी खबर बिना शास्त्रज्ञान भी सच्चा नहीं है और उसे अन्तर्मुख दृष्टि भी नहीं हुई है। केवलज्ञान-केवलदर्शन-अनन्तवीर्य और पूर्ण चारित्र प्रकट करूँ — इसकी तथा स्वद्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतन्त्रता की उसे प्रतीति नहीं हुई है। उसे शास्त्रों में उपलब्ध नय-निक्षेप के कथनों की भी खबर नहीं है।

मेरी पर्याय पर में अटके तो राग तथा अल्पज्ञता रहेगी और स्वभाव में टिके तो पूर्ण हो जाएगी — ऐसा निर्णय करनेवाला, व्यवहार से निश्चय होता है, निमित्त से उपादान में कार्य होता है — ऐसा मानेगा ही नहीं; क्योंकि उसकी पर्याय स्व की ओर झुक गई है। ऐसे जीव को ही सर्वज्ञ की प्राप्ति हुई — ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। जिसे सर्वज्ञ की प्रतीति नहीं है, उसे कारण-कार्य, नयनिक्षेप और निश्चय-व्यवहार की भी खबर नहीं है। व्यवहार से निश्चय प्रगट होता है — ऐसा माननेवाला तथा व्यवहार से निश्चय टिकता है — ऐसा माननेवाला, दोनों ही झूठे हैं।

जिसे प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रमेयरत्नमाला, अष्टसहस्री आदि शास्त्र एवं समन्तभद्र आदि आचार्य क्या कहना चाहते हैं, इसकी खबर नहीं है; वह कारण-कार्य सम्बन्धी हजारों बातें करे तो भी कुछ साध्य-सिद्धि नहीं होती है। सर्वज्ञता राग, निमित्त और पर्याय में से प्रगट नहीं होती है; बल्कि वह तो स्वभाव के आश्रय से प्रगट होती है। अल्पज्ञता रहे — यह आत्मा का यथार्थ स्वरूप नहीं है। शास्त्र कहते हैं कि प्रत्येक पदार्थ की

पर्यायें क्रमबद्ध होती हैं, जिसे इसकी खबर नहीं है, उसे चारों अनुयोगों की कुछ भी खबर नहीं है।

किसी द्रव्य का कोई अन्य द्रव्य कर्त्ता नहीं है। वह स्वयं अपनी पर्याय का कर्त्ता है। वह स्वयं अपनी पर्याय का आधार है; क्योंकि वह प्रभुत्व शक्ति से भरा हुआ है। जिसे ऐसी खबर नहीं है, उसे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की यथार्थ प्रतीति नहीं हो सकती है।

जिसमें स्वयं की बुद्धि नहीं है, उसका शास्त्र क्या उपकार कर सकता है ? आत्मा ज्ञान स्वभावी है, उसके अन्तर्मुख होने से पूर्णदशा प्रकट होती है और बहिर्मुखदशा से अल्पज्ञता रहती है। जिस प्रकार नेत्रहीन व्यक्ति का दर्पण क्या उपकार कर सकता है ? उसी प्रकार अज्ञानी को शास्त्र कुछ भी उपकारी नहीं है।

कोई कहता है कि हजार घड़ों का पानी एक घड़े में नहीं समाता, उसी प्रकार अनन्त जीवों का, अनन्त पुद्गलों का ज्ञान एक आत्मा को नहीं हो सकता; अत: जगत में कोई सर्वज्ञ नहीं है।

भाई! यह दृष्टान्त ही गलत है। जिस प्रकार पाँच लाख मनुष्यों की सभा में नेता भाषण देता है तो उसकी बात का ख्याल पाँच लाख मनुष्यों को आ जाता है। भाषण में वह कहे कि 'स्वतन्त्रता प्राप्त करो' तो पाँच लाख मनुष्यों को यह बात उसी समय ख्याल में आ जाती है कि स्वतन्त्रता प्राप्त करने की बात कही जा रही है और उस भाषण देनेवाले को भी पाँच लाख मनुष्यों का भाव तुरन्त ख्याल में आ जाता है; उसी प्रकार एक जीव अनन्त जीवों और पुद्गलों का ज्ञान कर लेता है। इसमें कोई विरोध नहीं है।

वस्तु त्रिकाली पूर्ण है तो उसे जाननेवाला ज्ञान भी पूर्ण होना चाहिए — इत्यादि प्रकार से सर्वज्ञ की सिद्धि होती है।

इस प्रकार पद में स्थित अरिहन्त का ध्यान पदस्थ ध्यान है। शरीर में स्थित अरहन्त का ध्यान पिण्डस्थ ध्यान है और रूप अर्थात् समवशरण में स्थित अरिहन्त का ध्यान रूपस्थ ध्यान है। इन सभी ध्यानों में शरीरसहित परमात्मा ध्यान करने योग्य है।

इस प्रकार अरिहन्त के व्याख्यान स्वरूप यह गाथा पूर्ण हुई।

❖❖❖

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-५१

अब, सिद्ध समान निज परमात्मतत्त्व में परम समरसीभाव जिसका लक्षण है — ऐसे रूपातीत नामक निश्चयध्यान का परम्परा से कारणभूत, मुक्तिप्राप्त सिद्ध परमेष्ठियों की भक्तिरूप, 'णमो सिद्धाणं' इस पद के उच्चारणरूप लक्षणयुक्त जो पदस्थध्यान, उसके ध्येयभूत सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप कहते हैं —

णट्ठट्ठकम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा।
पुरिसायारो अप्पा सिद्धो झाएह लोयसिहरत्थो॥५१॥
नष्टाष्टकर्म्मदेहः लोकालोकस्य ज्ञायकः द्रष्टा।
पुरुषाकारः आत्मा सिद्धः ध्यायेत लोकशिखरस्थः॥५१॥
लोकाग्रथित निर्देह लोकालोक ज्ञायक आतमा।
अठकर्मनाशक सिद्धप्रभु का ध्यान तुम नित ही करो॥५१॥

गाथार्थ :— जिसने आठ कर्म का और देह का नाश किया है, जो लोकालोक का ज्ञाता और दृष्टा है तथा जो पुरुषाकार है — ऐसा आत्मा सिद्ध है; लोक के शिखर पर विराजमान उस सिद्ध परमेष्ठी का तुम ध्यान करो।

टीका :— '**णट्ठट्ठकम्मदेहो**' शुभाशुभ मन, वचन और काया की क्रियारूप ऐसा जो 'द्वैत' शब्द के अभिधेयरूप कर्मकाण्ड, उसका नाश करने में समर्थ ऐसे परम ज्ञानकाण्ड द्वारा — जिस ज्ञानकाण्ड में से, निज शुद्धात्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न, रागादिविकल्पोपाधिरहित परम आह्लाद जिसका एकमात्र लक्षण है ऐसा सुन्दर, मनोहर आनन्द झरता है, जो निष्क्रिय है और जो अद्वैत शब्द से वाच्य है, उसके द्वारा ज्ञानावरणादि आठ कर्मों और औदारिक आदि पाँच शरीरों को नष्ट किया होने से जो 'नष्ट-अष्ट-कर्म-देह' है अर्थात् 'जिसने आठ कर्म और देह नष्ट किये हैं ऐसा' है; '**लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा**' जिस पूर्वोक्त ज्ञानकाण्ड की भावना के फलरूप सम्पूर्ण निर्मल केवलज्ञान और केवलदर्शन — इन दोनों द्वारा लोकालोक के तीन काल के समस्त पदार्थों के विशेष और सामान्य भावों को एक ही समय में जानने और देखने के कारण लोकालोक का ज्ञाता और दृष्टा है; '**पुरिसायारो**' जो निश्चयनय से अतीन्द्रिय, अमूर्त, परम चैतन्य से

भरे हुए शुद्ध स्वभाव की अपेक्षा से निराकार है तो भी व्यवहार से भूतपूर्वनय की अपेक्षा से अन्तिम शरीर से कुछ न्यून आकारवाला होने के कारण, मोमरहित मूस के बीच के आकार की भाँति अथवा छाया के प्रतिबिम्ब की भाँति, पुरुषकार है; '**अप्पा**' ऐसे लक्षणोंयुक्त आत्मा; वह कैसा कहलाता है ? '**सिद्धो**' अञ्जनसिद्ध, पादुकासिद्ध, गुटिकासिद्ध, खड्गसिद्ध और माया सिद्ध आदि लौकिक सिद्धों से विलक्षण, केवलज्ञानादि अनन्त गुणों की प्रगटता जिसका लक्षण है — ऐसा सिद्ध कहलाता है। '**झाएह लोयसिहरत्थो**' हे भव्यो! तुम देखे हुए, सुने हुए और अनुभव किये हुए पञ्चेन्द्रिय भोगादि के समस्त मनोरथरूप अनेक विकल्पसमूह के त्याग द्वारा, मन-वचन-काया की गुप्ति जिसका लक्षण है — ऐसे रूपातीतध्यान में स्थिर होकर, लोक के शिखर पर विराजमान, पूर्वोक्त लक्षणों से युक्त सिद्ध परमेष्ठी का ध्यान करो।

इस प्रकार अशरीरी सिद्ध परमेष्ठी के व्याख्यानरूप यह गाथा पूर्ण हुई॥५१॥

गाथा ५१ पर प्रवचन

अब, सिद्धों की व्याख्या करते हैं। 'सिद्धसमान सदा पद मेरो' — सिद्ध समान अपना परमात्मस्वरूप है। जो सिद्ध में है, वह मुझमें है और जो सिद्ध में नहीं है, वह मुझमें भी नहीं है — ऐसी प्रतीति करनेवाला सिद्ध को ध्यानेवाला है। उनका ध्यान परमसमरसीभाव है, वह रूपातीत नामक निश्चय ध्यान है। उस रूपातीतध्यान के परम्परा कारणभूत मुक्तिप्राप्त हुए सिद्ध परमेष्ठी हैं, उनकी भक्तिरूप 'णमो सिद्धाणं' बोलनेरूप लक्षण का धारक जो पदस्थध्यान है, उसके ध्येयभूत सिद्ध भगवान के स्वरूप की बात करते हैं।

सिद्ध भगवान कैसे हैं ? उनका आठ कर्मरूपी कार्मण शरीर नष्ट हो गया है, जबकि अरिहन्त के सभी कर्मों का नाश नहीं हुआ है। सिद्ध भगवान लोकालोक को जाननेवाले हैं। आकाश के दो भेद बतलाये हैं। जहाँ छह द्रव्य हैं, वह लोक है और जहाँ आकाशमात्र है, वह अलोक है। इस प्रकार सभी द्रव्य आ गये। सिद्ध परमात्मा पुरुषाकार हैं, अन्तिम देह मुक्ति के समय पुरुष का ही होता है; क्योंकि स्त्री देह से मुक्ति नहीं होती है। कुछ लोग सिद्धों का आकार नहीं मानते; परन्तु यह बात गलत है। यद्यपि जड़ इन्द्रियों का आकार सिद्धों के नहीं है; तथापि स्वयं का आकार तो है ही और वह भी पुरुषाकार है और उनका स्वयं का क्षेत्र भी है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु का स्वयं का क्षेत्र होता है।

कोई **शङ्का** करता है कि सिद्ध भगवान कहाँ रहते होंगे अर्थात् कहाँ विराजते हैं ? तथा कुछ लोग ऐसा भी मानते हैं कि जिस प्रकार पक्षी के पंख लुट जाने पर पक्षी वहीं पड़ा रहता है। बाद में अनन्त में मिल जाता है; उसी प्रकार सिद्ध भगवान के बारे में भी समझना चाहिए।

उनका **समाधान** करने के लिये कहा है कि सिद्ध भगवान लोकाग्र में विराजमान हैं — ऐसे सिद्ध परमेष्ठी का तुम ध्यान करो।

निज शुद्धात्मा शुभ-अशुभ एवं मन-वचन-काय के क्रियाकाण्ड को नाश करने में समर्थ है। यहाँ यह बतलाते हैं कि आठ कर्म किस प्रकार नष्ट हुए। पहले दया-दान के विकल्प उठते थे एवं मन-वचन-काय के निमित्त से जो अशुद्ध क्रिया होती थी, उसका नाश निज शुद्धात्मस्वरूप की सच्ची भावना से होता है।

परम आनन्द तथा ज्ञानकाण्ड किसे कहना ?

निज शुद्धात्मा की भावना से रागादिविकल्परहित परम आनन्ददशा उत्पन्न होती है, आत्मा की दशा ज्ञानरूप है, सुन्दर मनोहर आनन्दरूप है, आत्मा स्वयं आनन्दस्वरूप है। सम्यग्ज्ञानकाण्ड से आत्मा आनन्द को उछालता है। भाई! आत्मस्वभाव के सन्मुख होकर जो दशा प्रगट होती है, वह आनन्द को जन्म देती है।

यहाँ कहते हैं कि आनन्द को जन्म देनेवाला ज्ञान, पुण्य-पाप की क्रिया रहित, द्वैत रहित एवं स्वभावसन्मुखतावाला होने से कर्मों का नाश करता है। व्यवहाररत्नत्रयरूप क्रियाकाण्ड से भी वह ज्ञानकाण्ड रहित है। भाई! जो ज्ञानपर्याय स्वभावसन्मुख झुकती है, वह आठों कर्मों का नाश करती है।

सम्यग्दर्शन दर्शनमोह को और वीतरागता चारित्रमोह को नष्ट करती है। आठ कर्मों में मोह नामक एक कर्म है, उस मोहकर्म का नाश ज्ञानकाण्ड द्वारा होता है।

यदि जीव एक गाथा के यथार्थ मर्म को भी समझ ले तो वस्तु का यथार्थ स्वरूप जान लेता है। व्यवहाररत्नत्रय की रागरूप क्रिया से रहित स्वभावसन्मुख ढली हुई ज्ञानदशा से दर्शनमोह का नाश होता है, अन्य कोई उपाय नहीं है। इसे ही परमज्ञानकाण्ड कहा है। देखो भाई! यहाँ शास्त्रज्ञान की बात नहीं है। साधक को यद्यपि शास्त्र-पठन

का शुभराग आता है तो भी उस राग की क्रिया से दर्शनमोह का नाश नहीं होता है तथा व्रतादि के परिणाम से चारित्रमोह का नाश नहीं होता है। चारित्रमोह तो परमज्ञानकला से नाश को प्राप्त होता है। ज्ञान की एकता से धर्मध्यान व शुक्लध्यान प्रगट होता है। वह ज्ञान मजबूत संहनन से भी नहीं प्रगटता है अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति परद्रव्य से नहीं होती है।

'सर्वजीव हैं सिद्धसम जो समझे सो पाय' समझे इसमें भी ये बात आ जाती है कि परम ज्ञानकाण्ड से सिद्ध हुए हैं और हो रहे हैं। यहाँ परम ज्ञानकाण्ड में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों आ जाते हैं; क्योंकि ज्ञान से ही सम्यग्दर्शन होता है और ज्ञान से ही सिद्धपद प्राप्त होता है।

जिसे निश्चय का भान है अर्थात् ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की जानकारी है; उसकी आत्मा में जब विशेष रमणता न हो, तब वह सिद्ध भगवान का विचार करता है। धर्मी जानता है कि हम भी इसी तरह सिद्ध होंगे, देहादि की क्रिया या व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प से मुक्ति नहीं होती।

मैं चैतन्य ज्ञानानन्दस्वरूपी मूर्ति हूँ — ऐसी प्रतीति और रमणता में आनन्द वर्तता है। मुनिराज को तो क्षण-क्षण में छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान होता रहता है। यदि शुभराग हो तो उपदेशादि की वृत्ति होती है, बाद में वह वृत्ति भी टूट जाती है। ऐसे मुनिराज कहते हैं कि जो सर्वज्ञ हुए, उन्होंने अन्दर में एकता के द्वारा ज्ञानावरण का नाश किया है। शास्त्र पढ़ने से ज्ञानावरण का नाश नहीं होता है। वे विचारते हैं कि अनन्त सिद्ध इसी उपाय से हुए हैं और मैं भी स्वभाव की एकाग्रता से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय का नाश करूँगा तथा चार अघाति कर्मों का नाश भी ज्ञानकाण्ड से होता है। इसके अलावा अन्य कोई उपाय नहीं है।

भाई! 'एक होय तीन काल में परमारथ का पंथ।' दर्शन-ज्ञान-वीर्य की जो हीन अवस्था थी, वह अन्तर स्थित चिदानन्द ज्ञायकस्वभाव की एकाग्रता से उसका अभाव होकर पूर्ण दशा प्रगट हुई। केवलज्ञान होने के बाद भी आत्मानुभव करते-करते वेदनीय, नाम, आयु और गोत्र कर्म तथा पाँच शरीरों का नाश भी ज्ञानकाण्ड से ही होता है।

अब, यह कहते हैं कि सिद्ध भगवान लोकालोक को जानने-देखनेवाले हैं। यह

कथन यह बताता है कि ज्ञानकाण्ड की भावना के फलस्वरूप उन्हें अनन्तज्ञान-अनन्तदर्शन की प्राप्ति हो गई है। भाई! आत्मा ज्ञानस्वभावी है; उसकी श्रद्धा, ज्ञान, रमणता कहो या ज्ञानकाण्ड कहो एक ही बात है। सिद्ध भगवान को दर्शन-ज्ञान युगपत् होता है, जिससे वे लोकालोक और तीनों काल के सभी पदार्थों को, उनकी विशेषताओं को एवं प्रत्येक गुण-पर्यायों की भिन्नता को जानते और देखते हैं।

प्रत्येक आत्मा परद्रव्य से भिन्न है। धर्म-अधर्म आदि परद्रव्य भी आत्मा से भिन्न हैं। केवली परमात्मा उनके सामान्यस्वरूप को केवलदर्शन द्वारा देखते हैं एवं विशेषस्वरूप को केवलज्ञान द्वारा जानते हैं। सिद्ध परमात्मा एक समय में ही सभी जानते-देखते हैं। उनको पहले समय दर्शन और दूसरे समय ज्ञान हो — ऐसा नहीं है, अपितु दोनों उपयोग युगपत् होते हैं।

इस प्रकार जो सिद्ध का स्वरूप विचारे तो उसे यथार्थ अनुभव हो, जो इससे विपरीत विचारे उसे तो शुभभाव भी सच्चा नहीं होता तो फिर निश्चय तो कहाँ से हो ? अर्थात् उसे निश्चय होता ही नहीं और वह सिद्धों को पहिचानता भी नहीं, उसे सच्चा ध्यान भी नहीं होता। सिद्ध भगवान एक समय में भिन्न-भिन्न जानते-देखते हैं — ऐसा सिद्ध स्वरूप अन्तर में से प्रगट होता है। ऐसा स्वरूप मैं भी प्रगट कर सकता हूँ — इस प्रकार परमार्थ से जानना चाहिए।

सिद्ध परमात्मा अपनी अन्तिम मनुष्य देह से किञ्चित् न्यून पुरुषाकारवाले हैं। वे निर्विकारी अखण्ड आनन्द के भोक्ता हैं। इन्द्रियों से गम्य नहीं हैं; परन्तु आत्मा से तो गम्य हैं। मूर्तिरहित हैं, उनमें प्रतिपल परमज्ञान उछल रहा है। जैसे — लेड़ीपीपर में चरपराहट अन्दर शक्ति में है तो बाहर भी प्रगट होती है; उसी प्रकार आत्मा ज्ञान-दर्शनादि का भण्डार है, उसमें एकाग्रता करते ही ज्ञान-दर्शन शक्ति में से उछलता है। वह केवलज्ञान संहनन, निमित्त, राग या चार ज्ञान की पर्यायों से भी नहीं आता है। भाई! चार ज्ञान तो केवलज्ञान के अनन्तवें भागरूप हैं, उन अनन्तवें भाग में से अनन्त केवलज्ञान कैसे आ सकता है ? वह तो अन्दर शुद्धस्वभावशक्ति में से प्रगट होता है।

यद्यपि सिद्ध परमात्मा का मूर्त आकार नहीं है; तथापि व्यवहारनय से ऐसा कहा जाता है कि भूतकाल में जो अन्तिम पुरुष का शरीर था, उससे कुछ कम आकार को

सिद्ध परमात्मा धारण किये हुए हैं। जड़ का आकार न होने से यद्यपि उन्हें निराकार कहा है; तथापि उनके प्रदेशत्वगुण के कारण आकार तो है ही।

सिद्ध परमात्मा ऊपर कहे गये लक्षणों के धारक आत्मा हैं। वे ज्योति में ज्योति की तरह एक-दूसरे में मिल नहीं जाते हैं। अज्ञानी मानता है कि एक सिद्ध होने के बाद जब दूसरे सिद्ध होते हैं तो वे दूसरे सिद्ध, पहले सिद्ध में जाकर मिल जाते हैं, परन्तु अज्ञानी की यह मान्यता गलत है, क्योंकि सिद्धदशा में प्रत्येक आत्मा की सत्ता भिन्न-भिन्न ही रहती है।

लोक में अञ्जनसिद्ध, पादुकासिद्ध, गुटिकासिद्ध, खड्गसिद्ध और मायासिद्ध आदि कहा जाता है, परन्तु यह सिद्धों का वास्तविक स्वरूप नहीं है। सिद्ध परमात्मा शरीररहित होने पर लोक के अग्रभाग में विराजते हैं।

हे भव्यजनो! शुभभाव में ऐसे लक्षणवाले सिद्धों को ध्येय बनाओ। यह पुण्य का कारण है एवं निश्चय से आत्मा को ध्येय बनाना धर्म कारण है।

भाई! देखे हुए, सुने हुए एवं भोगे हुए पाँच इन्द्रियों के विषयों को भूल जाओ एवं सम्पूर्ण मनोरथरूप अनेक विकल्पों के समूह का त्याग करो तथा मन-वचन-काय से गुप्त स्वरूप जो रूपातीत ध्यान है, उसमें स्थिर होकर भगवान को ध्याओ।

इस प्रकार शरीररहित सिद्ध परमेष्ठी के स्वरूप का व्याख्यान करनेवाली यह गाथा समाप्त हुई।

❖❖❖

दिगम्बर सन्तों का अद्भुत कार्य

अहो! ऐसा मार्ग वीतराग के सिवा अन्यत्र कहीं है नहीं; वह भी दिगम्बर सन्तों द्वारा कहा गया मार्ग ही परम सत्य है। अहा! दिगम्बर सन्तों ने अद्भुत कार्य किया है। जिनके एक-एक शब्द में, एक-एक श्लोक में गम्भीरता... गम्भीरता... गम्भीरता। भाई! गहनता इतनी है कि वह ऊपरी दृष्टि से दिखनेवाली वस्तु नहीं है।

(- वचनामृत प्रवचन, २/६५)

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-५२

अब, उपाधिरहित शुद्धात्मभावना की अनुभूति के अविनाभूत निश्चय पञ्चाचार लक्षण निश्चय ध्यान का परम्परा से कारणभूत, निश्चय और व्यवहार इन दोनों प्रकार के पञ्चाचारों में परिणत आचार्य परमेष्ठी की भक्तिरूप और 'णमो आइरियाणं' इस पद के उच्चारणरूप जो पदस्थ ध्यान, उसके ध्येयभूत आचार्य परमेष्ठी का कथन करते हैं —

दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे।
अप्पं परं च जुंजइ सो आइरिओ मुणी झेओ॥५२॥
दर्शनज्ञानप्रधाने वीर्यचारित्रवरतपआचारे।
आत्मानं परं च युनक्ति सः आचार्यः मुनिः ध्येयः॥५२॥
ज्ञान-दर्शन-वीर्य-तप एवं चरित्राचार में।
जो जोड़ते हैं स्वपर को ध्यावो उन्हीं आचार्य को॥५२॥

गाथार्थ :— दर्शनचार, ज्ञानाचार की मुख्यतासहित वीर्याचार, चारित्राचार और तपाचार — इन पाँच आचारों में जो अपने को तथा पर को जोड़ता है, वह आचार्य मुनि ध्यान करने योग्य है।

टीका :— '**दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे**' सम्यग्दर्शन और ज्ञान की प्रधानतासहित वीर्याचार, चारित्राचार और तपाचार में '**अप्पं परं च जुंजइ**' स्वयं को और पर को अर्थात् शिष्यों जो जोड़ता है, '**सो आइरिओ मुणी झेओ**' वह पूर्वोक्त लक्षणयुक्त आचार्य, मुनि, तपोधन ध्यान करने योग्य है।

विशेष — भूतार्थनय के विषयभूत, शुद्ध समयसार शब्द से वाच्य, भावकर्म द्रव्यकर्म-नोकर्म आदि समस्त परद्रव्यों से भिन्न, परमचैतन्यविलासलक्षण, स्वशुद्धात्मा ही उपादेय है — ऐसी रुचि, वह सम्यग्दर्शन है; उसमें जो आचरण-परिणमन, वह निश्चय-दर्शनाचार है। उसी शुद्धात्मा को उपाधिरहित, स्वसम्वेदनलक्षण भेदज्ञान से मिथ्यात्व रागादि परभावों से भिन्न जानना, वह सम्यग्ज्ञान है; उस सम्यग्ज्ञान में आचरण-परिणमन, वह निश्चयज्ञानाचार है। उसी शुद्ध आत्मा में रागादि विकल्परूप उपाधि से रहित स्वाभाविक सुखास्वाद से निश्चलचित्त होना, वह वीतरागचारित्र है; उसमें जो आचरण

अर्थात् परिणमन, वह निश्चयचारित्राचार है। समस्त परद्रव्यों की इच्छा रोकने से तथा अनशन आदि बारह तपरूप बहिरङ्ग सहकारी कारणों से निज स्वरूप में प्रतपन-विजयन, वह निश्चयतपश्चरण है; उसमें जो आचरण-परिणमन वह निश्चयतपश्चरणाचार है। इस चार प्रकार के निश्चय-आचार की रक्षा के लिए अपनी शक्ति न छुपाना, वह निश्चयवीर्याचार है। इन उक्त लक्षणों से युक्त निश्चयपञ्चाचार में और इसी प्रकार **'छत्तीसगुणसमग्गे पंचविहाचारकरणसन्दरिसे। सिस्साणुग्गहकुसले धम्मायरिए सदा वंदे॥ अर्थ** — छत्तीस गुणों से सहित, पाँच प्रकार के आचार पालने का उपदेश देनेवाले, शिष्यों पर अनुग्रह करने में कुशल जो धर्माचार्य हैं, मैं उन्हें सदा वन्दना करता हूँ।' इस गाथा में कहे अनुसार आचार, आराधना आदि चरणानुयोग के शास्त्रों में विस्तार से कथित बहिरङ्ग सहकारी कारणरूप पाँच प्रकार के व्यवहार आचार में जो स्वयं को और पर को जोड़ता है, वह आचार्य कहलाता है। वह आचार्य परमेष्ठी पदस्थ ध्यान में ध्यान करने योग्य है। इस प्रकार आचार्य परमेष्ठी के व्याख्यान से गाथा पूर्ण हुई॥५२॥

गाथा ५२ पर प्रवचन

अब, यह बताते हैं कि आचार्य कैसे होते हैं? उपाधिरहित शुद्धात्मा की अनुभूति आचार है। मन, वाणी एवं देह से पार आत्मा की भावना, अनाकुल आत्मा की प्रतीति, ज्ञान और रमणता आचार है। जिसे आत्मा का साक्षात्कार हुआ है, जिसे मन, वाणी एवं रागादि से रहित अमृत का अनुभव हुआ है, वह आचार्य है। भाई! आचार्य को केवल शुद्धात्मा की भावना होती है, व्यवहाररत्नत्रय की भावना नहीं होती। जब उन्हें अपने में उठनेवाले राग की भी भावना नहीं होती तो परपदार्थों के परिणमन को देखकर ऐसा हो — इस प्रकार की भावना कैसे होगी? उन्होंने निर्विकल्प शान्ति प्रगट कर ली है और निरन्तर उसी में लीन रहते हैं — ऐसे स्वरूपवाले आचार्य हैं। ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार — ये पाँचों ही शुद्धात्मा की अनुभूति में समा जाते हैं। यह निश्चयध्यान का लक्षण है।

इस प्रकार निश्चयनय के अनुसार पाँच आचारों की व्याख्या की। भाई! गणधरदेव द्वादशाङ्ग को धारण करनेवाले हैं और उसी भव में केवलज्ञान पानेवाले हैं, वे भी नमस्कार मन्त्र में **णमो लोए सव्व साहूणं** पद द्वारा ऐसे सभी साधुओं को नमस्कार करते हैं। शरीर की क्रिया, दया-दान आदि के विकल्प, आचार्य परमेष्ठी का स्वरूप नहीं

है। निश्चय से पाँच आचाररूप, स्वरूप रमणतारूप आनन्दकन्ददशा में झूलनेवाले आचार्य हैं। ऐसे लक्षण धारक को ही निश्चय होता है। निश्चय-व्यवहार आचार में तल्लीन आचार्य परमेष्ठी की भक्तिरूप पदस्थ ध्यान उस निश्चयध्यान का कारण है। उन आचार्यों को अन्य आचार्य नमस्कार करते हैं, वे अन्य आचार्य भी निश्चय-व्यवहार पञ्चाचार से परिणत हैं।

निश्चय आचार का वर्णन ऊपर कर आये हैं। अब व्यवहार आचार का स्वरूप कहते हैं। बहुमान से पढ़ना, पढ़ानेवालों का आदर करना, सम्ययग्दर्शन में नि:शंकादि गुण होना, उत्तम चारित्र पालना, अपनी सामर्थ्य को नहीं छिपाना, तपादि करना इत्यादिरूप पाँच व्यवहार आचार का आचार्य परमेष्ठी पालन करते हैं।

इस प्रकार पदस्थध्यान के ध्येयस्वरूप आचार्य परमेष्ठी का स्वरूप है।

पञ्चाचारों में प्रधान दर्शनाचार और ज्ञानाचार कहे हैं; क्योंकि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्र नहीं होता है एवं अत्यधिक तपश्चर्या करने से भी चारित्राचार नहीं होता है। ऐसे पञ्चाचार युक्त तपोधन शुभभाव में ध्यान करने योग्य हैं।

आचार्य को दर्शनाचार होता है, यह समयसार की शैली का कथन है। भाई! आत्मा ध्रुव, शुद्ध, नित्यानन्द प्रभु है। उसे जो अपने ज्ञान का विषय बनाता है, उसे भूतार्थनय कहते हैं। भूतार्थ=विद्यमान पदार्थ अर्थात् एकरूप स्वभाव की यहाँ बात करते हैं। भूतार्थनय का ध्येय शुद्ध समयसार है अर्थात् परमस्वभावभाव सम्यग्दर्शन का ध्येय है। शुद्ध समयसार शब्द वाचक और उसका वाच्य शुद्धात्मा है। संसारपर्याय, पुण्य-पापरूप भावकर्म, दया-दान व्यवहाररूप रत्नत्रय और शरीरादि से रहित शुद्धात्मा है। भाई! शुद्ध-द्रव्य में संसार नहीं है; क्योंकि वह एक समय का है। द्रव्यकर्म और नोकर्म से रहित शुद्ध चैतन्यद्रव्य को ध्येय में लेना सम्यग्दर्शन है। एकमात्र परमपारिणामिकभाव भूतार्थ दृष्टि का विषय है। भाई! देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति तथा व्यवहाररत्नत्रय से भी आत्मा भिन्न है।

अब क्रमश: पञ्चाचार का स्वरूप बताते हैं —

(१) दर्शनाचार - परम चैतन्य विलासरूप स्वभाव को धरनेवाला स्वभाववान निज शुद्धात्मा उपादेय है, उसकी रुचि होना सम्यग्दर्शन है। जिनमें दर्शन-ज्ञान-आचार

मुख्य हैं तथा जो चारित्र, तप और वीर्य में परिणत हैं, वे आचार्य हैं। मुनियों को पञ्च महाव्रतादि का आचार होता है, परन्तु वह परद्रव्य है। परद्रव्य से स्वद्रव्य नहीं टिकता। भाई! विकाररहित स्वद्रव्य के आश्रय से प्रगट हुई निर्मल पर्याय का शुद्धात्मा के साथ अभेद होना स्वद्रव्य है।

त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि में एक समय की पर्याय भी अभूतार्थ है, क्योंकि वह क्षणिक है। त्रिकाली स्वभाव की रुचि करना सम्यग्दर्शन है एवं सम्यग्दर्शनरूप परिणमन करना, निश्चयदर्शनाचार है एवं इनके साथ जिनके अन्य आचार होते हैं, वे आचार्य हैं।

(२) ज्ञानाचार - शुद्धात्मा उपाधिरहित है। ज्ञान स्व को ज्ञेय बनाये — ऐसे भेदज्ञान के द्वारा भ्रान्ति तथा राग-द्वेष से आत्मा को भिन्न जानना, निश्चयसम्यग्ज्ञान है एवं आगमज्ञान व्यवहार से सम्यग्ज्ञान है। आत्मा का स्वसम्वेदन ज्ञान निश्चय है। अपने निज ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करते ही शरीर, कर्म, राग इत्यादि कोई भी मुझमें नहीं हैं — ऐसा नास्तिरूप परिणमन सहज ही हो जाता है। मैं इनसे भिन्न हूँ — ऐसा भेदरूप विकल्प करना नहीं पड़ता है। मैं अपने से हूँ — ऐसा अभेदरूप परिणमन होते ही पर से नास्तिरूप परिणमन होता है; इसलिए यहाँ भेदज्ञान द्वारा कहा है। शास्त्रों का ज्ञान भी शुद्धात्मा के लक्ष्यपूर्वक होना चाहिए। मात्र शास्त्रज्ञान यथार्थ नहीं है। वास्तव में तो अपने ज्ञायकस्वभाव का स्वसम्वेदन परिणमन निश्चयज्ञानाचार है।

(३) चारित्राचार - द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित चैतन्यविलास को धारण करनेवाले आत्मा के आश्रय से निरुपाधिक सुख होता है। पञ्च महाव्रत के परिणाम उपाधि और दुःख हैं। अधूरीदशा में वे परिणाम आते हैं; इसलिए निश्चय के भानवाले के लिए उन्हें व्यवहार से साधन कहा जाता है।

विहार करना, एक बार भोजन करना, नग्न रहना, जेठ माह की गर्मी में ध्यान में खड़े रहना, चमड़ी जले — ऐसी भीषण गर्मी में भी पर्वत पर जाकर ध्यान करना — इत्यादि प्रतिकूल संयोगों में भी मुनिराज को खेद या दुःख नहीं होता है। भाई! चारित्र दुःखदायक नहीं है! बल्कि चारित्रधर्म तो आनन्दायक है। मुनिराज तो शुद्धात्मा के आनन्दमय स्वाद में रम गये हैं। चैतन्यज्योति की रुचि और परिणमन में आनन्द ही आनन्द है। लौकिकजन इसे कष्टदायक मानते हैं, परन्तु मुनिराज तो आनन्द के उछालों

में रमते हैं। भाई! अखण्ड ज्ञायकस्वभाव की रुचि और लीनता में जो झूलते हैं, उन्हें चारित्र होता है।

पहले पहिचान तो करो कि चारित्र किसे कहते हैं ? भाई! वास्तविक तत्त्व बिना कोई शरणभूत नहीं है। मुनियों को किसी प्रकार का दु:ख नहीं होता है। जगत ने मुनिपद के स्वरूप के बारे में सुना नहीं है; अत: उसे उस दशा में दु:ख भासित होता है। आत्मा के आश्रय से अमृत की डकार आना चारित्र है एवं उससे सुख उत्पन्न होता है। उसके आस्वाद से जो चित्त की स्थिरता होती है, वह वीतरागी चारित्र है। ऐसे चारित्र में आचरण करना निश्चयचारित्राचार है।

(४) तपाचार - ज्ञायकस्वभाव में प्रतपन से, शोभा से, विजयरूप परिणति वर्तना तप है। भाई! अनाकुल चिदानन्द ज्ञायकस्वभाव में लीन होने से इच्छा उत्पन्न ही नहीं होती; अत: परद्रव्यों की इच्छा रोकना व्यवहार से तपाचार है। स्वाभाविक आनन्द के झरने में मस्त आचार्यों को परद्रव्य की इच्छा होती ही नहीं है — इसी का नाम इच्छा का रोकना है। पहले इच्छा के समय में परद्रव्य निमित्त थे, अब स्वभाव में लीन होने से इच्छा टूटते ही परद्रव्य छूट जाते हैं। आहार आदि की ओर वृत्ति ही नहीं गयी; अत: अनशन, अवमौदर्य आदि १२ तप सहज ही पल गये। इन्हें बहिरङ्ग तप कहा है, जिसकी ओर लक्ष्य था, जब उसका लक्ष्य छूट गया, तब उसकी अपेक्षा से इन्हें बहिरङ्ग सहकारी कारण कहा है।

अनादि से इच्छा की विजय थी, अब उसकी विजय समाप्त हो गई और शुद्ध अनाकुल आत्मा की विजय हुई और इच्छारहित साम्राज्य हो गया। जिस प्रकार सोने में गेरु लगने से सोना और अधिक शोभायमान हो जाता है; उसी प्रकार आत्मा इच्छारहित तप से शोभायमान हो गया। यह इच्छारहित तप ही निश्चय तप है और इसमें विशेषरूप से प्रतपन निश्चय तपाचार है।

(५) वीर्याचार - ऊपर कहे गये दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप — इन चार आचारों को टिकाने के लिए अपने वीर्य (पुरुषार्थ) को अन्दर में स्फुरायमान करना वीर्याचार है अर्थात् स्वभाव की रक्षा के लिए पुरुषार्थ करना। वीर्य से शरीर की, राग की या व्यवहार की क्रिया नहीं होती। शरीर, राग और व्यवहार से चार प्रकार के आचारों की

रक्षा नहीं होती। श्रीप्रवचनसार चरणानुयोग चूलिका में कहा है कि व्यवहार के प्रसाद से जब तक निश्चय को न प्राप्त हों, तब तक तेरा पालन करूँगा। हे दर्शनाचार! हे ज्ञानाचार! मैं जानता हूँ कि तुम मेरे स्वरूप नहीं हो। मैं जब तक पूर्ण स्थिर नहीं हो जाता हूँ, तब तक अशुभ से बचने के लिए यह शुभभाव होता है। यह स्थिरता मैं तेरे प्रसाद से निश्चितरूप से प्राप्त करूँगा। भाई! यह व्यवहार का कथन है। निमित्त है, व्यवहार है; परन्तु वस्तुस्वरूप के ज्ञान बिना अज्ञानी निश्चय, व्यवहार और निमित्त तीनों की खिचड़ी करता है। भाई! जब अपना शुभभाव ही अन्तरस्वभाव की रक्षा नहीं कर सकता तो फिर गुरु, संहनन या अन्य बाह्य चीजें कहाँ से रक्षा करेंगी ?

इन पञ्चाचारों से युक्त एवं ३६ गुणों के धारक आचार्य होते हैं। यहाँ कहते हैं कि आचार्य शिष्यों को भी पञ्चाचार पालन करने का उपदेश देते हैं, शिष्यों पर कृपा रखते हैं तथा जो चतुर हैं — ऐसे धर्माचार्य को मैं सदा वन्दन करता हूँ।

इन पञ्चाचारों का वर्णन मूलाचार, भगवती आराधना, रत्नकरण्डश्रावकाचार, पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय आदि चरणानुयोग के शास्त्रों में विस्तार से किया गया है एवं इन्हें बहिरङ्ग सहकारी कारण कहा गया है। इस प्रकार आचार्य निश्चय-व्यवहार पञ्चाचार में स्व-पर को लगाते हैं। इन आचारों को स्वयं साधते हैं और अन्यों से भी सधवाते हैं। यद्यपि अन्य मुनि इन्हें स्वयं साधते हैं; पर आचार्य उसमें निमित्त होते हैं।

इस प्रकार पदस्थध्यान में ध्यान करने योग्य आचार्य परमेष्ठी का वर्णन करनेवाली गाथा पूर्ण हुई।

❖❖❖

मुनिदशा अर्थात् केवलज्ञान की तलहटी

अहो! मुनिदशा अर्थात् साक्षात् केवलज्ञान की तलहटी! आनन्द के अनुभव का झूला झूलते हुए हजारों बिच्छुओं के काटने पर भी अथवा अड़तालीस गाँवों तक सुनी जानेवाली आवाज होने पर भी, जिन्हें उसकी खबर नहीं पड़ती और आनन्द में गहरे उतरकर क्षण में केवलज्ञान ले लेते हैं। उस अद्भुत मुनिदशा की क्या बात! धन्य मुनिदशा!

(- दृष्टि ना निधान, बोल १६५)

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-५३

अब, स्वशुद्धात्मा में जो उत्तम अध्याय-अभ्यास वह निश्चयस्वाध्याय है। वह निश्चयस्वाध्याय जिसका लक्षण है — ऐसे निश्चयध्यान का परम्परा से कारणभूत, भेदाभेदरत्नत्रयादि तत्त्वों के उपदेशक परम उपाध्याय की भक्तिरूप और 'णमो उवज्झायाणं' इस पद के उच्चारणरूप जो पदस्थध्यान, उसके ध्येयभूत उपाध्याय परमेष्ठी का स्वरूप कहते है —

जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो।
सो उवज्झाओ अप्पा जदिवरवसहो णमो तस्स॥५३॥
यः रत्नत्रययुक्तः नित्थं धर्मोपदेशने निरतः।
सः उपाध्यायः आत्मा यतिवरवृषभः नमः तस्मै॥५३॥

रतनत्रय युत नित निरत जो धर्म के उपदेश में।
सब साधुजन में श्रेष्ठ श्री उवझाय को वंदन करें॥५३॥

गाथार्थ :— जो रत्नत्रयसहित, निरन्तर धर्म का उपदेश देने में तत्पर है, वह आत्मा उपाध्याय है, मुनिवरों में प्रधान है; उसे नमस्कार हो।

टीका :— '**जो रयणत्तयजुत्तो**' जो बाह्य और अभ्यन्तर रत्नत्रय के आचरणसहित है; '**णिच्चं धम्मोवदेसणेणिरदो**' छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नव पदार्थों में निज शुद्धात्मद्रव्य, निज शुद्ध जीवास्तिकाय, निज शुद्धात्मतत्त्व और निज शुद्धात्मपदार्थ ही उपादेय है और अन्य सर्व हेय हैं, ऐसा और उत्तमक्षमा आदि दश धर्मों का जो निरन्तर उपदेश देता है, वह नित्य धर्मोपदेश देने में तत्पर कहलाता है; '**सो उवज्झाओ अप्पा**' ऐसा वह आत्मा उपाध्याय है तथा वह कैसा है ? '**जदिवरवसहो**' पाँचों इन्द्रियों के विषयों को जीतने से निज-शुद्ध-आत्मा में प्रयत्न करने में तत्पर ऐसे मुनीश्वरों में वृषभ अर्थात् प्रधान होने से यतिवरवृषभ है। '**णमो तस्स**' उस उपाध्याय परमेष्ठी को द्रव्य और भावरूप नमस्कार हो।

इस प्रकार उपाध्याय परमेष्ठी के व्याख्यानरूप गाथा पूर्ण हुई॥५३॥

गाथा ५३ पर प्रवचन

निज शुद्ध आनन्दकन्द आत्मा का अभ्यास करना, चैतन्य का अभ्यास करना, आत्मा के समीप रहकर रागरहित एकाग्रता करना, निश्चयस्वाध्याय है एवं शास्त्रों का अभ्यास करना, व्यवहारस्वाध्याय है। स्व+अध्याय=अपने चैतन्य का माङ्गलिक अभ्यास करना।

ऐसे निश्चयस्वाध्याय आदि तत्त्वों का उपदेश करनेवाले उपाध्याय परमेष्ठी हैं। परम उपाध्याय की भक्तिस्वरूप '**णमो उवज्झायाणं**' इस पद के उच्चारणरूप पदस्थध्यान के ध्येयभूत उपाध्याय परमेष्ठी हैं, यहाँ उनके स्वरूप का कथन करते हैं।

शुद्धोपयोग में आत्मा ध्येय है और शुभभाव में पञ्च परमेष्ठी ध्येय हैं। निश्चय में ध्याता आत्मा स्वयं ध्येय है, यथास्थित पदार्थ है, ध्यान वीतरागी पर्याय है एवं उसका फल संवर-निर्जरा है। जब स्वभाव में लीन न हों, तब शुभभाव में पञ्च परमेष्ठी ध्येय हैं, उसका फल सातिशय पुण्य है। उपाध्याय परमेष्ठी बाह्य-अभ्यन्तररूप रत्नत्रय को साधते हैं। स्वभाव की दृष्टि, ज्ञान और रमणतासहित हैं तथा बाह्य में देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, नवतत्त्वों का ज्ञान और पञ्च महाव्रत के परिणामों में वर्तते हैं। उपदेश देने का विकल्प आये तो जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, कालरूप छह द्रव्यों में एक निज शुद्धात्मा ही अङ्गीकार करने लायक है; अन्तर्मुखदृष्टि करना ही आदरणीय है, शुद्ध चैतन्य के अलावा अन्य सबके प्रति राग परिणाम छोड़ने लायक है; चाहे संवर, निर्जरा, मोक्ष का राग हो, वह भी छोड़ने लायक है; एक ध्रुव नित्यानन्दस्वभाव ही आदरणीय है —इस प्रकार उपाध्याय परमेष्ठी निश्चय की मुख्यता से उपदेश देते हैं।

ग्रन्थों में कदाचित् ऐसा लिखा हो कि शुभराग व्यवहार से आदरणीय है तो वे कहते हैं कि इसका अर्थ यह हुआ कि निश्चय से वह आदरणीय नहीं है; परन्तु एक निज ज्ञायकस्वभाव ही आदरणीय है, पाँच अस्तिकाय में एक जीवास्तिकाय आदरणीय है, सात तत्त्वों में एक निज शुद्धात्मतत्त्व की उपादेय है, संवर-निर्जरा और मोक्ष भी आदरणीय नहीं है — ऐसा सत्य उपदेश उपाध्याय परमेष्ठी निरन्तर देते हैं; क्योंकि पर्याय के आश्रय से शुद्धि की उत्पत्ति या वृद्धि नहीं होती; अपितु शुद्धात्मा के आश्रय से ही निर्मलता प्रगट होती है।

जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-बन्ध, संवर-निर्जरा और मोक्ष — इन नव पदार्थों

में शुद्धजीव ही अन्तर्मुख होने लायक है और बहिर्मुखदृष्टि छोड़ने लायक है, चाहे वह भगवान के प्रति राग ही क्यों न हो। भाई! तेरा तत्त्व और पदार्थ ही परम आदरणीय है।

पहले उपाध्याय परमेष्ठी शिष्यों को शास्त्र सुनने के लिये कहते हैं, पीछे कहते हैं कि सुनने का राग भी छोड़ने लायक है। कोई ऐसा प्रश्न पूछे तो उससे कहते हैं कि जब तक उपाध्याय परमेष्ठी को राग वर्तता है, तब तक विकल्प उठते हैं; परन्तु ये रागादि छोड़ने लायक ही हैं, शुद्धात्मा ही अङ्गीकार करने लायक है। इस प्रकार जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा ही वे प्ररूपित करते हैं। उपाध्याय परमेष्ठी जानने लायक विषयों तथा दश धर्मों का उपदेश देने में निरन्तर तत्पर हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे राग या पर में तत्पर हैं; परन्तु इस प्रकार का उपदेश शुभभूमिका में वर्तता है, इसका ज्ञान कराया है।

कुछ अज्ञानीजन मानते हैं कि दूसरों को उपदेश देने से हमें लाभ होगा, पर भाई! यह तो शुभराग है और उससे स्व और पर किसी को भी लाभ नहीं होता। उपदेश तो सहज निकलता है। उपाध्याय परमेष्ठी को जब उपदेश का विकल्प आता है, तब वे उपदेश देते हैं; इसलिए यहाँ उन्हें धर्मोपदेश में तत्पर कहा है।

वे पाँच इन्द्रियों के विषयों को जीतने और निज शुद्धात्मा का उग्र पुरुषार्थ करने से यति हैं, दया-दानादि के परिणामों के कारण से यति नहीं हैं। ऐसे यतीश्वरों में उपाध्याय परमेष्ठी प्रधान हैं, हम उन्हें नमस्कार करते हैं। शुद्धात्मा में जितनी एकाग्रता है, वह भाव-नमस्कार है और शुभ विकल्प, वह द्रव्य-नमस्कार है।

इस प्रकार उपाध्याय परमेष्ठी के स्वरूप का कथन करनेवाली गाथा पूर्ण हुई।

❖❖❖

मुनिराज का दर्शन : हमारा धन्य भाग्य

अहो! भावलिङ्गी मुनि अर्थात् चलते-फिरते परमेश्वर, जो अन्दर में आनन्दकन्द का झूला झूलते हैं और पञ्च महाव्रत के राग को जहर जानते हैं। अहो! जिनके दर्शन अहो भाग्य से होते हैं। जो आनन्द की क्रीड़ा करते हैं, वह धन्य दशा अलौकिक है। अरे! गणधरों का नमस्कार जिसे पहुँचे, उस दशा की क्या बात! *(- दृष्टि ना निधान, बोल १५७)*

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-५४

अब, निश्चयरत्नत्रयात्मक निश्चयध्यान का परम्परा से कारणभूत, बाह्य-अभ्यन्तर मोक्षमार्ग के साधक परमसाधु की भक्तिरूप और 'णमो लोए सव्वसाहूणं' इस पद के उच्चारण, जप तथा ध्यानरूप जो पदस्थध्यान, उसके ध्येयभूत ऐसे साधु परमेष्ठी का स्वरूप कहते हैं —

दंसणणाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं।
साधयदि णिच्चसुद्धं साहू स मुणी णमो तस्स॥५४॥
दर्शनज्ञानसमग्रं मार्गं मोक्षस्य यः हि चारित्रम्।
साधयति नित्यशुद्धं साधुः सः मुनिः नमः तस्मै॥५४॥
जो ज्ञान-दर्शनपूर्वक चारित्र की आराधना।
कर मोक्षमारग में खड़े उन साधुओं को हो नमन॥५४॥

गाथार्थ : — दर्शन और ज्ञान से पूर्ण, मोक्षमार्गस्वरूप, सदा शुद्ध — ऐसे चारित्र को जो साधता है, वह मुनि 'साधु परमेष्ठी' है, उसको मेरा नमस्कार हो।

टीका : — '**साहू स मुणी**' वह मुनि साधु है; जो क्या करता है? '**जो हु साधयदि**' जो प्रगटरूप से साधता है; क्या साधता है? '**दंसणणाणसमग्गं**' वीतराग सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से परिपूर्ण चारित्र को साधता है तथा वह चारित्र कैसा है ? '**मग्गं मोक्खस्स**' जो चारित्र मार्गरूप है; किसके मार्गरूप है ? मोक्ष के मार्गरूप है तथा वह चारित्र कैसा है ? '**णिच्चसुद्ध**' नित्य सर्वकाल में शुद्ध अर्थात् रागादिरहित है। '**णमो तस्स**' जो ऐसे गुणयुक्त है, उस साधु परमेष्ठी को नमस्कार हो।

विशेष — 'उद्योतनमुद्योगो निर्वहणं साधनं च निस्तरणम्। द्दगवगमचरणतप सामाख्यातारधना सद्भिः॥ अर्थ — दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप का जो उद्योतन, उद्योग, निर्वहण, साधन और निस्तरण जो है, उसे सत्पुरुषों ने आराधना कही है।'' — इस आर्या छन्द में कथित बहिरङ्ग चतुर्विध (दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप) आराधना के बल से और '**समत्त सण्णाणं सच्चारित्तं हि सत्तवो चेव। चउरो चिट्ठहि आदे तह्मा आदा हु मे सरणं॥ अर्थ** — सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप —

ये चारों आत्मा में निवास करते हैं, इस कारण आत्मा ही मुझे शरणभूत है।' इस गाथा में कथित अभ्यन्तर ऐसी निश्चय चतुर्विध आराधना के बल से बाह्य-अभ्यन्तर मोक्षमार्ग जिसका (जिस बाह्य-अभ्यन्तर आराधना का) दूसरा नाम है, उसके द्वारा जो वीतरागचारित्र के अविनाभूत निज शुद्धात्मा को साधता है अर्थात् भाता है, वह साधु परमेष्ठी है। उसे ही मात्र सहजशुद्ध सदानन्द (नित्य आनन्द) की अनुभूति जिसका लक्षण है — ऐसा भाव-नमस्कार और 'णमो लोए सव्वसाहूणं' ऐसा द्रव्य-नमस्कार हो॥५४॥

इस भांति उपरोक्त प्रकार से पाँच गाथाओं द्वारा मध्यम प्रतिपादन से पञ्च परमेष्ठी का स्वरूप जानना। **'अरुहा सिद्धइरिया उवज्झाया साहु पञ्चपरमेट्ठी। ते वि हु चिट्ठहि आदे तह्मा आदा हु मे सरणं॥ अर्थ** — अथवा निश्चय से जो अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु — ये पाँच परमेष्ठी हैं, वे भी आत्मा में स्थित है; इस कारण आत्मा ही मुझे शरण है।' इस गाथा में कहे अनुसार संक्षेप में पञ्च परमेष्ठी का स्वरूप जानना और विस्तार से, पञ्च परमेष्ठी के स्वरूप का कथन करनेवाले ग्रन्थों में से जानना। सिद्धचक्र आदि देवों की पूजनविधिरूप मन्त्रवाद सम्बन्धी 'पञ्चनमस्कारमाहात्म्य' नामक ग्रन्थ में से उसका स्वरूप अति विस्तार से जानना।

इस प्रकार पाँच गाथाओं द्वारा दूसरा स्थल समाप्त हुआ।

गाथा ५४ पर प्रवचन

निश्चयरत्नत्रयस्वरूप निश्चयध्यान है अर्थात् आत्मा की प्रतीति, ज्ञान और रमणता निश्चयध्यान है। उसके परम्परा कारणभूत मुनिराज हैं। वे मुनिराज निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग को साधनेवाले हैं। निश्चय से तो वे आनन्दकन्द निज ज्ञायक आत्मा को रत्नत्रय द्वारा साधते हैं एवं व्यवहार से पञ्च महाव्रत के परिणामों को साधते हैं तथा परम साधु की भक्तिस्वरूप जो **'णमो लोए सव्व साहूणं'** पद के बोलनेरूप तथा जाप करनेरूप लक्षण का धारक पदस्थध्यान है; उस ध्यान के ध्येयभूत साधु परमेष्ठी हैं।

जो सन्त-मुनि अपने आत्मा के दर्शन से एवं स्वसम्वेदनज्ञान से पूर्ण हैं तथा रागरहित दशा से स्वरूप को साधते हैं, वे चारित्र प्रगट करते हैं। जिसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र की खबर नहीं है, वह साधु नहीं है।

जिस मुनि को दर्शन-ज्ञान में पूर्ण आत्मा ध्येय है, उसकी पर्याय को भी परिपूर्ण

कह दिया जाता है। शिवभूति मुनिराज को शब्द याद नहीं रहते थे, किन्तु परिपूर्ण आत्मा उनके श्रद्धान-ज्ञान में था। उनका स्वरूप में रमण करना वीतरागी चारित्र है।

चिदानन्द ज्ञायक आत्मा की रुचि और लीनता बिना सब व्यर्थ है। मुनिराज तो निरन्तर निज आत्मा के आनन्द में ही रमते हैं। अपने स्वभाव के अखाड़े में ही खेलते हैं। उन्हें विकल्प उठे तो पञ्च महाव्रतादि का शुभ विकल्प उठता है। ऐसे गुणयुक्त साधु परमेष्ठी को नमस्कार हो।

दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप — इन चारों का प्रकाश करना, पुरुषार्थ करना, निर्वाह करना, साधन करना और पूर्ण करना आराधना कहलाता है। दूसरों को उपदेश और दीक्षा देना मुनियों का वास्तविक काम नहीं है। वे तो अपनी आत्मा को ही साधते हैं। देखो! जब तक आचार्य और उपाध्याय पद में रहते हैं, तब तक वे श्रेणी भी नहीं माँड सकते हैं। जब वे साधु पद में आकर स्वरूपलीन होते हैं, तभी श्रेणी माँडते हैं; अतः साधुपद के लिये चार आराधनाएँ मुख्यरूप से बताई गई हैं। भाई! आत्माराम की रमणता के बिना संसार का अखाड़ा बन्द नहीं होगा। आत्मा की साधना एवं पुरुषार्थ द्वारा ही यह जीव संसार से पार उतरता है, अन्य से पार नहीं पड़ता।

आजकल कुछ लोग कहते हैं कि दूसरों को ज्ञान देना, उन्हें तारना तो हमारा फर्ज है; परन्तु भाई! ऐसा मानना गलत है। साधु परमेष्ठी को दीनवृत्ति नहीं होती। वे तो निरन्तर आनन्द में मग्न रहते हैं। वे सिंहवृत्ति के धनी होते हैं। उनके अन्तर आनन्दरस उछलता है, अनुभूति की गुफा में रहते हैं। जङ्गल में सिंह, बाघ आदि का संयोग होने पर भी वे अकेले आनन्द में ही रमते हैं। उपसर्ग आये तो समाधिपूर्वक मरण करते हैं। चिदानन्द आत्मा की क्रीड़ा में दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप — इन चार आराधनाओं को साथ में रखते हैं। साधु परमेष्ठी के आत्मलीनता होते ही समस्त इच्छाएँ समाप्त हो जाती हैं तथा देह पर प्रतिकूल संयोग होने पर भी वे पुरुषार्थ द्वारा पूर्णता प्राप्त कर लेतेहैं।

मुनिराज तो इस गाथा में कही गई चार आराधनाओं के विकल्प को तोड़कर भी अपनी आत्मा में निवास करते हैं। भाई! चिदानन्द भगवान आत्मा अनन्त गुणों से भरा पड़ा है। एक बार अन्दर से उल्लास तो ला! भगवान आत्मा अनन्त गुणों की गठरी को लेकर पड़ा है। पर्याय में अधूरापन होने पर भी अन्दर में अनन्त गुणों की गठरी पड़ी

है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप — ये चारों आराधनाएँ भी आत्मा में ही रहती हैं, मन में और राग में नहीं रहतीं; इसलिए भाई! भगवान आत्मा ही शरणभूत है।

इस प्रकार ऐसे साधु परमेष्ठी को शुभभाव में ध्येय कहा गया है।

भाई! निश्चय से अन्तर में बसना ही आराधना है। उस आराधना के बल से अर्थात् वीतराग चारित्र के अविनाभूत बाह्य मोक्षमार्ग से एवं अभ्यन्तर मोक्षमार्ग से वे आत्मा को साधते हैं। ऐसे साधु परमेष्ठी होते हैं, उन्हें आचार्य, उपाध्याय भी नमस्कार मन्त्र में नमते हैं। शुभभाव के समय साधु परमेष्ठी ध्येय हैं; इसलिए आचार्य, उपाध्याय नमस्कार मन्त्र में साधु को नमस्कार करते हैं। कोई साधु मेरुपर्वत पर जाते हैं, कोई साधु कहीं ध्यान करते हैं तो कोई कहीं; अतः लोक में विचरण करनेवाले समस्त साधुओं को वन्दन हो — ऐसा कहा है।

नमस्कार मन्त्र के अन्तिम पद में **'सव्व' और 'लोए'** शब्द पाँचों में लगाना 'णमो लोए सव्व अरहंताणं, णमो लोए सव्व सिद्धाणं, णमो लोए सव्व आइरियाणं, णमो लोए सव्व उवज्झाणं, णमो लोए सव्व साहूणं' — ऐसा धवल में पाठ है। देहसहित अरिहन्त, देहरहित सिद्ध तथा आचार्य, उपाध्याय, साधु जो छठवे-सातवें गुणस्थान की भूमिकावाले हैं, उन सबको नमस्कार हो।

❖❖❖

मुनिदशा अर्थात् धर्म का मौसम

जिस प्रकार व्यापारी दीपावली आदि अच्छे सीजन में व्यापार की भाग-दौड़ करके थोड़े समय में बहुत कमायी कर लेता है; उसी प्रकार चारित्रदशा तो धर्मी जीव के धर्म साधने का वास्तविक सीजन है, उसमें शीघ्र ही धर्म की साधना करके वह थोड़े ही काल में महान मोक्ष-वैभव को साध लेता है - ऐसी दशा को साधु पद कहते हैं। अहा! सम्यग्दर्शन तो हुआ है, अब आत्मा में लीन होकर, बारम्बार निर्विकल्प अनुभूति करके, स्वरूप में स्थिरता करके मुनिदशा प्रगट करूँगा। ऐसी भावना धर्मी जीव भाता है। वाह! ऐसी चारित्रदशा किसे नहीं रुचेगी। ऐसी चारित्रदशावन्त मुनियों के तो हम दास हैं, उनके चरणों के सेवक हैं, उन्हें हम बहुमान से नमस्कार करते हैं। णमो लोए त्रिकालवर्ती सव्व साहूणं।

(- छहढाला प्रवचन, ५/४४९)

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-५५

अब, उसी ध्यान का विकल्पित निश्चय से और अविकल्पित निश्चय से प्रकारान्तर से उपसंहाररूप से कथन करते हैं। 'उसमें वहाँ गाथा के प्रथम पाद में ध्येय का लक्षण, दूसरे पाद में ध्याता का लक्षण, तीसरे पाद में ध्यान का लक्षण और चौथे पाद में नयों का विभाग मैं कहूँगा' — ऐसा अभिप्राय मन में रखकर श्रीनेमिचन्द्र आचार्यदेव इस सूत्र का प्रतिपादन करते हैं —

जं किंचिवि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू।
लद्धूण य एयत्तं तदाहु तं तस्स णिच्छयं ज्झाणं॥५५॥

यत् किंचित् अपि चिन्तयन् निरीहवृत्तिः भवति यदा साधुः।
लब्ध्वा च एकत्वं तदा आहुः तत् तस्य निश्चयं ध्यानम्॥५५॥

निजध्येय में एकत्व निष्पृहवृत्ति धारक साधुजन।
चिन्तन करें जिस किसी का भी सभी निश्चय ध्यान है॥५५॥

गाथार्थ :— ध्येय में एकत्व प्राप्त करके, किसी भी पदार्थ का ध्यान करता हुआ साधु, जब निस्पृह वृत्तिवाला होता है, तब उसका वह ध्यान, निश्चयध्यान कहलाता है।

टीका :— '**तदा**' उस समय में, '**आहु**' कहते हैं, '**तं तस्स णिच्छयं ज्झाणं**' उसे उसका निश्चय ध्यान (कहते हैं)। कब ? '**णिरीहवित्ती हवे जदा साहू**' जब साधु निस्पृह वृत्तिवाला होता है। क्या करता हुआ ? '**जं किंचिवि चिंतंतो**' जिस किसी भी ध्येय का वस्तुरूप से विशेष चिन्तवन करता हुआ। पहले क्या करके ? '**लद्धूण य एयत्तं**' उस ध्येय में प्राप्त करके। क्या प्राप्त करके ? एकत्व को अर्थात् एकाग्र-चिन्ता-निरोध को प्राप्त करके। विस्तार कथन — 'जो कोई भी ध्येय (अर्थात् कोई भी ध्यान करने योग्य पदार्थ)' कहा है, उसका क्या अर्थ है ? प्राथमिक (पुरुष) की अपेक्षा से सविकल्प अवस्था में विषय और कषाय दूर करने के लिए और चित्त को स्थिर करने के लिए पञ्च परमेष्ठी आदि परद्रव्य भी ध्येय होते हैं; तत्पश्चात् जब अभ्यास के वश से चित्त स्थिर हो जाता है, तब शुद्ध-बुद्ध-एकस्वभावी निज शुद्धात्मा का स्वरूप ही ध्येय होता है तथा, 'निस्पृह' शब्द से मिथ्यात्व, तीन वेद, हास्य, रति, अरति, शोक,

भय, जुगुप्सा, (ये छह) और क्रोध, मान, माया, लोभ (ये चार) - इन चौदह अभ्यन्तर परिग्रहों से रहित और क्षेत्र, वास्तु, चाँदी, सोना, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य और भाण्ड — इन दश बहिरङ्ग परिग्रहों से रहित ऐसा ध्याता का स्वरूप कहा है। 'एकाग्रचिन्तानिरोध' पद से, पूर्वोक्त भिन्न-भिन्न प्रकार के ध्येयभूत (ध्यान करने योग्य) पदार्थों में स्थिरता को-निश्चलता को ध्यान का लक्षण कहा है। 'निश्चय' शब्द, प्राथमिक (पुरुष) की अपेक्षा से व्यवहार-रत्नत्रय को अनुकूल ऐसा निश्चय समझना और जिसको योग निष्पन्न हुआ है — ऐसे पुरुष की अपेक्षा से शुद्धोपयोगरूप विवक्षित-एकदेश-शुद्ध निश्चय समझना। विशेष निश्चय का कथन आगे करेंगे।

इस प्रकार सूत्रार्थ है॥५५॥

गाथा ५५ पर प्रवचन

गाथा ५४ में चार प्रकार की आराधना साधु को होती है — ऐसा कहा है। उसका विस्तार भगवती आराधना की गाथा २ में भी किया गया है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप को उद्योतन करना, उनकी पूर्णता के लिए उद्यम करना, उनका निराकुलता से निर्वाह करना, उनका निरतिचार सेवन करना तथा आयु पर्यन्त निर्विघ्नता से सेवन करके परलोक जाना आराधना कहलाता है।

आप्त प्रणीत तत्त्वों में अचल प्रतीति करना तथा उनमें शङ्कादि दोष नहीं लगाना, दर्शन का उद्योतन है। प्रमाण-नय से वस्तु का निश्चय करना, उसमें संशय-विपर्यय और अनध्यवसाय दोष उत्पन्न नहीं करना, ज्ञान का उद्योतन कहलाता है। मूलगुण एवं उत्तरगुणों को निरतिचार धारण करना, चारित्र का उद्योतन कहलाता है तथा असंयम के अभावरूप आत्मा में विशुद्धता प्रगट करना, तप का उद्योतन कहलाता है।

जिस मार्ग से दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप — ये आराधनाएँ स्वयं को प्राप्त हों तथा उत्तरोत्तर विशुद्धता होती जाए — ऐसे मार्ग में प्रवर्तन करना अथवा आराधना के धारकों की सङ्गति करना, मन-वचन-काया की सम्यक्प्रवृत्ति करना एवं ग्रहण-त्याग द्वारा जैसे आराधना हो, वैसे करना उद्यमन कहलाता है।

आराधना के विराधक, उपसर्ग-परीषह अथवा वेदनादिक आने पर भी आराधना टिकाये रखना निर्वहण कहलाता है। आराधना के कारण आप्त के वचनों का पठन-श्रवण

तथा साधु सङ्गति करना एवं विशुद्धता के कारणों को मिलाना साधन कहलाता है। चारों आराधनाओं की आयुपर्यन्त प्रवृत्ति करना निस्तरण कहलाता है। भाई! से सभी निमित्त प्रधान जानना।

मुनिराज पाँच प्रकार से आराधना को साध रहे हैं। भाई! साधु को शिक्षा-दीक्षा की प्रधानता नहीं होती, वे तो आराधना द्वारा सम्यक्पने समाधिपूर्वक मरण की प्रधानता रखते हैं।

मध्यम रुचिधारक शिष्यों को चार गाथाओं द्वारा पञ्चपरमेष्ठी का स्वरूप बताया। ये पाँचों पद आत्मा की ही दशाएँ हैं। अरिहन्तदशा पूर्ण होने पर भी देहसहित है; लेकिन सिद्धदशा देहरहित है और प्रचुर स्वसम्वेदनरूप आनन्द की दशा आचार्य, उपाध्याय और साधु हैं, इसलिए अखण्ड आनन्दकन्द आत्मा निर्विकल्पदशावालों को शरणभूत है। यह संक्षेप में पञ्च परमेष्ठी का कथन किया। विस्तार से पञ्च परमेष्ठी विधान, सिद्धचक्र विधान आदि से समझ लेना।

शुद्ध चिदानन्द आत्मा का भान हो जाने के बाद जो योग्य विकल्प उठते हैं, वह विकल्पित निश्चय है, व्यवहाररूप निश्चय है अर्थात् उसी प्रकार का विकल्प उठता है, अन्य प्रकार का नहीं और जो अन्दर स्थिरता हुई है; वह अविकल्पित निश्चय है अर्थात् ध्यान को विकल्पित और अविकल्पित निश्चय द्वारा संक्षेप में कहा जाता है।

इस गाथा के प्रथम चरण में ध्येय का लक्षण, दूसरे चरण में ध्याता का लक्षण, तीसरे चरण में ध्यान का लक्षण और चौथे चरण में नयविभाग कहा है।

यहाँ ध्येय में अकेली आत्मा की बात नहीं लेना। आत्मभान होने के बाद मुनिराज किसी भी पदार्थ का ध्येयरूप से चिन्तवन करते हैं। मोक्षमार्गप्रकाशक में भी इस शैली से कहा है कि आत्मा के अलावा दूसरे पदार्थों को ध्यावे, उपयोग को उसमें लीन करे तो उसे भी ध्यान कहा जाता है।

जब कोई मुनिराज किसी पदार्थ को ध्येयरूप बनाकर चिन्ता दूर करके, एक चित्त होकर तथा शरीर, मन, इज्जत की स्पृहा छोड़कर आत्मा की अन्तर रमणता की स्पृहा करते हैं; तब उनको निश्चय ध्यान होता है। उसका विस्तार से वर्णन करते हैं।

ध्यान कहो, मोक्षमार्ग कहो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान कहो, सभी एक ही हैं। इस गाथा में कोई भी ध्येय पदार्थ को ध्याते हैं — ऐसा कहा है। इस बात का क्या अर्थ है — अब यह बताते हैं।

ध्यान के प्रथम आरम्भ करने की अपेक्षा से जो सविकल्प अवस्था होती है, उसमें विषय-कषाय दूर करने के लिए तथा चित्त को स्थिर करने के लिए पञ्च परमेष्ठी आदि परद्रव्य भी ध्येय होते हैं।

मुनियों को ज्ञानानन्ददशा विस्तृत हो गई है, उनको शुभविकल्प उठता है तो जैसा पञ्च परमेष्ठी का स्वरूप बताया है, वैसा ही वे ध्याते हैं। अन्य किसी प्रकार का उन्हें विकल्प आता ही नहीं है; इसलिए उन्हें निश्चयध्यान कहा गया है अर्थात् अशुभभाव के अभाव की अपेक्षा उन्हें निश्चयध्यान कहा गया है। जब उन्हें शुभभाव आता है, तब पञ्च परमेष्ठी की ओर लक्ष्य जाता है। ज्ञान में इस जाति का विकल्प उठता है। बाद में अभ्यास के कारण चित्त स्थिर हो जाता है, तब शुद्धज्ञान की मूर्ति एकस्वभाव का धारक भगवान आत्मा ध्येयरूप होता है अर्थात् आत्मा, आत्मा में स्थिर हो जाता है।

श्रीमद्राजचन्द्रजी ने भी कहा है कि -

सुद्ध बुद्ध चैतन्यघन स्वयं ज्योति सुखधाम।
बीजुं कहीये केटलुं, कर विचार तो पाम॥

तुम शुद्ध हो, बुद्ध हो, ज्ञान-दर्शन के पिण्ड हो, अपनी ज्ञानज्योति के लिये तुम्हें पर की जरूरत नहीं है। अपना सुखधाम असंख्य प्रदेशी है। और अधिक क्या कहें ? इस शुद्धात्मा का विचार करे तो आत्मा मिले। देखो! शुद्धात्मा की प्रतीति, ज्ञान और रमणता — तीनों विचार शब्द में आ गये हैं। ऐसे आत्मा का स्वयं विचार करे तो उसे प्राप्त कर ले — ऐसी बात है भाई!

सर्व जीव छे सिद्धसम, से समझे ते थाय।
ते ज्ञान क्षय मोह थई, पामे पद निर्वाण॥

इस प्रकार तीन जगह श्रीमद्राजचन्द्रजी ने आत्मसिद्धि के लिये शास्त्र में ज्ञान की प्रधानता से बात की है। इस प्रकार यथार्थ ज्ञान करे तो मोह क्षय हो जाए। भाई! ज्ञान में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों आ जाते हैं।

निज शुद्धात्मा को अन्तर्मुख देखनेवाले को एक ही ध्येय होता है। सर्वप्रथम सर्वज्ञ का विचार और मन्त्र आदि का विकल्प होता है, तब अशुभराग घटकर शुभराग आता है। फिर बाद में शुभ का व्यय होकर स्वभाव में जम जाता है — यह निश्चयमोक्षमार्ग है। ध्यान में शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव का धारक निज शुद्धात्मा ही ध्येय होता है।

ऐसे ध्यान करनेवाले की निस्पृह वृत्ति होती है। उसे मिथ्यात्व नहीं होता, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ — इस प्रकार ध्यान करनेवाले को चौदह अन्तरङ्ग परिग्रह नहीं होते। ध्यान के समय में पुरुषवेद का विकल्प भी नहीं होता। भाववेद भी तीन प्रकार का है। उससे रहित होकर ध्यान होता है तथा ऐसे ध्यान करनेवाले को क्षेत्र, मकान, हिरण्य, सोना, धन, धान्य, दासी, दास, कपड़ा और बर्तन — ऐसे दश प्रकार का बाह्य परिग्रह भी नहीं होता है।

मुनि को चौदह अभ्यन्तर और दश बाह्य — इस प्रकार चौबीस प्रकार का परिग्रह नहीं होता है। ऐसे परिग्रहरहित मुनि ध्यान करनेवाले होते हैं। इस प्रकार ध्याता का स्वरूप कहा। वे निर्ग्रन्थ मुनि होते हैं एवं छठवें-सातवें गुणस्थान में निरन्तर झूलते रहते हैं।

अब, ध्यान की बात करते हैं। **एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्** — यह ध्यान की व्याख्या है। शुद्ध चिदानन्द में एकाग्रता होना, ध्यान का लक्षण है। पूर्व में कहे हुए अनेक प्रकार के ध्यान करने योग्य पदार्थों में निश्चलपना ध्यान है। ज्ञान में से एकाग्रता नहीं छूटे और उपयोग राग में न जाए — ऐसी दशा का नाम ध्यान है।

धर्मात्मा जब अन्तर में नहीं ठहर पाते हैं, तब व्यवहाररत्नत्रय के अनुकूल शुभभाव होता है। कोई ईश्वर जगत का कर्त्ता है — ऐसा विकल्प नहीं होता। पञ्च परमेष्ठी के यथार्थ स्वरूप का ही विचार होता है और यही सच्चा व्यवहार है।

अन्तर का लक्ष्य तो शुद्धात्मा है; परन्तु विकल्प के अभ्यास में कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की बात किसी प्रकार से नहीं आती है; बल्कि शुभोपयोग में पञ्च परमेष्ठी का बहुमान ही आता है। जो व्यवहाररत्नत्रयरूप शुभभाव है, उसके अनुकूल ही शुभविकल्प आते हैं। उन्हीं को यहाँ निश्चय कहा जा रहा है।

कोई आत्मा को उजला कहता है। कहता है कि पीला-पीला आत्मा ध्यान में दिखाई देता है तो उसका यह विकल्प अथवा व्यवहार खोटा है और ऐसा निर्णय तो खोटा है ही। मुनियों के अट्ठाईस मूलगुण कहे हैं; उनका अथवा गुरु के उपकार को छुपाये बिना कथन करना, काल को ध्यान में रखकर कथन करना, इत्यादि विकल्प उठते हैं — ऐसा निश्चय का अर्थ समझना।

जब विकल्प छूटकर स्वभाव में लीन हुआ, उसे शुद्धोपयोग कहा है तथा जो पञ्च महाव्रतादि के विकल्प से रहित, मन्त्र-जप आदि के विकल्प से रहित अन्दर में शुद्धता प्रगट हुई है अर्थात् रागरहित स्वभाव के सन्मुख होने पर जो शुद्धोपयोग हुआ है, वह विवक्षितएकदेशशुद्धनिश्चय से निश्चयध्यान का अर्थ समझना चाहिए। चूँकि पूर्ण शुद्धता नहीं है; अतः एकदेश कहा है तथा जो विशेष निश्चय है, उसका कथन अगली गाथा में करेंगे।

❖❖❖

मुनिपना अर्थात् परमेश्वरपद

मुनि को वह विकल्प दुःखदायक लगता है। बाहर आना उन्हें अच्छा नहीं लगता। पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण विकल्प के भाव आयें - उपयोग ज्यों ही बाहर जाए कि तुरन्त सहजरूप से स्वभाव की ओर ढल जाते हैं। तुरन्त ही इस शुभ को छोड़ूँ और अन्तर में स्थिर होऊँ - ऐसे विकल्प से नहीं, किन्तु सहजस्वभाव के बल से स्वोन्मुख हो जाते हैं। अहाहा! अतीन्द्रिय आनन्दामृत का सागर जहाँ दृष्टि तथा अनुभव में आया, वहाँ उसके निर्विकल्प स्वाद की दशा में से उपयोग बाहर आने पर विकल्प आया, लेकिन तुरन्त ही स्वरूपानन्द में ढल जाते हैं। अहा! ऐसी है छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए मुनिराज की दशा!

'बाहर आना पड़े, वह बोझ या उपाधि लगता है।'

अरे! उपदेश देने का विकल्प आये, आहार लेने का विकल्प आये- वह सब बोझ या उपाधि लगता है। राग के भार से रहित ज्ञायकवस्तु में विकल्प बोझ के समान लगता है। अनाकुल आनन्द के रसिक भगवान आत्मा को राग तो आकुलता, दुःख एवं भाररूप लगता है। मुनि आनन्द में स्थित हैं, उन्हें बाहर आना नहीं रुचता। अहाहा! मुनिपना, वह तो परमेश्वरपद है। मुनि पञ्च परमेष्ठियों में आते हैं न? दो छोटे पाण्डव भ्राताओं को विकल्प आया कि तीनों ज्येष्ठ भ्राता उपसर्ग में कैसे होंगे? इतने मात्र से बन्ध हो गया और दो भव बढ़ गये। बाहर आना पड़े; विकल्प उठे, वह मुनि को बोझरूप लगता है। *(- वचनामृत प्रवचन, २/५१)*

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-५६

अब, शुभाशुभ मन-वचन-काया का निरोध करने पर आत्मा में स्थिर होता है, वही परमध्यान है; इस प्रकार उपदेश करते हैं —

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिन्तह किंवि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे ज्झाणं॥५६॥

मा चेष्टत मा जल्पत मा चिन्तयत किम्अपि येन भवति स्थिरः।
आत्मा आत्मनि रतः इदं एवं परं ध्यानं भवति॥५६॥

बोलो नहीं सोचो नहीं अर चेष्टा भी मत करो।
उत्कृष्टतम यह ध्यान है निज आतमा में रत रहो॥५६॥

गाथार्थ :— (हे भव्यो!) कुछ भी चेष्टा मत करो, कुछ भी मत बोलो, कुछ भी चिन्तवन मत करो; जिससे आत्मा, निजात्मा में तल्लीनरूप से स्थिर हो जाए। यही (आत्मा में लीनता ही) परमध्यान है।

टीका :— **'मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किंवि'** हे विवेकी पुरुषो! नित्य निरञ्जन और निष्क्रिय ऐसे निज शुद्धात्मा की अनुभूति को रोकनेवाले शुभाशुभ चेष्टारूप कायव्यापार, शुभाशुभ अन्तर्बहिर्जल्परूप वचनव्यापार और शुभाशुभ विकल्पजालरूप चित्तव्यापार किञ्चित् भी मत करो; **'जेण होइ थिरो'** जिससे अर्थात् तीन योगों के निरोध से स्थिर होता है। कौन ? **'अप्पा'** आत्मा। कैसा स्थिर होता है ? **'अप्पम्मि रओ'** सहजशुद्ध-ज्ञानदर्शनस्वभावी परमात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप अभेद-रत्नत्रयात्मक परम समाधि से उत्पन्न, सर्व प्रदेशों में आनन्द उत्पन्न करनेवाले सुख के आस्वादरूप परिणतिसहित निजात्मा में रत-परिणत-तल्लीन-तच्चित्ततन्मय होता है। **'इणमेव परं हवे ज्झाणं'** यह जो आत्मा के सुखस्वरूप में तन्मयपना, वही निश्चय से परम अर्थात् उत्कृष्ट ध्यान है।

उस परम ध्यान में स्थित जीवों को जिस वीतराग परमानन्दरूप सुख का प्रतिभास होता है, वही निश्चयमोक्षमार्गस्वरूप है। वह अन्य किस-किस पर्यायवाची नामों से कहा जाता है, वही कहते हैं — वही शुद्धात्मस्वरूप है, वही परमात्मस्वरूप है, वही एकदेश-

प्रगटतारूप विवक्षित-एकदेश-शुद्धनिश्चयनय से स्वशुद्धात्मा के सम्वेदन से उत्पन्न सुखामृतरूपी जल के सरोवर में रागादिमलरहित होने के कारण परमहंसस्वरूप है। इस एकदेश व्यक्तिरूप शुद्धनय के व्याख्यान को परमात्मध्यान-भावना की नाममाला में यथासम्भव सर्वत्र योजन करना।

वही परम ब्रह्मस्वरूप है, वही परम विष्णुस्वरूप है, वही परम शिवस्वरूप है, वही परम बुद्धस्वरूप है, वही परम जिनस्वरूप है, वही परम स्वात्मोपलब्धिलक्षण सिद्धस्वरूप है, वही निरञ्जनस्वरूप है, वही निर्मलस्वरूप है, वही स्वसम्वेदनज्ञान है, वही परम तत्त्वज्ञान है, वही शुद्धात्मदर्शन है, वही परमावस्थास्वरूप है, वही परमात्मा का दर्शन है, वही परमात्मा का ज्ञान है, वही परमावस्थारूप परमात्मा का स्पर्शन है, वही ध्येयभूत-शुद्ध पारिणामिकभावरूप है, वही ध्यानभावनास्वरूप है, वही शुद्धचारित्र है, वही परम पवित्र है, वही अन्तःतत्त्व है, वही परमतत्त्व है, वही शुद्धात्मद्रव्य है, वही परमज्योति है, वही शुद्ध आत्मा की अनुभूति है, वही आत्मा की प्रतीति है, वही आत्मा की संवित्ति है, वही स्वरूप की उपलब्धि है, वही नित्यपदार्थ की प्राप्ति है, वही परमसमाधि है, वही परमानन्द है, वही नित्यानन्द है, वही सहजानन्द है, वही सदानन्द है, वही शुद्धात्म पदार्थ के अध्ययनरूप है, वही परम स्वाध्याय है, वही निश्चय मोक्ष का उपाय है, वही एकाग्रचिन्तानिरोध है, वही परमबोध है, वही शुद्धोपयोग है, वही परमयोग है, वही भूतार्थ है, वही परमार्थ है, वही निश्चय पञ्चाचार है, वही समयसार है, वही अध्यात्मसार है, वही समता आदि निश्चयषड्आवश्यक स्वरूप है, वही अभेदरत्नत्रय स्वरूप है, वही वीतराग सामायिक है, वही परम शरण-उत्तम-मङ्गल है, वही केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण है, वही समस्त कर्मों के क्षय का कारण है, वही निश्चय-चतुर्विध-आराधना है, वही परमात्मा की भावना है, वही शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न सुख की अनुभूति परमकला है, वही दिव्यकला है, वही परम अद्वैत है, वही परम अमृतरूप परम-धर्मध्यान है, वही शुक्लध्यान है, वही रागादि विकल्परहित ध्यान है, वही निष्कल शरीररहित ध्यान है, वही परम वीतरागपना है, वही परम साम्य है, वही परम एकत्व है, वही परम भेदज्ञान है, वही परम समरसीभाव है; इत्यादि, समस्त रागादि विकल्प-उपाधि से रहित परम-आह्लादरूप एक सुख जिसका लक्षण है — ऐसे ध्यानरूप निश्चय-मोक्षमार्ग के वाचक अन्य भी पर्यायवाची नाम परमात्मतत्त्व के ज्ञानियों द्वारा जानने योग्य हैं॥५६॥

गाथा ५६ पर प्रवचन

भाई! शुभ-अशुभरूप मन-वचन-काया की चेष्टा का निषेध करके जो आत्मा में स्थित होता है, वह परम ध्यान है। श्रीमद्राजचन्द्रजी ने भी यह ५६वीं गाथा अनेकबार कही है।

हे ज्ञानीजनो! तुम कोई भी चेष्टा न करो अर्थात् काया के व्यापार को न करो, कुछ भी न बोलो और कोई भी विचार न करो। जिससे तुम्हारा आत्मा, अपने आत्मा में ही स्थित हो जाएगा, क्योंकि आत्मा में तल्लीन होना ही परम ध्यान है।

हे ज्ञानीजनो! ऐसा सम्बोधित करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि उपदेश देनेवाले और सुननेवाले दोनों ज्ञानी हैं।

यहाँ चारित्रदशा की बात है। मुनिराज को यह ख्याल है कि जो रागादि वृत्ति उत्पन्न होती है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। उसे जानना ही कर्तव्य है। उसे जाननेवाले कहते हैं कि तुम कोई भी चेष्टा न करो, कायादि का व्यापार न करो। हे धर्मात्मा! काया की चेष्टा का लक्ष्य छोड़ो, कुछ मत बोलो और कुछ भी विचार न करो। इस प्रकार उत्कृष्ट ध्यान के काल में कैसी दशा होती है — यह यहाँ बताया गया है।

यहाँ कहते हैं कि भाई! यह समझी हुई बात है; अत: व्यर्थ के विकल्प को छोड़ दो। उपदेश की शैली में ऐसा ही कहा जाता है, पर वास्तव में तो आत्मा बोल ही नहीं सकता। यद्यपि शरीर की चेष्टा करना और बन्द करना आत्मा के हाथ की बात नहीं है; फिर भी उपदेश में वाक्य ऐसा ही निकलता है। जब स्वरूप में उत्कृष्ट ध्यान का काल होता है, तब मन-वचन-काय के तरफ की चेष्टा नहीं होती है।

भाई! तेरा आत्मा तेरे आत्मा में स्थिर हो जाए — ऐसा कुछ करो, कल्पना छोड़ दो। यह वाक्य इस बात को बताता है कि आत्मा में तल्लीन होना ही परम ध्यान है। यह बात आत्मा के भान होने के बाद की है।

हे ज्ञानीजनो! भगवान आत्मा, पुण्य-पाप और विकल्प से रहित है। दया-दान, भक्ति विकार है, उससे रहित शुद्धात्मा का अनुभव है, उसे रोकनेवाला शुभ-अशुभ काय का जो व्यापार है, उसे छोड़ो अर्थात् काया की तरफ का विकल्प छोड़ो। शुभ-अशुभ अन्तर्जल्प है, उसे भी छोड़ो, क्योंकि बहिरङ्ग वाणी बोलने का भाव ध्यान में विघ्नरूप

है तथा मन के साथ का व्यापार भी मत करो। ये सभी उपदेश के वाक्य हैं। मन-वचन-काया के व्यापार को नहीं करो अर्थात् शुद्धात्मा की तरफ विशेष झुकाव करने पर मन-वचन-काया के निमित्त से होनेवाले शुभ-अशुभभाव रहेंगे ही नहीं। मन-वचन-काया की क्रिया की बात नहीं है; क्योंकि वह तो जड़ की क्रिया है और उसकी तरफ देखने से जो राग होता है, उसके व्यय होने पर स्वाभाविकदशा स्वयं ही उत्पन्न हो जाती है। व्यय और उत्पाद में समयभेद नहीं है।

कोई निमित्त अथवा संहनन मिल गया, अत: आत्मा आत्मा में स्थिर हो गया है — ऐसा नहीं है, वह तो स्वयं से ही स्थिर होता है। वह तो स्वाभाविक आत्मा के शुद्धज्ञानदर्शन स्वभाव के धारण करनेवाला परमात्मतत्त्व है। उसकी सम्यक्प्रतीति, ज्ञान और आचरणरूप जो अभेदरत्नत्रय है, वह परम ध्यान का स्वरूप है, उससे आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में आनन्द प्रगट होता है। आत्मा एकप्रदेशी नहीं है, इसी प्रकार सर्वव्यापी भी नहीं है; बल्कि असंख्य प्रदेशी है। उनमें से उत्पन्न हुए आनन्द को उत्पन्न करनेवाले सुख के आस्वादरूप परिणतिसहित अर्थात् अतीन्द्रिय निर्विकल्प आनन्द के स्वाद में परिणमित हुआ आत्मा, उसमें तन्मय होकर स्थिर हो जाता है। इस प्रकार आत्मा के सुखरूप परिणमन को निश्चय से परम ध्यान अर्थात् उत्कृष्ट ध्यान कहते हैं।

यह श्री बृहद्द्रव्यसंग्रह की अन्तिम गाथा का साररूप कथन है। आत्मा ज्ञान, आनन्द आदि अनन्त शक्तियों का भण्डार है, उसकी रमणता ध्यान है और वह ध्यान आनन्दरूप है।

भाई! शरीर-मन-वाणी में धर्म नहीं है; उनके कारण अथवा उनकी सहायता से धर्म नहीं होता है। शुभ-अशुभभाव विकार हैं, उनमें भी धर्म नहीं होता है। स्वाभाववान आत्मा सुख से भरा हुआ है। उसकी वर्तमानदशा में राग और अल्पज्ञता होने पर भी स्वभाव में वीतरागता और केवलज्ञान भरा हुआ है। जो अव्यक्त आत्मा है, वह अनन्त गुणों का पिण्ड है, उस अन्तर्मुख स्वभाव का अवलम्बन लेकर प्रगट दशा में आनन्द का अनुभव होना धर्म है; पर यह जीव तो मानता है कि दया-दान आदि से धर्म होगा। इस प्रकार उल्टी श्रद्धा से हाँ पाड़ता है। इसे तो आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान करने से धर्म होगा — ऐसी हाँ पाड़नी चाहिए। आत्मा के समीप रहना ही उपवास है। सामायिक, प्रौषध इत्यादि भी आत्मा के आश्रय से ही होते हैं।

अरे! यह अज्ञानी जीव मोर के अण्डों का तो विश्वास करता है कि अण्डों में से

साढ़े तीन हाथ का कलामय मोर निकलेगा। लेड़ीपीपर में से ६४ पुट की पीपर की ताकत प्रगट होगी। उसकी हाँ पाड़ता है; परन्तु आत्मा में से केवलज्ञान और अनन्त आनन्द प्रगट होगा, उसमें ऐसी ताकत है, उसकी हाँ नहीं पाड़ता है; इसलिए उसे कहते हैं कि उसका विश्वास कर!

अनादिकाल से अज्ञानी जीव राग की अत्यल्प पर्याय के भरोसे चला जा रहा है; परन्तु आत्मा ध्रुवशक्ति का भण्डार है, उसका विश्वास नहीं करता है। लेड़ीपीपर में ६४ पुट की ताकत है। यह ताकत स्कन्ध में निकटरूप से प्रकट होती है। लकड़ी के स्कन्ध की ऐसी योग्यता नहीं है; परन्तु पीपल में रसगुण है; अतः तीखापन बाहर निकलता है — ऐसा भी नहीं है। पीपल के स्कन्ध में रस गुण के कारण तीखापन माना जाए तो क्या अन्य पुद्गलों में रस गुण नहीं है ? सभी में है; परन्तु गीले पीपल की स्कन्ध अवस्था में तीखापन व्यक्त होने की नजदीकता है। जबकि लकड़ी के स्कन्ध में ऐसी योग्यता नहीं है। दीयासलाई की तीली में उष्णता प्रगट होने की योग्यता नजदीकरूप से है। यद्यपि सभी स्कन्धों में स्पर्श गुण है; परन्तु तीली में ही उष्णता प्रगट करने की नजदीकता है, अन्य दूसरों में ऐसी योग्यता नहीं है।

असंख्य प्रदेशी आत्मा ज्ञान-आनन्द-वीर्य इत्यादि गुणों से भरा है। वे ज्ञान और आनन्द कभी भी प्रगट हों — ऐसा आत्मा नहीं है; बल्कि उसमें से जब अन्तमुर्खदशा प्रगट करता है, तब वे तुरन्त ही प्रगट हो जाते हैं। यह सत्य निश्चित कर और उसकी हाँ पाड़कर आत्मशक्ति का विश्वास कर ले तो निर्विकल्प अनुभव होता ही है।

आत्मा में अनन्त काल में नहीं प्रगट हुआ — ऐसा धर्म तथा वीतरागी आनन्द प्रगट करना चाहता है तो यदि वे सब ध्रुवस्वभाव में न हों तो कहाँ से आयेंगे ? सर्वप्रथम तो ध्रुवस्वभाव का भरोसा आना चाहिए, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के प्रति समर्पण और विनय होना चाहिए। आत्मा असंख्य प्रदेशी ज्ञान और आनन्द का घन है। घोड़े जैसे जानवर को भी सम्यग्दर्शन होने पर आनन्द का अनुभव होता है तो फिर मनुष्यपने में न समझ में आये तो यह बात अपने ज्ञान स्वभाव से इन्कार करने जैसी है।

तुझे धर्म करना है तो पहले यह निर्णय कर कि यह अपूर्व है या पूर्व में चली आई बात है। अनन्तकाल चला गया, यदि उसमें एक सैकेण्ड भी धर्म हुआ होता तो मुक्ति

हुए बिना नहीं रहती। लोक माने और मनाये — धर्म ऐसी चीज नहीं है। जैसा आत्मा है, वैसा ही धर्मी ने अनुभव किया है। सर्वज्ञ भगवन्तों ने जो वाणी द्वारा कहा है, वह आत्मा ज्ञान-आनन्द से भरा है। जिस प्रकार पानी शीतलता से भरा है, उसी प्रकार आत्मा ज्ञान और आनन्दरस से भरा है — ऐसे आत्मा को प्रतीति में लेना ही धर्म है।

कोई व्यापारी ५ लाख कमाने की बात करता है तो रस लेकर उसकी बात सुनता है। उसकी व्यवस्था करता हुआ 'मुझे नहीं आता है' — ऐसा नहीं कहता है। अपने कुटुम्ब की पेटी में उतनी रकम न हो तो भी सभी व्यवस्था कर देगा — ऐसा कहता है। दुकानदारी में ममता के कारण 'दुकान की व्यवस्था नहीं आती है' — ऐसा नहीं कहता है; लेकिन आत्मा को जानने में सारी तकलीफें बताता है। स्वयं ज्ञान-आनन्द से भरा है। शरीर-मन-वाणी जड़ हैं। दया-दान विकार या जहर है — ऐसे राग से रहित चिदानन्द आनन्दकन्द आत्मतत्त्व है, उसकी प्रतीति-रमणता ही धर्म अथवा ध्यान है।

भाई! आत्मा शरीर से भिन्न है और वह जड़-रजकण को छूता भी नहीं है। वह अस्पर्शी, रङ्गहीन वस्तु है। शरीर तो स्पर्शवान तत्त्व है और उसका आत्मा में अत्यन्त अभाव है। जड़ को खबर नहीं है कि वह कौन है ? आत्मा ज्ञान करे तो दोनों तत्त्वों की भिन्नता भासित हो। यदि दोनों जुदा न हों तो वे जड़-चेतन पदार्थ एक हो जावें। आत्मा अस्पर्शी, अरसस्वभावी है। अरूपी शरीर के प्रत्येक रजकण आत्मा से भिन्न नहीं हैं। इस प्रकार आत्मा के अन्तरस्वभाव का भरोसा करना धर्म है।

पर्याय में हिंसा, झूठ आदि के भाव पाप हैं और दया-दान आदि के भाव पुण्य हैं। उनसे रहित शुद्ध आत्मा में से अतीन्द्रिय सुख और आनन्द प्रगट होना धर्म कहलाता है और यही उत्कृष्ट ध्यान है।

मेरा स्वरूप शुद्ध चिदानन्द है — ऐसी प्रतीति करके उसमें स्थिर होना धर्म है। शरीर मन-वाणी जड़ हैं। उनमें आत्मा स्थिर नहीं हो सकता है। पुण्य-पाप में स्थिर होना तो अधर्म है। भाई! ऐसे मार्ग को जाने बिना अन्दर में परिणमन नहीं हो सकता है; अतः मेरी महिमा तो ज्ञान और आनन्द से है — ऐसा जानकर, आत्मा में स्थिर होकर रागरहित, मनरहित और व्यवहार के भी विकल्प से रहित जो निर्विकल्प आनन्द प्रतिभासित होता है, वही निश्चयमोक्षमार्ग है। भाई! यह एक ही मोक्ष का पन्थ है अर्थात् सम्यग्दर्शन-

ज्ञान और चारित्ररूप आत्मा की परमानन्द दशा ही सच्चा मोक्षमार्ग है और जो इससे विरुद्ध कहता है, वह आत्मा को नहीं मानता है; उसे सर्वज्ञप्रणीत एवं आचार्यों द्वारा कही गई बात की खबर नहीं है। भाई! सर्वज्ञ तथा निर्ग्रन्थ मुनियों ने यह मार्ग कहा है।

शुद्ध चिदानन्द आत्मा की प्रतीति, ज्ञान और रमणता द्वारा जो आनन्द प्रगट होता है; वह मोक्षरूपी परम आनन्द का कारण है। उसका आंशिकरूप से अनुभव होना भी धर्म है। कदाचित् कोई सच्ची बात सुनने गया, परन्तु अन्तर्दृष्टिपूर्वक स्वयं अपने में धर्म प्रगट नहीं किया तो इसमें निमित्त क्या कर सकता है ? भाई! अनन्तबार समवसरण में भगवान के पास गया, परन्तु सर्वज्ञ ने जो कहा है, उसे नहीं समझा; अतः उसे भगवान मिलने पर भी नहीं मिले।

यहाँ मुख्यरूप से मुनिपने की बात है; तथापि चौथे गुणस्थान में भी अतीन्द्रिय आनन्द का आंशिकरूप से अनुभव होता ही है तथा इसके अलावा अन्य बातें पर्याय की अपेक्षा से कही जाती हैं। आत्मा शुद्ध चिदानन्द है और विकार से निर्लिप्त है — ऐसे स्वभाव की प्रतीति, ज्ञान और रमणता को धर्म कहते हैं। यही शुद्ध आत्मा का स्वरूप है तथा जो दया-दान आदि की वृत्ति उठती है, वह विकार है; आत्मा का मूल स्वरूप नहीं है। अखण्ड आत्मा की पर्याय में जो ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप मोक्षमार्ग होता है, वह पर्यायदृष्टि से मोक्षमार्ग का स्वरूप है; क्योंकि उस ज्ञान और आनन्द द्वारा परमात्मा बनते हैं।

अब विवक्षित एकदेश शुद्ध निश्चय नय से मोक्षमार्गरूप पर्याय की बात कहते हैं। वह पर्याय ध्रुव अन्तरस्वभाव के ज्ञान से प्रगट होनेवाली सुखमय दशा है। वह अमृत के जल से भरा हुआ सरोवर है तथा दया-दानादि के राग से रहित साधक को जो धर्म प्रगट हुआ, वह परमहंस स्वरूप है। लोग लाल कपड़ा रखनेवाले जिन परमहंस नामक साधुओं की बात करते हैं, यहाँ उनकी बात नहीं है। जिस प्रकार हंस पानी और दूध को भिन्न-भिन्न कर देता है; उसी प्रकार भगवान आत्मा की प्रतीति से जो परम हंसरूप आनन्द प्रगट हुआ, उसे खबर है कि मैं स्वभाव में से प्रगट हुआ हूँ और जो रागादि विकल्प उठते हैं, वे मलिन हैं तथा पर में अटकने से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार भेद करनेवाली आनन्दमय दशा को परमहंस कहते हैं।

पूर्व में राग-द्वेष थे, उनमें पर-पदार्थ निमित्त था। यद्यपि यह क्षणिक निमित्त है; तथापि इसका स्वभाव में त्रिकाल अभाव है। ऐसा स्वीकार करके स्वभाव की लीनता करे तो उस लीनता से प्रगट होनेवाली दशा को परमहंस कहते हैं। जिसे राग और आनन्द दशा के बीच में विवेक वर्तता है, उसे परमहंस कहते हैं। भाई! यह साधक की बात चलती है — ऐसा साधन करने पर केवलज्ञानी होता है।

मोक्षमार्ग कहो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहो, प्रत्याख्यान कहो सभी एक ही है। परमात्मध्यान के नामों की माला में एकदेशव्यक्तिरूप शुद्धनय से यथासम्भव व्याख्यान जान लेना। यहाँ वीतरागी पर्याय के ६४ नाम कहे हैं, वे एकदेश शुद्ध निश्चयनय से समझना। यद्यपि अरहन्त दशा प्रगट नहीं हुई है; परन्तु उसे साधक जीव प्रगट करना चाहता है — ऐसे साधक की यह बात चलती है।

अब, यह कहते हैं कि ध्यान की पर्याय परमब्रह्मस्वरूप एवं परम विष्णुस्वरूप है।

आत्मा चिदानन्द ध्रुव है, उसके आश्रय से जो आनन्द की दशा प्रगट हुई, वह **परमब्रह्मस्वरूप** है। भाई! प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक परमाणु भिन्न-भिन्न है — ऐसा भान करके जो साधकदशा प्रगट होती है, उसे परमब्रह्म कहते हैं। सम्पूर्ण लोक को एक ब्रह्ममय मानना गलत है। देखो! यहाँ शक्ति की बात नहीं है, परन्तु जिसे शक्ति का भान हुआ है — ऐसे साधक जीव की बात है। जिन्हें आत्मा की प्रतीति-ज्ञान और रमणतारूपदशा प्रगट हुई है — ऐसे मुनि की निर्ग्रन्थदशा को परमब्रह्म कहते हैं। वे मुनिराज हजारों बार छठवें-सातवें गुणस्थान की भूमिका में जाते हैं, उन्हें विशेष आनन्द प्रगट हो गया है। ऐसे मुनिराज की पर्याय को, उनके आत्मध्यान को परमब्रह्म कहा जाता है।

वह दशा **परम विष्णुरूप** है। लोग जगत के कर्ता को विष्णु कहते हैं; पर यह बात गलत है। यदि किसी को कर्ता माना जाए तो वस्तु की नित्यता खण्डित हो जाती है। भाई! अनन्त आत्माएँ और प्रत्येक परमाणु भिन्न हैं — ऐसा भान करके "मैं अनन्त गुणों में व्याप्त रहता हूँ और मेरी ज्ञानदशा बढ़कर लोकालोक को जान लेगी, परन्तु लोकालोक में व्याप्त नहीं होगी, वह तो ज्ञान में ही व्याप्त रहेगी' — इस प्रकार ज्ञानी जीव को आत्मा की स्वच्छत्वशक्ति एवं विभुत्वशक्ति की प्रतीति हो गई है। उसे सम्पूर्ण ख्याल में आ गया है। संसार क्या था और मोक्षमार्ग कैसा होता है ? उसे सबकुछ ख्याल में आ जाता

है; अत: उसकी मोक्षमार्गरूप दशा को परमविष्णुरूप कहते हैं। जड़, जड़ में व्याप्त होता है और चैतन्य, चैतन्य में व्याप्त होता है। इस प्रकार निर्णय करके जो आनन्द दशा प्रगट हुई है, वह परमविष्णु है।

वह **परम शिवस्वरूप** है। आत्मा कल्याणमूर्ति है, प्रभु है, उस निधि का भान होकर जो आनन्द दशा प्रगटी, वह शिवस्वरूप है, उसमें विघ्न नहीं है। वह आत्मा की कल्याणरूप दशा है। त्रिकालीध्रुव का ज्ञान करके जो वीतरागी शान्ति और आनन्ददशा प्रगट हुई, उसे परमशिवस्वरूप कहते हैं।

सर्वज्ञ के ज्ञान में जो पदार्थ ज्ञात हुए और वाणी द्वारा कहे गये, वे पदार्थ छह द्रव्य हैं। अनन्त आत्मा, अनन्तानन्त पुद्गल और एक-एक धर्म, अधर्म, आकाश तथा असंख्यात कालाणु हैं। उनमें जो एक साधक आत्मा है, यहाँ उसकी बात चलती है। साधकदशा को धर्म कहो, संवर-निर्जरा कहो सभी एक चीज है। लोगों को यह बात सुनने नहीं मिली है। आत्मा ध्रुवस्वभावी है, उसका भान होकर आनन्द का अनुभव होना धर्म है। इसकी लोगों को खबर नहीं है, वे तो अज्ञान से मानी हुई क्रिया को धर्म कहते हैं।

लोग अनादिकाल से ही अज्ञानपूर्वक की गई क्रिया को धर्म कहते हैं; अत: सच्ची बात पात्रता लाकर विनयपूर्वक सुनना चाहिए। श्रीभगवती आराधना में यह बात आती है कि जब आचार्य अथवा गुरु समाधिमरण की तैयारी करते हैं, तब मुनिसंघ को कहते हैं कि हे भाई! मेरी स्थिति पूरी होनेवाली है और अब में समाधिमरण आरम्भ करता हूँ; अत: आचार्यपद योग्य जीव को सौंपता हूँ। हमसे कोई भूल-चूक हो तो क्षमा चाहता हूँ।

ऐसे आचार्य गुरु के शब्दों को सुनकर मुनि तथा श्रावकों के संघ की आँखों में से आँसू आने लगते हैं और वे कहने लगते हैं कि हे प्रभु! हमारा अपराध हुआ हो तो आप हम सभी को क्षमा करना। हे भगवान! आप करुणावान हैं, जो आपने हमें यह अपूर्व उपदेश दिया है, हमने अज्ञानी, प्रमादी और रागी होकर आपका उपदेश ग्रहण नहीं किया है। यह हमारा बहुत बड़ा दोष है; अत: आप हमें क्षमा करना, हमारा उद्धार आपकी कृपादृष्टि से ही होगा। दूसरा कोई हमें शरण नहीं है। हे भगवान! हम तो असंज्ञी जैसे थे, हित, अहित, मार्ग, अमार्ग, धर्म, अधर्म कुछ नहीं जानते थे; पर आपके चरणारविन्द का आश्रय करके हमने अपना हित-अहित जान लिया है। मार्ग-अमार्ग,

धर्म-अधर्म को पहिचान लिया है; अतः वास्तव में तो आपने ही हमें संज्ञी (मनवाला) बनाया है।

देखो! मुनियों की संघ की विनय! वे भावलिङ्गी मुनि हैं। उन्हें आत्मा का भान है तथा वे यह भी जानते हैं कि कोई किसी को ज्ञान नहीं दे सकता है, स्वयं से ही ज्ञान होता है; फिर भी विनय का शुभराग उठा है तो विनयपूर्वक श्रीगुरु से कहते हैं कि हे प्रभु! हमने हित-अहित की बात सुनी नहीं थी; अतः हम तो बहरे जैसे थे। आपके प्रसाद से हित-अहित सुनकर जान लिया है; अतः आपने हमें कान दिये हैं। हे भगवान! अनादि से स्व-पर के स्वरूप को हमने नहीं देखा था; अतः हम अन्धसमान थे; पर अब आपके चरणारविन्द के प्रताप से सभी पदार्थों का स्वरूप जान लिया है; अतः आपने ही हमें ज्ञाननेत्र दिये हैं। हे भगवान! जिस प्रकार वन में मार्ग को भूला हुआ कोई जीव रखड़ता है; उसी प्रकार हमारा जो हित निर्वाण है, उसके मार्ग को भूलकर अनन्तानन्त काल तक सच्चे मार्ग से भ्रष्ट होकर हम परिभ्रमण कर रहे थे; पर आपने हमें निर्वाण के मार्ग में इस प्रकार लगा दिया है कि आनन्द से मोक्ष में पहुँच जाएंगे। ऐसा सर्वोत्कृष्ट उपकार आपने हम पर किया है।

हमने यह बात सुनी नहीं थी, धारण नहीं की थी। नित्यानन्द शुद्ध स्वभाव की रुचि छोड़कर पुण्य-पाप में अटकते थे, यह हमारा अहित था; पर आपने सच्चा रास्ता बताया। हमारा अपार हित कर दिया है। आपने हम पर अनन्त उपकार किया है।

'हे प्रभु! आपके वियोग से हमारा देश ज्ञानी के विरहवाला हो जाएगा। हमारा अपराध क्षमा करना। आपके वियोग के कारण हमारी दशों दिशाएँ शून्य होकर अन्धकारमय हो जाएंगी। हमारा सूर्य अस्त हो जाएगा, हमारा सारा ही देश अन्धकाररूप हो जाएगा।' — इस प्रकार आचार्यश्री के पास में क्षमा माँगते हुए चारों संघों की आँखों से आँसू बहते हैं। निर्ग्रन्थ मुनियों को आचार्य का विरह पड़ रहा है, उन्हें आत्मा का भान है। अपने ज्ञान और आनन्द अपने में से प्रगट होते हैं; फिर भी शुभराग की भूमिका में विनय का भाव आये बिना रहता नहीं है। हे प्रभु! आपके चरणारविन्द से हमें आत्मा का भान हुआ है। आपके वियोग से दशों दिशाएँ शून्य हो जाएँगी; फिर भी हमें ख्याल है कि जो यह विकल्प उठता है, वह शुभराग है, बन्धन है; तथापि यह विकल्प आये बिना रहता नहीं है।

अहो! कुन्दकुन्दाचार्य भगवान धर्म के स्तम्भ हैं। उन्होंने धर्म को टिकाये रखा है, गणधर जैसा अलौकिक कार्य किया है। आत्मा रागरहित शुद्ध है, इस प्रकार ज्ञानी को खबर होने पर भी सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के प्रति विनय का विकल्प अपने कारण से आये बिना रहता नहीं है। आत्मा के भानवाले सन्तों को भी ऐसा विकल्प आता है। निमित्त से, राग से अथवा विकल्प से धर्मपर्याय प्रगट नहीं होती है, मुनियों को ऐसा भान है; फिर भी उन्हें ऐसी विनय का भाव आये बिना रहता नहीं है। देखो! मुनिराज आत्मज्ञानी हैं, फिर भी उन्हें आचार्य के प्रति कितनी विनय होती है — ऐसी पात्रता तो अवश्य होना चाहिए। देव-गुरु-शास्त्र के प्रति समर्पण की विनय अवश्य होना चाहिए।

यहाँ निश्चयमोक्षमार्ग के स्वरूप की बात चलती है। आत्मा ज्ञानानन्द स्वरूप है, उसकी वीतरागीदशा को मोक्षमार्ग कहते हैं। यहाँ उस मोक्षमार्ग की पर्याय का अनेक प्रकार से कथन करते हैं। आत्मा को मन-वाणी-देह से भिन्न जानकर, मैं अखण्ड चैतन्यमूर्ति आत्मा हूँ — ऐसी निर्विकल्प प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहते हैं। शास्त्रोन्मुखी रागरहित, आत्मा के आधार से प्रगट होनेवाले ज्ञान को स्वसम्वेदन ज्ञान कहते हैं और पुण्य-पापरहित स्थिरता को चारित्र कहते हैं। इन तीनों की एकता को मोक्षमार्ग कहते हैं। अब निश्चय मोक्षमार्ग के पर्यायवाचक नामों की बात करते हैं।

(१) वही परमब्रह्मस्वरूप है — आत्मा की मोक्षमार्गरूप दशा को परमब्रह्मस्वरूप कहते हैं। विशेष आनन्द का वेदन होना, अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन होना ही परमब्रह्मस्वरूप है। यहाँ मोक्ष अथवा पूर्ण शुद्धता अथवा सर्वज्ञदशा के कारणरूप मोक्षमार्ग की व्याख्या चलती है। शुद्ध चैतन्य को कहनेवाले सच्चे देव-शास्त्र-गुरु ऐसा कहते हैं कि तेरा ब्रह्म-स्वरूप तेरी निर्मलदशा में है, हममें नहीं है; तथापि जब साधक को शुभराग होता है, तब सच्चे देवादि के प्रति ही विकल्प होता है, परन्तु खोटे देवादि के विकल्प नहीं होते हैं। स्वभाव सन्मुखदशा होने पर जो वीतरागीदशा प्रगट होती है, वह परमब्रह्मस्वरूप है। इससे विरुद्ध जो कहते हैं, वे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु नहीं हैं।

(२) वही परमविष्णुस्वरूप है — यहाँ त्रिकाली स्वभाव की बात नहीं है; अपितु पर्याय की बात है। त्रिकाली आनन्दस्वभाव के आश्रय से प्रगट होनेवाली पर्याय को परमविष्णुरूप कहते हैं। जो अपने आनन्द की पर्याय में व्याप्त हुआ है, वह विष्णु है। यह मोक्षमार्ग का विशेष नाम है।

(३) वही परमशिवस्वरूप है — जो आत्मा की अनुभूति होकर वीतरागीदशा प्रगट हुई है, वह मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र से रहित है। वह कल्याणस्वरूप अथवा शिवस्वरूप है। देव-गुरु-शास्त्र ऐसा कहते हैं कि तेरी आत्मा के आश्रय से निर्मलता प्रगट होती है और वह निर्मलता की पर्याय ब्रह्मा-विष्णु और शिवस्वरूप है। अन्तरधाम के अवलम्बन से जो दशा प्रगट हुई है, वह शिवरूप है। इससे भिन्न कोई कहता हो तो निश्चय से तो वह मान्य है ही नहीं, परन्तु धर्मी के शुभव्यवहार में भी उसे नहीं गिना है।

(४) वही परमबुद्धस्वरूप है — जो गौतमबुद्ध हुए हैं, उनकी यहाँ बात नहीं है; परन्तु आत्मा के अभेद स्वभाव के अवलम्बन से जो दशा प्रगट हुई है, वह परमबुद्धस्वरूप है। कोई ऐसा कहता है कि हमारे आश्रय से कल्याण होगा तो वह सच्चा नहीं है। सर्वज्ञदेव, निर्ग्रन्थगुरु और वस्तु के अनेकान्त स्वभाव को कहनेवाले शास्त्र कहते हैं कि तेरे आश्रय से ही तुझे धर्म होगा और ऐसे ही देव-शास्त्र-गुरु मान्य हैं। यहाँ कहते हैं कि शुद्धात्मा के आश्रय से प्रगट हुई निर्विकल्पदशा परमबुद्धस्वरूप है। धर्मी सदा ऐसा ही मानते हैं।

(५) वही परमजिनस्वरूप है - दूसरों ने मोक्षमार्ग का जैसा कल्पित स्वरूप बताया है, वैसा नहीं है। इस प्रकार चार बोलों में कहकर अब उसे परमजिन स्वरूप कहते हैं; क्योंकि वीतरागी पर्याय अपने स्वभाव में अभेद हो गई है; अतः उसे परमजिन स्वरूप कहा है। जो देव-गुरु-शास्त्र व्यवहाररत्नत्रय को जिनस्वरूप बताते हैं, उससे लाभ होता है — ऐसा कहते हैं, वे सच्चे नहीं हैं। तेरा आतमा अखण्ड प्रतापवन्त है — ऐसे नित्यानन्द आत्मस्वरूप के अवलम्बन से जो दशा प्रगट हुई है, वह तेरा निजस्वरूप है। दया, दान, व्रत अथवा सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की मान्यतारूप शुभभाव, वह निजस्वरूप नहीं है — जो ऐसा बताते हैं, वे ही सच्चे निमित्त हैं और जो वीतरागी दशा प्रगट हुई, वही सच्चा निजस्वरूप है। ध्रुव के अवलम्बन से प्रगट हुई उत्पादरूप पर्याय निजस्वरूप है। शरीर-मन-वाणी अथवा पुण्य-पाप से लाभ नहीं है, व्यवहाररत्नत्रय निजस्वरूप नहीं है; अतः उससे भी लाभ नहीं है। मोक्षमार्ग दशा अथवा वीतराग पर्याय को ही निजस्वरूप कहते हैं।

(६) वही परम निज आत्मा की प्राप्तिरूप लक्षण का धारक सिद्धरूप है — अपने शुद्ध परमात्मा के आश्रय से परिणमती हुई पर्याय ही सिद्ध है। देखो! यहाँ पर्याय

को ही सिद्ध कह दिया है। मुख्यरूप से मुनिपने की बात है, उन्हें आत्मा की प्रतीति वर्तती है, बाह्य नग्नदशा होती है, उन्हें ही मोक्षमार्ग प्रगट होता है। यद्यपि उनके २८ मूलगुण होते हैं, परन्तु वे मूलगुण सिद्धस्वरूप नहीं हैं; परन्तु अन्तर में नित्यद्रव्य के अवलम्बन से जो दशा प्रगट हुई है, वही सिद्धस्वरूप है। सन्त महाराज छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हैं। यहाँ आचार्य, उपाध्याय और मुनियों की बात है। यह मोक्षमार्ग निमित्त, पुण्य अथवा व्यवहार के अवलम्बन से प्रगट नहीं होता है; परन्तु जिसमें ज्ञान सत्, चारित्र सत् और आनन्द सत् है — ऐसे गुणों के भण्डार आत्मा के अवलम्बन से प्रगट होता है।

(७) वही निरञ्जनरूप है — वही मोक्षमार्ग निरञ्जनरूप है। मुनिराज को भी सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति शुभविकल्प आता है, वह भी मैल है। ध्रुव के अवलम्बन से जो निर्मल पर्याय प्रगट हुई, वह निरञ्जनरूप है। एक ही पर्याय के यह विशेष नाम हैं। त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञदेव ने तीन काल, तीन लोक देखे हैं। उनमें अनन्त गुणों का भण्डार एक-एक आत्मा देखा है। ऐसे आत्मा के आश्रय से जो पर्याय प्रगट हुई, वह निरञ्जनरूप है। वह मोक्ष का उपाय है। निमित्त अथवा व्यवहार, मोक्ष का उपाय नहीं है। सर्वप्रथम व्यवहार होता है — ऐसा कहनेवाला निमित्त को, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को और मोक्षमार्ग को भी नहीं समझता है।

(८) वही निर्मल स्वरूप का धारक है — सच्चा मोक्षमार्ग पुण्य-पाप रहित है। निर्मल स्वरूप का धारक है, उसमें चित्त का सङ्ग नहीं है। जितने अंश में चित्त का सङ्ग छूटा और आत्मा का सङ्ग हुआ, उतने अंश में सच्चा मोक्षमार्ग है। असङ्गी प्रभु चिदानन्द आत्मा कि जिसे रजकण का भी लेप नहीं हैं, उसे यद्यपि पर्याय में राग है तो भी उसका अवलम्बन छूटकर निर्मलदशा होती है। ऐसे स्वभाव के अवलम्बन से जो पर्याय प्रगट हुई, वह निर्मल स्वरूप की धारक है। यद्यपि व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प आता है; तथापि वह आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है, मोक्षमार्ग नहीं है।

देखो! कैसा ढिंढोरा पीटा है सन्तों ने। शुभराग में उनका बहुमान आये बिना रहता नहीं है। फिर भी वे तो कहते हैं कि तेरी सत्ता अभेदरूप-सदृशरूप वस्तु पड़ी है, उसके आधार से जो कर्मरहित दशा प्रगट हुई, उसे मोक्षमार्ग कहना चाहिए। अज्ञानी कहते हैं कि हमें कर्म रास्ता दें तो मोक्षमार्ग हो, परन्तु यह बात सरासर गलत है।

(९) वही स्वसम्वेदनज्ञान है — भाई! दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनों इसमें आ जाते हैं। अखण्ड आत्मा के आश्रय से प्रगट होनेवाले समकित को, ज्ञान को और रागरहित स्थिरता को स्वसम्वेदन कहते हैं। देखो! दर्शन, ज्ञान और चारित्र के वेदन को ज्ञान में समाहित कर लिया है। सच्चे शास्त्र की भक्ति का शुभराग, स्वसम्वेदन ज्ञान नहीं है; फिर भी ज्ञानी को ऐसा राग आये बिना रहता नहीं है।

जिन गुरुओं ने कहा है कि तेरे आत्मा के अवलम्बन से मोक्षमार्ग प्रगट होगा, वे गुरु सच्चे हैं; परन्तु जो ऐसा कहते हैं कि हमारे आश्रय से मोक्षमार्ग प्रगट होगा तो वे गुरु सच्चे नहीं हैं। वीतरागी आनन्द के वेदन में तीनों समा जाते हैं। भाई! इसे मोक्षमार्ग कहो या एकदेश शुद्धनिश्चयनय का विषय कहो, एक ही है।

सच्चे देव-गुरु के प्रति व्यवहार तो होता है न ? भाई! व्यवहार भले हो, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति बहुमान-विनय भले आये; परन्तु वह शुभराग भी बन्ध का कारण है।

श्रीधवल के टीकाकार वीरसेनस्वामी लिखते हैं कि 'हमें शास्त्र में दो बातें मिली हैं, वे ये हैं कि — आठवें गुणस्थान में अमुक प्रकृति होती है तथा दूसरे मुनिराज कहते हैं कि अमुक प्रकृति होती है। यद्यपि प्रयोजनरहित बोल में अन्तर पड़ गया है; फिर भी यह गलत है — ऐसा कहने में हमारी जीभ नहीं चलती है। दिव्यध्वनि के अनुसार परम्परा से जो कहा गया है, उससे एक अक्षर फेरना, एक पद फेरना अथवा एक वाक्य फेरना — यह हमारा कार्य नहीं है।' देखो! मुनिराज कितने भवभीरू हैं! फिर भी जो विकल्प आता है, वह व्यवहार विनय है और बन्ध का कारण है।

जिन्हें देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप में भूल नहीं है, आत्मा के स्वरूप में भूल नहीं है, परन्तु अप्रयोजनभूत बात में कुछ अन्तर पड़ा तो वीरसेनस्वामी कहते हैं कि परमागम के हुकम बिना मैं फेरफार नहीं करूँगा। अहो! ऐसा शुभराग आता है तो भी वह मोक्षमार्ग नहीं है; परन्तु अन्तर के आश्रय से मोक्षमार्ग प्रगट होता है। पर्याय में से पर्याय प्रगट नहीं होती है; परन्तु द्रव्य के अवलम्बन से निर्मलता प्रगट होती है।

(१०) वही परम तत्त्वज्ञान है — यह मोक्षमार्ग की पर्याय की बात है। अध्यात्म ग्रन्थों में परमात्मस्वरूप, परिणामिकभाव, ध्रुवस्वभाव अन्तरङ्ग तत्त्व कहा गया है; परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि अन्तरङ्ग तत्त्व के अवलम्बन से प्रगट होनेवाली दशा को परम

तत्त्वज्ञान कहना चाहिए। अनेक शास्त्रों के पढ़ने को परम तत्त्व नहीं कहते हैं; बल्कि चिदानन्द भगवान के अवलम्बन से जो पर्याय प्रगट हुई, उसी सत्य स्वरूप को परम तत्त्वज्ञान कहना चाहिए। कुशास्त्र का कहा गया तो व्यवहार से भी तत्त्वज्ञान नहीं है।

(११) वही शुद्धात्मा का दर्शन है — उसे ही ज्ञायकप्रभु की श्रद्धा-ज्ञान, रमणता और शुद्धात्मा का दर्शन कहते हैं। यहाँ तीनों को ही दर्शन में समाहित कर लिया है। कार्मण, तैजस, औदारिक शरीररहित और पुण्य-पापरहित ध्रुवस्वरूप के आश्रय से जो दशा प्रगट हुई, वह शुद्धात्मा का दर्शन है।

कोई कहता है कि मैंने आत्मा की एक झलक देखी जो बहुत पीली दिखाई दी; अतः वही दर्शन है, पर भाई! वह दर्शन नहीं है। वास्तव में तो संवर-निर्जरा पर्याय को शुद्धात्मा का दर्शन कहते हैं।

(१२) वही परम अवस्थास्वरूप है — लोग कहते हैं कि हालात बदल गये हैं, समय बदल गया है, पर उससे क्या हुआ ? आत्मा के अवलम्बन से जो दशा प्रगट हुई, वह उत्कृष्ट अवस्थास्वरूप है और वह नहीं बदलती है। यह सिद्धदशा की बात नहीं है; क्योंकि सिद्धदशा तो इसका फल है। शुभराग से सिद्धदशा हो जाए, यह बात ही गलत है। अरे! जिस भाव से तीर्थंकर नामकर्म बँधता है, वह भी राग है, विकार है, जहर है; वह उत्कृष्ट अवस्था नहीं है। निर्मल पर्याय को परम अवस्था कहा है, साधकजीव को किञ्चित् बाधकपना होता है, परन्तु वह परम अवस्था नहीं है।

(१३) वही परमात्मा का दर्शन है — पुण्य-पाप, आस्रव-बन्ध आत्मा की पर्याय है, परन्तु संवर-निर्जरा परमात्मा का दर्शन है। यह एक ही वर (भगवान आत्मा) के गीत गाये जा रहे हैं। छह द्रव्य और नव तत्त्वों की रागरहित प्रतीति हुई, उसे किसी भी नाम से कहो, कहा जा सकता है। निश्चय मोक्षमार्गी सन्तों की दशा, वह परमात्मा का दर्शन है। उस दशा में परमात्मा से भेंट हुई, परमात्मा के दर्शन हुए - ऐसा कहा जा सकता है।

(१४) वही परम तत्त्वज्ञान है — जो शुद्धात्मा का दर्शन है, वही परमतत्त्व का ज्ञान है। पहले स्वसंवेदन ज्ञान के साथ परम तत्त्वज्ञान लिया था, यहाँ परमात्मा के दर्शन के साथ परम तत्त्वज्ञान कहा है।

(१५) वही शुद्धात्म ज्ञान है — मोक्षमार्गरूप दशा को, परमात्मा ज्ञान कहते हैं।

(१६) वही ध्यान करने योग्य जो शुद्ध पारिणामिकभाव है, उस रूप है — ध्यान करने योग्य तो परमभाव/पारिणामिक भाव है, परन्तु जिस पर्याय में राग, मन और निमित्त की अपेक्षा छूटकर मोक्षमार्ग प्रगट हुआ है, उसे परम पारिणाममिक भाव कहते हैं, जिस पर्याय ने परम पारिणामिक का स्वीकार किया है, वैसी प्रतीति, ज्ञान और रमणता को-तीनों को परम पारिणामिकभाव कहते हैं। दया, दान का विकल्प, परम पारिणामिकभाव का रूप नहीं है, वह तो कुरूप है। एकरूप वस्तु की निर्विकल्पदशा प्रगट हुई, वह पारिणामिक का रूप है। यहाँ पर्याय को अभेद करके वर्णन किया है। चिदानन्द ने पुण्य-पाप के विकल्परहित होकर निर्मलदशा प्रगट की है, वह ध्रुव का रूप है।

(१७) वही ध्यान भावनास्वरूप है — आत्मा की पर्याय में वीतरागी ज्ञान-दर्शन-चारित्र प्रगट होना, वह धर्मध्यान है। लोग तो बाह्य में नमस्कार मन्त्र पढ़ने में अथवा क्रियाकाण्ड में धर्मध्यान मानते हैं। वस्तुतः वह धर्मध्यान नहीं है। जिसे धर्मध्यान का स्वरूप दर्शानेवाले देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप का पता पता नहीं है, उसे धर्मध्यान नहीं हो सकता। जिसने शुद्धात्मा की प्रतीतिपूर्वक उसमें स्थिरता की है, उसे धर्मध्यान कहते हैं। बीच में शुभभाव आता है, परन्तु वह धर्मध्यान नहीं है। परावलम्बन का परित्याग करके आत्मा के अवलम्बन से धर्म प्रगट होता है, वही ध्यान है। भाई! सर्वप्रथम यह हाँ तो कर कि यही सत्य बात है!

(१८) वही शुद्धचारित्र है — उस निश्चयमोक्षमार्ग को चारित्र कहते हैं। चारित्र हो, वहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान होते ही हैं। मोक्षमार्ग तीन नहीं हैं। शुद्धात्मा की प्रतीति, ज्ञान और रमणता को शुद्धचारित्र कहते हैं। मुनि को पञ्च महाव्रतादि अट्ठाईस मूलगुणों के पालन की वृत्ति उत्पन्न होती है, वह वास्तव में चारित्र नहीं है। यदि निश्चयचारित्र प्रगट हुआ हो तो उसे व्यवहारचारित्र कहते हैं।

यह सब नाम सम्यक् मोक्षमार्ग को ही लागू पड़ते हैं। जिसे वस्त्र है, उसे चारित्र/मुनिपना नहीं है। वस्त्र का छूट जाना भी चारित्र नहीं है और जो शुभराग हुआ है, वह भी चारित्र नहीं है। शुद्धात्मा की प्रतीति, ज्ञान और रमणता को चारित्र कहते हैं।

(१९) वही अन्तरङ्ग तत्त्व है — नियमसार में परम अन्तरङ्गतत्त्व कहा है, वह त्रिकाल है। यहाँ आत्मा के आश्रय से प्रगट हुई पर्याय को अन्तरङ्गतत्त्व कहते हैं। नियमसार में तो एकरूप ध्रुव स्वभाव को अन्तरङ्गतत्त्व/अन्त:तत्त्व कहा गया है तथा संवर, निर्जरा और मोक्षतत्त्व को बहिर्तत्त्व/बहिरङ्गतत्त्व कहा गया है। यहाँ मोक्षमार्ग की पर्याय को अन्तरङ्गतत्त्व कहा गया है और पुण्य-पाप, आस्रव-बन्ध तत्त्व को तथा महाव्रतादि के विकल्प को बहिरङ्गतत्त्व कहा गया है। नियमसार में द्रव्यदृष्टि के जोर से एक समय की पर्याय क्षणिक होने से, उन पुण्य-पापादि सातों का ही वस्तुस्वभाव में प्रवेश नहीं होने से, उन्हें बहिरङ्गतत्त्व और परमपारिणामिकभाव को अन्तरङ्गतत्त्व कहा गया है।

यहाँ शुद्धात्मा के आश्रय से निर्विकल्प श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट हुए, उन्हें अन्तरङ्ग तत्त्व कहा है। देव-शास्त्र-गुरु तो बहिरङ्गतत्त्व हैं ही, परन्तु यहाँ तो उनके प्रति होने वाले शुभराग को भी बहिरङ्गतत्त्व कहा है। निर्मल पर्याय में राग का अंश नहीं होने से, उसे मोक्षमार्ग और अन्तरङ्ग तत्त्व कहा है।

यहाँ कहे गये सभी नाम निश्चय मोक्षमार्ग की पर्याय के नाम हैं। आत्मा ध्रुवस्वभावी है, उसकी प्रतीति करके होनेवाले वीतरागीभाव में, परमानन्द का प्रतिभास होना, मोक्षमार्ग है। पुण्य-पाप का भास होना दु:ख का भाव है। चैतन्यमूर्ति आत्मा देह, मान, वाणी से भिन्न और विकार से भी रहित है। उस ध्रुवस्वभाव की शक्ति में से आनन्द उल्लसित होना, वह निश्चयमोक्षमार्ग है। यहाँ उसके पर्यायवाची नामों का वर्णन किया जा रहा है।

(२०) वही परमतत्त्व है — पुण्य, अजीव आदि परमतत्त्व नहीं हैं। आत्मा, एक समय की प्रगट अवस्था जितना नहीं है। उस पूर्ण शक्तिवान की प्रतीति और अनुभव, वह उत्कृष्ट तत्त्व है। व्यवहाररत्नत्रय उत्कृष्ट तत्त्व नहीं है। अन्तर्मुख झुकाववाली वीतरागीदशा/आनन्ददशा को उत्कृष्ट तत्त्व कहते हैं। वही सच्चा मोक्षमार्ग है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की प्रतीति, उनका व्यवहार ज्ञान और व्रत का भाव, परम तत्त्व नहीं है।

यहाँ आत्मा की मोक्षमार्गरूप व्यक्तदशा को परमतत्त्व कहा है। तत्त्व अर्थात जो त्रिकाली परमभाव है, उसकी बात यहाँ नहीं है। सम्पूर्ण तत्त्व, एक समय की अवस्था में नहीं आता। यदि सम्पूर्ण तत्त्व, एक समय की अवस्था में आ जाए तो उसका नाश

ही हो जाएगा। सम्पूर्ण तत्त्व द्रव्यस्वरूप है, उसके अवलम्बन से प्रगट होनेवाली दशा को परम तत्त्व कहते हैं। वह दशा, चिदानन्द को अनुकूल दशा है। आत्मा को अनुकूल वह परमानन्द दशा ही परम तत्त्व है।

(२१) वही शुद्ध आत्मद्रव्य है — आत्मा पर-पदार्थ से अभावरूप/नास्तिरूप है। ऐसे आत्मा के आश्रय से प्रगट हुई सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रदशा, वह शुद्ध आत्मद्रव्य है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा के परिणाम परद्रव्य है। आत्मा में देह-मन-वाणी तो परद्रव्य हैं ही; पापपरिणाम भी परद्रव्य है; दया, दान, भक्ति तथा व्यवहार श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के परिणाम भी अशुद्ध आत्मद्रव्य हैं, इस कारण उन्हें भी पर गिना गया है। केवलज्ञान का कन्द भगवान आत्मा के आश्रय से प्रगट हुई पर्याय को शुद्ध आत्मद्रव्य कहा गया है। वह पर्याय होने पर भी शुद्ध आत्मा के अवलम्बन से प्रगट हुई होने के कारण, उसके साथ अभेद हुई है; इसलिए उस पर्याय को शुद्ध आत्मद्रव्य कहा है।

यहाँ देव-शास्त्र-गुरु को शुद्ध आत्मद्रव्य नहीं कहा है; क्योंकि वे तो पर हैं। उनकी मान्यता/श्रद्धा, ज्ञान और व्यवहार आज्ञा का वर्तन भी शुद्ध आत्मद्रव्य नहीं है, वह अशुद्ध द्रव्य है; परन्तु वस्तुस्वभाव के अवलम्बन से प्रवाहित होनेवाली अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभवरूप पर्याय को शुद्ध आत्मद्रव्य कहते हैं। धर्म कहो या मोक्षमार्ग कहो - वह मोक्ष के कारणरूप/मोक्षमार्गरूप पर्याय है, शुद्ध आत्मद्रव्य है। यद्यपि धर्म पर्याय, त्रिकाली द्रव्य नहीं है, परन्तु त्रिकाली द्रव्य के अवलम्बन से अभेद होकर प्रगट हुई होने से, उस धर्मरूप पर्याय को शुद्ध आत्मद्रव्य कहते हैं। जिसके अवलम्बन से शान्ति/अनाकुल रस प्रगट हो, अकषाय परिणति की धारा बहे, वैसी पर्याय को शुद्ध आत्मद्रव्य कहा है।

(२२) वही परमज्योति ज्ञान है — चैतन्य वस्तु तो ज्योति है ही, उसके अवलम्बन से प्रगट होनेवाले सम्यक् मोक्षमार्ग को भी ज्योति कहते हैं। जैसे - अग्नि लकड़ी इत्यादि का नाश करती है; वैसे ही अन्तर्मुखता से प्रगट होनेवाली ज्ञान और आनन्द की दशा, संसार का विनाश करती है, इस कारण उसे परम ज्योति कहते हैं। यह ज्योति प्रगट होने पर संसार के कारण का नाश होता है और क्रम-क्रम से सम्पूर्ण संसार का/विभाव का अभाव हो जाता है। यह वस्तु बाहर से प्राप्त नहीं हो सकती। आत्मा केवलज्ञान का कन्द है, उसमें से केवलज्ञान का प्रवाह प्रस्फुटित होता है। उसके अवलम्बन से प्रगट होनेवाला ज्ञान, परम ज्योति है।

(२३) वही शुद्ध आत्मा की अनुभूति है — निमित्त और पुण्य-पाप की रुचि छोड़कर, स्वभाव का अवलम्बन करके, अनुभव करना, वह शुद्ध आत्मा की अनुभूति है। इसमें तीनों बोल अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आ जाते हैं। जो तत्त्वार्थसूत्र का पहला सूत्र '**सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः**' है, उसे इस बोल से कहा जा सकता है। चिद् और आनन्दघन में से आनन्द की धारा बहती है, उसे मोक्षमार्ग कहते हैं। शुद्ध आत्मा की अनुभूति से मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। विकार से मोक्ष प्राप्त नहीं किया जा सकता। विकार से मोक्ष प्राप्त न होने का पंथ आत्मा की पर्याय में वर्तता है। आत्मा की पूर्ण शुद्धदशारूप कार्य को मोक्ष कहते हैं।

(२४) वही आत्मा की प्रतीति है — इस प्रतीति में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों आ जाते हैं। सम्पूर्ण स्वभाव की प्रतीति में तीनों अंश आ जाते हैं। वस्तु त्रिकाल है, उसके अवलम्बन से ही सम्यग्दर्शनादिरूप पर्यायें प्रगट होती हैं। भाई! जिसमें शक्ति भरी हो, उसमें से ही प्रगट होगी न! आत्मा में त्रिकाल दर्शन-ज्ञान-चारित्र विद्यमान है, उसके अवलम्बन से जो प्रगट होता है, वह आत्मा की प्रतीति है।

(२५) वही आत्मा की संविति अथवा साक्षात्कार है — मोक्षमार्ग कहो अथवा आत्मसाक्षात्कार कहो - दोनों में अन्तर नहीं है। लोग समझे बिना ही अपने को आत्मसाक्षात्कार हुआ कहते हैं। भगवान जिनेन्द्र तो मोक्ष के कारणभूत मोक्षमार्ग प्रगट होने को भगवान आत्मा का साक्षात्कार कहते हैं।

(२६) वही निज आत्मस्वरूप की प्राप्ति है — आत्मस्वरूप की प्राप्ति कहो, आत्मा की ख्याति कहो - एक ही है। अनादि से शरीर, वाणी, मन अर्थात् जड़ की प्रसिद्धि है और पुण्य-पाप विकार की प्रसिद्धि है। आत्मा जिस स्वरूप है, उसी स्वरूप से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होने को आत्मस्वरूप की प्राप्ति कहते हैं। मोक्षमार्गरूप परिणति को अथवा कारणपरमात्मा के अवलम्बन से प्रगट हुई दशा को निज आत्मस्वरूप की प्राप्ति कहते हैं। कारणरूप तो आत्मा अनादि से था ही, परन्तु जब प्रतीति की, तब यह द्रव्य कारण है - ऐसा निर्णय हुआ। इसी मार्ग से मोक्ष जाया जा सकता है अथवा पूर्णदशा प्राप्त की जा सकती है।

भाई! यह तो मोक्षदशा के कारणरूप आत्मा की बात चलती है।

(२७) वही नित्य पदार्थ की प्राप्ति है — आत्मा स्वयं ध्रुवरूप और नित्यरूप तो अनादि से ही था। पुण्य-पाप और दया, दानादि के परिणामों की प्राप्ति, वह अनित्य की प्राप्ति है। व्यवहाररत्नत्रय की प्राप्ति, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, ज्ञान और कषाय की मन्दता, यह अनित्यता की प्राप्ति है। निज आत्मा के अवलम्बन से प्रगट होनेवाली शुद्धपर्याय, वह नित्य पर्याय की प्राप्ति है।

(२८) वही परम समाधि है — लोग कहते हैं ''समाहीवरमुत्तममदितुं'', परन्तु उन्हें समाधि के अर्थ का पता नहीं है। अनाकुल स्वभाव में से अकषायी परिणति प्रगट होना, समाधि है। आत्मा के भान बिना ऐसे-वैसे बैठ जाना समाधि नहीं है। वर्तमान पर्याय को अन्तर्मुख करने से प्रगट होनेवाली मोक्षमार्गरूप दशा, वह परम समाधि है। लोग जो इगला-पिगला आदि कहते हैं, वह समाधि नहीं हैं। भाई! (समाधि प्रगट करने के लिए) आप्त, गुरु तथा आगम द्वारा कथित आत्मपदार्थ का स्वरूप समझाना चाहिए।

आत्मा त्रिकाली ध्रुवस्वभाव है। उसकी पर्याय में शुभराग होता है और उसमें पर निमित्त होता है, परन्तु राग को व्यवहारकारण कब कहा जा सकता है? शुद्ध आत्मा की प्रतीति और ज्ञान के बिना निमित्त और व्यवहार को कारण भी नहीं कहा जाता। वस्तु तो आनन्दमय है। उसे भूलकर लोग बाहर में धर्म मान बैठे हैं। वे मानते हैं कि व्रत पालने से, प्रतिमा ले लेने से, पूजा करने से धर्म हो जाता है, किन्तु यह मान्यता यथार्थ नहीं है।

अमूल्य चैतन्यरत्न भगवान आत्मा के अवलम्बन से प्रगट होनेवाली दशा को परम समाधि कहते हैं। सन्त परम समाधि में वर्तते हैं। श्वास चढ़ा लेना तो समाधि नहीं है, व्यवहाररत्नत्रय भी निश्चय से तो असमाधि है; तथापि साधक को सर्वज्ञ भगवान, निर्ग्रन्थ गुरु और उनके कथित आगम की सच्ची प्रतीति, बहुमान आये बिना नहीं रहता, किन्तु वह समाधि नहीं है। देव-शास्त्र-गुरु का कहना है कि समाधि तो तेरे अन्तरस्वभाव की खान में से प्रगट होती है।

(२९) वही परम आनन्द है — निश्चय मोक्षमार्ग कहो या परमानन्द कहो, एक ही है। लोग चारित्र को लोहे के चने चबाने जैसा दुःखदायक मानते हैं; परन्तु उन्हें चारित्र के स्वरूप का पता नहीं है। वे तो दूध के दाँत से लोहे के चने चबाने जैसा चारित्र को मानते हैं। तात्पर्य यह है कि चारित्र को दुःखदायक मानते हैं। अज्ञानी कहता है

कि देखो, वीतरागी सन्तों को बाघ फाड़कर खा जाता है, मुनियों को कितना कष्ट है – ऐसा कहकर वह चारित्र का अनादर करता है। चारित्र अमृत और आनन्द प्रदाता है – ऐसा वह नहीं मानता है। प्रतिकूल संयोग देखकर साधु की दया करनेवाला अर्थात् दयनीय माननेवाला मिथ्यादृष्टि है।

छहढाला में आता है कि चारित्र को दु:खदायक मानना, संवरतत्त्व सम्बन्धी भूल है। कैसा तीव्र उपसर्ग आता है, तीक्ष्ण काँटा चुभ जाता है – ऐसे दु:ख सहन करने पड़ते हैं – ऐसा कहकर, अज्ञानी जीव चारित्र को कष्टदायक मानता है। साधु को जङ्गल में रहना पड़ता है, अकेला रहना पड़ता है – ऐसा कहकर वह साधु के स्वरूप को दु:खी सिद्ध करता है। परन्तु भाई! आत्मा के अवलम्बन से उत्पन्न होनेवाली दशा परम उत्साहरूप/परम आनन्ददशा (साधु दशा) है। पूर्ण अकषाय आनन्द मोक्ष है और उसके कारणरूप इस मोक्षमार्गरूप मुनिदशा में दु:ख नहीं होता, अपितु वह दशा तो आनन्द के प्रवाहरूप होती है।

अभी तो उपदेशकों ने भी यह बात नहीं सुनी है। अमृत की बेल/भगवान आत्मा में से अमृत का प्रवाहित होना, वह मोक्षमार्ग है। उसमें किञ्चित्मात्र भी कष्ट नहीं है। वह परम आनन्दरूप दशा है। जहाँ अन्तरशक्ति में से आनन्द का प्रवाह बाहर आता है, उस चारित्रदशा को लोग दु:खदायक मानते हैं! मुनिराज की नग्नता, शीतादि परीषह सहना इत्यादि को लोग कष्टप्रद मानते हैं। (यह मान्यता यथार्थ नहीं है।)

संयोग और राग की रुचि छोड़कर, पर्यायवान स्वभाव की प्रतीति और लीनता करने वाले को परमानन्द वर्तता है। समकित कहो या परमानन्द कहो; ज्ञान कहो या परमानन्द कहो; चारित्र कहो या परमानन्द कहो – सब एक ही है। एक समय की परिणति को अन्तर्मुख करना और शरीर, पुण्य-पाप की रुचि छोड़ना, वह परमानन्द है; सिद्ध होने का पंथ है।

(३०) वही नित्य आनन्द है — सन्तों को निरन्तर आनन्द ही वर्तता है। यहाँ मुख्यरूप से मुनिराज की बात चल रही है। जिन्हें अन्तरङ्ग में दर्शन-ज्ञान-चारित्र दशा प्रगट हुई है, उन्हें नित्य आनन्द है। सर्प काट खाये, सिंह शरीर को फाड़ दे, तो भी मुनि तो स्वरूप के आनन्द में हैं। लोग कहते हैं कि साधु का यह पैर तोड़ दिया/श्यालिनी ने भक्षण कर लिया, इसलिए वे दु:खी हैं। वस्तुत: उन लोगों को यह पता

ही नहीं है कि पैर टूटना शरीर का अङ्ग है; परन्तु मुनिराज को तो अन्दर के तीनों अङ्ग/दर्शन-ज्ञान-चारित्र एक हुए हैं। उपसर्ग के काल में भी मुनिराज तो नित्य आनन्द में हैं, उन्हें जरा भी खेद नहीं है। वहाँ दुःख नहीं, किन्तु परम आनन्द वर्तता है। पैर में बड़ा काँटा चुभ जाए, फणधारी सर्प काट खाए और जहर चढ़ जाए तो भी उस समय मुनिराज तो आनन्द में तल्लीन हैं। वस्तु स्वभाव/भगवान आत्मा के अवलम्बन से प्रगट हुई दशा में किञ्चित् भी आकुलता नहीं है; नित्य आनन्द है।

(३१) वही स्वभाव से उत्पन्न हुआ आनन्द है — किसी भी विकल्प अथवा पुण्य-पाप से आनन्द प्रगट नहीं होता। 'आज तो प्रतिकूलता है, परन्तु कल आहार प्राप्त हो जाएगा' - ऐसा मानकर मुनिराज आश्वस्त नहीं होते होंगे? तथा यह प्रतिकूलता तो एक-दो दिन की है, क्या सदा ही ऐसी प्रतिकूलता रहेगी? - ऐसा विचार कर समाधान करना तो राग के अवलम्बन से होता दुःख है, वह आनन्द नहीं है। शुद्ध स्वभाव के अवलम्बन से प्रगट होनेवाला आनन्द ही मोक्षमार्ग है।

(३२) वही सदानन्द है — मोक्षमार्गी जीव सदानन्दी हैं। किसी हँसते हुए व्यक्ति को देखकर लोग कहते हैं कि इस व्यक्ति को सदानन्द है, परन्तु हास्य तो (कषाय होने से) स्वयं दुःख है। स्वभाव के अवलम्बन से प्रगट हुई दशा सदानन्दी है।

(३३) वही शुद्ध आत्मपदार्थ के पठनरूप स्वरूप का धारक है — मोक्षमार्गी ने आत्मा का पठन किया है, आत्मपदार्थ का अध्ययन किया है। पर अध्ययन/शास्त्र के अध्ययन का शुभराग, आत्मा का वास्तविक अध्ययन नहीं है। लोग कहते हैं कि आज हमनें इतने श्लोकों का स्वाध्याय किया, परन्तु यह उसकी बात नहीं है। आत्मा के अवलम्बन से प्रगट हुई दशा ही सच्चा अध्ययन है और तभी शास्त्र अध्ययन को व्यवहार कहा जाता है। आत्मा की निर्मलदशा प्रगट हुए बिना सच्चा अध्ययन नहीं है। निश्चयमोक्षमार्ग की दशा ही आत्मपदार्थ का अध्ययन है।

(३४) वही परम स्वाध्याय है — आत्मा के अवलम्बन से प्रगट हुई दशा को स्वाध्याय कहते हैं। सम्यग्दर्शन स्वाध्याय है, सम्यग्ज्ञान स्वाध्याय है, सम्यक्चारित्र स्वाध्याय है। शास्त्र-स्वाध्याय शुभराग है। जैसे नमक क्षाररस से भरा हुआ है, वैसे ही भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्द से भरा हुआ है। उसकी सन्मुखता से प्रगट हुए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भाव ही परम स्वाध्याय है। अभेदरत्नत्रय कहो या परम

स्वाध्याय कहो एक ही है। एक समय में तीन लोक-तीन काल ज्ञात हों - ऐसे आत्मद्रव्य के आश्रय से प्रगट होने वाली दशा को स्वाध्याय कहते हैं। शास्त्र स्वाध्याय से निश्चय स्वाध्याय प्रगट नहीं होता। यह जैन स्वाध्याय मन्दिर कहाँ रहता है? - आत्मा की वीतरागी पर्याय में स्वाध्याय मन्दिर रहता है, पत्थर अथवा चित्राम में नहीं।

(३५) वही मोक्ष का उपाय है — सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र - ये तीनों अंश प्रगट हुए - यही उपाय है। उपेय सिद्धदशा है और उपाय मोक्षमार्ग है।

(३६) वही एकाग्र चिन्ता का निरोध है — सम्यग्दर्शन होने पर मिथ्यात्व का निरोध होता है। स्वाभाविकज्ञान होने पर मिथ्याज्ञान का निरोध होता है। स्वाभाविक स्थिरता होने पर अस्थिरता का निरोध होता है। कोई कहे कि इसके लिए व्यवहार कारण होते हैं या नहीं? भाई! इस निश्चय को समझे तो राग को/शुभराग को व्यवहार कहते हैं, वरना तो भगवान किसी राग के भाग को अर्थात् मन्दराग/शुभराग को व्यवहार नहीं कहते।

इस द्रव्यसंग्रह की ५८ गाथाओं में तो समयसार का मर्म भर दिया है। मुनियों ने बात ही ऐसी की है कि एक ही गाथा में सम्पूर्ण सार आ जाए। अध्यात्मदृष्टि में शुद्धात्मा को एक को अग्र किया है। जीव पहले राग में एकाग्र होता था, वह मिथ्यादर्शन ज्ञान और चारित्र था। अब स्वभाव में एकाग्र होने लगा, इसलिए सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र प्रगट हुआ।

(३७) वही परमज्ञान है — मोक्षमार्ग, परमबोध है। स्वभाव के अवलम्बन से प्रगट होनेवाली अकषायदशा को परमबोध/परमज्ञान कहते हैं। शास्त्र का बोध, वह परमबोध नहीं है। बोधि में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों आ जाते हैं। श्रीमद् राजचन्द्र ने आत्मसिद्धि शास्त्र में कहा है कि -

कर्म मोहनीय भेद दो, दर्शन चारित्र नाम।
हमे बोध वीतरागता, अचुक उपाय आम॥

सम्यग्ज्ञान से/बोध से दर्शनमोह का नाश होता है, वीतरागता से चारित्रमोह का नाश होता है। यहाँ सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों पर्यायों को परमबोध अथवा परमज्ञान कहते हैं।

(३८) वही शुद्ध उपयोग है — पुण्य-पाप के परिणाम मोक्षमार्ग नहीं हैं, वे बन्धमार्ग हैं। व्यवहाररत्नत्रय भी बन्धमार्ग है। आत्मा के अवलम्बन से जो दशा प्रगट हुई, उसे शुद्ध उपयोग कहते हैं; वही मोक्ष का कारण है। वह शुद्ध उपयोग, व्यवहाररत्नत्रय से नहीं होता। द्रव्यस्वभाव के आश्रय से ही शुद्ध उपयोग प्रगट होता है। प्रवचनसार में मुनियों को राग की भूमिका के समय शुभोपयोगी कहा है और अन्तरस्थिरता के समय शुद्धोपयोगी कहा है, परन्तु शुभोपयोग मोक्ष का कारण नहीं है; मोक्ष का कारण तो शुद्धोपयोग है।

तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा की अन्तरसन्मुखदशा होना, सच्ची प्रतीति, ज्ञान और निर्दोष चारित्र प्रगट होने को शुद्धोपयोग कहते हैं और पुण्य-पापभाव को अशुद्धोपयोग कहते हैं।

यहाँ निश्चयमोक्षमार्ग का वर्णन चल रहा है। यह आत्मवस्तु आदि-अन्तरहित है। इसकी अवस्था में परिवर्तन होता है, उसमें पुण्य-पाप तो विकार है-मलिनता है। आत्मा अपरिमित शक्तियों का भण्डार है। उसकी प्रतीति, ज्ञान और रमणता को सच्चा मोक्षमार्ग कहते हैं। शरीर-मन-वाणी की क्रिया से धर्म नहीं है। हिंसा, झूठ, चोरी के भाव पाप हैं और दया, दान, व्रतादि के भाव पुण्य हैं; वे भाव धर्म नहीं हैं। शुद्ध चिदानन्द अनन्त गुणों के पिण्ड आत्मा की अन्तर्मुख दृष्टि करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता होने पर प्रगट होनेवाले अतीन्द्रिय आनन्द को मोक्षमार्ग कहते हैं।

(३९) वही परम योग है — लोग कहते हैं कि यह योग साधता है। परन्तु भाई! योगी किसे कहते हैं? आत्मस्वरूप की शुद्धता में वर्तमान दशा को जोड़ना योग है। देह-मन-वाणी की क्रिया से धर्म नहीं है और पुण्य-पाप में जुड़ना भी अधर्म है। निश्चय ज्ञायकमूर्ति निर्विकल्प स्वरूप आत्मा है, उसके अवलम्बन से निर्विकल्पदशा प्रगट होने को सच्चा मोक्षमार्ग कहते हैं और वही परम योग है।

कोई आत्मा के भान बिना नमस्कार मन्त्र का जाप करे, कुंभक अथवा रंचक क्रिया करे, वह धार्मिक क्रिया नहीं है। आत्मा की पर्याय में दृष्टिगोचर पुण्य-पाप कृत्रिम है। उनसे रहित शुद्ध आत्मा में जुड़ान होकर निर्मलता होना, योग है। उस योग के साधक को योगी कहते हैं और उस योगी की दशा को निश्चयमोक्षमार्ग कहते हैं।

जगत बाहर में भटक रहा है, परन्तु सर्वप्रथम विधि का ख्याल करना चाहिए। प्रथम आत्मा की यथार्थ प्रतीति/श्रद्धा करनी चाहिए। इसके बिना मात्र कषाय की मन्दता करे तो भी संसार में ही परिभ्रमण करेगा, किन्तु मोक्ष नहीं होगा।

आत्मा की विकारी अवस्था ही संसार है, कोई स्त्री-पुत्रादि संसार नहीं है। यहाँ आत्मा की निर्विकारी दशा, जो कि मोक्षमार्ग है, उसकी बात चल रही है; उसे योग कहते हैं। तात्पर्य यह है कि पुण्य-पापरहित शुद्ध आत्मा के आश्रय से होनेवाली दशा अर्थात् मोक्षमार्ग को योग कहते हैं।

(४०) वही भूतार्थ है — शरीर-मन-वाणी अभूतार्थ है; पुण्य-पाप की वृत्तियाँ होती हैं, वे भी अभूतार्थ हैं। ज्ञायकतत्त्व के आश्रय से प्रगट होनेवाले तत्त्व को/मोक्षमार्ग को भूतार्थ कहते हैं। ज्ञायक स्वभाव आत्मवस्तु तो भूतार्थ है ही।

श्री समयसार की ११वीं गाथा में व्यवहार को अभूतार्थ कहा है तथा मोक्षमार्ग — सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र — एक समय की पर्याय है, उसे भी वहाँ अभूतार्थ कहा है। आत्मा में होनेवाली दया, दानादि की पर्याय तथा मुक्ति का कारणरूप संवर-निर्जरा की पर्याय क्षणिक है, एक रूप नहीं रहती; इसलिए समयसार में इसे अभूतार्थ कहा है और त्रिकाली स्वभाव को भूतार्थ कहा है। वहाँ कथन की पद्धति दूसरी है और यहाँ की कथन पद्धति दूसरी है। यहाँ तो स्वभाव के आश्रय से प्रगट हुई निर्मल पर्याय शान्ति का कारण है, इसलिए उसे भूतार्थ कहा है।

आत्मा, देह के परमाणुओं से भिन्न चिदानन्द ध्रुव शान्ति का पिण्ड प्रभु है। उसके सन्मुख होकर, जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप पर्याय अपने में प्रगट हुई, वह भूतार्थ है। व्यापार, अमलदारी, वकालात, पैसा आदि कुछ भी शरणभूत नहीं है; दया, दान, कोमलता इत्यादि के भाव पुण्य हैं, अभूतार्थ हैं, वे तुझे शरणरूप नहीं हो सकते। तेरी ज्ञायकज्योति के अवलम्बन से/द्रव्यस्वभाव के अवलम्बन से जो दशा प्रगट हुई है, वह भूतार्थ है; वह मोक्ष के पूर्ण आनन्द की कारण है।

इस प्रकार समयसार में त्रिकाली स्वभाव को ही भूतार्थ कहा है और यहाँ मोक्षमार्ग की पर्याय को भूतार्थ कहा है; इसलिए जहाँ जिस अपेक्षा से कथन है, वहाँ वह अपेक्षा समझना चाहिए।

४१. वही परमार्थ है — कोई दो-पाँच लाख रुपये खर्च करके कन्याशाला, पाठशाला इत्यादि लौकिक कार्य करे, उसकी लोग महिमा करते हैं और इसने परमार्थ किया — ऐसा मानते हैं, परन्तु वह तो जड़ की अवस्था है। उस समय अन्दर में किञ्चित् कषाय की मन्दता की, वह पुण्य है। पुण्य-पाप से रहित अन्तरस्वभाव के आश्रय से जो दशा/निर्मलपर्याय प्रगट की, उसे परमार्थ कहते हैं। अन्य सब अपरमार्थ है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का राग होता है, वह भी अपरमार्थ है। जो मोक्षपन्थ में निमित्त हैं, उनकी प्रतीति भी शुभराग का उत्थान है। वैसा राग आता अवश्य है, परन्तु वह परमार्थ स्वरूप नहीं है। राग और पुण्य की रुचि छोड़कर, नित्य आनन्द कुण्ड (भगवान आत्मा) की अन्तर्मुख धारा बहे, वीतरागी अंश प्रगटे, उसे परमार्थ कहते हैं।

भाई! धर्म के नाम पर क्रियाकाण्ड करना, पूजा करना, मन्दिरजी में घण्टा बजाना, वह धर्म नहीं है, अपूर्व नहीं है, परमार्थ नहीं है। आत्मा के आश्रय से निर्विकल्प आनन्ददशा-शान्ति प्रगट होने को परमार्थ कहते हैं, उसी को सच्चा पन्थ कहते हैं। व्यवहार हो भले ही, परन्तु वह परमार्थ नहीं है।

४२. वही निश्चय से पञ्चाचार स्वरूप है - वही ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य - ऐसे पाँच आचार स्वरूप है। लोग कहते हैं कि आचार-विचार का पालन करो। वस्तुतः आत्मा का ज्ञान विचार है और राग की रुचि छूटकर ज्ञान, ज्ञान का वेदन करे, अनुभव करे उसे ज्ञान आचार कहते हैं। शुद्ध आत्मा की प्रतीतिरूप अवस्था होना, दर्शन आचार है। स्वभाव के अनुसार चरण होना अर्थात् स्वरूप में चरना/लीनता करना चारित्र है और ऐसी चारित्रदशा को चारित्र आचार कहते हैं। दया, दानादि का विकल्प उत्पन्न हो, परन्तु वह राग है, उपाधि है। वस्तुस्वभाव का अनुसरण करके होनेवाला तप अथवा चैतन्य का प्रतपन अथवा स्वभावसन्मुख होकर आत्मा की विजय होना और पुण्य-पाप की हार होना, उसे तप कहते हैं। लोग तो समझे बिना उपवास में तप मानते हैं, परन्तु वह तप नहीं है। अखण्डानन्द स्वरूप का भान होने के बाद, जैसे सोने को गेरुँ लगाने से वह अधिक शोभा पाता है, वैसे ही आत्मा की उज्ज्वलता को शोभित करना तप है। रोटी आदि नहीं खाने में राग घटाना पुण्य है, परन्तु उस पुण्य से बन्धन है। लोग कहते हैं - पुण्य तो बँधेगा न ? भाई ! पुण्य की वृत्ति से अबन्ध स्वभावी आत्मा रुक गया है, उससे तो बन्धन हुआ और तू मानता है कि धर्म हुआ - यह मिथ्याभाव है। अरे! अज्ञानी जीव, भगवान आत्मा के त्रिकाली स्वरूप को चूक गया है।

प्रश्न — बाहर का आचरण करना, वह आचार होगा ?

उत्तर — नहीं, ज्ञायक चिदानन्द का आचरण अन्दर में समाहित होता है। एक समय की पर्याय की रुचि छोड़कर, स्वभाव की रुचि और रमणता करने से इच्छा का निरोध होने पर तप होता है, उसे आचार कहते हैं।

लोग कहते हैं कि यह मनुष्य पराक्रमी है, पुरुषार्थी है, परन्तु वह पुरुषार्थ नहीं है। आत्मा के अवलम्बन से स्वरूप में एकाग्रता करके, अन्तर में वीर्य स्फुरित करना पुरुषार्थ है।

शिकार करनेवाले राजा वीर कहलाते हैं, परन्तु वे नरक में जानेवाले हैं और वहाँ नपुंसक होनेवाले हैं। पाप के परिणाम तो वीर्य नहीं हैं, परन्तु दया, दान द्वारा बहुत जीवों का उपकार किया, वह भी वीर नहीं है। जिसने आत्मा के अवलम्बन के वीर्य को/पुरुषार्थ को अन्तर्मुख किया, वह वीर है - यह वीर्याचार है।

ये पाँचों आचार मोक्षमार्ग में समाहित होते हैं, इनके बिना मुक्ति नहीं होती।

४३. वही समयसार है - समयसार=सम+अय+सार। सम्यक् प्रकार से गमन होना। पुण्य-पाप से रहित निर्मलदशा होने को समयसार कहते हैं। त्रिकाली वस्तु स्वयं समयसार है, जिसमें पर्यायें बसती हैं, उस वस्तु को समयसार कहते हैं, परन्तु यहाँ उस त्रिकाली वस्तु की बात नहीं है। यहाँ तो त्रिकाली वस्तु की श्रद्धा-ज्ञान और रमणता करके, रागरहित शुद्धदशारूप हुआ, सम्यक् प्रकार से निर्विकल्प समाधिदशा-आनन्द प्रगट हुआ, उसे समयसार कहते हैं।

आत्मा, ज्ञान और आनन्द से भरपूर तत्त्व है। उसको सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप पर्याय अथवा निश्चयमोक्षमार्ग को समयसार कहते हैं। सम्यक्प्रकार से परिणमन होना, वीतरागरूप होना, राग-द्वेष रहितपने होना, समयसार है - वह मुक्ति का उपाय है।

४४. वही अध्यात्मसार है - किसी को लब्धि प्रगट हो, शरीर अनेक प्रकार के करे, कोई पुण्य उपार्जन करे - वह अध्यात्मसार नहीं है। आत्मा अपने स्वरूप में-अनाकुलदशा में टिके, उसे अध्यात्म का सार कहते हैं। उसे मोक्षमार्ग कहो या मोक्ष का कारण कहो - एक ही है।

अध्यात्म शब्द का अर्थ करते हुए इसी ग्रन्थ में पूर्व में कहा गया है कि निमित्त में, कुटुम्ब में सुख है - ऐसी भ्रान्ति छोड़कर तथा पुण्य-पाप के विकल्प छोड़कर, निर्मलानन्द आत्मा का अनुष्ठान करना, वह अध्यात्म है। इस प्रकार वीतरागी दशा को अध्यात्मसार कहा है - ऐसा ही सर्वज्ञ कहते हैं, निर्ग्रन्थ मुनि और शास्त्र कहते हैं। इससे विरुद्ध मानने-मनवाने वाले देव-शास्त्र-गुरु सच्चे नहीं हैं। सर्वज्ञ को स्व-परप्रकाशक स्वभाव पूर्ण विकसित हुआ है, उनकी वाणी में आया है कि तू अपने आत्मा का विश्वास, ज्ञान और लीनता कर, यही मोक्षमार्ग है और यही अध्यात्म का सार है।

अभी अध्यात्म के नाम से बहुत-सी बातें चलती हैं, परन्तु जो कुम्हार के घर सुवर्ण लेने जाता है, वह मूर्ख है, इसी प्रकार अध्यात्म की बात सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की पेढी पर मिलती है, कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की पेढी पर अध्यात्म की बात नहीं मिलती, फिर भी अज्ञानी लोग भूल रहे हैं।

भाई! सच्चे देव-शास्त्र-गुरु ही धर्म के निमित्त होते हैं। वे कहते हैं कि तुझे तेरे अवलम्बन से ही धर्म होगा। तेरे आत्मा के आश्रय से प्रगट होनेवाली निर्मलता ही धर्म और अध्यात्म का सार है।

लोग कहते हैं कि व्यवहार करते-करते धर्म होगा, परन्तु यह भूल है। व्यवहार का अभाव होने से धर्म और मोक्ष होगा। जब तक पूर्णदशा न हो, तब तक सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति शुभराग होता है, परन्तु वह अध्यात्मसार नहीं है।

४५. वही छह आवश्यक स्वरूप है - समता का लाभ होने को सामायिक कहते हैं। मैं सामायिक करता हूँ - ऐसा शुभराग, सामायिक नहीं है।

निश्चयनय के अवलम्बन से जो १. सामायिक, २. चौबीस भगवान की स्तुति, ३. वन्दना, ४. प्रतिक्रमण, ५. प्रत्याख्यान और ६. कायोत्सर्ग - ये छह आवश्यक आत्मा की दशा में होते हैं।

सामायिक - पुण्य-पाप बन्धनरूप है। शरीरादि पदार्थ आत्मा से भिन्न वस्तुएँ हैं। मुझमें ज्ञान और आनन्द है, उस स्वभाव के आश्रय से विषमभाव का अभाव होकर समताभाव प्रगट होता है, वह सामायिक है। मैं शिवस्वरूप हूँ, कल्याण की मूर्ति हूँ, पुण्यभाव अकल्याण है, शुद्धस्वभाव उससे रहित है - ऐसे स्वभाव के अवलम्बन से समताभाव प्रगट होना सामायिक है।

चौबीस भगवान की स्तुति - चौबीस तीर्थङ्कर क्या कहते हैं ? उसका सार लेकर, आत्मा में रमणता करना, चौबीस तीर्थङ्कर भगवन्तों की स्तुति है। चौबीस तीर्थङ्कर सर्वज्ञ भगवान की स्तुति करना पुण्यबन्ध का कारण है। आत्मा स्वयं सर्वज्ञ होने योग्य है। ऐसे आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और रमणता करना ही चौबीस तीर्थङ्करों की स्तुति है।

वन्दन - सच्चे गुरु को वन्दन करना, पुण्य परिणाम है। आत्मा स्वयं ही अपना गुरु है - ऐसे आत्मा में भ्रान्ति और रागरहित होकर परिणमन करना, वह वन्दन है। यह वन्दन आवश्यक क्रिया है। पर के आधीन नहीं होना, अपने आधीन होना - यह आवश्यक क्रिया है। देव-शास्त्र-गुरु के प्रति अकेले रागरूप वन्दन को भगवान वन्दन नहीं करते।

प्रतिक्रमण - पुण्य-पाप की वृत्तियों से पराङ्मुख होना और नित्यानन्द स्वभाव में आना, वह प्रतिक्रमण है। पहले पुण्य-पाप की वृत्तियों में दौड़ता था, वह अप्रतिक्रमण था। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद इत्यादि परिणामों से हटकर आत्मनोन्मुख होना, वह प्रतिक्रमण है। वस्तुतः जीव को अपनी शक्ति की महिमा नहीं है। निज आत्मस्वभाव का विश्वास करके, उसमें लीनता कर - यही प्रतिक्रमण है।

प्रत्याख्यान - प्रत्याख्यान लेते समय हाथ जोड़ना तो जड़ की क्रिया है। अमुक प्रतिज्ञा लेना, पुण्यभाव है, वह सच्चा प्रत्याख्यान नहीं है। अभेद ज्ञान में व्यापक होकर ज्ञान की एकाग्रता होना, प्रत्याख्यान है। जिसे ऐसा निश्चय प्रत्याख्यान होता है, उसके शुभराग को व्यवहार से प्रत्याख्यान कहते हैं।

कायोत्सर्ग - काय की क्रिया कायोत्सर्ग नहीं है। मैं औदारिक अथवा कार्मण शरीर नहीं हूँ, उनके निमित्त से पर्याय में होनेवाले भाव भी मैं नहीं हूँ। मैं तो ज्ञान शरीर हूँ - ऐसे भान द्वारा होनेवाली अन्तरङ्ग लीनता ही कायोत्सर्ग है।

इन्हें छह आवश्यक कहते हैं और ये ही मोक्षमार्ग हैं।

४६. वही अभेद रत्नत्रय है - यहाँ निश्चय मोक्षमार्ग के विविध नामों का वर्णन चल रहा है। मोक्ष अर्थात् आत्मा की शुद्ध पूर्णशुद्धदशा। आत्मस्वभाव के अवलम्बन से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय प्रगट होती है, वह मोक्षमार्ग है। वीतरागी मोक्षमार्ग, अन्तर्मुख चैतन्य स्वभाव के अवलम्बन से होता है, उसे ही अभेद रत्नत्रय

कहते हैं। देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, ज्ञान तथा व्रतादि का शुभभाव, वह भेदरत्नत्रय है और चैतन्यद्रव्य के अवलम्बन से दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होकर, अन्तर में अभेदता होना, अभेद रत्नत्रय है। देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति का राग तो पुण्यास्रव है, उस राग से रहित चैतन्यद्रव्य के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होना, अभेद रत्नत्रय है और यही यथार्थ मोक्षमार्ग है।

अभेद रत्नत्रय मोक्ष का मार्ग है और भेद रत्नत्रय मोक्ष का मार्ग नहीं है।

४७. सामायिक भी वही है - शुभराग वास्तविक सामायिक नहीं है। अन्तरस्वभाव के आनन्द के साथ गूंथित समता ही सच्ची सामायिक है। देह की क्रिया और राग में वास्तविक सामायिक नहीं है, परन्तु परमपारिणामिक कारणपरमात्मा के अवलम्बन से प्रगट होनेवाली वीतरागी समता ही सच्ची सामायिक है, वही मोक्ष का मार्ग है। सर्वज्ञदेव और सन्त इसे ही मोक्षमार्ग कहते हैं। बीच में (साधकदशा में भूमिकानुसार) सत्य श्रवण का शुभराग आये तथा देव-शास्त्र-गुरु के विनय/बहुमान का भाव आये, परन्तु वह मोक्षमार्ग नहीं है, वह वास्तविक सामायिक नहीं है।

जिसमें पुण्य और पाप दोनों से रहित वैराग्य परिणति प्रगट हुई है और वीर्य/पुरुषार्थ स्वभाव के अस्तित्व की तरफ झुका है, वह सच्ची सामायिक है और ऐसी सामायिक मोक्ष का कारण है।

४८. वही मङ्गल, उत्तम और शरण है - जगत में शरणभूत कौन ? चैतन्य स्वभाव के अवलम्बन से जो वीतरागी परिणति प्रगट हुई है, वही वास्तविक शरण है, वही उत्तम है और वही मङ्गल है। इसके अतिरिक्त अरिहन्त, सिद्ध, साधु इत्यादि को शरण कहना व्यवहार है। वस्तुतः जीव को कोई परद्रव्य शरण नहीं दे सकता। 'केवलि पण्णत्तो धम्मो शरणं' तो केवली प्ररूपित धर्म अर्थात् क्या ? यही कि अपने स्वभाव की सन्मुखता से प्रगट हुई वीतराग परिणति ही शरणरूप है, वही उत्तम है और मङ्गल है।

अरिहन्ता लोगुत्तमा	अरिहन्ता मङ्गलं
सिद्धा लोगुत्तमा	सिद्धा मङ्गलं
साहु लोगुत्तमा	साहु मङ्गलं
केवली पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो	केवली पण्णत्तो धम्मो मङ्गलं

इस प्रकार कहा जाता है, वह भक्ति और विनय का कथन है। अरिहन्त कहीं इस आत्मा को उत्तमता नहीं देते। आत्मा ने स्वयं अपने स्वभाव के आश्रय से निर्मल श्रद्धा, ज्ञान, चारित्रदशा प्रगट की, वही उत्तम है और वही केवली प्ररूपित धर्म है।

मङ्गलं भगवान वीरो, मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो, जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलं॥

ऐसा मङ्गल कहा जाता है, वहाँ वस्तुतः तो स्वभाव के अवलम्बन से प्रगट हुई आत्मा की वीतरागदशा ही जैनधर्म है और वही मङ्गल है। जिसने स्वभाव के अवलम्बन से वीतरागदशा प्रगट की, उसने पवित्रता प्राप्त की और अपवित्रता का नाश किया, इसलिए वह वीतरागदशा ही परम मङ्गल है, वही परम शरण है और वही परम उत्तम है। इसके अतिरिक्त संसार अर्थात् रागादि विकारी भाव, शरण नहीं है, मङ्गल और उत्तम भी नहीं है।

४९. वही केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण है - आत्मा के अवलम्बन से उत्पन्न वीतरागी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह निश्चयमोक्षमार्ग है और वही केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण है। यहाँ पर्याय को मोक्ष के कारणरूप से कहना है। चौथे, पांचवें, छठवें गुणस्थान में व्यवहाररत्नत्रय का शुभराग होता है, परन्तु वह केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण नहीं है। केवलज्ञान पर्याय तो द्रव्य के आश्रय से आती है, इसलिए वास्तव में तो द्रव्य ही केवलज्ञान का कारण है, परन्तु उस केवलज्ञान के पूर्व निश्चय रत्नत्रय पर्यायरूप मोक्षमार्ग होता है, इस कारण उसे केवलज्ञान का कारण कहा है। तात्पर्य यह है कि व्यवहाररत्नत्रय का राग केवलज्ञान का कारण नहीं है। केवलज्ञान का कारण कहो या निश्चयरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग कहो, एक ही बात है।

केवलज्ञान पर्याय भी प्रतिसमय नयी-नयी उत्पन्न होती है। वह द्रव्य में से प्रगट होती है। पहले समय की पर्याय का व्यय होकर दूसरे समय की पर्याय उत्पन्न होती है। कोई निमित्त से अथवा व्यवहाररत्नत्रय के राग से केवलज्ञान होना कहता हो तो वह मिथ्या बात है। आत्मा त्रिकाल है, उसका ज्ञानगुण त्रिकाल है और वह आत्मा के सम्पूर्ण क्षेत्र में व्यापक है तथा उसको केवलज्ञान पर्याय भी आत्मा के सर्वक्षेत्र में व्यापक है, परन्तु वह त्रिकाल नहीं है; वह एक समयमात्र की ही अवस्था है। जितना ज्ञानगुण का क्षेत्र है, उतना ही केवलज्ञान पर्याय का क्षेत्र है; परन्तु ज्ञानगुण त्रिकाल है और केवलज्ञान

पर्याय का काल एकसमय का है। उस पर्याय में से दूसरी पर्याय नहीं आती। ज्ञानगुण नया उत्पन्न नहीं होता; परन्तु पर्याय नयी उत्पन्न होती है।

केवलज्ञान की पर्याय की उत्पत्ति का कारण कौन? बाहर में महाविदेहक्षेत्र, मनुष्यदेह, वज्रवृषभनाराचसंहनन इत्यादि कोई भी केवलज्ञान का कारण नहीं है, परन्तु निश्चय रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग ही केवलज्ञान का कारण है।

५०. वही सर्व कर्मों के नाश का कारण है - देखो, व्यवहाररत्नत्रय कर्मों के नाश का कारण नहीं है, परन्तु अन्तरस्वभाव के आश्रय से प्रगट वीतरागी निश्चयरत्नत्रय ही आठों कर्मों के नाश का कारण है। जिन्होंने एक समय में परिपूर्ण द्रव्य-गुण-पर्यायों को जाना है, वे सर्वज्ञभगवान इस निश्चयरत्नत्रय को ही कर्मों के नाश का कारण कहते हैं।

भगवान आत्मा अमृत रस का सागर है। (अढ़ाई द्वीप के बाहर क्षीर सागर है, जब तीर्थङ्कर दीक्षा लेकर केशलोंच करते हैं, तब देव उन केशों को क्षीर समुद्र में पधराते/क्षेपण करते हैं।) उस क्षीर समुद्र में तरङ्ग उठती है; उसी प्रकार आत्मा चैतन्य पिण्ड आनन्दकन्द अमृत रस का समुद्र है, उसमें से/उसके आश्रय से उठनेवाली आनन्द तरङ्गें ही कर्मों के नाश का कारण है। इसके अतिरिक्त रागादिभाव, कर्मनाश का कारण नहीं है।

वीतराग सर्वज्ञ देव, सन्त और शास्त्र पुकार करते हैं कि अन्तरस्वभाव के आश्रय से प्रगट होनेवाला निश्चयरत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है। जैन शासन कहो या मोक्षमार्ग कहो - वह यही है। सदा ही आनन्द स्वरूप चैतन्य प्रभु के अन्तर में से आनन्द का अनुभव आना, इसका नाम तप है और उस तप से कर्मों का नाश होता है। तप में खेद नहीं होता। अन्दर में से अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव प्रगटे - ऐसी दशा से भगवान ने कर्मों का नाश किया है; इसके अतिरिक्त राग की क्रिया से अथवा खेद से भगवान ने कर्मों का नाश नहीं किया है।

इस प्रकार निश्चयरत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग ही कर्मों के नाश का कारण है।

५१. वही निश्चय दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तपरूप चार प्रकार की आराधना है - अखण्ड रत्नत्रय में चारों प्रकार की आराधनाएँ समाहित हो जाती हैं। निर्विकल्प

रत्नत्रय ही निश्चय से तप है। आत्मा आनन्दकन्द है। कन्द की जड़ी-बूटी ऐसी होती है कि थोड़ी-सी खा ले तो चार महीने तक भूख नहीं लगती। तो हे भाई! यह चैतन्यमूर्ति आत्मा ऐसा आनन्दकन्द जड़-बूटी है कि एक समय भी उसका आश्रय करे तो अनन्त काल तक सुख प्रगट होता है। एक समय के फल का सुख सादि-अनन्त काल तक भोगते रहने पर भी कम नहीं होता। (एक समय की कमाई तू सादि-अनन्त काल खायेगा - ऐसा कहा गया है।)

चैतन्य स्वभाव के आश्रित आराधना करके ऐसा समाधिमरण करे कि सादि-अनन्तकाल तक आनन्द प्रगट हो। शक्ति में आत्मा आनन्द का कन्द है। उसकी प्रतीति करने पर ऐसी जड़ी-बूटी का पॉलिस चढ़ता है कि सादि-अनन्त काल तक सुख प्रगट होता है। आनन्दकन्द चैतन्य की प्रतीति करने से ऐसी श्रद्धा हो जाती है कि मुझमें तीन काल में कभी आहार ही नहीं है। देखो, यह भगवती आराधना! सर्वप्रथम ऐसे चैतन्य की श्रद्धा करना, वह भी दर्शन आराधना है।

भगवती आराधना में मुनियों के समाधि-मरण के समय की दशा का अद्‌भुत वर्णन किया है। कवच अधिकार में यह वर्णन है। वहाँ किसी सन्त को सहज प्रमाद से कदाचित् आहार अथवा पानी की वृत्ति उत्पन्न हो तो उससे दूसरे सन्त कहते हैं - हे मुनि! अनन्तकाल से भोजन-पानी ग्रहण किया, अब उस वृत्ति को त्याग कर अन्तर के आनन्द के अनुभव में उतरो...चैतन्य की आराधना करो...अन्दर में डुबकी लगाकर चैतन्य की आराधना करो। ऐसा समाधि-मरण करो कि फिर से अवतार/जन्म न हो। तब तत्क्षण ही वे मुनिराज भी आहारादि की वृत्ति छोड़कर, आत्मस्वरूप में लीन हो जाते हैं। ऐसे मुनिराज की आराधना, उस अन्तरस्वरूप के आश्रित ही है। निश्चयरत्नत्रय प्रगट हुआ, वही निश्चय से चारों प्रकार की आराधना है।

५२. वही परमात्मा की भावना है - अज्ञानी जीव अपने परमात्मतत्त्व को भूलकर, बाह्य में शुभराग से भगवान की आराधना करके धर्म हुआ मानता है, परन्तु वह वास्तव में परमात्म भावना नहीं है। अज्ञानी जीव, बम की शक्ति का विश्वास करता है, परन्तु अपने तत्त्व में एक समय में अनन्तज्ञान-आनन्द की शक्ति भरी है, उसका विश्वास नहीं करता; अतः उसे सच्ची परमात्म भावना नहीं होती।

बाहर में वीतराग परमात्मा की स्थापना करना, व्यवहार है। धर्मी जीव को भी शुभराग के काल में भगवान की स्थापना पूजा, भक्ति भावना इत्यादि करने का भाव आता है, परन्तु वह शुभराग वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं है। जिसने अन्तरङ्ग में अपने चैतन्य परमेश्वर की श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता करके, निश्चय रत्नत्रय प्रगट किया, उसने सच्ची परमात्म भावना भायी। जिसने ऐसी भावना का अभ्यास किया होगा, उसे मरण के समय परमात्मभावना सहित समाधि-मरण होगा।

५३. शुद्धात्म भावना की अनुभूति से उत्पन्न हुए आनन्द की अनुभूति स्वरूप जो परम कला है, वह भी वही अर्थात् निश्चयमोक्षमार्ग ही है - जगत की बाहर की कला, डॉक्टरी की कला, शास्त्र पठन की कला, वकालात की कला - ये सब कलाएँ तो थोथी/व्यर्थ हैं। जिसने अन्तर के चैतन्य को जान लिया है, उसके ही सच्ची कला है। केवलज्ञान, वह चैतन्य की बड़ी कला है और निचलीदशा में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-प्रगट हुआ, वह छोटी कला है। तात्पर्य यह है कि चैतन्य स्वभाव को पहिचानना ही सच्ची कला है। जिसे चैतन्य स्वभाव के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रदशा प्रगट हुई, वह सर्व कलाओं में पारङ्गत हो गया; इसकारण यहाँ उसे परम कला कह दिया है।

अहो! सन्तों ने चैतन्य के मोक्षमार्ग के कैसे गीत गाये हैं!! जिसने पुण्य-पाप से लाभ माना, उसने चैतन्य शक्ति को खोलने में ताला लगा दिया है। अन्दर में चैतन्यस्वभाव की रुचि, ज्ञान और रमणता करना - यही चैतन्य का खजाना खोलने की कला है। चिदानन्द तत्त्व क्या है और राग क्या है? - इसके भेदज्ञान की कला ही मोक्ष का कारण है। जिसने ऐसी भेदज्ञान कला प्रगट की, वह सर्व कलाओं में पारङ्गत हो गया। अन्तर्मुख होकर, स्वभाव के अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करना ही परम कला है। जितना स्वभाव में एकाग्र होता है, उतना राग से भेद पड़ जाता है।

५४. वही दिव्यकला है - विदेश जाकर अथवा अमेरिका जाकर पढ़ना, उसे यहाँ दिव्यकला नहीं कहते; परन्तु आत्मा का चिदानन्द स्वदेश है, उसमें जाकर, जिसने अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव किया, उसने दिव्यकला को पढ़ा है और वही कला मोक्ष का कारण है। देखो, यहाँ शाला के अभ्यास की कला को दिव्यकला नहीं कहा है।

भाई! तू अपने स्वदेश में, अपने चैतन्य प्रदेश में आनन्द को ढूँढ़। अन्तरङ्ग आत्मस्वरूप को ढूँढ़कर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करनेवाले ने दिव्यकला प्रगट की है और वही कला केवलज्ञान का कारण है; अन्य कोई केवलज्ञान का कारण नहीं है।

इस प्रकार मोक्षमार्ग के अनेक नाम हैं, उनका एक ही अर्थ है। निमित्त और पुण्य-पाप की रुचि छोड़कर, ध्रुव चिदानन्द स्वभाव में दृष्टि और एकाग्रता करना ही मोक्षमार्ग है, वही दिव्यकला है। दिव्यकला कहो, परम शुद्धात्म ध्यान कहो अथवा मोक्ष का मार्ग कहो - सब एक ही है।

५५. वही परम अद्वैत है - परम अद्वैत का अर्थ यह नहीं है कि सब मिलकर एक है, अपितु अखण्ड चिदानन्द स्वभाव की निर्विकल्प श्रद्धा, ज्ञान और रमणता, वह परम अद्वैत है। तात्पर्य यह है कि उसमें रागादि के विकल्प का द्वैतपना नहीं है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई अद्वैतपना मानना अथवा सब मिलकर एक ही आत्मा है इत्यादि मानना, मिथ्या बात है। निश्चयमोक्षमार्ग कहो या परम अद्वैत कहो या परम आनन्ददशा कहो - एक ही है। आत्मस्वभाव अनन्तगुणों का अभेद पिण्ड है, उसमें एकता और विकार से पृथक्ता - ऐसी दशा का नाम परम अद्वैत है और वह मोक्ष का कारण है।

५६. वही अमृत स्वरूप परम धर्मध्यान है - सहजानन्द स्वरूप आत्मा के सन्मुख होकर एकाग्रता करना ही परम धर्मध्यान है। ज्ञायक चिदानन्द स्वभाव की दृष्टि होकर एकाग्र होने पर परम आनन्द का अनुभव होना, वही अमृत स्वरूप धर्मध्यान है। इसके अतिरिक्त जप करना अथवा णमोकार मन्त्र पढ़ना, वह तो शुभराग है; वह धर्मध्यान नहीं है।

प्रश्न - शुभभाव को प्राथमिक भूमिका तो कहा जाता है न?

उत्तर - पहले चिदानन्द स्वभाव का भान किये बिना राग को व्यवहार भी नहीं कहा जाता। स्वभाव का भान करने पर पूर्व के राग पर व्यवहार से आरोप आता है, परन्तु वास्तव में राग, आत्मा के धर्म का साधन नहीं है। आत्मा के चिदानन्द स्वभाव में एकाग्रता करने से जो धर्मध्यान होता है, वह ऐसा अमृत स्वरूप है कि आत्मा का कभी मरण ही नहीं होता - ऐसी दशा/सिद्धदशा प्रगट हो जाती है, ऐसा परम ध्यान कहो या मोक्षमार्ग कहो - एक ही है।

५७. वही शुक्लध्यान है - और शुक्लध्यान भी वही है।

५८. वही रागादि विकल्पों से रहित ध्यान है - ऐसा ध्यान मोक्ष का मार्ग है, बीच में आने वाला शुभराग, मोक्षमार्ग नहीं है।

मोक्ष कहा निज शुद्धता, वह पावे सो पन्थ।
समझाया संक्षेप में, सकल मार्ग निर्ग्रन्थ॥

आत्मा की पूर्ण शुद्धता, वह मोक्ष है और जिससे वह शुद्धता प्राप्त हो, वह मोक्षमार्ग है। आत्मा की सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मलपर्याय ही मोक्ष का मार्ग है।

५९. वही निष्कल ध्यान है - चिदानन्द आत्मा शरीररहित है, उसका ध्यान, वह निष्कल ध्यान है। वर्तमान में शरीर होने पर भी मैं अशरीरी हूँ - ऐसी आत्मा की रुचि और एकाग्रता करना, निष्कल ध्यान है। वह ध्यान मोक्ष का मार्ग है। कर्म और शरीर का संयोग होने पर भी, उन संयोगों से रहित अशरीरी आत्मा का ध्यान करना, वह सच्चा ध्यान है। मुझमें शरीर नहीं है और जड़कर्म भी मुझमें नहीं है; जड़ का उदय भी मुझमें नहीं है और उस उदय की ओर झुकाववाला विकारभाव भी मुझमें नहीं है। मैं तो कर्म के संयोगरहित और शरीररहित अशरीरी आत्मा हूँ - ऐसे चैतन्य को भाना, वह निष्कल ध्यान है। मन, वाणी और श्वास - ये सब शरीर के अङ्ग हैं और आत्मा अशरीरी चैतन्य है। उसका ध्यान ही धर्म और मुक्ति का मार्ग है। अन्य प्रकार से धर्म मानना मुक्ति का सत्पन्थ नहीं है।

उक्त कथन में इस बात का निषेध हो जाता है कि वज्रकाय हो तो धर्म होता है। इसका कारण यह है कि शरीर आत्मा के नहीं है। आत्मा को शरीरवाला ध्याना सच्चा ध्यान नहीं है। शरीर में रहने पर भी शरीर से भिन्न अशरीरी चैतन्य का ध्यान करना ही सच्चा ध्यान और मोक्षमार्ग है। 'शरीर में रहा हुआ' - यह कहना भी मात्र निमित्त का कथन है; वस्तुतः तो आत्मा ज्ञान विग्रह अर्थात् ज्ञानशरीर है। मैं ज्ञायक शरीर का धारक हूँ; यह जड़ शरीर मैं नहीं हूँ - इस प्रकार आत्मा को ध्याना ही मोक्ष की आवश्यक क्रिया है। बीच में राग होता है, परन्तु वह मोक्ष की क्रिया नहीं है।

शरीर को धर्म का साधन कहना तो मात्र उपचरित कथन है। चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा त्रिकाल है। इस भव के पहले यह शरीर नहीं था और इस भव के पश्चात् यह

शरीर नहीं रहेगा और वर्तमान में भी आत्मा में शरीर का अभाव है - तब यह शरीर, आत्मा को धर्म का साधन कैसे हो सकता है? धर्म का साधन तो यह है कि शरीर से पार अशरीरी आत्मा का ध्यान करना।

अनन्त सन्तों ने उत्कृष्ट आत्मध्यान को ही मुक्ति का पन्थ कहा है। उसे अन्य किसी नाम से कहो, परन्तु वस्तु तो यही है और वह अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में ही है। जड़ शरीर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में आत्मा नहीं है। ऐसे अशरीरी ज्ञानानन्द आत्मा के ध्यान से अन्तरङ्ग में अमृत की लहरें उछलती हैं.....आनन्द तरङ्गें उत्पन्न होती हैं, उसका नाम निष्कल ध्यान और मोक्षमार्ग है।

६०. वही परम स्वास्थ्य है - यह आत्मा की निरोगता की बात है। आत्मा में शरीर की निरोगता का तो अभाव है। राग-द्वेष-मोहरूपी रोग का आत्मा के ध्यान में अभाव होने से वही परम स्वास्थ्य है। व्यवहाररत्नत्रय का राग होता, वह राग भी निश्चय से रोग है। वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र में उस रोग का अभाव है और वही परम स्वास्थ्य है। जितना विकार है, वह रोग है। जिसमें रागरूपी मेल नहीं है, विकाररूपी बीमारी नहीं है - ऐसा परम स्वास्थ्य तो आत्मा का ध्यान ही है। श्रीमद्जी ने भी कहा है -

आत्मभ्रान्ति सम रोग नहीं, सद्गुरु वैद्य सुजान।
गुरु आज्ञा सम पथ्य नहीं, औषध विचार ध्यान॥

देखो, आत्मा की भ्रान्ति ही रोग है। चिदानन्द भगवान को इन्द्रियों से सुख प्राप्त होता है - ऐसी भ्रान्ति महारोग है और सद्गुरु सच्चे वैद्य हैं; उन ज्ञानी की आज्ञा के समान दूसरा कोई पथ्य नहीं है और आत्मा का ध्यान, उस रोग को मिटानेवाली औषधि है।

आत्मा के त्रिकाली निरोग-निर्विकारी स्वभाव में विकार होता है, वह रोग है। महारोगी व्यक्ति पुष्ट शरीरवाला होने पर भी रोगी है। धन्वन्तरि वैद्य स्वयं रोगी है। आत्मा के भान बिना देह छूट जाती है, कोई वैद्य देह को रख नहीं सकता; परन्तु यदि आत्मा के भानपूर्वक देह छूटे तो फिर से देह प्राप्त नहीं होती; इसलिए आत्मा का भान करके, उसमें एकाग्रतारूप ध्यान करना ही आत्मा का परम स्वास्थ्य है और वही मोक्ष का कारण है। आत्मा की ऐसी निरोगता में ही सच्चा आनन्द है।

६१. वही परम वीतरागतारूप है - चैतन्य स्वरूप में स्थिरता होने पर रागादि विकल्पों का अभाव हुआ, वही परम वीतरागता है। यहाँ उत्कृष्ट वीतरागता की बात ली है।

६२. वही परम समता है - आत्मस्वरूप में स्थिर होने पर सहजरूप से जो समता हुई, वही समता है। कर्म के डर से या भव के भय से शुभभावरूप समता रहने को परम समता नहीं कहा जाता। कोई आत्मा के भान बिना द्रव्यलिङ्गी दिगम्बर मुनि हो और शरीर पर लकड़ी के प्रहार हों तो भी क्रोध न करे, तो भी उसे परम समता नहीं कहते। शुभभाव से क्षमा रखकर नौंवें ग्रैवेयक तक जाए तो भी आत्मा के भान बिना उसे सच्ची समता नहीं कहा जाता। सच्चे भावलिङ्गी सन्तों को तो आत्मा के चिदानन्द स्वरूप में लीनता द्वारा सहज समता होती है, वही परम समता है और मोक्ष का कारण है।

६३. वही परम एकत्व है - चैतन्य में एकत्व किया और रागादि में पृथकत्व किया, इसलिए वही परम एकत्व है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों की चैतन्य में एकता है। पर्याय अन्तर्मुख होकर अन्तर में एकता हुई, वही परम एकत्व है। बीच में राग और व्यवहार हो, उसका चैतन्य में एकत्व नहीं है। व्यवहाररत्नत्रय का राग भी परम समता नहीं है। वह एकतारूप नहीं, किन्तु अनेकरूप है। यद्यपि उस प्रकार का विनय-बहुमान का भाव आये बिना नहीं रहता। यदि सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति विनय-बहुमान का भाव नहीं आये और उसके बदले कुदेवादि का आदर करे तो वह तीव्र मिथ्यादृष्टि है और यदि देव-शास्त्र-गुरु के विनय-बहुमान के शुभभाव को ही धर्मध्यान मान ले तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। आत्मा ध्रुव चैतन्य ज्ञानमय वस्तु है, उसमें एकाग्रता करके लीन होना, वह परम एकत्व है और वही मोक्षमार्ग है।

६४. वही परम भेदज्ञान है - भेदज्ञान अर्थात् राग से भिन्न पड़कर, अन्दर में अभेद होना-वही परम भेदज्ञान है। यह भेदज्ञान विकल्परूप नहीं है। अन्दर में अभेद हुआ, वहाँ पर से और राग से भिन्न पड़ गया; इसलिए यही परम भेदज्ञान है। 'समयसार नाटक' में भेदज्ञान को हेय कहा है, वह तो विकल्परूप भेदज्ञान की बात है। आत्मा की ओर की एकता का मार्ग ही भेदज्ञान है और वही मोक्ष का मार्ग है।

६५. वही परम समरसीभाव है - आत्मा वीतरागी उपशमरस में झूलता है/ उपशमरसमयी तत्त्व है, उसमें एकाग्र होने पर आनन्द का अनुभव होना ही परम समरसी भाव है।

आत्मा में एकाग्रता करना ही उत्कृष्ट ध्यान है। उस परम उत्कृष्ट ध्यान में स्थिर होनेवाले जीव को परम आनन्दरूप सुख अनुभव में आता है। वही निश्चय से मोक्षमार्ग है और यहाँ उसी के उपरोक्तानुसार ६५ नाम कहे गये हैं। इस प्रकार उसके नाम कहे हैं, इन सहित अन्य भी नाम हैं। यहाँ दूसरे थोड़े से नाम कहे जाते हैं।

वही निर्विकल्प समाधि है - चैतन्य में लीन होना ही निर्विकल्प समाधि है।

वही द्रव्यदृष्टि है - उस द्रव्यदृष्टि के साथ मोक्षमार्ग में ज्ञान तथा चारित्र भी साथ ही है।

वही मुक्ति का सत्पन्थ है - जिसने ऐसे चैतन्य की श्रद्धा-ज्ञान और एकाग्रता की है, वह जीव सत्पन्थी है।

वही सत्सङ्ग है - इस चैतन्य में एकाग्रता ही सत्सङ्ग है। सत् अर्थात् त्रिकाली आत्मा; उसका सङ्ग जिसने किया और राग का सङ्ग छोड़ा, वह सच्चा सत्सङ्गी हुआ है।

बुझी चहत जो प्यास को, है बूझन की रीत।
पावे नहिं गुरुगम बिना, यही अनादी स्थित॥
यह नहिं है कल्पना, यह नहिं विभङ्ग।
कई नर पञ्चमकाल में, देखी वस्तु अभङ्ग॥
पाया की यह बात है, निज छेदन को छोड़।
पीछे लग सत्पुरुष के, तो सब बन्धन तोड़॥

इसमें सत्पुरुष की बात की है, वह निमित्त से कथन किया है, परन्तु अन्दर में अपने स्वच्छन्द को छोड़कर निजानन्द चैतन्यभाव की दृष्टि और एकाग्रता करना, वह सच्चा सत्सङ्ग है और सत्पुरुष उसमें निमित्त होते हैं। सत् अर्थात् जो ध्रुव आत्मा; उस सत् का जिसे भान नहीं है, वह सत्सङ्गी कैसे हो सकता है? आत्मा, ध्रुवस्वभाव के अवलम्बन से वीतराग परिणतिरूप परिणमित हो, वही सत्सङ्ग है।

वही सूक्ष्ममार्ग है - चिदानन्द स्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और रमणता ही सूक्ष्ममार्ग है; व्यवहार के शुभपरिणाम तो स्थूलमार्ग हैं, वह मोक्षमार्ग नहीं है। समयसार में शुभभावों को स्थूल परिणाम कहा है। चैतन्य का निर्मलस्वभाव परम सूक्ष्म है और उस स्वभाव के आश्रय से प्रगट हुआ निश्चयमोक्षमार्ग भी सूक्ष्ममार्ग है। सूक्ष्ममार्ग कहो या मोक्षमार्ग कहो, एक ही है। शुभराग तो स्थूल है।

वही प्रज्ञाछैनी है - 'प्रज्ञाछैनी' में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों समाहित हो जाते हैं। प्रज्ञाछैनी द्वारा विकार और आत्मा को छोड़कर/पृथक् करके, आत्मा में एकाग्र होना ही मोक्षमार्ग है।

यही निर्ग्रन्थ मार्ग है - बाहर में शरीर की दशा अथवा व्यवहाररत्नत्रय, वह वस्तुतः निर्ग्रन्थ मार्ग नहीं है। अन्तर स्वभाव के ध्यान से वीतरागी रत्नत्रय प्रगट होता है, वही निर्ग्रन्थ मार्ग है, वही वीतराग मार्ग है।

मोक्ष कहा निज शुद्धता, वह पावे सो पन्थ।
समझाया संक्षेप में, सकल मार्ग निर्ग्रन्थ॥

वही जैनमार्ग है - अष्टपाहुड़ में भी कहा है कि लोग, राग और व्रतादि को जैनधर्म समझते हैं, परन्तु जैनधर्म तो वीतरागता है। अन्तरङ्ग निश्चयरत्नत्रय ही सच्चा जैनमार्ग है। बीच में व्यवहाररत्नत्रय तो व्यवहार से जैनमार्ग है। वह व्यवहार भी कब? जब निश्चय हो तब।

व्यवहाररत्नत्रय का रागभाव भी निश्चय से जैनमार्ग नहीं है - धर्मी को ऐसा भान होने पर भी भगवान की भक्ति इत्यादि का भाव आये बिना नहीं रहता। भगवान का जन्म होने पर इन्द्र भक्ति से नाचते हैं, परन्तु वह राग वास्तव में जैनमार्ग नहीं है। अन्तरस्वभाव की रागरहित श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता ही जैनमार्ग है।

वही जैन शासन है - समयसार में कुन्दकुन्द भगवान कहते हैं कि -

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससंतमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं॥१५॥
अनबद्धस्पृष्ट, अनन्य, जो अविशेष देखे आत्म को।
वो द्रव्य और जु भाव, जिनशासन सकल देखे अहो॥१५॥

जिसने अवद्धस्पृष्ट चिदानन्द स्वभाव का अनुभव किया, उसने जैनशासन को जाना है। जैनशासन तो आत्मा में है, आत्मा से बाहर नहीं। धर्म कहो या जैनशासन कहो, वह बाहर नहीं है। जैनशासन कहो, धर्म की अन्तरङ्ग क्रिया कहो या मोक्षमार्ग कहो - एक ही है। देखो, यह मोक्ष के पन्थ की क्रिया! बीच में होनेवाले रागादिभाव तो मोक्षपन्थ को कतरने/काटनेवाली क्रिया है।

वही जैन नीति अथवा परम नीति है - सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग को जैननीति अथवा परमनीति भी कहते हैं। वस्तुस्वरूप जैसा है, वैसा समझकर, उसमें एकाग्र होना ही लोकोत्तर नीति है, वही मोक्षमार्ग है।

इस प्रकार अन्तरस्वभाव के अवलम्बन से प्रगट होनेवाले वीतरागी आनन्द को ऊपर कहे गये किसी भी नाम से कहो तथा उसके अन्य भी अनेक नाम हैं, उन्हें परमात्म तत्त्व को जाननेवाले भव्यजीवों को जान लेना चाहिए।

❖❖❖

चिदानन्द आत्मा ही हमारा देश

अहा! धर्मात्मा मुनि निरन्तर आनन्द झरते हुए अपने प्रचुर स्वसम्वेदन में से अर्थात् आनन्दस्वरूप निज आत्मा में से बाहर आयें, व्रतादि या धर्मोपदेश का विकल्प आये तो उन्हें ऐसा लगता है कि अरेरे! हम कहाँ इस परदेश में आ गये? ज्ञानियों की परिणति, धर्मात्मा की दशा, विभाव से विमुख होकर स्वरूपोन्मुख हो रही है। ज्ञानी निजस्वरूप में परिपूर्णतया स्थित होने को तरसते हैं! यह शरीर तथा स्त्री-पुत्र-परिवार आदि तो हमारे हैं ही नहीं, परन्तु यह विभावभाव भी हमारा देश नहीं है। हमारा देश तो अन्तर में विद्यमान चिदानन्द आत्मा है।

- ऐसा है वीतरागमार्ग का स्वरूप। महाव्रतादि अथवा दूसरों को समझाने का विकल्प उठे, वह भी राग है; राग हमारा देश नहीं है। इस परदेश में हम कहाँ आ पहुँचे? हमें यहाँ अच्छा नहीं लगता। अशक्ति के कारण भीतर स्वरूप में स्थिर नहीं रह सके, पुरुषार्थ अल्प है; इसलिए यहाँ आ पड़े। यहाँ शुभभाव में हमारा कुछ नहीं है। जहाँ अनन्त श्रद्धा, अनन्त ज्ञान, अनन्त चारित्र, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्यादि हमारा परिवार निवास करता है, वह निज शुद्ध चैतन्यभूमि ही हमारा स्वदेश है। धर्मी को निरन्तर ऐसी दृष्टि होती है। अब, हम अपने उस स्वरूप-स्वदेश की ओर जा रहे हैं। *(- वचनामृत प्रवचन, २/३१)*

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-५७

अब, यद्यपि पहले ध्याता पुरुष के लक्षण और ध्यान की सामग्री का अनेक प्रकार से वर्णन किया है तो भी चूलिका तथा उपसंहाररूप से फिर भी कथन करते हैं :-

तवसुदवदवं चेदा ज्झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा।
तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होह॥५७॥
तपःश्रुतव्रतवान् चेता ध्यानरथधुरन्धरः भवति यस्मात्।
तस्मात् तत्त्रिकनिरताः तल्लब्ध्यै सदा भवत॥५७॥
व्रती तपसी श्रुताभ्यासी ध्यान में हों धुरन्धर।
निजध्यान करने के लिए तुम करो इनकी साधना॥५७॥

गाथार्थ :— क्योंकि तप, श्रुत और व्रत का धारक आत्मा, ध्यानरूपी रथ की धुरा धारण करनेवाला होता है, इसलिए हे भव्य पुरुषो! तुम उस ध्यान की प्राप्ति के लिए निरन्तर तप, श्रुत और व्रत में तत्पर होओ।

टीका :— **'तवसुदवदवं चेदा ज्झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा'** क्योंकि तप, श्रुत और व्रतधारी आत्मा, ध्यानरूपी रथ की धुरा धारण करने में समर्थ होता है, **'तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होह'** इसलिये हे भव्यो! तप, श्रुत और व्रत - इन तीनों में सदा लीन होओ। किसलिए? उस ध्यान की प्राप्ति के लिए। विशेष वर्णनः- अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश - ये छह प्रकार के बाह्यतप और प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्सुत्सर्ग ओर ध्यान - ये छह प्रकार के अन्तरङ्ग तप - इस प्रकार दोनों मिलकर बारह प्रकार के तप हैं। उसी तप से साध्य शुद्धात्मस्वरूप में प्रतपन अर्थात् विजय करनेरूप निश्चय तप है। उसी प्रकार आचार-आराधना आदि द्रव्यश्रुत और उसके आधार से उत्पन्न निर्विकार स्वसम्वेदनज्ञानरूप भावश्रुत है। तथा हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह का द्रव्य और भावयप से त्याग करना, वे पाँच व्रत हैं। इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षणोंयुक्त तप, श्रुत और व्रत सहित पुरुष ध्याता होता है। वही (तप, श्रुत और व्रत ही) ध्यान की सामग्री है। कहा भी है कि **'वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं नैर्ग्रन्थ्यं समचित्तता। परीषहजयश्चेति पञ्चैते ध्यानहेतवः॥ अर्थः-**

वैराग्य, तत्त्वों का ज्ञान, परिग्रहों का त्याग, साम्यभाव और परीषहों का जीतना; ये पांच ध्यान के कारण हैं।'

शंका:- भगवान्! ध्यान तो मोक्ष के मार्गरूप है। मोक्षार्थी पुरुष को पुण्यबन्ध का कारण होने से व्रत त्याग करने योग्य हैं। परन्तु आपने तो तप, श्रुत और व्रतों को ध्यान की सामग्री कहा है; वह (कथन) किस प्रकार घटित होता है? उसका उत्तर:- केवल व्रत ही त्याग करने योग्य नहीं हैं परन्तु पापबन्ध के कारण हिंसा आदि अव्रत भी तयाग करने योग्य हैं। इसी प्रकार पूज्यपादस्वामी ने कहा है:- **'अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैमोक्षस्तयोर्व्ययः। अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत्॥ अर्थः**- अव्रतों से पाप का बन्ध और व्रतों से पुण्य का बन्ध होता है, उन दोनों का नाश वह मोक्ष है; अतः मोक्षार्थी पुरुष अव्रतों की भांति व्रतों का भी त्याग करो।' परन्तु अव्रतों का भी पहले त्यागकर पश्चात् व्रतों में स्थिर होकर, निर्विकल्प समाधिरूप परमात्मपद को प्राप्त कर, पश्चात् एकदेश व्रतों का भी त्याग करता है। वह भी श्रीपूज्यपादस्वामी ने कहा है:- **''अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः। त्यजेत्तानयपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः॥ अर्थः**- मोक्षार्थी पुरुष, अव्रतों को छोड़कर व्रतों में स्थिर होकर परमात्मपद प्राप्त करे और परमात्मपद प्राप्तकर उन व्रतों का भी त्याग करे।' परन्तु यह विशेष है:- व्यवहाररूप जो प्रसिद्ध एकदेश व्रत हैं, उनका त्याग किया है, परन्तु जो सर्व शुभाशुभ की निवृत्तिरूप निश्चयव्रत हैं, उनका त्रिगुप्तिलक्षण स्वशुद्धात्मसम्वेदनरूप निर्विकल्प ध्यान में स्वीकार किया है, उनका त्याग नहीं किया है।

प्रश्न :- प्रसिद्ध (अहिंसादि) महाव्रत एकदेशरूप किस प्रकार हुए?

उत्तर :- अहिंसा महाव्रत में यद्यपि जीवों के घात की निवृत्ति है तो भी जीवों की रक्षा करने में प्रवृत्ति है। उसी प्रकार सत्य महाव्रत में असत्य वचन का यद्यपि त्याग है तो भी सत्य वचन में प्रवृत्ति है। अचौर्य महाव्रत में यद्यपि दिये बिना कोई भी वस्तु लेने का त्याग है परन्तु दी गई वस्तु लेने में प्रवृत्ति है। इस प्रकार एकदेश प्रवृत्ति की अपेक्षा से ये पांचों महाव्रत देशव्रत है। उन एकदेश व्रतों का त्रिगुप्तिलक्षण निर्विकल्प समाधि के काल में 'त्याग' का क्या अर्थ है? जिस प्रकार हिंसा आदिरूप पाँच अव्रतों की निवृत्ति है उसी प्रकार एकदेश व्रतों की भी निवृत्ति है। किसलिये? त्रिगुप्त अवस्था में प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप विकल्प का स्वयमेव अवकाश नहीं है। अथवा वास्तव में

वही निश्चयव्रत है। किसलिये ? क्योंकि उसमें पूर्ण निवृत्ति है। दीक्षा के पश्चात् दो घड़ी में ही भरत चक्रवर्ती ने जो मोक्ष प्राप्त किया उसने भी जिनदीक्षा लेकर विषयकषाय की निवृत्तिरूप व्रत के परिणाम क्षणमात्र (थोड़े समय) कर, पश्चात् शुद्धोपयोगरूप रत्नत्रय निश्चयव्रत नामक वीतराग सामायिक नामक निर्विकल्प ध्यान में स्थिर होकर केवलज्ञान प्राप्त किया है। परन्तु उन्हें व्रत का परिणाम थोड़े समय रहने से लोग उनके व्रत के परिणाम को नहीं जानते हैं। उसी भरत चक्रवर्ती के दीक्षा-विधान का कथन किया जाता है - श्री वर्द्धमान तीर्थंकर परमदेव के समवसरण में श्रेणिक महाराज ने प्रश्न किया कि 'हे भगवान्!' भरत चक्रवर्ती को जिनदीक्षा लेने के पश्चात् कितने समय में केवलज्ञान हुआ ? श्री गौतमस्वामी ने उत्तर दिया - ''**पंचमुष्टिभिरुत्पाटय त्रोटयन् बन्धस्थितीन् कचान्। लोचान्तरमेवापद्राजन् श्रेणिक केवलम्॥ अर्थः**- हे श्रेणिक! पञ्च मुष्टि से केशलोच करके, कर्मबन्ध की स्थिति तोड़ते हुए, केशलोच के पश्चात् तुरन्त ही भरत चक्रवर्ती ने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।''

यहाँ शिष्य कहता है:- इस पञ्चमकाल में ध्यान नहीं है, क्योंकि इस काल में उत्तम संहनन का अभाव है और दश तथा चौदहपूर्व का श्रुतज्ञान भी नहीं है।

समाधानः- इस काल में शुक्लध्यान नहीं है, परन्तु धर्मध्यान है। श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेव ने मोक्षप्राभृत में (गाथा ७६-७७ में) कहा है कि 'भरतक्षेत्र में दुःषम नामक पञ्चमकाल में ज्ञानी जीव को धर्मध्यान होता है; वह धर्मध्यान आत्मस्वभाव में स्थित होनेवाले को होता है; जो ऐसा नहीं मानता, वह अज्ञानी है। अब भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप तीनरत्नों से शुद्ध जीव आत्मा का ध्यान करके इन्द्रपद अथवा लौकान्तिक देवपद प्राप्त करते हैं और वहाँ से चयकर (मनुष्य होकर) मोक्ष को प्राप्त करते हैं।'

उसी प्रकार तत्वानुशासन नामक ग्रन्थ में (गाथा ८३ में) कहा है कि 'इस समय (पञ्चमकाल में) जिनेन्द्रदेव शुक्लध्यान का निषेध करते हैं परन्तु श्रेणी-आरोहण से पूर्ववर्ती धर्मध्यान का अस्तित्व बताया है।' तथा जो ऐसा कहा है कि 'उत्तम संहनन का अभाव होने से ध्यान नहीं होता है' वह उत्सर्गवचन है। अपवादरूप व्याख्यान से तो, उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी में शुक्लध्यान होता है और वह उत्तम संहनन से ही होता है, परन्तु अपूर्वकरण (८ वें) गुणस्थान से नीचे के गुणस्थानों में जो धर्मध्यान होता है, वह पहले तीन उत्तम संहननों का अभाव हो तो भी अंतिम तीन संहननों में भी होता

है। यह भी उसी तत्त्वानुशासन ग्रन्थ में (गाथा ८४ में) कहा है – 'वज्रकायवाले को ध्यान होता है, ऐसा आगम का वचन उपशम और क्षपकश्रेणी के ध्यान की अपेक्षा से कहा है। यह वचन नीचे के गुणस्थानों में धर्मध्यान का निषेधक नहीं है॥१॥'

जो इस प्रकार कहा है कि 'दश तथा चौदह पूर्व के श्रुतज्ञान से ध्यान होता है' वह भी उत्सर्गवचन है। अपवाद-व्याख्यान से तो पाँच समिति और तीन गुप्ति के प्रतिपादक सारभूत श्रुतज्ञान से भी ध्यान होता है और केवलज्ञान भी होता है। यदि ऐसा अपवाद व्याख्यान न हो तो 'तुष-माष का उच्चारण करते हुए श्री शिवभूति मुनि केवलज्ञानी हो गये' इत्यादि गन्धर्वाराधनादि ग्रन्थों में कहा गया व्याख्यान किस प्रकार घटित होता है?

प्रश्न :- श्री शिवभूति मुनि पाँच समिति और तीन गुप्तियों का प्रतिपादन करनेवाले द्रव्यश्रुत को जानते थे और भावश्रुत उन्हें पूर्णरूप से था?

उत्तर :- ऐसा नहीं कहना चाहिए; क्योंकि यदि वे पांच समिति और तीन गुप्ति के प्रतिपादक द्रव्यश्रुत को जानते होते तो 'द्वेष न कर, राग न कर' इस एक पद को क्यों नहीं जानते? अतः ज्ञात होता है कि उनको पांच समिति और तीन गुप्तिरूप आठ प्रवचनमाताप्रमाण ही भावश्रुत ज्ञान था और द्रव्यश्रुत कुछ भी नहीं था। यह व्याख्यान हमने कल्पित नहीं किया है; वह चारित्रसार आदि शास्त्रों में भी कहा गया है। वह इस प्रकार है: – जो अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त करते हैं, वे क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती 'निर्ग्रंथ' नामक ऋषि कहलाते हैं। उन्हें उत्कृष्टरूप से चौदह पूर्वश्रुत ज्ञान होता है और जघन्यरूप से पांच समिति और तीन गुप्ति जितना ही श्रुतज्ञान होता है।

प्रश्नः- मोक्ष के लिये ध्यान किया जाता है और इस काल में मोक्ष तो नहीं है; तो ध्यान करने का क्या प्रयोजन है?

उत्तरः- ऐसा नहीं है, क्योंकि इस काल में भी परम्परा से मोक्ष है।

प्रश्नः- परम्परा से मोक्ष किस प्रकार है?

उत्तरः- ध्यान करानेवाला (ध्याता) स्वशुद्धात्मा की भावना के बल से संसार की स्थिति अल्प कर स्वर्ग में जाता है, वहाँ से आकर मनुष्यभव में रत्नत्रय की भावना प्राप्त कर शीघ्र मोक्ष जाता है, जो भरत, सगर, रामचन्द्र, पाण्डव आदि मोक्ष गये हैं, वे

भी पूर्वभव में भेदाभेदरत्नत्रय की भावना से संसारी की स्थिति घटाकर फिर (पश्चात्) मोक्ष गये हैं। उसी भव में सबका मोक्ष होता है, ऐसा नियम नहीं है।

उपरोक्त कथन अनुसार अल्प श्रुतज्ञान से भी ध्यान होता है, यह जानकर क्या करना? दुर्ध्यान छोड़कर ध्यान करना ऐसा समझाया जाता है। 'द्वेष से किसी को मारने, बाँधने या अङ्ग काटने और राग से परस्त्री आदि का जो चिंतवन है उसे निर्मलबुद्धि के धारक आचार्य जिनमत में अपध्यान कहते हैं॥१॥ हे जीव, सङ्कल्परूपी कल्पवृक्ष का आश्रय करने से तेरा चित्त इस मनोरथरूपी सागर में डूब जाता है; वास्तव में उन विकल्पों में तेरा कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है, बल्कि कलुषता का आश्रय करने वालों का अकल्याण होता है॥२॥ जिस प्रकार दुर्भाग्य से दु:खी मनवाले तेरे अंतर में भोग भोगने की इच्छा से व्यर्थ तरङ्गें उठा करती हैं, उसी प्रकार यदि वह मन परमात्मरूप स्थान में स्फुरायमान हो तो तेरा जन्म कैसे निष्फल हो? ॥३॥ आकांक्षा से कलुषित हुआ कामभोगों में मूर्च्छित ऐसा यह जीव भोग न भोगता हुआ भी भाव से कर्म बाँधता है॥४॥ इत्यादिरूप (उक्त गाथाओं में कथित) दुर्ध्यान को छोड़कर निर्ममत्व में स्थिर होकर, मैं अन्य पदार्थों में ममत्व बुद्धि का त्याग करता हूँ; मुझे आत्मा का ही अवलम्बन है, अन्य सर्वका मैं त्याग करता हूं॥१॥ मेरा आत्मा ही दर्शन है, आत्मा ही ज्ञान है, आत्मा ही चारित्र है, आत्मा ही प्रत्याख्यान है, आत्मा ही संवर है और आत्मा ही योग है॥२॥ ज्ञानदर्शनलक्षणयुक्त एक मेरा आत्मा ही शाश्वत है और अन्य सर्व संयोगलक्षणयुक्त भाव मेरे से बाह्य हैं॥३॥ इत्यादि सारभूत पदों का ग्रहण कर ध्यान करना।'

अब, मोक्ष के विषय में पुन: नय-विचार कहा जाता है:- प्रथम तो मोक्ष बन्धपूर्वक है। वही कहा है - 'यदि जीव मुक्त है तो इस जीव को पहले बन्ध अवश्य होना चाहिए, क्योंकि यदि बन्ध नहीं हो तो मोक्ष किस प्रकार हो सकता है? अबन्ध की (जो बँधा नहीं हो उसकी) मुक्ति नहीं होती तो मुञ्च् धातु का प्रयोग ही निरर्थक है।' शुद्ध निश्चयनय से बन्ध नहीं है तथा बन्धपूर्वक मोक्ष भी नहीं है। यदि शुद्ध निश्चयनय से बन्ध हो तो सदा बन्ध ही रहे, मोक्ष होगा ही नहीं। विशेष:- जिस प्रकार साँकल से बँधे पुरुष को, बन्धनाश के कारणभूत भाव-मोक्षस्थानीय (बन्ध को छेदने का कारणभूत जो भावमोक्ष उसके समान) साँकल के बन्धन को छेदने का कारणभूत जो उद्यम है, वह पुरुष का स्वरूप नहीं है और द्रव्यमोक्षस्थानीय जो सांकल और पुरुष का पृथक्करण

(अलग होना) वह भी पुरुष का स्वरूप नहीं है, परन्तु उन दोनों से (उद्यम से और साँकल से पुरुष के पृथक्करण से) भिन्न जो हस्त-पादादिरूप देखा जाता है, वही पुरुष का स्वरूप है, उसी प्रकार शुद्धोपयोग-लक्षणयुक्त भावमोक्ष का स्वरूप, वह शुद्धनिश्चय से जीव का स्वरूप नहीं है और उसके द्वारा साध्य जीव और कर्म के प्रदेशों के पृथक्करण रूप (भिन्न होनेरूप) द्रव्यमोक्ष भी जीव का स्वभाव नहीं है, परन्तु उन दोनों से (भावमोक्ष से और द्रव्यमोक्ष से) भिन्न जो अनन्त ज्ञानादिगुणरूप स्वभाव है, मूलभूत है, वही शुद्ध जीव का स्वरूप है। यहाँ तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार विवक्षित-एकदेश-शुद्धनिश्चयनय से पहले मोक्षमार्ग का व्याख्यान है, उसी प्रकार पर्याय-मोक्षरूप जो मोक्ष है, वह भी एकदेश-शुद्ध-निश्चयनय से है परन्तु शुद्ध निश्चयनय से नहीं है। जो शुद्ध द्रव्यशक्तिरूप शुद्ध पारिणामिक-परमभाव लक्षणयुक्त परम निश्चयमोक्ष है, वह तो जीव में पहिले से ही विद्यमान है, वह (परमनिश्चयमोक्ष) जीव में अब होगा, ऐसा नहीं है। वही परम निश्चयमोक्ष, रागादि विकल्परहित, मोक्ष की कारणभूत, ध्यानभावना-पर्याय में ध्येय होता है, परन्तु वह निश्चयमोक्ष ध्यानभावना पर्यायरूप नहीं है। यदि एकांत से द्रव्यार्थिकनय से भी उसे ही (परम निश्चय-मोक्ष को ही) मोक्ष की कारणभूत ध्यानभावना पर्याय कहा जाये तो द्रव्य और पर्यायरूप दो धर्मों के आधारभूत जीव-धर्मी को मोक्ष की पर्याय प्रगट होने पर जिस प्रकार ध्यानभावनापर्यायरूप से विनाश होता है, उसी प्रकार ध्येयभूत जीव का शुद्धपारिणामिक-भावलक्षणयुक्त द्रव्यरूप से भी विनाश होगा; परन्तु द्रव्यरूप से तो जीव का विनाश नहीं है। अतः सिद्ध हुआ कि 'शुद्ध पारिणामिकभाव से (जीव को) बन्ध और मोक्ष नहीं है।'

अब, '**आत्मा**' शब्द का अर्थ कहते हैं:- '**अत्**' धातु का अर्थ 'सतत गमन' है। 'गमन' शब्द का यहाँ 'ज्ञान' अर्थ होता है क्योंकि 'सब गतिरूप अर्थवाले धातु ज्ञानरूप अर्थवाले होते हैं' ऐसा वचन है। इस कारण, यथासंभव ज्ञान सुखादि गुणों में '**आ**' अर्थात् सर्व प्रकार से '**अतति**' अर्थात् वर्तता है, वह आत्मा है अथवा शुभ-अशुभ मन-वचन-काय की क्रिया द्वारा यथासंभव तीव्र-मन्दादिरूप से जो '**आ**' अर्थात् पूर्णरूप से '**अतति**' वर्तता है वह आत्मा है। अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों धर्मों द्वारा जो '**आ**' अर्थात् पूर्णरूप से '**अतति**' अर्थात् वर्तता है, वह आत्मा है।

जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा अनेक जल से भरे घड़ों में दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार

एक ही जीव अनेक शरीरों में रहता है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं परन्तु वह घटित नहीं होता है। कैसे घटित नहीं होता है? चन्द्र की किरणरूप उपाधि के वश घड़े के जल के पुद्गल ही अनेक चन्द्र के आकाररूप से परिणमित हुए हैं, एक चन्द्रमा अनेकरूप से परिणमित नहीं हुआ। इस सम्बन्ध में दृष्टान्त कहते हैं:- जिस प्रकार देवदत्त के मुखरूप उपाधि के वश अनेक दर्पणों के पुद्गल ही अनेक मुखों के आकाररूप परिणमित हुए हैं, एक देवदत्त का मुख अनेकरूप परिणमित नहीं हुआ है। यदि देवदत्त का मुख ही अनेक मुखरूप से परिणमित होता हो तो दर्पण में स्थित देवदत्त के मुख का प्रतिबिम्ब भी चेतन बन जाए; परन्तु ऐसा तो नहीं होता है। तथा, यदि एक ही जीव हो तो एक जीव को सुख-दुःख, जीवन-मरण आदि प्राप्त होने पर उसी क्षण सब जीवों को जीवन-मरण प्राप्त होना चाहिए; परन्तु वैसा दिखाई नहीं पड़ता है। अथवा जो ऐसा कहते हैं कि 'एक ही समुद्र है वह कहीं खारे पानीवाल है, और कहीं मीठे पानीवाला है। उसी प्रकार एक ही जीव सब शरीरों में विद्यमान है,' उनका यह कथन भी घटित नहीं होता है। कैसे घटित नहीं होता है? समुद्र में जलराशि की अपेक्षा से एकता है, जल के कणों की अपेक्षा से एकता नहीं है। यदि जलकणों की अपेक्षा से एकता हो तो समुद्र में से थोड़ा सा जल ग्रहण करने पर शेष सभी जल उसके साथ क्यों नहीं आ जाता है? इस कारण से सिद्ध होता है कि सोलह वर्णवाले सोने की राशि की भाँति अनन्त ज्ञानादि लक्षण की अपेक्षा से जीवराशि में एकता है, परन्तु एक जीव की अपेक्षा से (समस्त जीवराशि में एक ही जीव होने की अपेक्षा से) जीव राशि में एकता नहीं है।

अब, '**अध्यात्म**' शब्द का अर्थ कहा जाता है : मिथ्यात्व, राग आदि समस्त विकल्पजाल के त्याग से स्वशुद्धात्मा में जो अनुष्ठान उसे 'अध्यात्म' कहते हैं।

इस प्रकार ध्यान की सामग्री के व्याख्यान के उपसंहाररूप से यह गाथा पूर्ण हुई ॥५७॥

गाथा ५७ पर प्रवचन

यद्यपि ध्यान करनेवाले पुरुष का लक्षण तथा ध्यान की सामग्री का वर्णन पूर्व में अनेक प्रकार से किया है; तथापि फिर से चूलिका और उपसंहाररूप से उसका वर्णन करते हैं।

जीव, अनादि से आत्मा को चूककर विकार में एकाग्रता कर रहा है, वह विपरीत ध्यान है, संसार का कारण है और रागरहित चिदानन्द स्वरूप का भान करके, उसमें रागरहित एकाग्रता करना, वह मोक्ष का कारणरूप ध्यान है। यहाँ उस ध्यान करनेवाले ध्याता पुरुष और ध्यान की सामग्री का वर्णन करते हैं।

तप, श्रुत और व्रत का धारक जो आत्मा है, वही ध्यानरूपी रथ की धुरा को धारण करनेवाला होता है; इसलिए हे भव्यजनो! तुम भी ध्यान की प्राप्ति के लिए निरन्तर तप, श्रुत और व्रत - इन तीनों में तत्पर होओ।

सम्यग्दर्शन के बिना ध्यान नहीं होता। यहाँ तो सम्यग्दर्शन के उपरान्त मुनिदशा के ध्यान की बात ली है, क्योंकि ध्यान को मोक्ष का कारण बतलाना है। सम्यग्दृष्टि को भान है कि अन्तर में मेरा ज्ञायक चैतन्यतत्त्व ही उपादेय है। राग की वृत्ति उत्पन्न होती है, वह हेय है - ऐसे भानपूर्वक सम्यग्दृष्टि को धर्मध्यान होता है। उसमें भी उत्कृष्ट ध्यान मुनि को होता है।

ध्यान करनेवाले मुनि बाह्य-अभ्यन्तर तपसहित होते हैं। यहाँ ज्ञायक चिदानन्द स्वरूप में झूलते भावलिङ्गी मुनि को ध्याता कहा है। वे मुनि व्रत, तप और श्रुत - इन तीनों सहित होते हैं। अन्दर में निर्विकल्प शान्ति का वेदन, वह अन्तरङ्ग तप है और बारह प्रकार के तप, वह व्यवहार तप हैं। यह बाह्य-अभ्यन्तर तप ध्यान की सामग्री है।

अन्तर में ज्ञायक स्वरूप के स्व-सम्वेदनरूप भावश्रुतज्ञान है और भगवती आराधना इत्यादि का ज्ञान, वह द्रव्यश्रुत है - ऐसा द्रव्य और भावश्रुत भी ध्यान की सामग्री है।

मुनिराज का व्रत भी ध्यान की सामग्री है।

यहाँ मुनिराज के सविकल्प पञ्च महाव्रत को 'देशव्रत' कहा गया है। यहाँ देशव्रत का अर्थ श्रावक के व्रत नहीं समझना चाहिए, परन्तु मुनिराज को व्रत का शुभभाव है, उसे देशव्रत कहा है तथा रागरहितदशा, वह निश्चय से व्रत है। वह व्रत भी ध्यान की सामग्री है। अन्दर चिदानन्द स्वभाव के अनुभव में लीनतारूप जो धर्मध्यान है, उस ध्यान की धुरा को धारण करने में समर्थ मुनिराज व्रत, श्रुत और तप - ऐसी तीन प्रकार की सामग्री सहित होते हैं।

यद्यपि चौथे-पाँचवें गुणस्थान में भी धर्मध्यान होता है, परन्तु वहाँ मुनियों के समान

उत्कृष्ट ध्यान नहीं होता; इसलिए स्वरूप की धुरा को धारण करने में समर्थ तो आत्मा के स्वरूप में झूलनेवाले मुनि हैं और वे मुनि व्रत, तप, श्रुतसहित होते हैं।

इसलिए हे सन्तो! तुम ध्यान की प्राप्ति के लिए तप, श्रुत और व्रत में तत्पर होओ। तप, श्रुत और व्रत को धारण करनेवाला आत्मा ध्यानरूपी धुरा को धारण करने में समर्थ होता है। इसलिए हे भव्यो! उस ध्यान की सिद्धि के लिए तप, श्रुत और व्रत - इन तीनों के समुदाय में सदाकाल तत्पर होओ।

अब, उन व्रतादि का विशेष वर्णन करते हैं -

जो पहले निरुपाधिक असङ्ग चिदानन्द तत्त्वदृष्टि में आया है और तत्पश्चात् उसमें लीनता होने पर मुनिदशा प्रगट हुई है, ऐसी मुनिदशा में आत्मा के आनन्द में झूलते-झूलते बारह प्रकार के तप होते हैं।

१. अनशन - अर्थात् आहार की वृत्ति उत्पन्न न होना।

२. अवमौदर्य - अन्तर में तो कषाय और राग का उनोदर कर दिया है अर्थात् कषाय को दूर किया है, वहाँ शुभवृत्ति उत्पन्न होने पर उनोदर/अवमौदर्य तप होता है। निश्चय से तो शुद्ध आत्मा में प्रतपन करना, तप है।

३. वृत्तिपरिसंख्यान - अर्थात् अनेक प्रकार से वृत्ति को संक्षेपण करके भोजन करना, ऐसी वृत्ति उत्पन्न होना शुभतप है। जिसकी दृष्टि बाहर को ग्रहण-त्याग पर नहीं है, अन्तर में द्रव्य के आनन्द का उछाल आकर पर्याय में आनन्द का ज्वार आया है, वहाँ ऐसा शुभभाव सहज होता है।

४. रसपरित्याग - अन्दर में चैतन्य के आनन्दरस का उछाल आने पर बाहर में रस की वृत्ति छूट जाती है, वह निश्चय रसपरित्याग है और आहार के षट् प्रकार के रस छोड़ने का शुभ विकल्प, वह व्यवहार रसपरित्याग तप है।

५. विविक्तशय्यासन - असंख्य प्रदेशी आनन्दघन में एकाग्र होना, निश्चय विविक्तशय्यासन तप है और एकान्त स्थान में बैठने का विकल्प उत्पन्न होना, वह व्यवहार विविक्तशय्यासन तप है।

६. कायक्लेश - बाहर में प्रतिकूलता का प्रसङ्ग आने पर भी वहाँ द्वेष नहीं होने

देना, ऐसी शुभवृत्ति, वह (व्यवहार) कायक्लेश तप है और अन्दर में आनन्द की वृद्धि होना निश्चय कायक्लेश तप है।

इस प्रकार छह प्रकार के शुभभाव बाह्य तप हैं।

१. प्रायश्चित - ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता से ज्ञान की निर्मलता बढ़ना, वह निश्चय से प्रायश्चित है और दोष का प्रायश्चित लेने की वृत्ति व्यवहार प्रायश्चित है।

२. विनय - सन्तों के विनय का भाव, वह व्यवहार से विनय तप है। निश्चय से ज्ञान की अन्दर में एकाग्रता होना, वह परमार्थ विनय है।

३. वैय्यावृत्य - निर्ग्रन्थ दिगम्बर भावलिङ्गी सन्तों की सेवा का भाव, वह व्यवहार से तप है।

४. स्वाध्याय - अन्दर में चिदानन्द स्वभाव में एकाग्र होकर, उसका अनुभव करना, वह निश्चय स्वाध्याय है और शास्त्र-स्वाध्याय का भाव, वह व्यवहार स्वाध्याय तप है।

५. कायोत्सर्ग - निश्चय से आत्मा ज्ञानविग्रह अर्थात् चैतन्य शरीरी है; उसमें एकाग्रता से शरीर की उपेक्षा हो जाना, वह तप है और शुभराग व्यवहार तप है।

६. ध्यान - पञ्च परमेष्ठी आदि का ध्यान व्यवहार तप है।

इस प्रकार छह अन्तरङ्ग तप हैं। ऐसे छह अन्तरङ्ग और छह बहिरङ्ग कुल बाहर प्रकार के भेदरूप सविकल्प तप है, वे व्यवहार तप हैं और निज शुद्ध आत्मस्वरूप में प्रतपन अर्थात् विजय करनेरूप निश्चय तप है। मुनि को ये दोनों प्रकार के तप साथ ही होते हैं और वे ध्यान की सामग्री हैं। इनमें व्यवहार शुभरागरूप तप है, वह व्यवहार से सामग्री है; परन्तु अन्तरङ्ग में निश्चय होने पर ही उसे व्यवहार कहा जाता है।

इस प्रकार ध्यान की सामग्रीरूप तप का वर्णन किया।

अब श्रुत भी ध्यान की सामग्री है। देखो, बाहर में शरीर इत्यादि सामग्री की बात नहीं ली है, बल्कि अन्दर की बात ली है। धर्मी सन्त मुनि को ध्यान की सामग्रीरूप श्रुत कैसा होता है ? सर्वज्ञ भगवान की वाणी अनुसार कथित समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, षटखण्डागम, मूलाचार, भगवती आराधना इत्यादि द्रव्यश्रुत है। विकल्परूप द्रव्यश्रुत भी ऐसा होता है; इससे विरुद्ध हो वैसा द्रव्यश्रुत तो निमित्तरूप भी नहीं होता।

सर्वज्ञ की परम्परा के अनुसार दिगम्बर सन्तों के द्वारा रचित द्रव्यश्रुत ही निमित्तरूप होता है। यह बात समझने से ही छुटकारा है। आज मानों या जब चाहे तब मानों; जिसे कल्याण करना है, उसे यह बात मानने से ही छुटकारा है।

ध्यान करनेवाले को अन्तर में उपादानरूप से शुद्धात्मा के ज्ञानरूप भावश्रुतज्ञान सामग्री है और निमित्तरूप से सर्वज्ञ की परम्परा में सन्तों द्वारा कथित द्रव्यश्रुत है। विकाररहित निज शुद्ध आत्मा का ज्ञान, वह भावश्रुत है – ऐसे भावश्रुत में निमित्त द्रव्यश्रुत है।

धरसेनाचार्य, कुन्दाकुन्दाचार्य, नेमीचन्द सिद्धान्तिदेव इत्यादि सन्तों ने सर्वज्ञ की वाणी के अनुसार जो षटखण्डागम, समयसार, द्रव्यसंग्रह इत्यादि शास्त्रों की रचना की है, वैसा द्रव्यश्रुत ही निमित्त होता है। इससे विपरीत कहनेवाला द्रव्यश्रुत ध्यान में निमित्त भी नहीं होता। सत्श्रुत कैसे होते हैं और कुश्रुत कैसे होते हैं ? – इसका भी जिसे भान नहीं है; सन्तों की दशा कैसी होती है और कुलिङ्गी कैसे होते हैं ? – इसका भी जिसे भान नहीं है, उसे ध्यान नहीं हो सकता। श्रीमद्राजचन्द कहते हैं कि –

'सत्सङ्ग बिना ध्यान तरङ्गरूप हो जाता है।

सन्त के बिना अन्त की बात का अन्त नहीं आता।

लोक संज्ञा से लोकाग्र में नहीं जाया जाता।'

सर्वज्ञ की वाणी झेलकर, गणधरों ने जो शास्त्र गूँथे तथा इनकी परम्परा में सन्तों ने जो शास्त्र रचे, वह द्रव्यश्रुत है और अन्दर में शुद्ध चिदानन्द स्वभाव का स्व-सम्वेदन ज्ञान, वह भावश्रुत है – ऐसा श्रुत ध्यान की सामग्री है। उस सामग्री में भावश्रुत उपादान और द्रव्यश्रुत का विकल्प निमित्त है।

अब, ध्यान की तीसरी सामग्री व्रत का वर्णन करते हैं।

हिंसा का त्याग करके अहिंसा की शुभवृत्ति उत्पन्न होना, वह व्यवहार व्रत है। बाहर में हिंसा का त्याग द्रव्य अहिंसा तथा अन्दर में अहिंसा का शुभभाव भाव अहिंसा है – ऐसा द्रव्य-भावरूप व्रत, वह 'एकदेशव्रत' है। इसी प्रकार सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह इन पाँचों में शुभभाव की वृत्ति, वह एकदेश व्रत है।

देखो, यहाँ मुनि के महाव्रतों की बात है और उन महाव्रतों को ही यहाँ एकदेश व्रत कहा है। उसका कारण यह है कि उन व्रतों में अशुभ का तो त्याग है, परन्तु अभी शुभराग है; इसलिए एवदेशव्रत कहा है तथा अन्तरङ्ग में शुभ और अशुभराग के त्यागरूप निश्चयव्रत है। ये व्रत ध्यान की सामग्री हैं।

इस प्रकार तप, श्रुत और व्रत ध्यान की सामग्री है। वही कहा है कि –

१. वैराग्य २. तत्त्वों का ज्ञान ३. बाह्याभ्यन्तरूप दोनों परिग्रहों से रहितपना ४. राग-द्वेष से रहिततारूप साम्यभाव और ५. बाईस परीषहों का जीतना – ये पाँचों ध्यान के कारण हैं।

यहाँ मुनि के पञ्च महाव्रतों को भी ध्यान की सामग्री के रूप में वर्णन किया; वहाँ शिष्य **प्रश्न** करता है –

हे भगवान! ध्यान तो मोक्ष का साधन है और व्रत तो पुण्य बन्ध का कारण होने से मोक्षार्थी के लिए त्याज्य है। तात्पर्य यह है कि व्रत से पुण्यबन्ध होता है और पुण्य तो संसार का कारण है; इसलिए मोक्षार्थी जीव को तो व्रत का राग भी करने योग्य नहीं है और आपने तो व्रतादि को ध्यान की पूर्णता का साधन कहा है, तो यह कथन किस प्रकार घटित होता है ?

उसका **उत्तर** यह है कि केवल व्रत छोड़ने योग्य है – ऐसा नहीं है, परन्तु पापबन्ध के कारण हिंसा आदि भेदों के धारक अव्रत भी छोड़ने योग्य है। इसलिए पूज्यपाद स्वामी ने कहा है – 'हिंसा आदि अव्रतों से पाप का बन्ध होता है और अहिंसादि व्रतों से पुण्य का बन्ध होता है तथा पुण्य-पाप दोनों का नाश होने से मोक्ष होता है; इस कारण मोक्षार्थी पुरुष जिस प्रकार अव्रतों का त्याग करते हैं, उसी प्रकार अहिंसादि व्रतों का त्याग करें।

पहले, शुभ तथा अशुभ दोनों राग छोड़ने योग्य हैं, ज्ञायक चिदानन्द स्वरूप ही आदरणीय है – ऐसी दृष्टि प्रगट हो, तब सम्यग्दर्शन होता है; तत्पश्चात् अन्तर में विशेष एकाग्रता होने पर निर्ग्रन्थ सन्त दिगम्बर आचार्य के समीप जाकर कहता है कि – 'हे नाथ! मुझे मोक्षदायिनी भगवती जिनदीक्षा प्रदान करो!' वहाँ पञ्च महाव्रत की शुभवृत्ति उत्पन्न होती है, उसमें अशुभ का त्याग है; इसलिए उसे एकदेशव्रत कहा है और वह

पञ्च महाव्रत की शुभवृत्ति भी छूटकर, रागरहित होकर स्वरूप में निर्विकल्प लीनता हुई, उसे यहाँ सम्पूर्णव्रत गिना है और तब एकदेशव्रतरूप शुभराग भी छूट जाता है। मुनि को पहले अशुभ छूटकर शुभ आता है - इस अपेक्षा से व्यवहार से उसे भी ध्यान की सामग्री के रूप में वर्णन किया है। वह पञ्च महाव्रत की वृत्ति भी स्वरूप में स्थिर होने पर छूट जाती है। आत्मा के परमानन्द में लीन होकर परम पद की प्राप्ति करने पर व्रत का भी त्याग हो जाता है। इससे पूर्व शुभराग नहीं छूटता। शुद्धोपयोग होने के पूर्व शुभराग नहीं छूटता; तो भी धर्मी की श्रद्धा में तो पहले से ही वह राग छोड़ने योग्य है। जिसे पहले सच्ची श्रद्धा भी न हो, उसे ध्यान नहीं हो सकता।

पूर्व कथन में विशेष यह है कि मन-वचन-काया की गुप्तिरूप होकर जो आत्मा का ज्ञानस्वरूप निर्विकल्प ध्यान है, उसमें व्यवहाररूप एकदेश व्रतों अर्थात् पञ्च महाव्रत के विकल्पों का तो त्याग कराया है, परन्तु रागरहित निश्चय व्रत का तो स्वीकार किया है। जो चैतन्य के ध्यान में लीन हुए हैं, उन सन्तों को शुभ-अशुभ राग के त्यागरूप निश्चयव्रत तो है, परन्तु राग के विकल्परूप व्रतों को त्याग है।

यहाँ पञ्च महाव्रत को भी एकदेशव्रत कहा है; इस सम्बन्ध में शिष्य स्वयं आशङ्का करेगा एवं श्रीगुरु उसका समाधान प्रस्तुत करेंगे।

इस प्रकार इस गाथा में ध्यान की सामग्री की बात की गयी है। आत्मा का सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही ध्यान है। अन्तर स्वभाव की प्रतीति, वह अन्तरङ्ग सामग्री है और द्रव्यश्रुत, बाह्य सामग्री है। नियमसार, गाथा-५३ में कहा है कि भगवान की वाणी के अनुसार रचित द्रव्यश्रुत ही सम्यग्दर्शन की बाह्य सामग्री है। उसमें सच्चे देव-शास्त्र-गुरु ही निमित्त होते हैं, अन्य नहीं। शुद्ध आत्मतत्त्व की विनय करना, अन्तरङ्ग सामग्री है और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की विनय करना, बाह्य सामग्री है। तप में भी बाह्य विनय सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का ही होता है।

सर्वज्ञ द्वारा कथित शास्त्र की स्वाध्याय का विकल्प, बाह्य सामग्री है और अन्तर स्वभाव में ढलना, वह स्वाध्याय तपरूप ध्यान की अन्तरङ्ग सामग्री है। इस प्रकार यहाँ उपादान-निमित्त का विवेक कराया गया है। विनय में भी दर्शन विनय, ज्ञान विनय इत्यादि सब आ जाते हैं।

यहाँ शिष्य को **प्रश्न** उपस्थित होता है कि आत्मा के ध्यान की दशा में, मुनि के पञ्च महाव्रत के विकल्प को ध्यान की सामग्री कहा है, परन्तु व्रत तो पुण्यबन्ध का कारण है, तब उसे ध्यान की सामग्री कैसे कहा जा सकता है ?

समाधान इस प्रकार है – पञ्च महाव्रत के शुभ परिणामों में अशुभ परिणाम छूटते हैं और वहाँ एकदेश शुभपरिणाम विद्यमान है, उनका त्याग कराया है। आत्मा ज्ञानानन्द स्वरूप है। उसमें रमणता होने पर जो पुण्य-पाप का त्याग वर्तता है, उसका त्याग नहीं कराया; (क्योंकि उसका त्याग तो वर्तता ही है।) परन्तु पुण्य परिणाम का त्याग कराया है। अन्तर में शुभाशुभ परिणाम छूटकर जो निश्चयव्रत प्रगट हुआ है, उसका त्याग नहीं कराया है।

छठवें गुणस्थान में मुनिराज को अशुभपरिणाम छूटते हैं, इसलिए उसे एकदेश त्याग कहा है। जो व्यवहार से एकदेश त्याग कहा था, उसका त्याग कराया है और सम्पूर्ण शुभाशुभभाव का त्याग होने पर अन्तरङ्ग में निश्चयव्रत प्रगट होता है, उस निश्चयव्रत को स्वीकार किया गया है, परन्तु उसका त्याग नहीं कराया गया है – ऐसी अस्ति और नास्ति से यहाँ बात की गयी है।

यहाँ छठवें गुणस्थानवर्ती मुनि के ध्यान की सामग्री की बात चल रही है। उसमें अन्तर निर्विकल्पता, वह निश्चयसामग्री है, बाह्य महाव्रतादि, वह बाह्य सामग्री है; यहाँ उसका भी त्याग कराया गया है, परन्तु रागरहित दशा अथवा सर्वव्रतदशा का स्वीकार कराया है।

अन्तर स्वरूप में स्थिरता किये बिना परम आनन्द का अनुभव नहीं हो सकता, इसलिए यहाँ कहा गया है कि महाव्रतादि बाह्य सामग्री और अन्तर स्थिरता निश्चय सामग्री है।

आत्मा चिदानन्द है – ऐसी श्रद्धा और ज्ञान होने के उपरान्त मुनि को छठवें गुणस्थान में अहिंसा, सत्य आदि पाँच महाव्रत होते हैं।

सीताजी आदि आर्यिकाएँ पञ्चम गुणस्थान में थे। शास्त्रकार ने उनको उपचार से महाव्रत कहा है। इसका कारण यह है कि जिसको स्त्री का शरीर हो, उसकी आत्मा की पर्याय में पञ्चम गुणस्थान तक की ही दशा प्रगट होती है, इससे अधिक अन्तरङ्ग

शुद्धदशा नहीं हो सकती। गोम्मटसार में कहा है कि पन्द्रह कर्मभूमियों की स्त्रियों को पहला, दूसरा और तीसरा संहनन नहीं हो सकता, इसलिए उनकी पर्याय में पञ्चम गुणस्थान तक की ही दशा प्रगट हो सकती है। स्त्रियों को छठवाँ आदि गुणस्थान मानने-मनवाने और अनुमोदन करनेवाला मिथ्यादृष्टि है। आर्यिका को पञ्च महाव्रत उपचार से कहे गये हैं और मुनिराज को वास्तव में होते हैं।

यहाँ शङ्काकार **शङ्का** करता है कि जिन्हें अन्तरङ्ग शुद्धदशा प्रगट हुई है और बाह्य नग्न दिगम्बरदशा है, ऐसे मुनिराज को अहिंसादि महाव्रत प्रसिद्ध हैं, उन्हें एकदेश कैसे कहते हो ?

इसका **समाधान** यह है कि - १. यद्यपि निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिराज को अहिंसा महाव्रत में अन्य जीवों को मारने की प्रवृत्ति नहीं है, तथापि अन्य जीवों को दुःख न दूँ - ऐसी वृत्ति उत्पन्न होती है। छठवें गुणस्थान में हिंसारूप अशुभभाव से निवृत्ति है, परन्तु अहिंसारूप शुभभाव की प्रवृत्ति है। २. सत्य महाव्रत में देव-शास्त्र-गुरु शिष्य के प्रति झूठ बोलने के भाव का त्याग है, तो भी मैं सत्य बोलूँ, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की आज्ञानुरूप सत्य उपदेश दूँ - ऐसे शुभविकल्प की प्रवृत्ति है। ३. अचौर्य महाव्रत में बिना दिये हुए पदार्थ के ग्रहण का त्याग है, परन्तु निर्दोष आहार-पानी, पुस्तक, मोरपिच्छी, कमण्डलु इत्यादि पदार्थों के ग्रहणरूप शुभरागरूप प्रवृत्ति है। ४. ब्रह्मचर्य महाव्रत में विषय सेवन का अशुभराग छूटा है, परन्तु ब्रह्मचर्य के शुभराग की प्रवृत्ति है। अपरिग्रह महाव्रत में वस्त्र-पात्रादि परिग्रह नहीं है, परन्तु मैं नग्न/अपरिग्रही हूँ - ऐसे निष्परिग्रह रूप शुभविकल्प की प्रवृत्ति होती है; इस प्रकार पाँचों महाव्रतों में शुभराग की प्रवृत्ति रहने से इन्हें 'एकदेश' कहा गया है।

जब मुनिराज सातवें गुणस्थान में आते हैं, तब स्वभाव में स्थिरता होने से, उनके पाँच महाव्रतों का राग छूट जाता है, इसलिए वहाँ एकदेश व्रत का त्याग वर्तता है। मन-वचन-काया को गुप्तिस्वरूप विकल्परहित ध्यान में शुभराग का त्याग कराया है, परन्तु शुभ-अशुभ की निवृत्तिरूप निश्चयव्रत का त्याग नहीं कहा गया है।

प्रश्न - त्याग शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर - जिस प्रकार हिंसा आदि पाँच अव्रतों से रहितपना होता है अर्थात् त्याग

होता है, उसी प्रकार अहिंसा आदि पञ्च महाव्रतरूप एकदेश व्रत हैं, उनसे रहितपना होना – यह त्याग शब्द का अर्थ समझना चाहिए। यदि यह पूछा जाए कि एकदेश व्रतों का त्याग किस कारण से होता है ? तो उसका समाधान यह है कि ध्यान में, मैं दया पालता हूँ अथवा यह छोड़ता हूँ – ऐसा विकल्प नहीं होता। वहाँ 'मैं नग्न दिगम्बर मुनि हूँ, मुझसे अन्य को दुःख न हो – इत्यादि विकल्प को अवकाश नहीं है। मन-वचन-काय, इन तीनों और से छूटकर जो गुप्त अवस्था होती है, उसमें प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिरूप विकल्प का स्वयं ही अवकाश नहीं है। तात्पर्य यह है कि मन-वचन-काया की गुप्तिरूप ध्यान में किसी प्रकार का विकल्प नहीं है।

प्रश्न – भरत चक्रवर्ती ने केवलज्ञान से पूर्व महाव्रत कब धारण किये थे ?

उत्तर – उन्होंने जिनदीक्षा के बाद तुरन्त केवलज्ञान प्रगट किया था, परन्तु महाव्रत का शुभ परिणाम थोड़े समय रहा था; इसलिए लोगों के ख्याल में नहीं आया।

कितने ही जीव कहते हैं कि भरत चक्रवर्ती ने वस्त्रसहित गृहस्थदशा में ही केवलज्ञान प्राप्त कर लिया, फिर इन्द्र ने ऊपर से मुँह पट्टी प्रदान की; परन्तु यह बात मिथ्या है। वास्तविकता यह है कि उनको मन-वचन-काया और कृत-कारित-अनुमोदन – ऐसी नव कोटि से परिग्रह का त्याग था। हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का नव कोटि से त्याग था। भरत चक्रवर्ती के नग्न दिगम्बर दशा हुई थी। उनके शास्त्र कथित पञ्च महाव्रतादि अट्ठाईस मूलगुणों के परिणाम थे। पाँचों इन्द्रियों के विषय-कषाय का परित्याग हुआ था। राज्य और परिवार आदि का विकल्प छूट गया था और पञ्च महाव्रत का मन्दराग हुआ था। तत्पश्चात् तुरन्त ही मन-वचन-काय के विकल्प से छूटकर, निर्विकल्प आनन्दकन्द आत्मा में स्थिर हुए थे और शीघ्र ही केवलज्ञान प्रगट किया था।

श्वेताम्बर मत की मान्यताओं का निराकरण करते हुए मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि श्वेताम्बर गृहस्थ को मोक्ष कहते हैं, परन्तु हिंसादि सर्व सावद्ययोग का त्याग करने पर गृहस्थपना कैसे सम्भव है ? यदि कहोगे कि अन्तरङ्ग से त्याग हुआ है, परन्तु यहाँ तो तीन योग से त्याग करते हैं तो काया द्वारा त्याग किस प्रकार हुआ ? यदि बाह्य परिग्रहादि रखने पर भी महाव्रत होते हों तो महाव्रतों में तो बाह्य त्याग करने की अर्थात्

मन-वचन-कायरूप तीनों योगों से त्याग करने की प्रतिज्ञा करायी जाती है; त्याग किये बिना महाव्रत नहीं होते और महाव्रतों के बिना छठवाँ आदि गुणस्थान भी नहीं हो सकता, तब मोक्ष किस प्रकार होगा? इसलिए गृहस्थ को मोक्ष कहना मिथ्या वचन है।

श्री वीर वर्द्धमान स्वामी तीर्थङ्कर के समवसरण में श्रेणिक राजा ने प्रश्न किया कि हे भगवान! भरतजी ने दीक्षा अङ्गीकार करने के कितने समय बाद केवलज्ञान प्राप्त किया? इस प्रश्न का उत्तर श्री गौतम स्वामी ने दिया कि हे श्रेणिक राजा! बन्ध के कारणभूत जो केश हैं, उन्हें पञ्च मुष्टि से उखाड़ देने के पश्चात् अर्थात् पञ्च मुष्टि केशलोंच करने के अनन्तर काल में श्री भरत चक्रवर्ती ने केवलज्ञान प्राप्त किया। वस्तुतः यह निमित्तसापेक्षकथन है। मुनि को शरीर के प्रति राग नहीं रहता, उन्हें केशलोंच के समय भी दुःख नहीं होता। भरत चक्रवर्ती पञ्च मुष्टि केशलोंच करके केवलज्ञान को प्राप्त हुए, वहाँ अन्तर पुरुषार्थ की जागृति बढ़ी है; इसलिए तुरन्त ही केवलज्ञान को प्राप्त हुए।

अब शिष्य कहता है - आप कहते हैं कि स्वभाव का ध्यान करो, पुण्य-पाप को छोड़ो, परन्तु इस पञ्चम काल में ध्यान तो है नहीं, क्यों नहीं ? यदि ऐसा कहो तो इस काल में उत्तम संहनन अर्थात् वज्रवृषभनाराच - ऐसे उत्तम संहनन का अभाव है तथा दश और चौदह पूर्व श्रुतज्ञान का अभाव है, इसलिए ध्यान नहीं होता।

शिष्य की आशङ्का का समाधान करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि जिस ध्यान से परमात्मदशा अथवा केवलज्ञान प्राप्त हो, वैसा शुक्लध्यान इस काल में नहीं है, परन्तु धर्मध्यान तो है ही। यही बात श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने बोधपाहुड में कही है कि 'भरतक्षेत्र में पञ्चम काल में सर्वज्ञपना प्रगट हो, वैसा ध्यान नहीं होता, परन्तु ज्ञानी जीवों को धर्मध्यान होता है। यदि कोई कहे कि इस काल में स्वभाव में स्थितिरूप धर्मध्यान नहीं हो सकता तो वह अज्ञानी है, वह वस्तु के स्वरूप को नहीं समझता।

शिष्य ने प्रश्न किया कि पञ्चम काल में ध्यान नहीं होता। उसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि इस काल में शुक्लध्यान नहीं है, परन्तु ज्ञानी जीव को धर्मध्यान तो होता है। वर्तमान में स्वभाव में स्थिरतारूप धर्मध्यान प्रगट नहीं होता - ऐसा मानने वाला अज्ञानी है।

इस काल में ध्यान अर्थात् स्वभाव की एकाग्रता/सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट नहीं हो सकते - ऐसा नहीं है। इस काल में भी ऐसा ध्यान करके जीव इन्द्रपद अथवा लोकान्तिक पद को प्राप्त होते हैं और वहाँ से मनुष्य होकर मोक्ष जाते हैं। इस बात का निषेध जिनागम में कहीं नहीं किया है।

इसी प्रकार तत्त्वानुशासन में भी कहा है कि इस काल में शुक्लध्यान अथवा उपशमश्रेणीरूप ध्यान नहीं है, परन्तु धर्मध्यान होता है। जीव निज आत्मा का भान करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट कर सकता है। उपशम या क्षपकश्रेणी के पूर्व होनेवाला धर्मध्यान इस काल में भी हो सकता है।

हे शिष्य! तू कहता है कि 'इस काल में उत्तम संहनन का अभाव है, इस कारण ध्यान नहीं होता' - यह सत्य है, परन्तु यह उत्सर्गवचन है। पहले संहनन में शुक्लध्यान होता है, उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी में शुक्लध्यान होता है, वह उत्तम संहननवालों को ही होता है। इसमें गर्भितरूप से यह बात भी आ जाती है कि नीचे के गुणस्थानों में धर्मध्यान होता है। शुक्लध्यान न हो तब भी ध्यान होता है - यह अपवाद कथन है। अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान से नीचे के गुणस्थानों में धर्मध्यान होता है। वज्रवृषभनाराच आदि पहले तीन संहनन न होने पर भी चौथे, पाँचवें, छठवें संहनन अर्थात् अर्धनाराच, कीलक और स्फटिकवाले जीवों को धर्मध्यान होता है। तत्त्वार्थसूत्र में वज्रकायवाले को ध्यान होना कहा है, वह श्रेणी की अपेक्षा कहा है अर्थात् वह कथन उपशम और क्षपकश्रेणीवाले जीवों को लक्ष्य में रखकर किया गया है। उस कथन का आशय नीचे के गुणस्थानवाले जीवों के धर्मध्यान का निषेध करने का नहीं है।

दश पूर्व अथवा चौदह पूर्ववाले को ध्यान होता है - यह तत्त्वार्थसूत्र का कथन भी उत्सर्गवचन है। जब जीव श्रेणी आरोहण करता है, तब किसी को इतना ज्ञान होता है और किसी को इतना क्षयोपशम नहीं भी होता। अपवाद कथन से तो पाँच समिति और तीन गुप्ति का प्रतिपादन करनेवाले सारभूत श्रुतज्ञान से भी ध्यान प्रगट होता है और केवलज्ञान प्रगट होता है।

जिसे यह भासित हुआ कि मैं अखण्ड आनन्दस्वरूप हूँ, मेरा स्वभाव शान्त/अनाकुल है और राग-द्वेषादि भाव आकुलता है, उस जीव को अपने में स्थिरता करने

से केवलज्ञान प्रगट होता है। पाँच समिति और तीन गुप्ति के सारभूत ज्ञानवाले जीव को केवलज्ञान होता है – यह अपवाद कथन है। यदि यह अपवाद कथन न हो अथवा पूर्वकथित बात में यह बात अन्तर्गर्भित न हो तो 'तुषमाषभिन्न' की घोषणा करते हुए शिवभूति मुनि केवलज्ञानी हुए – यह कथन गंधर्वाराधनादि ग्रन्थों में किया है, वह कैसे सिद्ध होगा ?

शिवभूति मुनि को चौदह पूर्व का ज्ञान नहीं था, परन्तु दर्शन और ज्ञान परिपूर्ण थे अर्थात् उन्होंने परिपूर्ण स्वभाव को यथार्थतः पकड़ा था/अनुभव किया था। उनके गुरु ने उनसे कहा कि किसी से सन्तोषित मत होना और किसी पर द्वेष मत करना; मात्र ज्ञाता रहना–स्वभाव में रहना। शिवभूति मुनि को गुरु द्वारा कहे गये 'मा तूषह मा रूषह' इतने से शब्द भी याद नहीं रहे। एक बार जब वे आहार के लिए जा रहे थे, तब रास्ते में उड़द की दाल धोती हुई एक महिला से दूसरी महिला ने पूछा कि तुम क्या कर रही हों ?

पहली महिला ने कहा कि तुष अर्थात् छिलके मास से अर्थात् उड़द की दाल से अलग कर रही हूँ – इस बात के सुननेमात्र से 'तुषमाषभिन्नं' शब्द याद रखकर, शिवभूति मुनि ने उसका अन्तरभाव पकड़ लिया कि चिदानन्द आत्मा मास अर्थात् उड़द की दाल के समान है और विकार, तुष अर्थात् छिलके के समान है, वह पृथक् करने योग्य है। इस भाव से शुद्धात्मा का ध्यान करके केवलज्ञान प्रगट कर लिया।

अब, कदाचित् तुम ऐसा कहो कि शिवभूति मुनि, पाँच समिति और तीन गुप्ति का प्रतिपादन करनेवाले द्रव्यश्रुत शास्त्र को जानते थे तथा उन्हें उस प्रकार का भावश्रुतज्ञान सम्पूर्णरूप से था तो ऐसा भी नहीं था। पाँच समिति और तीन गुप्ति का अधिकार/वर्णन आचाराङ्ग शास्त्र का एक भाग है। वह सब अधिकार उन्हें याद था – यदि ऐसा तू कहना चाहता हो तो ऐसा नहीं है। उन्हें तो शुद्ध आत्मा और विकार के बीच भेदज्ञान वर्तता था, परन्तु शब्दों का ज्ञान नहीं था।

आत्मा की प्रतीति और ज्ञान हुआ – इस अपेक्षा से शिवभूति मुनि ज्ञान से परिपूर्ण थे। 'द्रव्यसंग्रह' गाथा–५४ में कहा है कि मुनिराज दर्शन–ज्ञान में परिपूर्ण होते हैं। वहाँ उस कथन की अपेक्षा समझना चाहिए। साधु, आत्मा को साधने का प्रयत्न करनेवाले

हैं; उसकी आराधना से केवलज्ञान होगा, इसलिए साधु को दर्शन और ज्ञान परिपूर्ण कहे गये हैं। तात्पर्य यह है कि वहाँ आत्मा की आराधना की अपेक्षा से अथवा दर्शन-ज्ञान में सम्पूर्ण आत्मा ध्येयरूप से पकड़ा है; इसलिए वहाँ दर्शन-ज्ञान से परिपूर्ण कहा था। जो ज्ञान अन्तर्मुख होकर स्वज्ञेय को ध्येय बनाता है और मुनि की चारित्रदशा वृद्धिगत हुई है; इसलिए वहाँ उनके दर्शन-ज्ञान को परिपूर्ण कहा है। यहाँ दूसरी अपेक्षा है।

शिवभूति मुनि को सारा आत्मा ध्येय होने पर भी पर्याय में ज्ञान का क्षयोपशम अल्प था; इसलिए यहाँ शङ्काकार शिष्य से कहते हैं कि शिवभूति मुनि को पाँच समिति और तीन गुप्ति का प्रतिपादन करनेवाले द्रव्यश्रुत और भावश्रुत का सम्पूर्णरूप से उघाड़ होता तो 'मा रूषह मा तूषह' - ऐसा एक पद भी क्यों याद नहीं रहा? इससे निश्चित होता है कि उन्हें पाँच समिति और तीन गुप्तिरूप जो आठ प्रवचनमाता है, उस प्रमाण भावश्रुतज्ञान था और द्रव्यश्रुत जरा भी नहीं था।

आचार्यदेव कहते हैं कि यह व्याख्यान हमने कल्पित नहीं किया है, बल्कि चारित्रसार में भी कहा है कि बारहवें गुणस्थान वाले मुनि को अधिकतम चौदह पूर्व तक ज्ञान होता है और न्यूनतम पाँच समिति और तीन गुप्तिमात्र का ज्ञान होता है।

निर्ग्रन्थ के छह प्रकार हैं। उसमें ऋषि की चर्चा की है। अन्तर्मुहूर्त पश्चात् केवलज्ञान उत्पन्न होनेवाले क्षीण कषाय नामक बारहवें गुणस्थान में निर्ग्रन्थ मुनि को ऋषि कहते हैं। उन्हें उत्कृष्ट ग्यारह अङ्ग चौदह पूर्व तक श्रुतज्ञान होता है और जघन्य पाँच समिति तीन गुप्तिमात्र श्रुतज्ञान होता है। अन्य आचार्य भी ऐसा ही कहते हैं।

प्रश्न - ध्यान तो मोक्ष के लिए किया जाता है; जब पञ्चम काल में मोक्ष नहीं है तो फिर ध्यान करने से क्या प्रयोजन है ?

समाधान - यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं है। यहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ध्यान कहना और इस काल में उसका अभाव नहीं है। यहाँ पञ्चम काल में भी परम्परा मोक्ष है। वह किस प्रकार है ? सो बतलाते हैं -

धर्मात्मा जीव, आत्मस्वरूप की रुचि और स्थिरता करके अथवा निजशुद्ध आत्मा की भावना से संसार की स्थिति अल्प करता है और बहुत कर्मों की निर्जरा करके स्वर्ग में जाता है। वहाँ से मनुष्यभव में आकर रत्नत्रय की भावना करके मोक्ष प्राप्त करता

है। भरत चक्रवर्ती, सगर, पाँच पाँण्डवों में से तीन - युधिष्ठर, भीम, अर्जुन इत्यादि ने पूर्व में आत्मा की आराधना की थी। उन्होंने पूर्व भव में अभेदरत्नत्रय से आत्मा की भावना भायी थी, शुद्ध आत्मा की प्रतीति-रमणता की थी और संसार की स्थिति परिमित की थी और वर्तमान भव में विशेष पुरुषार्थ करके मोक्ष प्राप्त किया था। सभी जीव उसी भव में मोक्ष जाएँ - ऐसा नियम नहीं है; इसलिए यदि जीव इस काल में भी पुरुषार्थ करे तो आगामी भव में मोक्ष प्राप्त करेगा - ऐसा कहकर पुरुषार्थ करने को कहते हैं।

इस प्रकार यह निश्चित हुआ कि अल्प श्रुतज्ञान होने पर भी ध्यान होता है और ध्यान से मोक्ष होता है।

यह जानकर हमें क्या करना चाहिए ? खोटा ध्यान छोड़ना चाहिए। द्वेष करके अन्य जीवों को मारना, बाँधना, किसी के शरीर के अङ्ग काटना; राग से परस्त्री को निरखना इत्यादि प्रकार के चिन्तवन करने को, निर्मलबुद्धि धारक आचार्यदेव खोटा ध्यान या अपध्यान कहते हैं। ऐसे अपध्यान का परित्याग करना चाहिए।

हे जीव! सङ्कल्प-विकल्प का आश्रय लेने से तेरा चित्त मनोरथ सागर में डूब जाता है। कल धन की आमदनी होगी, फिर बँगला इत्यादि बनाऊँगा और फिर.....ऐसा अपध्यान रहने दे। कोई त्यागी हुआ हो, उसे भी शिष्य बढ़ाने की अभिलाषा रहा करती है; फिर एक-दूसरे से प्रतिष्ठा में बढ़ जाने का विचार किया करते हैं - मान किया करते हैं - यह सब अपध्यान है। कदाचित् तुझे पूर्व पुण्योदय से बाह्य संयोग प्राप्त हुए हों तो उनमें राग का अनुभव होगा, परन्तु उनमें कहीं आत्मस्वरूप का अनुभव नहीं होगा। उससे तू केवल पाप का भागी होगा।

और कहते हैं कि निर्धन मनुष्य अनेक प्रकार के भोजन के सङ्कल्प-विकल्प किया करता है, उसमें पाप का आनन्द है। निर्धन मनुष्य का अच्छा भोजन प्राप्त होने का अवसर न होने पर भी वह भोजन के विकल्प में रुक जाता है। जबकि यह नित्यानन्द आत्मा तेरे पास विद्यमान पड़ा है, इसका ध्यान कर तो तेरा जन्म निष्फल नहीं जाएगा। भाई! असंख्यप्रदेशी आत्मा का ध्यान कर। अनेक प्रकार के मनोरथ में चित्त की प्रवृत्ति के बदले तू निज चिदानन्द आत्मा की श्रद्धा और ज्ञान कर तो तेरा अवतार सफल होगा। भले ही तू गरीब हो और अच्छा भोजन न मिलता हो तो भी यदि तू अपने चित्त को निज परमात्म तत्त्व में जोड़ेगा तो तेरी जिन्दगी सफल है।

इस प्रकार अपध्यान छोड़कर निज आत्मा का ध्यान करने का उपदेश है।

यहाँ वैराग्यपूर्ण उपदेश करते हुए कहते हैं कि हे जीव! यदि तू संसार के वेग में दौड़ता है तो तुझे संसार ही फलित होगा और आत्मा का आश्रय लेगा तो शान्ति फलेगी। आत्मा, शुद्ध आनन्द स्वरूप है, उसकी भावना छोड़कर पुण्य-पाप का आश्रय लेने से शान्ति प्राप्त नहीं होगी। ज्ञायकस्वभाव आत्मा की प्रतीति करके ध्यान कर तो तेरा अवतार सफल है। इतना पुण्य किया, व्रत, दान किया, जगत में बड़प्पन और महिमा प्राप्त हुई - यह जन्म का सफलपना नहीं है। शुद्ध चिदानन्द आत्मा की प्रतीति करके रमणता करना ही जन्म का सफलपना है। पूर्व पुण्य अथवा नया पुण्य मोक्षरूपी साध्य को देने वाला नहीं है।

अज्ञानी जीव विकार से परिणत है और काम-भोगों में मूर्च्छित है। शरीर, पैसा, स्त्री में मूर्च्छित है। संयोगों की प्राप्ति पुण्याधीन है; न मिलने पर भी उनकी भावना करता है, यह अपध्यान है। अज्ञानी जीव भोगों को न भोगता होने पर भी भोगने की इच्छा होने से कल्पना करके कर्म बाँधता है; इसलिए ऐसा मिथ्याध्यान को छोड़ - ऐसा यहाँ कहते हैं।

अब, नियमसार की गाथा का आधार देते हुए कहते हैं कि मुझे आत्मा की आलम्बनरूप है। पुण्य, व्यवहार, शरीर, मन इत्यादि कोई आधार नहीं है। अन्दर में भगवान आत्मा की दृष्टि करके, उसका आलम्बन लेने से पर-पदार्थ की दृष्टि छूट जाती है। इस प्रकार निर्ममत्व में स्थिर होने से पर-पदार्थ से ममकारबुद्धि छूट जाती है। मेरे ध्यान का आधार मेरा आत्मा है। मैं अन्य पदार्थों को छोड़ता हूँ अथवा भूलता हूँ।

मेरा आत्मा ही सम्यग्दर्शन है। एकरूप स्वभाव की प्रतीति ही सम्यग्दर्शन है। आत्मा ही ज्ञान है, व्यवहाररत्नत्रय ज्ञान नहीं है तथा आत्मा ही चारित्र है, व्रतादि का पालन चारित्र नहीं है।

कितने ही लोग कहते हैं कि व्रतादि का पालन करो तो समकित होगा; इस प्रकार वे शरीराश्रित क्रिया से धर्म होना मानते हैं; परन्तु यह सब मिथ्या है। ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा में एकाग्र होना, वह चारित्र है। चैतन्य आत्मा, रागस्वभावी नहीं; अपितु ज्ञान-दर्शनस्वभावी है। उसकी प्रतीति के बिना व्रतरूपी वृक्ष नहीं उग सकता। आत्मा

ज्ञानस्वरूपी है। अतीन्द्रियज्ञान से ज्ञान/आत्मा को पकड़कर, उसमें लीन होना चारित्र है और उस समय शरीर की अवस्था नग्न होती है, परन्तु शरीर की नग्न अवस्था हुई, इसलिए चारित्र प्रगट हुआ - ऐसा नहीं है।

आत्मा स्वयं ही प्रत्याख्यान है। ज्ञान की ज्ञान में ही लीनता, वह प्रत्याख्यान है। राग का त्याग मात्र व्यवहार है। स्वभाव में लीनता ही प्रत्याख्यान है। शुभभाव करना पुण्य है, प्रत्याख्यान नहीं।

ज्ञानस्वभाव में शुभाशुभभाव उत्पन्न न होने देना ही संवर है। संवर पर्याय है, परन्तु उसे अभेद गिनकर आत्मा को संवर कहा है। इसी प्रकार ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता ही योग अथवा ध्यान है; इसलिए आत्मा स्वयं ही योग है।

फिर नियमसार का आधार देते हुए कहते हैं कि ज्ञान-दर्शन लक्षण का धारक एक मेरा आत्मा ही अविनाशी है; शेष संयोगरूप लक्षण के धारक समस्त बाह्यभावों का वियोग होगा। पुण्य-पाप, देह-मन-वाणी का वियोग होगा, वह मेरी वस्तु नहीं है; इसलिए सारभूत पदों का ग्रहण करके ध्यान करना चाहिए।

अब, मोक्ष के विषय में नयों के विचार का कथन करते हैं -

ध्यान रहे यहाँ एक व्यक्ति की अपेक्षा बात चलती है। समुच्चय रूप तो अनन्तानन्त जीव रहते हैं। सिद्ध बढ़ते नहीं और निगोदिया घटते नहीं अर्थात् सिद्ध भी अनन्त हैं और निगोदिया भी अनन्त हैं। बढ़ना-घटना कहना व्यवहार है। अनन्तवें भाग बढ़े अथवा घटे, यह व्यवहार है। सिद्धों और निगोदिया में जीवों की अनन्तानन्त संख्या का थोक पड़ा है, उसमें घट-बढ़ नहीं हैं - ऐसा पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं।

यहाँ व्यक्ति अपेक्षा से बात चलती है। मोक्ष, बन्धपूर्वक होता है। जिस जीव ने मोक्ष प्राप्त किया, वह पूर्व में बँधा हुआ होना चाहिए। यदि पूर्व में बन्ध न हो तो मोक्ष किसका? पूर्व पर्याय में बन्धदशा स्वीकार किये बिना 'इस जीव का मोक्ष हुआ' - ऐसा नहीं कहा जा सकता। जीव को पूर्व दशा में बन्ध नहीं मानने से मोक्ष शब्द में 'मुच्' धातु का छूटनेरूप अर्थ व्यर्थ हो जाता है।

आशय यह है कि जैसे कोई पुरुष बँधा हुआ हो और वह छूटे तो उसे मुक्त कहा जाता है। इसी प्रकार जीव अनादि से कर्मों से बँधा है, उसका मोक्ष होता है।

शुद्धनिश्चयनय से बन्धन नहीं है। बन्धनपूर्वक होनेवाली मुक्ति भी शुद्धनिश्चयनय से नहीं है। यदि शुद्धनिश्चयनय से बन्धन होता हो तो द्रव्य ही नहीं रहेगा; ध्रुववस्तु का ही अभाव हो जाएगा। यहाँ अपेक्षा से बात की है कि यदि वास्तव में शुद्धनिश्चयनय से आत्मा बँधा हो तो वह आत्मा सदा ही बँधा हुआ रहेगा और कभी मोक्ष होगा ही नहीं।

आत्मवस्तु अनादि-अनन्त है। उसे एक समय का बन्धन है। उस बन्धन का व्यय होने पर मोक्ष होता है। वह मोक्षपर्याय भी एक समय की है। द्रव्यस्वभाव में बन्ध-मोक्ष नहीं है। जैसे एक पुरुष पाँच धनुष का है, उसके पैर में जंजीर है तो उतने भाग में पूरा पुरुष नहीं आ जाता। जंजीर का बन्धन और उसे तोड़नेरूप उद्यम, उस सम्पूर्ण पुरुष का स्वरूप नहीं है। शरीर का एक भाग बँधता है, उतने में पूरा पुरुष नहीं आ जाता, परन्तु पृथक् करने का उद्यम तथा पृथक्करण से भिन्न जो हाथ और पैर के आकार आदिरूप पुरुष का स्वरूप है। इसी प्रकार शुद्धोपयोगरूपी लक्षणवाला भावमोक्ष जीव का स्वरूप नहीं है। एक समय की पर्याय जीव का स्वरूप नहीं है। पर्याय एक समय की है और जीव त्रिकाली है। आत्मा की एक समय की पर्याय में बन्धन है और एक समय की पर्याय में वह छूटता है; इसलिए दोनों अर्थात् बन्धन और मोक्ष जीव का स्वरूप नहीं है। भावमोक्ष, जीव का त्रिकाली स्वरूप नहीं है तथा भावमोक्ष से साध्य अथवा आत्मा के प्रदेशों से कर्म के छूटनेरूप दशा/द्रव्यमोक्ष भी जीव का स्वरूप नहीं है। जीव का त्रिकाली स्वरूप परम पारिणामिकभावरूप रहता है। वही जीव का वास्तविक स्वरूप है। वही सम्यग्दर्शन का विषय है।

अहा! मोक्षदशा भी जीव का स्वरूप नहीं है। कर्मों का छूटना भी जीव का स्वरूप नहीं है। बँधना और छूटना पर्याय को लागू पड़ता है और वह व्यवहारनय का विषय है।

भावमोक्ष और द्रव्यमोक्ष से भिन्न ज्ञानादिगुणरूप स्वभाववान त्रिकाली द्रव्य का आश्रय करने से धर्म होता है। बन्ध और मोक्ष एक समय की दशा होने से व्यवहारनय का विषय है। पर्याय को जड़कर्म के साथ एक समय का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है; परन्तु त्रिकाली स्वभाव को जड़कर्म के साथ सम्बन्ध है ही नहीं। स्वभाव एकरूप त्रिकाली है। उसमें मूलभूत ज्ञान, दर्शनादि गुण हैं, वह जीव का वास्तविक स्वरूप है। वस्तु है, है और है।

जब आत्मा की पर्याय को कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होना भी जीव का स्वभाव नहीं है, तो कर्म के कारण जीव को विकार होता है - ऐसा नहीं हो सकता। तथा कर्म से छूटना भी जीव का स्वरूप नहीं है।

जो आत्मा की क्रिया/परिणति आत्मसन्मुख हो - ऐसी शुद्धोपयोगरूप रमणता, वह नया उत्पाद है। उतना ही जीव का स्वरूप नहीं है, तो फिर दया, दानादि के परिणाम त्रिकाली स्वभाव का स्वरूप हो - ऐसा नहीं हो सकता। स्वभाव में दृष्टि का अभेदपना करना, वह शुद्ध उपयोग है। वह नया उत्पाद है। वह भी जीव का पूरा स्वरूप नहीं है। एकरूप स्वभाव में उत्पाद-व्यय नहीं है। क्षायिक सम्यग्दर्शन और मोक्षदशा भी व्यवहारनय का विषय है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होते हैं, वह नयी पर्याय है; वह भी जीव का पूरा स्वरूप नहीं है। जिनवाणी में कभी निर्मलपर्याय को स्वभाव के साथ अभेदरूप वर्णन करके उसे जीव का स्वरूप कहते हैं; परन्तु यहाँ दूसरी अपेक्षा है। यहाँ पर्याय की दृष्टि छुड़ाने का आशय है।

ऊपर जो प्रत्याख्यान इत्यादि दशाओं को आत्मा कहा है, वह अभेद विवक्षा की अपेक्षा से कहा है। यहाँ कहना है कि नित्य वस्तु हो, वह कभी मिटती नहीं और नहीं हो, वह नयी होती नहीं। सिद्ध अवस्था भी जीव का पूरा स्वरूप नहीं है। स्वभाव का नया पुरुषार्थ भी जीव का पूरा स्वरूप नहीं है तो फिर राग, संहनन इत्यादि तो जीव का स्वरूप हो ही नहीं सकता।

भाई! अध्यात्म में व्यवहार के चारों प्रकारों का निषेध कराया जाता है। श्रीसमयसार की छठवीं गाथा में तीन और सातवीं गाथा में एक प्रकार बताकर, ग्यारहवीं गाथा में चारों का निषेध किया है।

१. जो विकार प्रगटरूप से दिखता है अर्थात् ज्ञानगोचर होता है, वह उपचरित असद्भूत व्यवहारनय का विषय है।

२. जो विकार अव्यक्त है अर्थात् हमारे ज्ञानगोचर नहीं है, वह अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय का विषय है।

३. ज्ञान को स्व-परप्रकाशक कहना, उपचरित सद्भूत व्यवहारनय है।

४. गुण-गुणी का भेद करना, अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय है।

चारों ही व्यवहारनय का विषय अभूतार्थ है, त्रिकाली स्वभाव भूतार्थ है। श्रीसमयसार गाथा ११ में कहा है कि –

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो॥

भूतार्थ स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होते हैं, अभूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शनादि प्रगट नहीं होते। एकरूप अभेद स्वभाव को पकड़े तो व्यवहार लागू पड़ता है, वरना व्यवहार लागू नहीं पड़ता।

यहाँ कहना यह है कि स्वभाव में कुछ भी हीनाधिकता नहीं होती। बन्ध-मोक्ष, धर्मध्यान और शुक्लध्यान सब अनित्य है। जो अनित्य हो वह आत्मा का पूरा स्वरूप नहीं है, परन्तु वेदान्त कहता है वैसा भी नहीं है। पर्याय अत्यन्त भ्रम भी नहीं है। पर्याय एक समयमात्र की बन्धरूप अथवा मोक्षरूप सत् है। उसे गौण करके अभूतार्थ कहा है और त्रिकाली स्वभाव को मुख्य करके भूतार्थ कहा है। यदि सर्वथा ही बन्धमोक्ष पर्याय न हो तो समझाना क्या और समझना भी क्या? समझना या समझाना पर्याय में है; फिर भी वह पर्याय क्षणिक है और वस्तु एकरूप रहती है; इसलिए त्रिकाली स्वभाव जीव का स्वरूप है।

यहाँ भावार्थ यह है कि जिस प्रकार मोक्षमार्ग, जो कि नया प्रगट होता है, उसका वर्णन पूर्व में एकदेश शुद्धनिश्चयनय से किया था; उसीप्रकार आत्मा की मोक्षदशा-केवलज्ञानदशा तथा सिद्धदशा भी विवक्षित एकदेश शुद्धनिश्चयनय से जानना चाहिए, क्योंकि वह आत्मा का त्रिकाली स्वरूप नहीं है।

पूर्व में द्रव्यसंग्रह में एकदेश शुद्धनिश्चयनय के तीन प्रकार कहे गये हैं –

१. एक देश शुद्धनिश्चयरूप से जीव की पर्याय में होनेवाले राग-द्वेष को कर्म से उत्पन्न हुए कहा है।

आत्मा, ज्ञानादि गुणों का भण्डार एकरूप वस्तु है, वह आश्रय करने योग्य है। साधक जीव को उसका आश्रय वर्तता है और वे रागादि का आश्रय छोड़ने योग्य मानते हैं, तथापि चारित्र की कमजोरी से पर के अवलम्बन में अटकें तो रागादि होते हैं; इसलिए उन्हें कर्मकृत कह दिया है। यदि स्वद्रव्य से ही रागादि उत्पन्न होते हों तो वे कभी

अभावरूप नहीं होंगे, किन्तु उनका अभाव होता है; इसलिए वे आत्मा के नहीं हैं, इसी कारण उन्हें कर्म का कह दिया है। वे स्वभाव में नहीं है, इसलिए कर्मजनित कहा है। ज्ञानी जीव को स्वभाव की अधिकता वर्तती है, इसलिए अवशेष अल्प राग एकदेश शुद्धनिश्चयनय से कर्म का किया हुआ है - ऐसा कह दिया है।

२. आत्मा के आश्रय से प्रगट होनेवाली मोक्षमार्ग की पर्याय नयी उत्पन्न होती है; वह आत्मा का मूलस्वरूप/त्रिकाली स्वरूप नहीं है; इसलिए वह एकदेश शुद्धनिश्चयनय से है - ऐसा कहा है।

३. इसी प्रकार मोक्षपर्याय भी एक समय की है। वह नयी उत्पन्न होती है, इसलिए जीव का नित्य स्वरूप नहीं है; अतः यहाँ उसे भी एकदेश शुद्धनिश्चयनय से जीव का स्वरूप कहा गया है, किन्तु शुद्धनिश्चय से नहीं।

इस प्रकार यहाँ नवविवक्षा समझायी गयी है। नयों की विवक्षा समझना कठिन पड़ती है; इसलिए इसे समझने के लिए विशेष प्रयत्न अपेक्षित है।

इस प्रकार भगवान आत्मा को प्रगट हुई मोक्षपर्याय तो एकदेश शुद्धनिश्चयनय का विषय है, परन्तु शुद्ध परमपारिणामिकभाव-परम निश्चय मोक्ष अर्थात् द्रव्य की नित्य शक्ति, मुक्त स्वरूप, परम स्वभाव, जिसे कर्मों के उदय और अभाव की अपेक्षा नहीं है, वह परम स्वभाव तो जीव में अनादि से ही था, वह नया होगा - ऐसा नहीं है। अनादि से है....है....और है। वह त्रिकाली शुद्धद्रव्य शक्तिरूप शुद्धपारिणामिक परमभाव लक्षण का धारक मोक्ष (शक्तिरूप मोक्ष) शुद्ध निश्चयनय का विषय है।

त्रिकाल आत्मा तो परम निश्चय मोक्षस्वरूप है - ऐसा कहकर उसकी उपादेयबुद्धि करायी गयी है।

समस्त द्रव्यों में आत्मद्रव्य प्रधान है। उसमें ध्येय करने योग्य/आश्रय करने योग्य शुद्ध आत्मद्रव्य की बात चल रही है। मुक्तिदशा-आनन्ददशा नयी होती है, वह भी व्यवहारनय का अथवा एकदेश शुद्धनिश्चयनय का विषय है। यहाँ तो संसार की पर्याय के व्यय और मोक्षपर्याय के उत्पादरहित ध्रुवस्वभाव की बात की जा रही है। वह ध्रुवस्वभाव अनादि से परम निश्चय मोक्षस्वरूप है। वह तो अनादि से विद्यमान एकरूप ध्रुव ज्ञायक स्वभावी सूर्य है, वह नया प्रगट नहीं होता। जो है, उसका अभाव भी नहीं

होता। स्वभाव तो अभव्य का भी ऐसा ही है। वह निश्चय एकरूप मोक्षस्वभाव हमेशा विद्यमान स्वरूप है।

शुद्ध द्रव्यस्वभाव में संसार की विकारीपर्याय और मोक्ष की नयी अविकारीपर्याय नहीं है। ऐसा एकरूप ध्रुवस्वभाव ही ध्याता का ध्येय है। ध्यान कहो अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र दशा कहो; उसका ध्येय त्रिकाली निश्चय मोक्षस्वरूप द्रव्यस्वभाव है।

वह परम निश्चयमोक्ष जीव में अब होगा - ऐसा नहीं है। चित्त के सङ्गरहित आत्मा की प्रतीति, ज्ञान और रमणता अर्थात् मोक्षमार्ग में तो वह निश्चय मोक्ष ध्येय होता है। दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनों होकर ध्यान होता है। इस प्रकार यहाँ निमित्त, विकार अथवा अपूर्ण पर्याय का ध्येय निकाल दिया है। शुद्ध ज्ञान स्वभाव ही ध्येय है। उस ध्येय से ही मोक्ष होता है। यह एक ही ध्येय है - ऐसा कहकर कोई स्वच्छन्दी यह कहे कि फिर तो व्यवहार अथवा निमित्त कैसे भी हों तो क्या बाधा है ? उसका समाधान यह है कि ऐसा भी नहीं चल सकता। छठवें गुणस्थान में पाँच महाव्रतादि के विकल्प न हों - ऐसा नहीं हो सकता। किसी को कुदेवादि की श्रद्धा होने पर भी शुद्धात्मा ध्येय होकर मुक्ति हो जाए - ऐसा नहीं हो सकता। निमित्त में सच्चे देव-शास्त्र-गुरु ही होते हैं और उसका फल सातिशय पुण्यबन्ध है।

पूर्व गाथा में मोक्षमार्ग के ६५ नाम कहे गये थे, उनका ध्येय एकरूप शुद्धजीव - ध्रुव कारण भगवान एक ही है। पुण्य के विकल्परहित मोक्ष के कारणभूत जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप ध्यानभावना पर्याय है, उसका ध्येय परम निश्चयमोक्षमार्गरूप त्रिकाली द्रव्य है।

कहीं पर्याय अपेक्षा कथन करते हुए सिद्धपर्याय को ध्येय कहा जाता है, परन्तु वस्तुतः ध्येय तो शुद्ध त्रिकाली द्रव्यस्वभाव है।

सम्यग्दर्शन का ध्येय सम्यग्दर्शन नहीं है; सम्यग्ज्ञान का ध्येय सम्यग्ज्ञान नहीं है; सम्यक्चारित्र का ध्येय सम्यक्चारित्र नहीं है। जिसे पुण्य-पाप की वृत्तियों का कभी स्पर्श नहीं हुआ - ऐसा द्रव्यस्वभाव ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ध्येय है। उस साधक जीव को जब शुभराग होता है, तब सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति लक्ष्य जाता है। उसे कुदेवादि का अशुभराग हो या संसार का तीव्र अशुभराग हो; ऐसा नहीं हो सकता; गौणरूप से यह बात भी इसमें आ जाती है।

यहाँ तो निश्चय की बात करते हैं। भावश्रुतज्ञान का ध्येय, भावश्रुतज्ञान अथवा केवलज्ञान नहीं है; अन्तर्मुख दृष्टि करना ही ध्येय है। ज्ञान का, क्षायिक सम्यक्त्व का, इच्छा निरोधरूप तप का ध्येय त्रिकाली स्वभाव एक ही है। भावनारूप ध्यानपर्याय है, वह ध्येय नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ध्येय परमात्म स्वभाव ही है - यह सम्यक् एकान्त है। ध्यानपर्याय का ध्येय, ध्यानपर्याय नहीं, अपितु निज शुद्ध आत्मद्रव्य है।

द्रव्यार्थिकनय से कथित मोक्ष के कारणरूप सामान्य स्वभाव को एकान्त से ध्यान भावना की पर्याय कहा जाए अथवा सामान्य स्वभाव को लक्ष्य में लेनेवाले ज्ञान के ध्येय में इस वीतरागी पर्याय को कहा जाए तो नित्य द्रव्य और अनित्य पर्यायरूप दो धर्मों का आधार जीवद्रव्य धर्मी है, उसका मोक्षदशा का उत्पाद होने पर, ध्यानपर्याय के नाश के साथ ही ध्येयभूत जीव का नाश होगा, परन्तु ऐसा नहीं होता।

कितने ही ग्रन्थों में वीतरागी पर्याय को द्रव्य के साथ अभेद गिनकर द्रव्यार्थिकनय का विषय कहा है, वहाँ अभेद विवक्षा है। यहाँ तो शङ्काकार ध्यानपर्याय को द्रव्य से भिन्न पाड़कर उसे द्रव्यार्थिकनय का विषय कहता है - उसकी यह बात मिथ्या है।

सम्पूर्ण वस्तु प्रमाण है। उसमें त्रिकाली द्रव्य, द्रव्यार्थिकनय का विषय है और पर्याय, व्यवहारनय का विषय है। यदि द्रव्यार्थिकनय के विषय में ध्यानपर्याय ली जाएगी तो ध्यानपर्याय क्षणिक होने से, उसके पलटने से द्रव्य का नाश हो जाएगा।

जो इस निश्चय की बात को समझता है, उसे निमित्त का यथार्थ विवेक होता ही है। उसे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का बहुमान होना चाहिए। सम्यग्ज्ञानदीपिका में कहा है कि -

'जैसे दीपक से दीपक जलता आया है; उसी प्रकार गुरु के उपदेश द्वारा ज्ञान होता आया है। यह वार्ता अनादि है। सद्भूत व्यवहार में जैसे कोई गुरु के वचनों द्वारा स्वस्वरूप स्वानुभवगम्य सम्यग्ज्ञानमय स्वभाव वस्तु की प्राप्ति होने के पश्चात् ऐसे अपूर्व उपकार का लोप करके गुरु का नाम प्रसिद्ध नहीं करता; गुरु की कीर्ति, महत्ता, यश और गुणानुवाद नहीं करता, वह महापातकी, पापी, अपराधी, मिथ्यादृष्टि और हत्यारा है। तात्पर्य यह है कि गुरुपद को कभी किसी भी प्रकार से गुप्त रखना श्रेष्ठ नहीं है। यही मेरे द्वारा मैं सत्य कहता हूँ।'

इस प्रकार सत्निमित्तों के प्रति विकल्प आये बिना नहीं रहता, तथापि वह विकल्प ध्यान का ध्येय नहीं है। गुरुगम के बिना ज्ञान नहीं होता और गुरु से ज्ञान नहीं होता – ये दोनों बातें यथार्थतः समझनी चाहिए।

जिसने संसार से अर्थात् अनन्त भवों से उभारा हो – ऐसे गुरु के उपकार का लोप करनेवाला हत्यारा है। यहाँ गुरु से ज्ञान हुआ है – ऐसा नहीं कहना है, परन्तु गुरु के प्रति विवेक बताना है। कैसे भी शास्त्र या गुरु निमित्तरूप हों और सम्यग्दर्शन-ज्ञान हो जाएँ – ऐसा नहीं हो सकता और सम्यग्दर्शन प्राप्त हुए जीव को अपने उपकारी गुरु के प्रति बहुमान आये बिना नहीं रहता।

यहाँ कहते हैं कि द्रव्य और पर्याय का आधार, धर्मी ऐसा जीव है। यदि ध्यान पर्याय को द्रव्यार्थिकनय का विषय कहा जाएगा तो जीव के शुद्ध पारिणामिक भावरूप द्रव्य का विनाश होगा; परन्तु त्रिकाली स्वभाव कभी नष्ट नहीं होता, इसलिए तेरा तर्क गलत है। अतः ध्यानपर्याय द्रव्यार्थिकनय का विषय नहीं कहा जा सकता।

इस कारण शुद्ध पारिणामिकभाव की अपेक्षा से जीव को बन्ध और मोक्ष नहीं होता। बन्ध अथवा मोक्ष दोनों एकदेश शुद्धनिश्चयनय का विषय है। वे जीव की पर्यायें हैं – यह बतलाने के लिए एकदेश शुद्धनिश्चयनय का विषय कहा है और भेद पड़ने की अपेक्षा व्यवहारनय का विषय भी कहा जाता है।

निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि जो भी बात करते हैं, वह अलौकिक है। वीतरागमार्ग में यह एक ही बात है, दूसरी बात सत्य है ही नहीं। मध्यस्थभाव से विचार करे तो इसी मार्ग की रीत 'न भूतो न भविष्यति' – ऐसी एक धारारूप है। ऐसे निश्चयनय का ख्याल होने पर भी मुनियों को भी शुभराग आये बिना नहीं रहता।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य भगवान महासमर्थ आचार्य थे। वे रोम-रोम में वैराग्यवन्त थे। उन्होंने अपने शिष्य जयसेनाचार्य से पञ्चकल्याणक की विधि इत्यादि बताने वाला प्रतिष्ठापाठ बनाने को कहा और जयसेनाचार्य ने दो दिन में उस ग्रन्थ की रचना कर दी। उसमें उन्होंने प्रतिमा कैसे बनाना? मन्दिर का स्थान कहाँ लेना? इत्यादि बहुत प्रकार की विशेषता वाला प्रतिष्ठपाठ बनाया; इस कारण आचार्यश्री ने उनको 'वसुबिन्दु' नाम दिया। वसुबिन्दु का शब्दार्थ यह है कि तुम्हारे लिए कर्म शून्य होंगे – ऐसा कहकर

कुन्दकुन्दाचार्य ने जयसेनाचार्य का वसुबिन्दु नाम दिया। इस प्रकार मुनियों को भी ऐसा शुभराग आता है।

देखो, भगवान की प्रतिमा देखकर इन्द्र नाच उठते हैं। इन्द्र, भगवान को एक हजार नेत्रों से देखते हैं। उनका ध्येय निज शुद्ध चिदानन्द भगवान का होने पर भी, उस भूमिका में शुभभाव आये बिना नहीं रहता। क्षायिक समकिती इन्द्र भी पैरों में घूंघरू बाँधकर नाचते हैं। असंख्य देवों की सभा में गम्भीररूप से बैठा हो, वह इन्द्र भी भगवान के समीप बालकवत् होकर कहता है – 'हे नाथ! आप मुक्तिदाता हो' – इत्यादि प्रकार से स्तुति करता है। साधक की भूमिका में ऐसा शुभभाव आये बिना नहीं रहता। इसलिए जैसा है, वैसा समझना चाहिए।

अब, आत्मा शब्द का अर्थ कहते हैं –

१. 'अतति गच्छति इति आत्मा' अर्थात् ज्ञान में गमन करे, वह आत्मा है। गत धातु निरन्तर गमनरूप अर्थ में वर्तती है और सभी गमन अर्थ की धातुएँ ज्ञान के अर्थ की धारक हैं; इसलिए गमन का अर्थ ज्ञान किया है। गमन अर्थात् ज्ञान। आत्मा ज्ञान में परिणमित होता है। आत्मा ज्ञानरूप, आनन्दरूप परिणमें; पूर्ण व्यक्तरूप परिणमें या अल्परूप परिणमें, उसे आत्मा कहते हैं। आत्मा अकेला ध्रुवरूप नहीं है तथा अकेला परिणमनरूप नहीं है। नित्य रहकर पलटता है। वह अपने गुणों में यथासम्भव वर्तता है; परिपूर्ण ज्ञान व सुखरूप परिणमें अथवा अपूर्ण ज्ञान व सुखरूप परिणमे, तो भी आत्मा उसरूप वर्तता है।

२. दूसरी बात यह है कि जो-जो तीव्र-मन्द शुभ-अशुभभाव की पर्याय वर्तती हो, उसमें उस काल में सम्पूर्ण आत्मा परिणमता है। वह-वह पर्याय जीव के अस्तित्व में है। यह समस्त जीवों की बात है। साधक और बाधक जीवों में यथासम्भव समझ लेना चाहिए। जो पर्याय हुई, वह उसकी पूर्ण है; उसरूप आत्मा वर्तता है। कर्म के कारण, शरीर, संहनन अथवा काल के कारण आत्मा वर्तता है – ऐसा नहीं है। पूर्णरूप वर्तता है अर्थात् उस पर्याय की अपेक्षा पूर्ण है। वह पर्याय कर्म अथवा संयोग के कारण नहीं है। एक-एक पर्याय पूर्णरूप से वर्त रही है। यदि अन्य के कारण पर्याय होना माना जाए तो सम्पूर्ण प्रमाण का विषय पूरा नहीं होता। बाधक पर्याय भी कर्म के कारण नहीं है। जिसे जो तीव्र-मन्द शुभाशुभरूप पर्याय होती है, वह पूर्णरूप है अर्थात् वह स्वयं

से वर्त रही है। जिस समय जो पर्याय हुई, उसकी उतनी ही पर्यायरूप मर्यादा है। वह पर्याय न हो - ऐसा माने अथवा पर्याय पर से मानी जाए तो द्रव्य सिद्ध नहीं होता।

'आसमन्तात' अर्थात् जो पर्याय जिस समय हुई, उसकी उतनी ही मर्यादा है। वह आगे-पीछे नहीं है। वह द्रव्य उस समय उसरूप वर्त रहा है। अज्ञानी अथवा अभव्य आत्मा भी उस समय की पर्याय में पूर्णरूप से वर्त रहा है। एक पर्याय द्रव्य को सिद्ध करती है। अनादि काल से अनन्त काल तक जिस प्रकार की पर्याय होती है, उसी पर्याय में आत्मा वर्त रहा है। मन-वचन-काया के निमित्त से शुभ अथवा अशुभरूप यथासम्भव तीव्र-मन्द आदि रूप से-पूर्ण रूप से जो वर्तता है, उसे आत्मा कहते हैं।

३. उत्पाद-व्यय-ध्रुव - ऐसे तीन होकर जो पूर्णरूप से वर्तता है, उसे आत्मा कहते हैं। इसमें शुद्ध और अशुद्ध दोनों पर्यायवाले आ जाते हैं। केवलज्ञान के उत्पाद और अपूर्णज्ञान के व्यय में आत्मा वर्त रहा है। केवलज्ञानावरणीय कर्म के कारण ज्ञान नहीं रुका है। ज्ञान स्वयं अपने कारण हीनाधिकदशारूप होता है। जैसे समुद्र अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता; वैसे ही आत्मा अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता।

आसमन्तात् अर्थात् चारों ओर से। आत्मा केवलज्ञान के उत्पादरूप होता है तो चारों ओर से उत्पादरूप होता है। मिथ्यात्वरूप उत्पाद होता है तो चारों ओर से स्वयं उस रूप होता है।

इस प्रकार आत्मा शब्द में से धातु का अर्थ करके तीन अर्थ बतलाये हैं।

सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित आत्मस्वरूप की श्रद्धा करने से धर्म होता है। आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड है। पूर्ण शुद्धदशारूप अथवा अपूर्ण शुद्धदशारूप आत्मा स्वयं परिणमित होता है।

आत्मा, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से परिपूर्ण है। आत्मा, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से परिपूर्ण है। पूर्व अवस्था का व्यय होता है, नयी अवस्था का उत्पाद होता है और आत्मा सदृशरूप ध्रुव रहता है - इस प्रकार आत्मा परिपूर्ण है। इससे विरुद्ध कहनेवालों का यहाँ परिहार करते हैं।

कितने ही कहते हैं कि एक ही चन्द्रमा, जल से भरे हुए अनेक घटों में अनेक चन्द्ररूप देखा जाता है; इसी प्रकार एक ही आत्मा अनेक शरीरों में अनेकरूप रहता

है - तो यह बात सत्य नहीं है। यह सत्य क्यों नहीं है, क्योंकि जल से भरे हुए घटों में चन्द्रमा की किरणों का निमित्तमात्र है। पानी के पुद्गल अनेकरूप हुए हैं, चन्द्रमा पानी के अन्दर प्रविष्ट नहीं हो गया है। अनेक प्रतिबिम्ब दिखते हैं, वे पानी के प्रतिबिम्ब हैं; चन्द्रमा अनेकरूप नहीं हुआ है, चन्द्रमा तो एकरूप ही रहता है।

सर्वज्ञ भगवान ने जिस प्रकार आत्मा को परिपूर्ण देखा है; स्वचतुष्टय से स्वयं है, वैसा न जाने तो आत्मा का अनुभव नहीं होता और मुक्ति नहीं होती; इसलिए यहाँ आत्मा के स्वरूप से विपरीत माननेवालों का परिहार/निषेध किया जा रहा है।

यहाँ दृष्टान्तपूर्वक स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि देवदत्त के मुखरूप उपाधि के निमित्त से अनेक दर्पणों में रहे हुए पुद्गल, अनेक मुखरूप होते हैं। यदि देवदत्त के मुख अनेक मुखरूप होते हों तो दर्पण में हजारों आत्मा होना चाहिए और वे प्रतिबिम्ब चेतना को प्राप्त हों; परन्तु एक आत्मा अनन्तरूप नहीं हो जाता। प्रत्येक आत्मा शरीरप्रमाण भिन्न-भिन्न है। दर्पण में दिखनेवाले अनेकरूप प्रतिबिम्ब चेतन नहीं, अपितु जड़ की अनेकरूप दशा है। देवदत्त के मुख अनेक प्रतिबिम्बरूप होते हों तो वे चेतनता को प्राप्त हों; परन्तु ऐसा नहीं होता अर्थात् दर्पण में जो मुख का प्रतिबिम्ब है, वह जड़ है, चेतन नहीं; इसी प्रकार एक आत्मा अनेकरूप नहीं होता, अपितु प्रत्येक आत्मा भिन्न-भिन्न है।

अब, दूसरी बात करते हैं - अनेक शरीरों में एक जीव हो तो एक जीव के सुख-दुःख, जीवन-मरण होने पर सभी जीवों को उसी समय सुख-दुःख, जीवन-मरण इत्यादि होना चाहिए, परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। प्रत्येक जीव स्वतन्त्र है। कोई किसी के कारण नहीं है। एक जीता है, एक मरता है, एक दुःखी है, एक सुखी है; यदि सभी मिलकर एक जीव हो तो ऐसा नहीं हो सकता; इसलिए सभी मिलकर एक जीव नहीं हैं।

देखो, इसमें निमित्त-उपादान की स्वतन्त्रता की बात भी आ जाती है। पहले देवदत्त के मुख के प्रतिबिम्ब का दृष्टान्त आया था और दूसरा दृष्टान्त यह आया कि प्रत्येक जीव को सुख-दुःख अलग-अलग होते हैं। किसी को क्रोध, मान, माया, लोभ कम तो किसी को अधिक होते हैं; किसी को ज्ञान का विकास कम तो किसी को अधिक होता है; इसलिए सभी मिलकर एक जीव नहीं हैं, अपितु अनन्त जीव भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र हैं।

फिर शिष्य तर्क करता है कि जैसे एक समुद्र में कहीं खारा पानी है और कहीं मीठा पानी होता है; इसी प्रकार एक ही जीव समस्त देहों में विद्यमान है।

शिष्य का यह तर्क भी उचित नहीं है; क्योंकि समुद्र में पानी के ढेर की अपेक्षा पानी एक है, परन्तु पानी के रजकण भिन्न-भिन्न हैं। यदि पानी के सभी रजकण एक ही हों, अलग-अलग न हों तो थोड़ा पानी लेने पर सारा पानी साथ आना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता; इसलिए पानी राशि की अपेक्षा से एक है, परन्तु पानी के पुद्गल परमाणु पृथक्-पृथक् हैं। इसी प्रकार सोलहवान सुवर्ण के समान समस्त आत्माएँ ज्ञानानन्द मूर्ति हैं, परिपूर्ण दर्शन-ज्ञान से भरपूर हैं, चैतन्य सूर्य हैं, सिद्धस्वभावी भगवान हैं; एक समय के विकार को गौण करो तो जगत में सभी आत्माएँ ज्ञान सूर्य हैं।

परमात्मप्रकाश में कहा है कि सोलह वर्णवाले सोने की अलग-अलग काठी पर अलग-अलग छापवाले, जैसे कि घोड़ा, हिरण इत्यादि की छापवाला कपड़ा लगाया गया हो, इससे वह कपड़ा या छाप सोना नहीं है, परन्तु सोना है, वही सोना है। इसी प्रकार किसी को मनुष्य का शरीर, किसी को जानवर का शरीर; किसी को पतला अथवा किसी को मोटा शरीर हो तो भी अन्दर आत्मा तो सोलहवान सोना की तरह ज्ञानानन्द मूर्ति है। उसकी पर्याय में विकार है, उसे यहाँ गौण किया है।

आत्मा का त्रिकाली स्वभाव शुद्ध है, परन्तु पर्याय में विकार है। यहाँ उस विकार की पर्याय को गौण करके यह दृष्टान्त दिया है। अनन्त आत्माएँ देह प्रमाण चिदानन्द भगवान हैं, इस प्रकार जीवराशि की अपेक्षा से एकता है, परन्तु प्रत्येक जीव की अपेक्षा से एकता नहीं है; प्रत्येक जीव की पर्याय में अन्तर है। एक सर्वज्ञ है, एक मूढ़ है; इस प्रकार प्रत्येक जीव की अवस्था भिन्न-भिन्न है। प्रत्येक जीव परिपूर्ण भगवान है। शक्तिरूप से सभी समान हैं, परन्तु पर्याय अपेक्षा से भिन्न-भिन्न हैं।

अब, अध्यात्म शब्द का अर्थ कहते हैं - संसारी जीव की पर्याय में मिथ्यात्व, राग-द्वेषादि हैं, उनके निमित्तरूप कर्म होते हैं। आत्मा के भानपूर्वक उन मिथ्यात्वादि विकल्पों का त्याग करके निर्मलपर्याय प्रगट होती है। इस प्रकार नवीन साधकपर्याय प्रगट करने वाले को कुदेवादिक की श्रद्धा छूटकर सच्चे देवादिक की श्रद्धा हुई है। उसे पर्यायबुद्धि का अभाव हुआ है। **विकारबुद्धि छूटकर स्वभावबुद्धि होने से अपने आत्मा में अनुष्ठान अर्थात् आचरण होना, वह अध्यात्म है।**

आत्मा ज्ञानानन्द है। अनन्त गुणों का पिण्ड है – ऐसी प्रतीति करने से भ्रान्ति का नाश होता है और उस स्वभाव में स्थिरता करने से अस्थिरता अर्थात् राग-द्वेष का अभाव होता है। पहले विकारीदशा थी, वह स्वभाव के आश्रय से नष्ट हुई, अविकारीदशा हुई, उस अनुष्ठान को अध्यात्म कहते हैं। प्रथम गुरु ने समझाया कि पर्याय में विकार है, उसकी दृष्टि छोड़! तू दया, दानादि के विकारीभावों में रुक रहा है, पर सन्मुख हो रहा है; उसे छोड़कर स्वभावसन्मुख होने से धर्म होता है। तू अज्ञानदशा में 'सब मिलकर एक जीव है' – ऐसा मानता था अथवा पर से धर्म मानता था तथा ऐसा ही कहनेवाले कुदेवादिक को मानता था, परन्तु अब सच्चे देवादिक को मानने लगा और स्वभाव का आश्रय लेने से विकार का व्यय होकर अविकारीदशा का उत्पाद हुआ, उसे अध्यात्म कहते हैं। आत्मा के साथ अभेदता होना ही अध्यात्म है।

सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित, उनकी वाणी में आये हुए और निर्ग्रन्थ मुनियों द्वारा कथित आत्मा का स्वरूप रागरहित विचारना, वह ध्यान की बाह्य सामग्री है और अन्दर में रागरहित दशा होना, वह अन्तरङ्ग सामग्री है।

इस प्रकार ध्यान की सामग्री के व्याख्यान के उपसंहाररूप यह गाथा पूर्ण हुई।

❖❖❖

मुनिराज की आहारवृत्ति भी शुभभाव

मुनि की आहार-ग्रहण की वृत्ति भी अशुभभाव नहीं है, तथापि वह है तो कर्मधारा या रागधारा। जब तीर्थङ्कर मुनिपने में छद्मस्थ होते हैं, तब उन्हें भी आहार-ग्रहण की वृत्ति उत्पन्न होती है, परन्तु वह वृत्ति अशुभभाव नहीं है, शुभभाव है। मोक्षमार्गप्रकाशक में यह बात आती है कि मुनि के अशुभभाव का त्याग ही है अर्थात् उन्हें अशुभभाव होता ही नहीं। कदाचित् धर्म के लोभी, धर्म समझने के अभिलाषी कोई जीव आवें और मुनिराज को शुभराग हो तो उपदेश देते हैं। बस, यह उपदेश देने का विकल्प या समझाने का भाव शुभराग है, पुण्यास्रव है; लेकिन वह शुभराग भी स्वयं के कारण ही आता है। धर्म के लोभी जीव को समझाते हैं, इसलिए शुभराग आता है – ऐसा नहीं है।

(- प्रवचन-रत्न चिन्तामणि, ३/१८२)

वृहद्-द्रव्यसंग्रह गाथा-५८

अब, ग्रन्थकार अपने अभिमान के परिहार का कथन करते हैं —

दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा दोससंचयचुदा सुदपुण्णा।
सोधयंतु तणुसुत्तधरेण णेमिचन्दमुणिणा भणियं जं॥५८॥

द्रव्यसंग्रहं इमं मुनिनाथाः दोषसंचयच्युताः श्रतपूर्णाः।
शोध्यन्तु तनुश्रुतधरेण नेमिचन्द्रमुनिना भणितं यत्॥५८॥

अल्प श्रुतधर नेमिचंद मुनि द्रव्यसंग्रह संग्रही।
अब दोषविरहित पूर्णश्रुतधर साधु संशोधन करें॥५८॥

गाथार्थ :— अल्पश्रुत के धारक नेमिचन्द्र मुनि ने जो यह द्रव्यसंग्रह रचा है उसका, दोषों से रहित और श्रुतज्ञान से पूर्ण ऐसे आचार्य शोधन करें।

टीका :— '**सोधयंतु**' शुद्ध करें। कौन शुद्ध करें? '**मुणिणाहा**' मुनिनाथ, मुनियों में प्रधान, कैसे मुनिनाथ? '**दोससंचयचुदा**' निर्दोष परमात्मा से विलक्षण जो रागादि दोष और निर्दोष परमात्मादि तत्त्वों को जानने में जो संशय-विमोह-विभ्रमरूप दोष, उनसे रहित होने से जो 'दोषसंचयच्युत' हैं। तथा कैसे मुनिनाथ? '**सुदपुण्णा**' वर्तमान परमागम नामक द्रव्यश्रुत से और उप परमागम के आधार से उत्पन्न निर्विकार-स्वसम्वेदनज्ञानरूप भावश्रुत से परिपूर्ण होने से श्रुतपूर्ण है। (वे) किसको शुद्ध करें? '**दव्वसंगहमिणं**' शुद्ध-बुद्ध-एकस्वभाव परमात्मा आदि द्रव्यों का संग्रह वह द्रव्यसंग्रह, ऐसे 'द्रव्यसंग्रह' नामक इस प्रत्यक्ष ग्रन्थ को। कैसे द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ को? '**भणियं जं**' जिस ग्रन्थ का प्रतिपादन किया गया है उसे। कितने प्रतिपादन किया है? '**णेमिचन्दमुणिणा**' सम्यग्दर्शन आदि निश्चय-व्यवहाररूप पञ्चाचार सहित आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव नामक मुनि ने।

कैसे नेमिचन्द्र मुनि ने? '**तणुसुत्तधरेण**' अल्पश्रुतधारी ने। जो अल्पश्रुत को धारण करता है वह अल्पश्रुतधारी है। (उसने इस ग्रन्थ का प्रतिपादन किया है।) इस प्रकार क्रिया और कारकों का सम्बन्ध है।

इस प्रकार ध्यान के उपसंहाररूप तीन गाथाओं द्वारा और उद्धतपने के त्याग के लिये एक प्राकृत छन्द से द्वितीय अन्तराधिकार में तीसरा स्थल समाप्त हुआ॥५८॥

इस प्रकार दो अन्तराधिकारों द्वारा बीस गाथाओं द्वारा मोक्षमार्ग का प्रतिपादक तीसरा अधिकार समाप्त हुआ।

इस ग्रन्थ में 'विवक्षित विषय की सन्धि होती है' इस वचन अनुसार पदों की सन्धि का नियम नहीं है। (कहीं सन्धि की गई है, कहीं पर नहीं।) सरलता से बोध कराने के लिये वाक्य छोटे-छोटे बनाये हैं। लिङ्ग, वचन, क्रियाकारक सम्बन्ध, समास, विशेषण और वाक्य समाप्ति आदि दोष और शुद्धात्मा आदि तत्त्वों के कथन में विस्मरण का दोष विद्वानों द्वारा गाह्य नहीं है।

इस भाँति पूर्वोक्त प्रकार से '**जीवमजीवं दव्वं**' इत्यादि सत्ताईस गाथाओं द्वारा षट्द्रव्य-पञ्चास्तिकायप्रतिपादक नामक प्रथम अधिकार है। तत्पश्चात् '**आसवबन्धण**' इत्यादि ग्यारह गाथाओं द्वारा सातत्त्व-नवपदार्थ प्रतिपादक नामक दूसरा अधिकार है। तत्पश्चात् '**सम्मद्दंसण**' इत्यादि बीस गाथाओं द्वारा मोक्षमार्ग प्रतिपादक नामक तीसरा अधिकार है।

इस प्रकार श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव विरचित तीन अधिकारों की अठावन गाथाओं युक्त द्रव्यसंग्रह नामक ग्रन्थ की श्री ब्रह्मदेवकृत संस्कृत टीका का गुजराती में से हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ।

गाथा ५८ पर प्रवचन

ग्रन्थकार भगवान नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव कहते हैं कि मैं अल्पमति का धारक हूँ। महामुनि इस ग्रन्थ को सुधारें - ऐसा कहकर वे अपना अभिमान दूर करने हेतु अर्थात् अपनी लघुता प्रदर्शित करने हेतु अन्तिम गाथा कहते हैं।

अल्पज्ञान के धारक मैंने (नेमिचन्द्र मुनि ने) जो यह द्रव्यसंग्रह कहा है, उसे दोषरहित और ज्ञान से परिपूर्ण - ऐसे आचार्य शुद्ध करें।

शुद्ध करनेवाले आचार्य कैसे हैं? जो मुनियों में प्रधान हैं अथवा आचार्य हैं। जिनमें दोष नहीं हैं तथा दोषरहित परमात्मा से भिन्न लक्षण के धारक राग-द्वेष नहीं हैं। जिन्हें निर्दोष परमात्मा आदि तत्त्व को जानने में संशय आदि दोष नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि जो ज्ञान के दोषरहित तथा चारित्र के दोषरहित आचार्य हैं, वे इस ग्रन्थ को सुधारें।

और कैसे हैं वे? इस काल में सर्वज्ञ की वाणी अनुसार के षटखण्डागम, समयसार, प्रवचनसार इत्यादि शास्त्र हैं, उस विद्यमान द्रव्यश्रुत में तथा भावश्रुत में वे आचार्य तथा मुनि परिपूर्ण हैं। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के ज्ञाता हैं।

सर्वज्ञ भगवान के कहे शास्त्र अनुसार स्वयं अभ्यास करके आचार्यों ने अपने में निज आत्मा को जाननेरूप भावश्रुत-ज्ञान प्रगट किया है, उस भावश्रुत में वे परिपूर्ण हैं। यहाँ 'परमागम के आधार से भावश्रुत प्रगट किया है' - ऐसा कहा है, यह व्यवहार कथन है। जब निज आत्मा के आधार से भावश्रुतज्ञान प्रगट होता है, तब पूर्ण परमागम को जानने के विकल्प को व्यवहार कहा जाता है। इसलिए जैसा कथन का आशय है, वैसा समझना चाहिए।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में ध्येय तो शुद्ध आत्मा हैं - यह बात साथ रखकर ही सम्यग्ज्ञान में सच्चे शास्त्र, परमागम निमित्त होते हैं ऐसा कथन निमित्त का ज्ञान कराने के लिए किया जाता है।

उन मुनियों ने आत्मा के परिपूर्ण स्वभाव को जाना है; इसलिए उन्हें परिपूर्ण कहा गया है। ऐसे मुनि अथवा आचार्य इस द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ को सुधारें।

किसे शुद्ध करें/सुधारें? आत्मा शुद्ध है, एक ही ज्ञानस्वभाव का धारक है, ऐसा आत्मा तथा पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इत्यादि छह द्रव्यों का जिसमें संग्रह है - ऐसे इस प्रत्यक्ष विद्यमान द्रव्यसंग्रह शास्त्र को आचार्य शुद्ध करें।

यह द्रव्यसंग्रह किसने बनाया है? यह शास्त्र श्री नेमिचन्द सिद्धान्तिदेव मुनि ने बनाया है। जो आचार्य हैं, उन्हें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप-वीर्य - ऐसे निश्चय पञ्चाचार प्रगट हुए हैं और जो अल्प शुभराग शेष रहा है, इसलिए व्यवहार पञ्चाचारों का पालन करते हैं और कैसे हैं नेमिचन्द्राचार्य? वे द्रव्यसंग्रह के रचयिता महान् आचार्य होने पर भी कहते हैं कि मैं अल्पबुद्धि का धारक हूँ। अभी तो थोड़ा-सा ज्ञान होने पर भी अज्ञानी को अभिमान हो जाता है, परन्तु यहाँ तो आचार्यदेव अपनी निर्मानता बतलाते हैं।

इस प्रकार क्रिया तथा कारक का सम्बन्ध है।

इस प्रकार ध्यान के उपसंहाररूप तीन गाथाएँ और अभिमान के परिहार के लिए यह गाथा कही गयी है।

आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! केवलज्ञान के समक्ष हमारा ज्ञान अनन्तवें भाग है – इस प्रकार ज्ञानी को ज्ञान का अभिमान नहीं होता। अज्ञानी जीव को तो बहुत ईर्ष्या होती है कि दूसरा मुझसे बढ़ जाएगा – ऐसा मानकर वह कपट का सेवन करता है। यहाँ आत्मा के आनन्द में झूलनेवाले महा निर्ग्रन्थ मुनि श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव ने ऐसा अद्‌भुत ग्रन्थ बनाया होने पर भी कहते हैं कि कहाँ केवलज्ञान अथवा चौदह पूर्व और कहाँ हमारा अल्प वर्तमान ज्ञान! – ऐसा कहकर वे अपनी निर्मानता बतलाते हैं।

शास्त्र की रचना तो जड़-पुद्‌गल के परिणमन अनुसार होती है। उसकी क्रिया आचार्य ने नहीं की है। एक भी अक्षर बोलना या लिखना जड़ की पर्याय है। आचार्य ने द्रव्यसंग्रह बनाया है, यह निमित्त का कथन है। इस कथन में निमित्त का ज्ञान कराया है। वस्तुतः आत्मा अक्षर की अवस्था नहीं कर सकता, वह जड़ की अवस्था है। यह व्यवहार से ही कहा जाता है कि श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव ने यह द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ बनाया है।

इस प्रकार दूसरे अन्तराधिकार में तीसरा स्थल पूर्ण हुआ अर्थात् इन दो अन्तराधिकारों द्वारा बीस गाथाओं से मोक्षमार्ग का प्रतिपादक तीसरा अध्याय पूर्ण हुआ।

इस ग्रन्थ में वक्ता को सन्धि करने की इच्छा हो, वहाँ सन्धि होती है – इस नियम के अनुसार पदों की सन्धि का नियम नहीं है अर्थात् कहीं सन्धि की गयी है और कहीं नहीं की गयी है। मन्दबुद्धिवाले भी सहजता से समझ सकें, इस कारण छोटे-छोटे वाक्य किये गये हैं तथा लिङ्ग, वचन, क्रिया, कारक, सम्बन्ध, समास, विशेषण और वाक्य समाप्ति आदि में भूल हो, शुद्ध आत्मा आदि तत्त्वों के प्रतिपादन करने में कोई विस्मृतिरूप दूषण हो तो उसे ज्ञानी पुरुष ग्रहण न करें।

यहाँ तत्त्व की बात मुख्य है। कर्ता, करण, एक वचन, बहुवचन इत्यादि में कोई व्याकरण की भूल हुई हो तो उसे ज्ञानी पुरुष ग्रहण न करें। समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि हमारी बात का अभिप्राय पकड़ो, शब्द मत पकड़ो। यह आत्मा-पुद्‌गलादि छहों द्रव्य स्वतन्त्र है, उसका रहस्य समझो।

इस प्रकार पूर्वकथित अनुसार 'जीवंजीवं दव्वं' – इस गाथा से प्रारम्भ करके २७ गाथाओं तक 'षडद्रव्यपञ्चास्तिकायप्रतिपादक' नामक प्रथम अधिकार है। तत्पश्चात् 'आसवबंधण' इत्यादि ११ गाथाओं में 'सप्ततत्त्वनवपदार्थप्रतिपादक' नामक दूसरा अधिकार है। तत्पश्चात् 'सम्मदंसण' इत्यादि २० गाथाओं द्वारा 'मोक्षमार्गप्रतिपादक' नामक तीसरा अधिकार है।

इस प्रकार परम पूज्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव द्वारा रचित 'वृहद्द्रव्यसंग्रह' ग्रन्थ पर परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी के अध्यात्मरस भरपूर मङ्गल प्रवचन पूर्ण हुए।

❖❖❖

भावलिङ्गी सन्तों की अलौकिक दशा

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की शुद्धता भावलिङ्ग है — ऐसे भावलिङ्ग -सहित बाहर में दिगम्बर दशा, पञ्च महाव्रतादि, वह द्रव्यलिङ्ग है – ऐसे भावलिङ्गी सन्त की दशा तो अलौकिक है।

'मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो'.... के रूप में महावीर भगवान और गौतम गणधर के पश्चात् तुरन्त ही जिनका नाम माङ्गलिकरूप में आता है – ऐसे कुन्दकुन्दाचार्यदेव भावपाहुड़ की १२९वीं गाथा में कहते हैं —

'अहो! जो मुनि श्रेष्ठ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के धारक हैं, उस सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की शुद्धिरूप भाव से सहित हैं और जिनके माया नष्ट हो गयी है – ऐसे जो भावलिङ्गी सन्त हैं, वे धन्य हैं, उनको हमारा त्रिविध नमस्कार हो।

अहो! तुम भी हमारे मुनिमार्ग में आये, मोक्षमार्ग में आये, उसका मैं प्रमोद से अनुमोदन करता हूँ। तुम धन्य हो, तुम्हें मेरा नमस्कार हो।'

जैसे बड़े श्रीमन्तों के यहाँ शादी हो और बारात आवे, वहाँ धूमधाम से बैण्ड-बाजों के साथ अगवानी करते है। वैसे ही यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! सन्त तुम मुक्तिसुन्दरी को वरण करने चले, मैं आपकी अगवानी करता हूँ; धूमधाम से आपका बहुमान करता हूँ।

देखो, यह मुनिदशा का स्वरूप और उसकी महिमा!! ऐसे मुनि धन्य हैं और वन्द्य हैं।

(- अष्टपाहुड़ प्रवचन, १/९२)

नोट्स